Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

0
3.4

121

हिन्दी कृष्ण-काव्य में भक्ति एवं वेदान्त

डॉ. संतोष पाराशर एम्. ए., पी-एच्. डी.

गुर्जर-भारती
अहमदाबाद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

।। ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ।।

डॉ. संतोष पाराशर–जन्म–७ दिसंबर १९४५ ई., जन्म–स्थानः मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश, भारत), प्रारंभिक एवं माध्यमिक शिक्षा:मुरादाबाद, इन्टर आर्ट्सः–बदायूं, बी.ए. (हिन्दी ऑनर्स) श्री स्वामिनारायण आर्ट्स कॉलेज, अहमदाबाद, (गुजरात विश्वविद्यालय)१९७६, एम्. ए. (हिन्दी), सन् १९७८ गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद, पी–एच्. डी. 'हिन्दी कृष्ण–काव्य में वेदान्त' सन् १९८५ 'गुजरात विश्वविद्यालय', अहमदाबाद, डॉ. भ्रमरलाल जोशी के निर्देशन में, यों बी. ए. से पी–एच्. डी. तक का संपूर्ण अध्ययन डॉ. भ्रमरलाल जोशी के ही तत्त्वावधान में सम्पन्न, बचपन से ही संगीत में सहज अभिरुचि, लघुवय, में ही 'प्रयाग संगीत–समिति' इलाहाबाद से शास्त्रीय संगीत में डिप्लोमा, जीवन में कला, काव्य एवं समीक्षण का मणिकांचन योग, लगभग ३५० कविताओं एवं गजलों का सर्जन, अधिकांश कविताएं विविध काव्य–मंचों से पठित एवं पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित, पिता श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा प्रखर आर्य–समाजी सिद्धान्त–धारा से सम्बद्ध, अतः उन्हींसे वेद, वेदान्त एवं आर्यत्व के संस्कारों से दीक्षित, सन् १९६५ ई. से 'महानगर पालिका', अहमदाबाद के एक हिन्दी–विद्यालय में अध्यापिका एवं वर्तमान में उप–आचार्या तथा 'गुर्जर–भारती' की व्यवस्थाधिकारी ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी कृषण-काव्य में भक्ति एवं वेदान्त

लेखिका

डॉ. संतोष पाराशर एम्. ए., पी-एच्. डी.

संशोधक-परिवर्धक

डॉ. भ्रमरलाल जोशी, एम्. ए., पी-एच् डी.

अध्यक्ष एवं प्रोफेसर हिन्दी-विभाग, स्वामिनारायण आर्ट्स कॉलेज

अहमदाबाद-२२

गुर्जर-भारती

अहमदाबाद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ॥

श्रेष्ठिवर स्व. श्री लक्ष्मीनारायणजी गाड़ोदिया (दिल्ली) की धर्मपत्नी
स्व. श्रीमती सरस्वती देवी के परम आराध्य श्रीकृष्ण को
श्रद्धा-सहित
शब्द-ब्रह्माञ्जलि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राक्कथन

डॉ. सन्तोष पाराशर ने मेरे निर्देशन में 'गुजरात विश्वविद्यालय' से सन् १९८६ में **'हिन्दी कृष्ण-काव्य में वेदान्त'** विषय पर पी-एच्. डी. की उपाधि प्राप्त की थी। उसीका यह संशोधित-परिवर्धित संस्करण है। इसमें विषय-विभाजन एवं विषय-निरूपण दोनों दृष्टियों से परिवर्तन किया गया है।

अध्ययन सौकर्य के लिए कृष्ण एवं कृष्ण-भक्ति विषयों को हमने दो अलग-अलग अध्यायों में विभक्त करना उचित समझा है। दूरान्वयीदोष के निवारणार्थ एवं किसी भी कवि को समग्र रूप में एक ही साथ पढ़ा जा सके, इस हेतु से द्वितीय अध्याय के कवियों के काव्य एवं जीवन को तत्तत्संबंधी चतुर्थ एवं पंचम अध्याय के कवियों के भक्ति एवं वेदान्त निरूपण के साथ संलग्न कर दिया है। अध्याय षष्ठ में हिन्दी के अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप, राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से हिन्दी, गुजराती, उर्दू एवं राजस्थानी भाषाओं के भगिनीत्व एवं उर्दू स्वतंत्र भाषा न होकर हिन्दी की ही एक शैली है, अतः इसे राष्ट्रीय हित के लिए राष्ट्रीय लिपि देवनागरी में ही लिखा-पढ़ा जाए, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, कश्मीर, बंगाल, असम, उड़ीसा, आन्ध्र, तमिलनाडु कर्णाटक इत्यादि हिन्दीतर प्रदेश का हिन्दी कृष्ण-काव्य, गुजरात में कृष्ण-भक्ति का विकास एवं गुजरात का हिन्दी कृष्ण-काव्य इत्यादि पर विचार करके अंत में समस्त ग्रंथ की उपलब्धियों को सप्तम अध्याय उपसंहार में प्रस्तुत किया गया है।

विषय निरूपण की दृष्टि से कई नवीन विषयों को सम्मिलित करके एवं कई विषयों को अधिक स्पष्ट एवं लोकभोग्य बनाने की दिशा में चेष्टा की गई है। वेदान्त कल्पना नहीं. किन्तु विज्ञान की ही भांति यथार्थ पर आधारित एक तर्क सम्मत, विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक शास्त्र है। वेद, उपनिषद्, बादरायण व्यास एवं आद्य शंकराचार्य तक इसका यह शुद्ध रूप सुरक्षित रहा। जिसे हमने अविकारी वेदान्त नाम दिया है। शुद्ध वेदान्त की दृष्टि से देखें तो ब्रह्म निराकार एवं अव्यक्त हैं।[1] न वह अवतार लेता है और न ही वह किसी प्रतीक या मूर्ति में होता है।[2] वेदों में जो उसे हाथ-पैर आदि वाला कहा गया है, वह तो समझाने मात्र के लिए ही है।[3] वेदान्त के इसी शुद्ध स्वरूप को स्वीकार करके हमने वेदान्ताचार्यों में मूर्धन्य आद्य शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित ज्ञान-भक्ति को ही सर्वथा उपासना योग्य समझा है। इसमें ज्ञान ही प्रमुख है एवं बच्चों को चलना सिखाने के लिए कुछ काल तक उसके आगे 'चालन-गाड़ी' रखी जाती है वैसे ही दुर्बल साधकों के लिए प्राथमिक अवस्था में सगुण-मूर्ति पूजा कुछ काल तक स्वीकार कर ली गई है। शुद्ध वेदान्त का अनुसरण करके वेदान्त में स्वीकृत समस्त जड़-चेतन रूप ब्रह्म को कृष्ण नाम देकर, कृष्ण की गोकुल-लीलाओं को मात्र प्रतीक के रूप में ही हमने स्वीकार किया है क्यों कि असल में तो समस्त ब्रह्माण्ड की सर्जन-विसर्जन की लीलाएं ही कृष्ण-लीलाएँ (ब्रह्म-लीलाएँ) हैं।

पर यह दुःख का विषय है कि आद्य आचार्य शंकर के बाद के वेदान्ताचार्य-रामानुज, निम्बार्क, मध्व एवं वल्लभ ने अपने 'ब्रह्मसूत्र' के भाष्यों में शुद्ध वेदान्त का रूप विकृत कर दिया है। जिसको हमने विकारी-वेदान्त नाम दिया है। इन्होंने मन माने ढंग से शंकर के मत का खण्डन करके ब्रह्म के सगुण-अवतार एवं इनकी भक्ति की ही जोरदार शब्दों में स्थापना की है। पुराणों में इन्हीं सगुण-अवतारों की कल्पित कथाएँ वर्णित हैं, जिन्हें केन्द्र में रखकर हिन्दू धर्म में अनेक बहुदेवोपासक संप्रदाय, मूर्तिपूजा इत्यादि अनेक कल्पित पूजा-विधान प्रारंभ हुए। इन सम्प्रदायों में 'ज्ञान' के अभाव के कारण अंधविश्वास एवं स्वार्थपरक प्रवृत्तियों का ही बोलबाला है। भेड़ों की भांति अंधानुकरण एवं कोल्हू के बैलों की तरह परवशता की स्थिति में ही अधिकांश संप्रदाय जी रहे हैं। भक्ति का रूप तभी शुद्ध रहता है, जब उस पर ज्ञान का अंकुश रहता है। हिन्दुत्व आज जो अनेक संप्रदायों में विभक्त हो चुका है, वह इसी भक्ति का परिणाम है। ये संप्रदाय लगभग आहार-विहार, छूत-अछूत के बाह्याचारों के इर्द-गिर्द ही घूम रहे हैं। आश्चर्य है कि आहार-

---

१. 'तदव्यक्तमाह हि', 'ब्रह्मसूत्र'-३-२-२३ २. न प्रतीके न हि सः, ब्रह्मसूत्र, ४-१-४

३. बुद्ध्यर्थ पादवत्-ब्रह्मसूत्र ३-२-३३।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विहार का विवेक वैद्य न करके अब ये सम्प्रदाय के अगुआ करने लगे हैं। सम्प्रदाय के संन्यासी, आचाय अगुआ गृहस्थों को स्वर्ग, गोलोक, धाम, मोक्ष के झूठे सब्ज बाग दिखाकर मनचाही दिशाओं में भटका रहे हैं और कई तो चार्वाक एवं इन्द्र से भी आगे बढ़कर स्थूल–आनंद के स्तर पर जी रहे हैं। कुछ धर्म–संप्रदाय ऐसे भी हैं जो हिन्दू होते हुए भी स्वयं का हिन्दू कहते हिचकिचाते हैं। इस प्रकार हिन्दुत्व एवं भारत लगभग अपने मानवोचित पौरुष एवं आचारों को खो चुका है। देश एवं हिन्दुत्व में प्राणप्रतिष्ठा के लिए महर्षि दयानंद सरस्वती ने जैसे चण्डिका ने चण्ड-मुण्ड को ललकारा था, वैसे ही इन पौराणिक अंधविश्वासों को ललकार कर 'आर्य–समाज' की स्थापना की थी और **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** विश्व में आर्यत्व का एक वार पुनः ध्वज लहरे, ऐसा नारा भारतीय आकाश में बुलंद किया था, पर अभी तक इन तथाकथित सम्प्रदायों का प्रभाव बहुत कुछ शेष है। यूरोप में भी कभी ऐसे सगुण–लीला करनेवाले काल्पनिक देवी–देव थे, पर वहां के दार्शनिकों ने ज्ञानाग्नि से दग्धकर उन्हें नामशेष कर दिया।[1] आज यूरोप के पास भी दर्शन है, पर वह मानवीय संवेदनाओं से सम्बद्ध यथार्थ के धरातल पर अवस्थित शुद्ध विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक दर्शन है। शंकराचार्य का वेदान्त चिरंतन सत्य पर आधारित है। भक्ति भी इसीं पर आधारित होनी चाहिए। इस संबंध में डॉ.प्रो. जे.जे. शुक्ल लिखते हैं–[1]

"मेरा यह नम्र मत है कि भारत एवं हिन्दू सामाजिक संगठन को सबसे अधिक हानि यदि किसी ने पहुंचाई है तो वह है, सोलहवीं सदी से प्रारंभ होने वाला भक्ति–आंदोलन। उपनिषद् परंपरा में ऐसी भक्ति का कहीं भी नाम–निशान तक नहीं है। इसीलिए वेदान्ताचार्यों में सर्वश्रेष्ठ आद्य शंकराचार्य ने इस प्रकार की भक्ति का परोक्ष रूप में तिरस्कार करके ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ माना है और समय की मांग भी यही है।

---

१. यूरोप का इतिहास, रामावतार शर्मा।

2. In my humble opinion, the greatest damage done to this country as well as Hindu Social organisation is that done by the sixteenth century Bhakti movement. No mention of the same is found in Upanisadic Tradition and that is why perhaps the greatest among Acharyas i.e., Shankaracharya has indirectly condemned the trait though himself, as is evident from his Anandlahari and Saundaryalahari, an astute sadhak of shakti. Shankaracharya emphasized Knowledge above everything else and that was what was required by the time.

If we would have followed his line of thinking, India would have been what it would never have been centuries preceding his own times. The wrong and lopsided emphasis laid on Bhakti by the Acharyas who vehementy rather than logically opposed the founder of the new Vedanta, emphasized Bhakti and brought about the devaluation of all other precious values necessary for not only social survival but also fortification and the stability with the result that there was widespread chaos in the society. If at all it is required to be practiced, must be practiced along with knowledge, Action, Vairagya all simultaneously and not one at the cost of the other three.

Bhakti practiced in the manner in which it is done at present will blow away the social framework, will land the society in the utmost chaos and disorder and ultimately to annihilation of all values necessary for survival as well as progress.

Dr. J. J. Shukla
Professer of Philosophy
University Dept. of Philosophy
Gujarat University Ahmedabad-9
2–11–'84

[डॉ. शुक्ल का यह अंग्रेजी में टंकित–पत्र मेरे पास सुरक्षित है।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि हिन्दू-समाज ने शंकर की विचार-धारा का अनुसरण किया होता तो भारत एवं हिन्दू-समाज की आज जो दुर्गति हो चुकी है, वैसी कदापि न होती। शंकर के बाद के वेदान्ताचार्यों (रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ) ने 'ब्रह्मसूत्र' के अपने-अपने भाष्यों में कुतर्क द्वारा शंकर के मत का खण्डन करके सगुण भक्ति पर ही पक्षपातपूर्वक अनुचित एवं अत्यधिक भार दिया है। इसी कारण हिन्दू-समाज में धर्म के नाम पर व्यापक अंधा-धुंधी फैली है और परिणामस्वरूप हिन्दू सामाजिक संगठन, हिन्दू सामाजिक स्थिरता एवं हिन्दू सामाजिक अस्तित्व के आवश्यक सभी मूल्य नष्ट हो चुके हैं। यदि भक्ति आवश्यक ही हो तो ज्ञान, कर्म, एवं वैराग्य को भी इसके साथ संलग्न कर दिए जाएँ। इन तीनों से रहित केवल भक्ति का आचारण निंदनीय है। इस समय हिन्दू-समाज में भक्ति का जिस प्रकार का आचरण हो रहा है, यदि कुछ दिनों तक और भी ऐसा ही चलता रहा तो निश्चित है कि हिन्दू-समाज में व्यापक अंधा-धुंधी, आपाधापी एवं अव्यवस्था उस सीमा तक पहुंच जाएगी कि इसके अस्तित्व एवं प्रगति के सभी आवश्यक तत्त्व सदा के लिए नष्ट हो जाएंगे एवं अराजकता की उस विचित्र स्थिति में हिन्दू-समाज का व्यवस्था-तंत्र सदा के लिए बिखर कर समाप्त हो जाएगा।"

डॉ. शुक्ल के विचारों से सहमत होते हुए डॉ. दशरथ ओझा लिखते हैं[1]—

"विद्वान् प्राध्यापक (डॉ. जे. जे. शुक्ल) के विचारों के साथ मैं पूर्णतः सहमत हूँ। हिन्दू-भक्ति की वर्तमान प्रणाली में ज्ञान एवं कर्म का कोई स्थान नहीं है और इस स्थिति में यह जीवन के सच्चे ध्येय की एकदम उपेक्षा कर रही है। इस संबंध में मेरा यह निश्चित मत है कि हिन्दू-समाज को यह भक्ति अपने अंतिम ध्येय की ओर कभी भी उन्मुख नहीं कर सकेगी। हिन्दू-समाज का संपूर्ण व्यवस्थातंत्र ज्ञान, भक्ति, कर्म एव वैराग्य इन चारों स्तंभों पर स्थित है। इनमें से यदि एक भी टूट जाए तो हिन्दू-समाज की व्यवस्था का तंत्र अवश्य छिन्न--भिन्न हो जाएगा। हिन्दू-समाज आज प्रतिदिन जिन समस्याओं का सामना कर रहा है; केवल भक्ति के आचरण मात्र से ही वह उसमें सफल नहीं हो सकेगा और इस आपत्ति-काल में केवल वेदान्त ही वर्तमान विश्व में हिन्दुओं को उनके अपने गौरवास्पद स्थान तक पहुंचाने में समर्थ हो सकेगा।"

भारतीय हिन्दू धर्म-संप्रदाय 'अंधी-अतियों' में चल रहे हैं। कोई स्वाद में तो कोई स्वाद को सर्वथा छोड़ने में। इससे हानि देश एवं हिन्दुत्व की ही हो रही है। दोनों से देश का पौरुष ही क्षीण हो रहा हैं। दो मुँह और एक पेटवाले पक्षी की घटना यहां घटित हो रही है। दोनों मुँह अपने-अपने मन के फल खा रहे हैं, जिससे नुकसान पक्षी को ही हो रहा है, क्योंकि वह अपने जीवन के लिए कोई और ही फल चाह रहा है। इस प्रकार विविध-फल भोक्ता इन संप्रदायों से अंत में तो देश एवं हिन्दुत्व को ही क्षति पहुँच रही है। हमें श्रीकृष्ण की स्त्रैण लीलाएँ नहीं किंतु उनका महाभारतीय प्रचण्ड

---

1. I entirely agree with the learned scholar (Prof. J.J. Shukla) that the present system of Bhakti, which is ignoring the real purpose of life and denying the proper place of knowledge and selfless action, will never lead the Hindu Society to it's destination, Knowledge, Devotion, Action and detachment are the four pillars on which the edifice of the Hindu Society stands. If any pillar is broken, the palace is bound to perish. Hence Bhakti alone will not solve the problems which the present Hindu Society is facing in day-to-day's life. Only Vedanta can lead the Hindus to their proper place in the present modern world."

[प्रो. शुक्ल के टंकित पत्र के नीचे डॉ. दशरथ ओझा द्वारा स्व-हस्ताक्षरों में प्रकट किया गया मन्तव्य।]

Dr. Dasharath Ojha
Delhi 10-9-85

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विहार का विवेक वैद्य न करके अब ये सम्प्रदाय के अगुआ करने लगे हैं । सम्प्रदाय के संन्यासी, आचाय अगुआ गृहस्थों को स्वर्ग, गोलोक, धाम, मोक्ष के झूठे सब्ज बाग दिखाकर मनचाही दिशाओं में भटका रहे हैं और कई तो चार्वाक एवं इन्द्र से भी आगे बढ़कर स्थूल-आनंद के स्तर पर जी रहे हैं । कुछ धर्म-संप्रदाय ऐसे भी हैं जो हिन्दू होते हुए भी स्वयं को हिन्दू कहते हिचकिचाते हैं। इस प्रकार हिन्दुत्व एवं भारत लगभग अपने मानवोचित पौरुष एवं आचारों को खो चुका है । देश एवं हिन्दुत्व में प्राणप्रतिष्ठा के लिए महर्षि दयानंद सरस्वती ने जैसे चण्डिका ने चण्ड-मुण्ड को ललकारा था,वैसे ही इन पौराणिक अंधविश्वासों को ललकार कर 'आर्य-समाज' की स्थापना की थी और 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' विश्व में आर्यत्व का एक वार पुनः ध्वज लहरे, ऐसा नारा भारतीय आकाश में बुलंद किया था, पर अभी तक इन तथाकथित सम्प्रदायों का प्रभाव बहुत कुछ शेष है । यूरोप में भी कभी ऐसे सगुण-लीला करनेवाले काल्पनिक देवी-देव थे, पर वहां के दार्शनिकों ने ज्ञानाग्नि से दग्धकर उन्हें नामशेष कर दिया।[1] आज यूरोप के पास भी दर्शन है, पर वह मानवीय संवेदनाओं से सम्बद्ध यथार्थ के धरातल पर अवस्थित शुद्ध विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक दर्शन है। शंकराचार्य का वेदान्त चिरंतन सत्य पर आधारित है। भक्ति भी इसीं पर आधारित होनी चाहिए। इस संबंध में डॉ.प्रो. जे.जे. शुक्ल लिखते हैं-[1]

"मेरा यह नम्र मत है कि भारत एवं हिन्दू सामाजिक संगठन को सबसे अधिक हानि यदि किसी ने पहुँचाई है तो वह है, सोलहवीं सदी से प्रारंभ होने वाला भक्ति-आंदोलन । उपनिषद् परंपरा में ऐसी भक्ति का कहीं भी नाम-निशान तक नहीं है। इसीलिए वेदान्ताचार्यों में सर्वश्रेष्ठ आद्य शंकराचार्य ने इस प्रकार की भक्ति का परोक्ष रूप में तिरस्कार करके ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ माना है और समय की मांग भी यही है ।

१. यूरोप का इतिहास, रामावतार शर्मा ।

2. In my humble opinion, the greatest damage done to this country as well as Hindu Social organisation is that done by the sixteenth century Bhakti movement. No mention of the same is found in Upanisadic Tradition and that is why perhaps the greatest among Acharyas i.e., Shankaracharya has indirectly condemned the trait though himself, as is evident from his Anandlahari and Saundaryalahari, an astute sadhak of shakti. Shankaracharya emphasized Knowledge above everything else and that was what was required by the time.

If we would have followed his line of thinking, India would have been what it would never have been centuries preceding his own times. The wrong and lopsided emphasis laid on Bhakti by the Acharyas who vehementy rather than logically opposed the founder of the new Vedanta, emphasized Bhakti and brought about the devaluation of all other precious values necessary for not only social survival but also fortification and the stability with the result that there was widespread chaos in the society. If at all it is required to be practiced, must be practiced along with knowledge, Action, Vairagya all simultaneously and not one at the cost of the other three.

Bhakti practiced in the manner in which it is done at present will blow away the social framework, will land the society in the utmost chaos and disorder and ultimately to annihilation of all values necessary for survival as well as progress.

Dr. J. J. Shukla
Professer of Philosophy
University Dept. of Philosophy
Gujarat University Ahmedabad-9
2-11-'84

[डॉ. शुक्ल का यह अंग्रेजी में टंकित-पत्र मेरे पास सुरक्षित है ।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि हिन्दू–समाज ने शंकर की विचार–धारा का अनुसरण किया होता तो भारत एवं हिन्दू–समाज की आज जो दुर्गति हो चुकी है, वैसी कदापि न होती। शंकर के बाद के वेदान्ताचार्यों (रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ) ने 'ब्रह्मसूत्र' के अपने–अपने भाष्यों में कुतर्क द्वारा शंकर के मत का खण्डन करके सगुण भक्ति पर ही पक्षपातपूर्वक अनुचित एवं अत्यधिक भार दिया है। इसी कारण हिन्दू–समाज में धर्म के नाम पर व्यापक अंधा-धुँधी फैली है और परिणामस्वरूप हिन्दू सामाजिक संगठन, हिन्दू सामाजिक स्थिरता एवं हिन्दू सामाजिक अस्तित्व के आवश्यक सभी मूल्य नष्ट हो चुके हैं। यदि भक्ति आवश्यक ही हो तो ज्ञान, कर्म, एवं वैराग्य को भी इसके साथ संलग्न कर दिए जाएँ। इन तीनों से रहित केवल भक्ति का आचारण निंदनीय है। इस समय हिन्दू–समाज में भक्ति का जिस प्रकार का आचरण हो रहा है, यदि कुछ दिनों तक और भी ऐसा ही चलता रहा तो निश्चित है कि हिन्दू–समाज में व्यापक अंधा–धुँधी, आपाधापी एवं अव्यवस्था उस सीमा तक पहुंच जाएगी कि इसके अस्तित्व एवं प्रगति के सभी आवश्यक तत्त्व सदा के लिए नष्ट हो जाएंगे एवं अराजकता की उस विचित्र स्थिति में हिन्दू–समाज का व्यवस्था–तंत्र सदा के लिए बिखर कर समाप्त हो जाएगा।"

डॉ. शुक्ल के विचारों से सहमत होते हुए डॉ. दशरथ ओझा लिखते हैं[1]—

"विद्वान् प्राध्यापक (डॉ. जे. जे. शुक्ल) के विचारों के साथ मैं पूर्णतः सहमत हूँ। हिन्दू–भक्ति की वर्तमान प्रणाली में ज्ञान एवं कर्म का कोई स्थान नहीं है और इस स्थिति में यह जीवन के सच्चे ध्येय की एकदम उपेक्षा कर रही है। इस संबंध में मेरा यह निश्चित मत है कि हिन्दू–समाज को यह भक्ति अपने अंतिम ध्येय की ओर कभी भी उन्मुख नहीं कर सकेगी। हिन्दू–समाज का संपूर्ण व्यवस्थातंत्र ज्ञान, भक्ति, कर्म एव वैराग्य इन चारों स्तंभों पर स्थित है। इनमें से यदि एक भी टूट जाए तो हिन्दू–समाज की व्यवस्था का तंत्र अवश्य छिन्न--भिन्न हो जाएगा। हिन्दू–समाज आज प्रतिदिन जिन समस्याओं का सामना कर रहा है; केवल भक्ति के आचरण मात्र से ही वह उसमें सफल नहीं हो सकेगा और इस आपत्ति-काल में केवल वेदान्त ही वर्तमान विश्व में हिन्दुओं को उनके अपने गौरवास्पद स्थान तक पहुंचाने में समर्थ हो सकेगा।"

भारतीय हिन्दू धर्म–संप्रदाय 'अंधी–अतियों' में चल रहे हैं। कोई स्वाद में तो कोई स्वाद को सर्वथा छोड़ने में। इससे हानि देश एवं हिन्दुत्व की ही हो रही है। दोनों से देश का पौरुष ही क्षीण हो रहा हैं। दो मुँह और एक पेटवाले पक्षी की घटना यहां घटित हो रही है। दोनों मुँह अपने–अपने मन के फल खा रहे हैं, जिससे नुकसान पक्षी को ही हो रहा है, क्योंकि वह अपने जीवन के लिए कोई और ही फल चाह रहा है। इस प्रकार विविध–फल भोक्ता इन संप्रदायों से अंत में तो देश एवं हिन्दुत्व को ही क्षति पहुंच रही है। हमें श्रीकृष्ण की स्त्रैण लीलाएँ नहीं किंतु उनका महाभारतीय प्रचण्ड

1. I entirely agree with the learned scholar (Prof. J.J. Shukla) that the present system of Bhakti, which is ignoring the real purpose of life and denying the proper place of knowledge and selfless action, will never lead the Hindu Society to it's destination. Knowledge, Devotion, Action and detachment are the four pillars on which the edifice of the Hindu Society stands. If any pillar is broken, the palace is bound to perish. Hence Bhakti alone will not solve the problems which the present Hindu Society is facing in day-to-day's life. Only Vedanta can lead the Hindus to their proper place in the present modern world."

[प्रो. शुक्ल के टंकित पत्र के नीचे डॉ. दशरथ ओझा द्वारा स्व-हस्ताक्षरों में प्रकट किया गया मन्तव्य।]

Dr. Dasharath Ojha
Delhi 10-9-85

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गतिशील श्रद्धेय पौरुष एवं 'गीता' की स्थितप्रज्ञता चाहिए, महावीर की परंपरा में परिणत खर-दन्त-विहीनों की अव्यावहारिक अहिंसा नहीं किन्तु जीवन को महावीरत्व प्रदान करने वाले सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-आचार चाहिएं, बुद्ध की वज्रयान शाखा एवं उनके प्रभाव में वर्तमान शैव, शाक्त, वैष्णवों में प्रचलित वामाचार नहीं, किन्तु जीवन को परम संतुलित रखनेवाला मध्यम-मार्ग चाहिए और संपूर्ण भारतीय हिन्दू धर्म-पुरुष को सुनियंत्रित रखने के लिए हमें वेद, उपनिषद् बादरायण व्यास एवं शंकर का परम शुद्ध वेदान्त-ज्ञान चाहिए ।

हिन्दू धर्म मूलतः संप्रदाय निरपेक्ष, एवं विकासोन्मुख रहा है । इसमें देशकालानुसार परिवर्तन होते ही रहे हैं ।[1] वैदिक युग की धर्म-व्यवस्था ज्ञान एवं यज्ञ प्रधान थी । इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य इत्यादि प्रत्यक्ष देवता इस युग में उपास्य थे और इसके प्रणेता थे ब्राह्मण । इसके विरुद्ध पुराण, आगम एवं त्रिपिटक अस्तित्व में आए । जिनके फलस्वरूप अहिंसा-करुणा तथा सगुण-भक्ति की पूजा-उपासना का प्रचार हुआ । इस व्यवस्था के अगुआ अधिकांश में क्षत्रिय ही थे । इसी नवीन आगम-पुराण-त्रिपिटकों की धर्म-व्यवस्था ने वैदिककालीन मंत्र-द्रष्टा, कवि-ऋषि-महर्षि ब्राह्मणत्व को स्तुतिपाठक चारणत्व एवं दयनीय भिक्षुकत्व प्रदान किया तो क्षत्रिय को ईश्वरत्व, तीर्थंकरत्व एवं राजत्व से समलंकृत किया और देखिए, मजे की बात यह कि वेद-उपनिषद् के स्थान पर ब्राह्मण आज भी बड़े चाव से तोते की तरह पुराणों की 'कलावती'-'लीलावती' की कथाएं कहे जा रहे हैं । शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, बौद्ध इत्यादि सभी धर्म इसी वेदान्तेतर व्यवस्था के परिणाम हैं । इनसे भी जैसा कि हम महसूस कर रहे हैं बाह्याचार, ज्ञान-विहीन अंधी भक्ति इत्यादि के कारण जिस प्रकार का हिन्दुत्व को नेतृत्व चाहिए, वैसा उपलब्ध नहीं हो पा रहा है । धार्मिक-क्रांति की दिशा में गतिशील होकर हिन्दुत्व पुनः जीवन एवं धर्म के चिरंतन मूल्यों को ढूंढ़ रहा है और इस परिस्थिति में यदि वेदान्त एवं ज्ञान को उसने पुनः पा लिया तो निश्चित है, इस अमृत-उपलब्धि के बाद उसके लिए कुछ भी पाना शेष नहीं रहेगा ।

इन्हीं तथ्यों को हमने प्रस्तुत ग्रंथ में उभारने का प्रयत्न किया है । वेदान्त अपने शुद्ध रूप में न केवल हिन्दुत्व में अपितु संसार के समस्त धर्मों में व्याप्त होकर उन्हें मानवोचित गुणों से समलंकृत करे यही हमारी कामना है । **'सत्यं परं धीमहि'** क्योंकि वेदान्त ही परम सत्य है ।

श्रेष्ठिवर श्री श्रीकृष्ण अग्रवाल ने सन् १९६७ में हिन्दी साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए 'गुर्जर-भारती' की स्थापना की थी । 'गुर्जर-भारती' शोध-ग्रंथमाला का यह तीसरा शोध-ग्रन्थ है । हम सेठ साहब श्री श्रीकृष्णजी अग्रवाल के आभारी हैं । इस ग्रन्थ को अर्थ-जल से सींचा है श्रेष्ठिवर श्री रामगोपालजी लक्ष्मीनारायणजी गाड़ोदिया दिल्ली ने । आपका स्वभाव अनाम, अज्ञात रहने का है, पर संसार तो स्वभाव की विवशताओं में जीता है । हम कृतज्ञ हैं आपके ।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, २६-८-८६, बुधवार
गुर्जर-भारती ३१, प्रशान्त पार्क, पालडी,
अहमदाबाद-३८०००७

भ्रमरलाल जोशी

(डॉ॰ भ्रमरलाल जोशी)
अध्यक्ष एवं प्रोफेसर हिन्दी विभाग
श्री स्वामिनारायण आर्ट्स कॉलेज
अहमदाबाद-३८००२२

---

(1) "Dharma unlike law was essentially dynamic and Indian seers conceived of reality as formless." The Hindu Codification of Law —Dr. Prabhu

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपोद्‌घात

गुरुवर डॉ. अमरलाल जोशी के निर्देशन में मैंने **'हिन्दी कृष्ण–काव्य में वेदान्त'** शोध–प्रबंध गुजरात विश्वविद्यालय की पी–एच्. डी. उपाधि–हेतु प्रस्तुत किया था। उसीका संशोधित–परिवर्धित रूप है–**'हिन्दी कृष्ण–काव्य में भक्ति एव वेदान्त'**।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रथम अध्याय में कृष्ण, द्वितीय में कृष्ण-भक्ति एवं तृतीय में दर्शन एवं वेदान्त पर विचार किया गया है। हिन्दी कृष्ण–काव्य का कृष्ण पूरी तरह कल्पित होने पर भी कवियों ने इसे ब्रह्म ही माना है। हमने भी समग्र जड़-चेतन को कृष्ण एवं ब्रह्माण्ड की समस्त जड़-चेतन–लीलाओं को कृष्ण की सगुण लीला नाम दिया है। अध्याय चतुर्थ 'अष्टछाप के कवि, जीवन, काव्य भक्ति एवं वेदान्त', तथा पंचम 'अष्टछापेतर हिन्दी कृष्ण–कवि जीवन, काव्य, भक्ति एवं वेदान्त' तथा षष्ठ 'हिन्दीतर प्रदेश के हिन्दी कृष्ण–काव्य में वेदान्त' इन तीनों अध्यायों में जिस हिन्दी कृष्ण–काव्य पर विचार किया गया है, वह इसी समष्टिमूलक कृष्ण को प्रतीक मानकर लिखा गया कृष्ण-काव्य है। समग्र जड़-चेतन कृष्ण है एवं ब्रह्माण्ड ही असल में गोकुल है तथा ब्रह्माण्ड की समस्त–जड़–चेतन की गतिविधियां ही कृष्ण–लीलाएं हैं। अध्याय चतुर्थ में (१) सूरदास (२) कुंभनदास (३) परमानंददास (४) कृष्णदास (५) नंददास (६) गोविंद स्वामी (७) छीतस्वामी (८) चतुर्भुजदास अष्टछाप के इन कवियों तथा अध्याय पंचम में (९) मीरां (१०) रसखान (११) गवरी बाई (१२) भारतेन्दु हरिश्चंद्र (१३) मैथिलीशरण गुप्त (१४) जगन्नाथदास रत्नाकर (१५) द्वारका प्रसाद मिश्र यों कुल पंद्रह कवियों के जीवन, काव्य, भक्ति एवं वेदान्त पर सोद्धरण विस्तारपूर्वक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। साथ ही (१६) देव (१७) बिहारी (१८) अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा (१९) रामधारी सिंह 'दिनकर' इन चार कवियों के कृष्ण–काव्य में निरूपित वेदान्त पर भी विचार किया गया है। षष्ठ अध्याय 'हिन्दीतर प्रदेश के हिन्दी कृष्ण–काव्य में वेदान्त' में हिन्दीतर प्रदेश की हिन्दी साहित्य–सेवा पर विचार करके पंजाब, कश्मीर, असम, बंगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्र, आन्ध्र, कर्णाटक, केरल एवं तमिलनाडु प्रदेशों के हिन्दी कृष्ण–काव्य की महत्ता पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। इसके पश्चात् हिन्दीत्तर प्रदेश के हिन्दी कृष्ण काव्य–निरूपण में मूर्धन्य गुजरात की वैष्णव–भक्ति, गुजरात का हिन्दी कृष्ण–काव्य, दयाराम का व्रजभाषा में निबद्ध विपुल हिन्दी कृष्ण–काव्य, दयाराम की 'सतसई' एवं दयाराम के 'रसिकरंजन' ग्रंथ में निरूपित भक्ति एव वेदान्त पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। यह ध्यान रहे कि हिन्दी कृष्ण–काव्य में वेदान्त निरूपण की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में दयाराम अद्वितीय है। इसी अध्याय में 'स्वामि–नारायण संप्रदाय' के सिद्धान्त एवं इस संप्रदाय के हिन्दी कृष्ण–काव्य पर भी संक्षेप में विचार किया गया है। सप्तम अध्याय 'उपसंहार' में समस्त ग्रन्थ का सार प्रस्तुत किया गया है।

ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा एवं मन को हिन्दी कृष्ण–काव्य में केन्द्रित करना कैसे बन पड़ा? इसे मैं प्रखर आर्य समाजी पूज्य पिता कविराज वैद्य पं. लक्ष्मीनारायण शर्मा, माता विद्योत्तमा देवी, ज्येष्ठ भ्राता डॉ. श्रवणकुमार शर्मा एवं अज्ञात में वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने वाले पूज्य श्वसुरवर्य श्री रघुवीरसहाय पाराशर का आशीर्वाद कहूँ या फिर गुरुवर डॉ. अमरलाल जोशी का वरदान कहूँ? मुझे तो लगता है कि इन सभी का केन्द्रीभूत सत्त्व–पिण्ड ही मेरे अन्तःकरण में निहित वह वेदान्त–बीज है, जो इन्हीं के अनुग्रह–जल से अभिसिंचित हो 'हिन्दी कृष्ण–काव्य में भक्ति एवं वेदान्त' के रूप में अंकुरित एवं पुष्पित हुआ है।

शोधकार्य में 'गुजरात विश्वविद्यालय–ग्रन्थालय, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद की रीजनल कोपीराइटर लाइब्रेरी, गुजरात विद्यासभा (गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी), श्री स्वामिनारायण आर्ट्स कॉलेज एवं इस विद्या-संस्थान के प्राचार्य प्रो. नटुभाई ठक्कर, 'कृष्ण–प्रिन्टर्स' के स्वामी प्रो. झाला एवं प्रो. राजगुरु के प्रति श्रद्धानत हो, मैं यह 'वाक्यपुष्पोपहारम्' समर्पित करती हूँ।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, बुधवार
दि. २६–८–८६

डॉ. संतोष पाराशर
एम्.ए., पी–एच्.डी.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मतियाँ

'हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति एवं वेदान्त' शोध–प्रबन्ध का मैंने आद्योपान्त अवलोकन किया। मुझे इस ग्रंथ में हिंदी एवं हिन्दीतर प्रदेश के हिन्दी कृष्ण–कवियों के दार्शनिक चिंतन का एक नया आयाम मिला। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि डॉ. संतोष पाराशर ने मनोनिवेशपूर्वक विभिन्न भाषाओं के कृष्ण–काव्यों का विधिवत् अध्ययन किया है। देश के विभिन्न भागों में बिखरे हुए इन कृष्ण भक्त–कवियों ने सारे देश की सांस्कृतिक एकता को लक्ष्य मानकर उसके केन्द्र में अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त को प्रस्थापित कर कृष्ण–काव्य की जो समीक्षा की है, वह अपने आप में सर्वथा मौलिक एवं प्रशस्य कार्य है। ग्रंथ में सर्वत्र वेदान्त ज्ञान, कर्म और उपासना का सामंजस्य समान रूप से पाया जाता है।

ग्रन्थ में शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि वेदान्ताचार्यों एवं नास्तिक–आस्तिक दार्शनिक परंपराओं का विश्लेषण करके तत्पश्चात् सूरदास से लेकर डॉ. द्वारकाप्रसाद मिश्र तक विरचित कृष्ण–काव्य एवं हिन्दीतर प्रदेश के हिन्दी कृष्ण–कवियों का भी अवगाहन करके हिन्दी कृष्ण–काव्य में वेदान्त रत्न ढूँढे हैं, वे दर्शनीय हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में हिन्दी प्रदेश के साथ–साथ हिन्दीतर प्रदेश की हिन्दी कृष्ण काव्य परंपरा पर भी विचार किया गया है। इस कारण एक व्यापक दृष्टि बन गई है, जो सारे देश और समग्र भारतीयता को अपने अंदर समेट लेती हैं। राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ की उपदेयता सिद्ध होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में निर्गुण–सगुण दोनों वेदान्त–सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है। यह ग्रन्थ दार्शनिक विषयों पर शोध करने वालों के लिए भी पथ प्रदर्शक होगा। इसमें भावी शोधार्थियों के लिए प्रचुर नवीन सामग्री उपलब्ध है। विषयों का विवेचन बड़ी ही वैज्ञानिक एवं तर्कपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया गया है।

—डॉ. दशरथ ओझा
दिल्ली विश्व विद्यालय, दिल्ली

डॉ. संतोष पाराशर के **"हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति एवं वेदान्त"** शीर्षक ग्रन्थ को पढ़ कर आनन्द हुआ। आपने भारतीय तत्त्वज्ञान के दर्शन ग्रन्थों का परिचय देकर हिन्दी भाषा में तत्त्वविचार को हस्तामलकवत् सरल कर दिया है। सन्दर्भ ग्रन्थों का परिशीलन भी काफी रूप में किया दृष्टिगत होता है। एक बात निश्चित है कि भारतवर्ष की प्राचीनतम विचारधारा में ब्रह्म, जीव और जगत् का विचार 'ऋग्वेद' में और बाद में उपनिषदों में हुआ। दर्शनशास्त्रों का विकास भी इस प्रकार के तत्त्वविचार में आगे होता रहा। हमारे ये विचार इतने प्राचीन हैं कि यूरोप में ई. पू. सातवीं सदी से लेकर जो विचार हुआ, उसके साथ इनका कोई संबंध नहीं दीख पड़ता। भारतवर्ष के मध्यकालीन विभिन्न भाषा–कवियों ने ज्ञान एवं भक्ति के विपुल साहित्य का सर्जन किया। जिसमें हमारी भारतीय प्राणाली ही अनुस्यूत रही है। हाँ, ऐसा जरूर हुआ है कि अन्य दर्शनों को छोड़कर वेदान्त दर्शन का ही अनुसरण होता रहा। हमारे भाषा–कवियों ने इस विचारधारा को अच्छी तरह से पचाया और विपुल प्रमाण में अनेक विध रचनाओं में सरल स्वरूप में देने का प्रशस्य प्रयत्न किया। डॉ. संतोष ने मुख्यतया हिन्दी प्रदेश के हिन्दी कवियों की और गौणतया भारतवर्ष के अन्यान्य प्रदेशों के हिन्दी–कृष्ण–कवियों के प्रदानों को भी प्रस्तुत किया है।

भारतवर्ष में दो प्रकार के भक्त कवि हुए हैं। एक शुद्ध भक्ति मार्गी हैं, जिनकी रचनाओं में मात्र भक्ति तत्त्व और प्रभु की लीलाओं का गान है, जैसे कि सूरदासादि अष्टछापीय कवि, अन्य वल्लभीय वैष्णव कविगण तथा गुजरात के दयाराम एवं 'स्वामिनारायण सम्प्रदाय' के कवि। दूसरा प्रकार ज्ञानमार्गी कवियों का है, जिनकी रचनाएं भी भक्तिमिश्र ज्ञान की हैं। गुजराती कवि अखा भक्त इस प्रकार में आता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर, नानक आदि की यह कोटि है। डॉ. संतोष ने इन सब कवियों की रचनाओं का अभ्यास करके अपना ध्येय सफल किया है। यह ग्रन्थ मात्र निरूपणात्मक ही नहीं है, अपितु अनुसन्धान की दृष्टि से भी लिखा गया है।

मैं इस ग्रन्थ के लिए डॉ संतोष पाराशर की सराहना करता हूं।

मधुवन, नवरंगपुरा
अहमदाबाद–३८०००६
दिनाक. २–९–८६

प्राध्यापक, केशवराम का. शास्त्री
डाइरेक्टर गुजरात रिसर्च इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद.

भारतीय साहित्य और दर्शन में श्रीकृष्ण के अलौकिक चरित्र एवं उनकी विभिन्न लीलाओं इत्यादि का विशुद्ध विवरण, विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के दर्शन और साहित्य में ही नहीं मिलता बल्कि शोधपरक ग्रन्थों में भी मिलता है और जिनसे हमें ज्ञात होता है कि उनकी लीलाओं एवं उपदेशों का कितना गहरा प्रभाव भारत के जनजीवन पर ही नहीं बल्कि विभिन्न ललित कलाओं के साथ–साथ वास्तुकला, सामाजिक आचार–विचार, वेशभूषा और खानपान तक पर पड़ा है। फिर भी हिन्दी कृष्ण–काव्य के संदर्भ में, कृष्ण भक्ति की साधना–पद्धतियों एवं वेदान्त का सांगोपांग, शोधपरक एवं विद्वत्तापूर्ण अनुशीलन अभी तक नहीं हो पाया था, यह आश्चर्य का विषय है।

डॉ. संतोष पाराशर ने अपने इस शोध–प्रबंध **'हिन्दी कृष्ण काव्य में भक्ति एवं वेदान्त'** में, भारतीय साधना–पद्धतियों के विभिन्न स्वरूपों में स्थापित श्रीकृष्ण का तात्त्विक विवेचनकर, अनेक मौलिक स्थापनाएं प्रस्तुत की हैं। अपने इस महद् कार्य को व्यवस्थित रूप में सम्पन्न करने के लिए डॉ. संतोष पाराशर ने वेद, वेदांगों से लेकर श्रीकृष्ण संबंधी आधुनिकतम धार्मिक दार्शनिक, साहित्यिक और सामाजिक शोध एवं समीक्षात्मक ग्रन्थों का गहन अनुशीलनकर, बुद्धिगम्य तर्कों के आधार पर अपने तथ्यात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। आपने अपने इन निष्कर्षों में एक मौलिक एवं चिन्तनात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है और बड़ी ही मार्मिक शैली में इस दुर्बोध विषय को जनसुलभ बनाने का प्रयत्न किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ में स्थापित निष्कर्षों के अध्ययन से, हिन्दी कृष्ण भक्ति–काव्य के किसी भी ज्ञानपिपासु तत्त्वचिन्तक को वेदान्त जैसे दुर्बोध विषय को एक नये दृष्टिकोण से परखने का अवसर उपलब्ध होगा। इस 'प्रबंध' की सर्वाधिक विशेषता यह कि इसमें हिन्दी एवं हिन्दीतर प्रदेश के समस्त भारतीय कृष्ण–काव्य की निष्पक्ष दृष्टि से समीक्षा की गई है। मैं डॉ. संतोष पाराशर को उनके इस परिश्रमसाध्य गवेषणापूर्ण अध्ययन को, कृष्ण–काव्य के मर्मज्ञों तक इस सुबोध शैली में पहुंचाने के उपलक्ष में हार्दिक बधाई देता हूं। एवमस्तु।

प्रोफेसर्स क्वार्टर्स,
युनीवर्सिटी क्वार्टर्स मार्ग,
नवरंगपुरा, अहमदाबाद–३८०००९
१–९–८६

डॉ. भगवतशरण अग्रवाल
अध्यक्ष एवं प्रोफेसर इनचार्ज
गुजरात विश्वविद्यालय हिन्दी स्नातकोत्तर केन्द्र
एल्.डी. आर्ट्स कॉलेज, अहमदाबाद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रयुक्त महत्त्वपूर्ण न्याय, दर्शन, वेदान्त-मत, वाद, सम्प्रदाय

(अंक पृष्ठ संख्या के द्योतक हैं।)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ॥

विषयानुक्रमणिका [अंक पृष्ठ संख्या के द्योतक हैं ।]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी कृष्ण–काव्य में भक्ति एवं वेदान्त : 'सार–सार को गहि रहु……'

* हिन्दी का निर्गुण–सगुण समस्त साहित्य अध्यात्म मूलक है । –आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी पृ–१२६
* ……तो किसीका भी अध्यात्म स्थूल सगुण नहीं किंतु सूक्ष्म निर्गुण ही हो सकता है । पृ–३३९
* वेदान्त विज्ञान की ही भांति विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक अध्यात्मशास्त्र होने से स्थूल सगुण नहीं किंतु सूक्ष्म निर्गुण ही इसका प्रतिपाद्य है । पृ-३३८
* निर्गुण ब्रह्म को ही हमने कृष्ण नाम दिया है, जो व्यक्तिवाचक नहीं किंतु समस्त जड़–चेतन का टोटल होने से समूहवाचक है । पृ–११४
* हिन्दी कृष्ण–कवियों का आलंबन भी यही अध्यात्म–मूलक निर्गुण ब्रह्म कृष्ण है । कवि–कल्पित स्थूल गोकुल–लीलाएँ 'बुद्धयर्थपादवत्' (ब्रह्मसूत्र) के अनुसार प्रतीकात्मक एवं रूपक की भाषा में समझाने मात्र के लिए हैं । नहीं तो, ब्रह्माण्ड की जड़–चेतन की समस्त सर्जन–विसर्जन की लीला ही कृष्ण–लीला है । पृ–११४
* सोलहवीं सदी से प्रारंभ भारतीय भक्ति आंदोलन की ज्ञान–वैराग्य–पौरुषहीन स्थूल–सगुण भक्ति ने देश एवं हिन्दू समाज के संगठन, स्थिरता एवं अस्तित्व के सभी आवश्यक तत्त्व समूल नष्ट कर दिए हैं । डॉ. जे. जे. शुक्ल प्राक्कथन–पृ–८
* ऐसे आपत्तिकाल में हिन्दुत्व एवं देश को केवल वेदान्त ही बचा सकता है और यही उसे पुनः अपने प्राचीन गौरवास्पद स्थान पर समासीन कर सकता है । –डॉ. दशरथ ओझा, दिल्ली, प्राक्कथन पृ–७
* धर्म, समाज, राज्यव्यवस्था किसी भी क्षेत्र की किसी विशेष देशकाल की क्रान्ति सफल होने पर वह यदि किसी धर्म विशेष, संप्रदाय विशेष, सामाजिक–राजनीतिक संगठन विशेष का रूप धारण कर स्वार्थ सिद्धि का जरिया बन कर रूढ़ हो जाती है, तो वह निश्चित ही समाज के गले की केन्सर की गांठ बन कर उसे तबाह कर देती हैं । देखा जाए तो देश–काल के अनुसार न बदलने वाले संसार के धर्म–संप्रदाय भी समाज के गले की ऐसी ही गांठें बन गई हैं । —डॉ. भ्रमरलाल जोशी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ॥

प्रथम अध्याय

कृष्ण

* कृष्ण : वेदों–उपनिषदों में ।
* कृष्ण : महाभारत–पुराणों में ।
* कृष्ण : संस्कृत–प्राकृत–अपभ्रंश साहित्य में ।
* कृष्ण : हिन्दी एवं इतर आर्य, आर्येतर भाषाओं के साहित्य में ।
* राधा : कृष्ण की ही भांति आभीर एवं आयर जाति की कल्पित देवी ।

आज जो कृष्ण हमारे सामने हैं, वे असीरिया की घुमक्कड़ म्लेच्छ आभीर जाति के कल्पित बालदेवता कृष्ण, दक्षिण भारत की आयर जाति के कल्पित बालदेवता कृष्ण, ईसामसीह के अनुकरण पर कल्पित–चरित कृष्ण, चौबीस अवतारों के मूल पौराणिक विष्णु के माहात्म्य से सम्पन्न कल्पित कृष्ण एवं 'महाभारत' के आंशिक ऐतिहासिक कृष्ण, यों पांच कृष्णचरितों के मिश्रित रूप हैं । कवि, पौराणिक–भक्तों द्वारा यही कृष्ण नटखट शिशु, प्रेम की सर्वोच्च भूमि पर नर्तित रस–लुब्ध भ्रमर, प्रेमी, पति, जार, सहृदयमित्र, योद्धा, दार्शनिक, ब्रह्म, भगवान्, ईश्वर इत्यादि विविध भूमिकाओं में रूपायित हुआ है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

।। ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ।।

प्रथम अध्याय

कृष्ण

कृष्णचरित वेदान्त की ही भाँति गूढ़ है । विविध जनश्रुतियों, दार्शनिक–धार्मिक संप्रदायों, पौराणिक एवं कवि–कल्पनाओं ने इसके गुंफन में महत्त्वपूर्ण योग दिया है । दार्शनिक–धार्मिक संप्रदायों ने इसे ब्रह्म एवं भगवान्, तो कवियों ने इसे रसनायक के रूप में निरूपित किया है । विगत दो सहस्राब्दियों से भी अधिक काल से इसके विराट् व्यक्तित्व ने भारत के आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों क्षेत्रों को समान रूप से आवृत्त कर रखा है । इसमें इतिहास एवं कल्पना का ऐसा समन्वय हुआ है कि इसमें से ऐतिहासिक कृष्ण को खोज पाना असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है ।

कृष्णचरित भारतीय वाङ्मय में वेदों से लेकर अद्यावधि तक व्याप्त है । वेद, उपनिषद, पुराण, संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी इत्यादि आर्य तथा आर्येतर भाषाओं में कृष्ण का निरूपण मिलता है । प्राचीन एवं आधुनिक कृष्ण–विषयक ग्रंथों, उल्लेखों, उपलब्ध प्रमाणों, शोधलेख इत्यादि के आधार पर हम कृष्ण के चरित पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहे हैं ।

संशोधकों की मान्यता है कि जाह्नवी जैसे अनेक जलस्रोतों का संगम है, वैसे ही आज जो कृष्ण चरित हमें उपलब्ध है, वह भी एकाधिक कृष्णनामवाची महापुरुषों का समन्वित रूप है ।

वेदों में कृष्ण :–कृष्ण का नाम ऋग्वेद के प्रथम, अष्टम और दशम इन तीन मंडलों में भिन्न–भिन्न संदर्भों में मिलता है । ऋग्वेद के अष्टम मंडल के ८५वें सूक्त के स्तोता कृष्ण आंगिरस ऋषि हैं । कृष्ण आंगिरस अश्विनीकुमारों को यज्ञ में सोमपान के लिए आमंत्रित करते हुए उनसे ऐश्वर्य की कामना कर रहे हैं । तीसरी ऋचा में कृष्ण के नाम का भी उल्लेख है–**अयं वां कृष्णो अश्विना हवते** ।

आंगिरसों का वैदिक मंत्र रचयिताओं में श्रेष्ठ एवं प्रथम स्थान था । वैदिक युग में आंगिरस गौत्रीय मंत्रगायक कवि[1] कहलाते थे । कवि–रचित विस्मृत गान को अपनी मेधा एवं प्रतिभा के बल से ढूंढ़कर संकलित करनेवाले मंत्र–द्रष्टा ऋषि कहलाए । मंत्रों के गायक, रचनाकार कवि और उनके संकलन कर्ता द्रष्टा ऋषि थे–**"ऋषिर्दर्शनात् यः परोक्षं पश्यति सः ऋषिः"**[2]

इस प्रकार वैदिक काल में कृष्ण आंगिरसों का स्थान ऋषियों से भी श्रेष्ठ था । आंगिरस गौत्रीय कवियों की भांति ऋषि भी स्वतंत्र रूप से मंत्र रचना करने लगे थे, पर ऐतिहासिक दृष्टि से यह परवर्ती घटना है ।

---

१. 'कवृ'वर्णे', "कै" शब्दे, "कु" 'शब्दे, सिद्धान्तकौमुदी ।यों कवि शब्द की व्युत्पत्ति कवृ वर्णे धातु से है ।

२. निरुक्त, यास्क २ ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेद के दशम मंडल के ४२वें सूक्त के तृतीय अध्याय में कृष्ण आंगिरस तीन ऋचाओं में अश्विनी-कुमारों की स्तुति कर रहे हैं तथा इसी मंडल के ४४वें सूक्त के चतुर्थ अध्याय की ग्यारह ऋचाओं में वे धन, बल, गुण इत्यादि की कामना करते हुए इन्द्र की स्तुति कर रहे हैं। वे इन्द्र से प्रार्थना करते हैं–'आयांत्विन्द्रः स्वपतिमदाय'। ऋग्वेद के अष्टम मंडल के ८७वें सूक्त के स्तोता कृष्ण के पुत्र विश्वक हैं। विश्वक अपने पुत्र या पौत्र विष्णापू के लिए धन की कामना करते हैं। ऋग्वेद के अष्टम मंडल के ८६वें सूक्त में कृष्ण नामक एक असुर का उल्लेख है। वह दस सहस्र असुरों की सेना के साथ अंशुमती नदी के निकट रहता है। इन्द्र उसका वध करता है–अवद्रप्स्ते अंशुमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।' ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६वें सूक्त में कृष्ण नाम वाची व्यक्ति विश्वकाय नामक अपने पुत्र को जीवित कराने के लिए अश्विनीकुमारों की स्तुति करता हैं–

अपस्यते स्तुवंते कृष्णियाय ऋजूयते।
पशुं न नष्टमिव दर्शनाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय॥

ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १०१वें सूक्त में इन्द्र ऋजिश्वा की सहायता से कृष्ण नामक असुर की सगर्भा स्त्रियों का वध करता है–

प्रमन्दिते पितुमदर्चता वयोयः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना।

इस प्रकार ऋग्वेद में कृष्ण के नाम का कृष्ण आंगिरस कवि (ऋषि), कृष्ण एवं उनके पुत्र विश्वक, विश्वक एवं उनके पुत्र या पौत्र विष्णापू, तथा कृष्ण नामक असुर के रूप में उल्लेख मिलता है।

उपनिषदों में कृष्ण :–उपनिषद्, आरण्यक एवं ब्राह्मण–ग्रंथों में भी कृष्ण का उल्लेख मिलता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' सामवेद का उपनिषद् है। यह बौद्ध काल से भी प्राचीन माना गया है। इस उपनिषद् में अंगिरा के पुत्र घोर ऋषि ने अपने शिष्य देवकी पुत्र कृष्ण को यज्ञशास्त्र सुनाया था। जिसको सुनकर वह अन्य विद्याओं के विषय में तृष्णा रहित हो गया। उस घोर ऋषि ने देवकी पुत्र कृष्ण से कहा कि उसको अपनी मृत्यु के समय इन मंत्रों का जप करना चाहिए–

(१) **अक्षितम् असि** = तू नाश रहित है।[1]
(२) **अच्युतम् असि** = तू अविनाशी है।
(३) **प्राणसंशितम् असि** = तू अति सूक्ष्म प्राण है।

तद्धैतद्घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥६॥

यह यज्ञविद्या ऐसी है कि इस यज्ञ दर्शन का श्रवण करके देवकी पुत्र अन्य विद्याओं में तृष्णा रहित हो गए।

(१) तू अक्षय है। इस कथन के द्वारा आदित्य में रहनेवाले पुरुष और प्राण की एकता का प्रतिपादन किया गया है।

(२) तू अच्युत है, तू अपने स्वरूप से च्युत नहीं होने वाला है।

---

१. छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय ३–सस्तु साहित्यवर्द्धक–पृष्ठ ३१४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) तू प्राण संशित है । अर्थात् सम्यक् रूप से सूक्ष्म किया गया है, वह भी तू है ।

इन तीन मंत्रों का मृत्यु के समय स्मरण करने को कहा गया है ।

श्रीकृष्ण ने 'गीता' में कहा है कि वेदों में मैं सामवेद हूँ । 'गीता' में आत्मा के अमृततत्त्व का उल्लेख है । अंगिरा के पुत्र घोर नामक ऋषि ने देवकी पुत्र कृष्ण को जो तीन मंत्र दिए हैं, वे संभव है, 'गीता' में निरूपित आत्मा के अमृततत्त्व के बीज रूप हों । 'गीता' का रचनाकार कोई भी हो, उसने इसी को लक्ष्य में रखकर तो कहीं कृष्ण को 'गीता' के नाम के साथ संलग्न नहीं कर दिया है ? 'छान्दोग्योपनिषद्' में तत्त्वज्ञान, कर्म और ज्ञान–उपासना का विस्तृत वर्णन किया गया है। 'ऐतरेय–आरण्यक' में कृष्ण हारीत नामक महर्षि का उल्लेख है, जिन्होंने अपने पुत्र को वाणी रूपी ब्राह्मण संहिता की उपासना का उपदेश दिया है—

अथ हास्या एतत्कृष्ण हारितो ।
वाग्ब्रह्मणामिवोपोदाहरति, इति ।[1]

तैत्तिरीय–आरण्यक' में भी कृष्ण के देवत्व का उल्लेख हैं'[2] तथा कौशीतकी ब्राह्मण में भी कृष्ण का उल्लेख मिलता है–

कृष्णो ह तदांगिरसो ब्राह्मणान् छन्दसीय तृतीयं सवनं ददर्श

इस प्रकार प्राचीन वैदिक साहित्य में कृष्ण का उल्लेख मिलता है, पर हमारे काव्य एवं वेदान्त के आलंबन सुप्रसिद्ध कृष्ण के साथ इनका किसी भी तरह का संबंध नहीं है ।

'महाभारत' में कृष्ण :–'महाभारत' में कृष्ण दो रूपों में निरूपित हुए हैं–महापुरुष के रूप में एवं देवता के रूप में । 'महाभारत' का रचनाकाल ३५० ई. पूर्व माना गया है ।[3]

'महाभारत' का महद् अंश प्रक्षिप्त है । 'हरिवंशपुराण' 'महाभारत' का खिल अंश अर्थात् प्रक्षिप्त अंश है । इसमें श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया गया है । विन्टर निट्ज ने इसको 'महाभारत' का प्रक्षिप्त अंश माना है । इसका रचना काल चौथी शताब्दी है ।[4] विन्टर निट्ज ने 'महाभारत' के तीन संस्करण माने हैं, अर्थात् 'महाभारत' तीन बार संपादित हुआ है । प्रथम संस्करण में ८८०० श्लोक हैं । दूसरे संस्करण में २४००० श्लोक हैं और तीसरे संस्करण में १००००० (एक लाख) श्लोक हैं ।[5] 'महाभारत' के जिस अंश में कृष्ण का महापुरुष के रूप में चित्रण हुआ है, वह अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है तथा देवता एवं व्रजवासी गोपाल कृष्ण के रूप का जो अंश है वह परवर्ती काल्पनिक एवं प्रक्षिप्त अंश है ।[6] कृष्ण जब पांडवों के सलाहकार के रूप में होते हैं तब वे पूर्ण मानव हैं । कई ब्राह्मण कहते हैं–''मूर्ख लोग ही कृष्ण को जगत् का कर्ता मानते हैं और तो ठीक कृष्ण स्वयं को क्षत्रिय से ब्राह्मण तक नहीं बना सके''–

यद्ययं जगतः कर्ता यथैनम्मूर्ख मन्यसे ।
कस्मान्न ब्राह्मणं सम्यगात्मानमवगच्छति ।।[7]

---

१. ऐतरेय–आरण्यक–वे. शा. रा. रा. बाबा शास्त्री फडके, आनंद आश्रम मुद्रणालय—१८९८

२. तैत्तिरीय–आरण्यक–१०. १. ६

३. वैष्णवधर्म नो संक्षिप्त इतिहास–दु. के. शास्त्री–पृ. ३९

४. हरिवंश का सांस्कृतिक अध्ययन, आमुख–१२

५. –वही–

६. हरिवंश का सांस्कृतिक अध्यथन आमुख, १२–पृष्ठ ४० ७. महाभारत २/४३/६११

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तंक नामक ऋषि कृष्ण को शाप देने को उद्यत होते हैं, जिससे प्रकट होता है कि कृष्ण मानव हैं। सभापर्व[1], वनपर्व तथा शांतिपर्व[2] में कृष्ण के गोपाल स्वरूप का निर्देश है। इसे भी विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है।[3] 'महाभारत' में कृष्ण को ब्रह्मा, विष्णु, देवता इत्यादि रूपों में भी माना है। कृष्ण युधिष्ठिर रूपी धर्म-वृक्ष के मूल हैं। वे ब्रह्म हैं तथा अर्जुन, भीम आदि शाखाएँ हैं–

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखा।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे, मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च॥ महाभारत, १-१-१०१

राजसूय यज्ञ की अग्रपूजा में कृष्ण को विष्णु स्वरूप मानकर भीष्म उनकी स्तुति करते हैं।[4] वनपर्व में कृष्ण के प्रलयकाल में वट पत्र पर शयन करने वाले विष्णु कृष्ण हैं, ऐसा वर्णन मिलता है—

यः स देवो मया दृष्टः पुरापद्मायतेक्षणः। स एष पुरुषव्याघ्र संबंधस्ते जनार्दनः॥
महाभारत, वनपर्व-३-१९१

यदि हम 'महाभारत' में वर्णित कृष्ण को केवल साधारण राजनीतिज्ञ योद्धा ही मानें तो कृष्ण ईश्वर के अवतार हैं, ऐसा स्वीकार करने का आधार ही नहीं रह जाता। ऐसा बहुसंख्यक विद्वान् मानते हैं कि 'गीता' महाभारत-काल की ही रचना है। यदि यह ठीक है तो 'महाभारत' काल में कृष्ण एक ओर जहाँ वीर योद्धा थे तो दूसरी ओर वे वासुदेव, नारायण और ईश्वर के अवतार भी थे। अधिक विद्वानों की यह मान्यता है कि महाभारत-काल में कृष्ण में अवतारत्व का आरोप होने लगा था।[5] 'महाभारत' में 'गोविंद' शब्द मिलता है। उसका अर्थ गोचारण करने वाले कृष्ण नहीं किन्तु 'गो' अर्थात् पृथ्वी, विंद अर्थात् रक्षा करनेवाले। यह एक प्रसिद्ध पुराण कथा है कि विष्णु ने वराह अवतार लेकर पृथ्वी की रक्षा की थी। डॉ. भंडारकर ने 'गोविंद' शब्द को गो + विंद शब्द से व्युत्पन्न माना है। डॉ. भंडारकर ने केशीनिसूदन को भी कृष्ण का नाम न मानकर इन्द्र का विशेषण माना है।[6] जैसे गोविंद, गोपाल, कृष्ण जैसे विशेषणों का संबंध कृष्ण से कर दिया गया, वैसे ही ऋग्वेद में प्रयुक्त गो, वृष्णि, गोप, व्रज, राधा रोहिणी इन नामों का कृष्ण के साथ संबंध न होने पर भी इनको कृष्ण के साथ जोड़ दिया गया है, जिस प्रकार घोर आंगिरस कृष्ण का संबंध 'महाभारत' के कृष्ण के साथ जोड़ दिया गया है, उसी तरह गोविंद, गोपाल, कृष्ण, गो, गोप, विष्णु, राधा, रोहिणी और अर्जुन शब्दों का संबंध भी पुराणकाल में कृष्ण के साथ जोड़ दिया गया है।[7] 'महाभारत' में द्वारकावासी कृष्ण के जीवन का वर्णन मिलता है और वह भी बाल एवं किशोर नहीं पर समर्थ योद्धा, राजनीतिज्ञ एवं दार्शनिक के रूप में। कृष्ण के वासुदेव नाम की प्रतिष्ठा 'महाभारत' में तीन रूपों में बताई गई है—(१) व्यापकता की दृष्टि से जगत् के निवास रूप एवं जगत् के प्रकाशक सूर्य रूप होने से।[8] (२) वृष्णियों में वासुदेव नाम से प्रसिद्ध होने

१. महाभारत २/२२/४-३९, ३६, ४४ २. महाभारत १, १२ ४३-४४
३. सूर और उनका साहित्य-पृष्ठ १२४
४. महाभारत १२, सभापर्व ४३-७५
५. सूर और उनका साहित्य-पृष्ठ १२४
६. **Vaishnavism & Shaivism-Bhandarkar-51**
७. वही
८. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३४२, श्लोक २०-२१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण ।[1] (३) वासुदेव उपाधिधारी पौण्ड्रक राजा पुरुषोत्तम तथा करवीरपुर के राजा शृगाल का वध करके अपने एकमात्र वासुदेवत्व को प्रमाणित करने के कारण ।[2]

'गीता' में इस प्रकार का उल्लेख है-"कृष्ण कहते हैं- वृष्णियों में मैं वासुदेव हूँ तथा खिल 'हरिवंश' में कृष्ण के वासुदेवत्व की प्रतिष्ठा के संकेतों से यह स्पष्ट होता है कि कृष्ण द्वितीय वासुदेव हैं।[3]

'महाभारत' एवं पुराणों में कृष्ण वासुदेव संबंधी उल्लेख मिलते हैं। उनसे भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या कृष्ण और वासुदेव दो भिन्न व्यक्ति हैं ? विद्वानों का यह मत है कि 'महाभारत' में कृष्ण ही वासुदेव हैं, ऐसा प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता' और 'अनुगीता' की रचना के मध्यवर्ती समय में वासुदेव, कृष्ण और विष्णु इन तीनों का एकीकरण हो चुका था।[4]

डॉ. भंडारकर मानते हैं कि वासुदेव, नारायण तथा विष्णु के एकीकरण ने वैष्णवधर्म, भागवतधर्म या सात्वतधर्म के लिए एक पुष्ट आधार भूमि तैयार की।[5] कृष्ण एवं वासुदेव ये दो भिन्न व्यक्ति हैं, ऐसा कई विद्वान् स्पष्ट रूप से मानते हैं तथा धर्म के संस्थापक वासुदेव एवं वृष्णिवंशी सात्वत वासुदेव भी भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। परवर्ती समान भावभूमि ने नाम साम्य के कारण दो भिन्न व्यक्तियों को एक बना दिया है। इस एकत्व में लोक प्रचलित कथाओं ने भी पर्याप्त योग दिया है।[6]

इसमें कोई संदेह नहीं कि कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को किंचित् अंश में प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम प्रयास 'महाभारत' में हुआ है। यों वेद, उपनिषद्, पुराण, काव्य इत्यादि में कृष्ण विषयक या कृष्ण नामवाची उल्लेख मिलते हैं पर वे ऐतिहासिक नहीं कहे जा सकते। 'महाभारत' किसी अंश में ऐतिहासिक ग्रंथ तो है ही। 'महाभारत' में कृष्ण के व्यक्तित्व की तीन स्थितियां तो स्पष्ट हैं-(१) सामान्य मानव, अर्जुन के मित्र और पांडवों के हितेच्छु एवं सलाहकार, (२) लौकिक एवं अलौकिक शक्ति संपन्न, (३) परब्रह्म।[7]

डॉ. मुंशीराम शर्मा की मान्यता है कि 'गीता' के द्वारा यह भी सिद्ध नहीं होता कि वासुदेव और नारायण अभिन्न हैं। इन दोनों के एकत्व की भूमिका बाद में घटित हुई।[8] द्वारकाधीश कृष्ण का वर्णन 'महाभारत' में हुआ है और उसी 'महाभारत' के खिल अंश 'हरिवंशपुराण' में गोपाल कृष्ण की भावना का विकास हुआ।[9] इससे यह तो स्पष्ट है कि गोपाल कृष्ण की कल्पना 'महाभारत' के बाद की है क्योंकि 'हरिवंश' 'महाभारत' का प्रक्षिप्त अंश है। इस पुराण में कृष्ण ने स्वयं को पशुपालक कहा है। साथ ही इसी पुराण में गोवर्द्धन-पूजा तथा श्रीकृष्ण के व्रज-वृन्दावन निवास का उल्लेख भी मिलता है।[10] इस प्रकार इतना स्पष्ट हो जाता है कि गोपाल कृष्ण की भावना का समय ईसा की पहली और तीसरी शताब्दी के मध्य का संभव है। आभीरों के देवता गोपाल थे। इसी कारण गोपाल कृष्ण की भावना

---

१. 'गीता'-"वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि १०-३७
२. 'हरिवंशपुराण' विष्णुपर्व ४४/२२-२९
३. हिन्दी कृणकाव्य परंपरा का स्वरूप विकास, पृष्ठ-१६
४. वही— पृ. १६
५. हिन्दी कृष्णकाव्य-परंपरा का स्वरूप विकास,-पृष्ठ १७
६. हिन्दी कृष्णकाव्य-परंपरा का स्वरूप विकास,-पृष्ठ १७
७. The Cultural Heritage of Inda-Vo1.II-Page85-Dr. Rama Swami Aiyor
८. भक्ति कां विकास-डॉ. मुंशीराम शर्मा-पृष्ठ २५४
९. हरिवंशपुराण, श्लोक-३८०८
१०.—वही— -३५३२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्‌भूत हुई । फिर भी इसीने वैष्णव धर्म की परंपराओं को सर्वाधिक प्रभावित किया ।[1] डॉ. भंडारकर ने यह भी कहा है कि आभीर जाति का 'कृष्ण' शब्द पश्चिम के क्राइस्ट शब्द का रूपांतर है ।[2]

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि आभीरों का राजा ईश्वरसेन गोपाल कृष्ण का उपासक था ।[3] आगे चलकर के इसी वंश के आभीर राजाओं ने अपने प्रभाव से गोपालकृष्ण को वासुदेव कृष्ण के साथ जोड़ दिया । इस प्रकार परवर्तीकाल में 'महाभारत' के वासुदेव कृष्ण ब्रह्म के अवतार ही नहीं रहे, वे गोपाल कृष्ण में रूपांतरित हो गए और गोपाल कृष्ण की लीलाएं 'महाभारत' के वासुदेव कृष्ण अर्थात् द्वारकावासी कृष्ण की लीलाएँ बन गई ।[4] ऐसे कुछ उदाहरण मिलते हैं कि इन आभीरों ने अपने प्रभाव से गोपाल कृष्ण की उपासना का भी बलपूर्वक प्रचार किया था । यह कहाँ तक ठीक है, यह एक संशोधन का विषय है । 'दिनकरजी' ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है कि द्वारका का प्रसिद्ध कृष्ण मंदिर पहले सूर्य मंदिर था ।[5] गोपाल कृष्ण एवं वासुदेव कृष्ण की लीलाओं के ऐक्य का परिणाम यह हुआ कि 'नारद पांचरात्र' की ज्ञानामृत सार संहिता में कृष्ण की बाल लीलाओं का वर्णन किया गया है । डॉ. भंडारकर ने इस संहिता का रचना काल चौथी शताब्दी के बाद का बताया है । डॉ. भंडारकर का कथन है कि गोपाल कृष्ण की रासलीला एवं गोपी लीलाएं भी परवर्ती काल की कल्पना है और बाद में पुराणों में इन लीलाओं का समावेश कर लिया गया.[6]

दक्षिण भारत में कृष्ण की बाल लीलाओं का प्रचार ईसा की प्रथम शताब्दी तक हो चुका था । दक्षिण के तमिल कवियों ने इसी काल में कृष्ण की बाल लीलाओं का वर्णन किया है । इससे स्पष्ट होता है कि गोपाल कृष्ण की भक्ति एवं पांचरात्र धर्म ईसा की पहली शताब्दी पूर्व ही दक्षिण के तमिल प्रदेश में पहुँच चुके थे । 'महाभारत' में कृष्ण को महामानव के साथ-साथ देवता एवं ब्रह्म के रूप में भी निरूपित किया है । पुराणों में श्रीकृष्ण के ब्रह्म रूप को ही मुख्यतः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है । 'हरिवंशपुराण', 'ब्रह्मवैवर्त्तपुराण' एवं 'श्रीमद्‌भागवत' इन तीन पुराणों में कृष्ण-लीलाओं का वर्णन मुख्यतः हुआ है । यों 'पद्मपुराण', 'विष्णुपुराण' एवं 'देवीभागवत' पुराण में भी श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है । इन पुराणों में कृष्ण को लेकर एक बात भारपूर्वक कही गई है और वह है-श्रीकृष्ण को सर्वोपरि देवता के स्थान पर प्रस्थापित करना । कृष्ण सर्वोपरि देवता हैं, परब्रह्म हैं, उनसे बढ़कर कोई नहीं है इस प्रकार इन पुराणों में कृष्ण के माहात्म्य का निरूपण किया गया है और पुराणकारों का ऐसा करना स्वाभाविक भी है ।

पुराणों में विष्णु के अवतारों में श्रीकृष्ण को पूर्णावतार मानकर उनकी स्तुति की गई है । 'भागवत' में ऋषि, मनु, देवता, मनुपुत्र और प्रजापति को विष्णु के अंश बताकर कृष्ण को संपूर्ण कलाओं से युक्त भगवान् कहा गया है ।

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महोजसः । कला सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ।।२०।।
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् । भागवत, १-३-२७

---

१. Collected Wosks of SirR.G. Bhandarkar-Vol. IV. Page 49
२. —वही— —पृष्ठ ५३
३. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ-२४
४. हिन्दी कृष्णकाव्य-परंपरा का स्वरूप विकास-पृष्ठ १८
५. संस्कृति के चार अध्याय, दिनकर
६. Collected Works Vol. 4 P. 57

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीकृष्ण की लीलाओं में लोकरंजक एवं लोकरक्षक ये दोनों रूप प्रकट हुए हैं। भक्त श्रीकृष्ण की मानवीय लीलाओं से अनुरंजित होते हैं एवं अलौकिक षड् ऐश्वर्य-संपन्न श्रीकृष्ण के भगवान् रूप से अतीव प्रभावित होते हैं। इन उपर्युक्त कृष्ण विषयक पुराणों में वासुदेव, नारायण हरि, अच्युत, केशव, विष्णु, मुरारि, जनार्दन इत्यादि कई नामों से श्रीकृष्ण के माहात्म्य का संस्तुवन हुआ है। गोपियां, राधा एवं गोप ये भी कृष्ण-चरित के अभिन्न अंग हैं। गोपियां पूर्व जन्म में ऋषि थीं। श्रीकृष्ण की लीलाओं में भाग लेने के लिए कृष्ण के साथ उन्होंने भी व्रज में अवतार लिया था। 'श्रीमद्भागवत' में गोपिकाओं को देवांगनाओं का अवतार बताया गया है।[1]

पुराणों में कृष्ण : पुराणों में कृष्ण विषय पर विचार करने से पूर्व सगुण अवतारों की कल्पना, पौराणिकी-भक्ति एवं इसके दुष्परिणाम हिन्दुत्व एवं भारत के लिए कितने हानिकारक सिद्ध हुए इस पर संक्षेप में विचार कर लेना उचित होगा।

वैदिक युग भारतीय संस्कृति का उषःकाल था। कमल-पत्र पर विलसित प्रभात के तुहिन की भांति वह सद्यः, प्रकाशमान एवं गतिशील था। इसी कारण इस युग में कवि, ऋषि-महर्षियों द्वारा ऋक्, यजुः, साम, अथर्ववेद की संहिताएं तथा इनके व्याख्या ग्रंथ ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् प्रकाश में आए। दर्शन की नास्तिक-आस्तिक परंपराओं का तथा वेदान्त के ब्रह्मज्ञान की गंगोत्री-यमुनोत्री का हिमवान् भी यही युग है।

इस युग में एक ओर जहाँ जनकोलाहल से दूर अरण्यों की एकान्त छाया तले कवि-ऋषि अपने शिष्यों के साथ ज्ञान-गोष्ठियों में रत थे तो दूसरी ओर समाज का वृहद् भाग कर्मकाण्ड के स्थूल हिंसात्मक यज्ञकर्म में लिप्त था। इस युग के ब्रह्म-ज्ञान के द्रष्टा एवं यज्ञ-बलि तथा सोमपान के पुरस्कर्ता ब्राह्मण ही थे। **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** ब्राह्मण ही इस युग का मुख अर्थात् मुखिया था। वही समाज के मूर्धस्थान पर भी अभिषिक्त था।

वैदिक युग की यज्ञ-पशु-बलि के विरोध में बुद्ध, महावीर की करुणा-अहिंसा तथा पुराण की निष्काम कर्मभक्ति एवं अहिंसा-यज्ञों की व्यवस्था अस्तित्व में आई। इस नवीन धर्मव्यवस्था-क्रांति के अधिकांश अगुआ क्षत्रिय थे और ये ही तीर्थंकर, बुद्ध, भगवान्, सम्राट् जैसे धर्म एवं समाज के मूर्धस्थान पर भी समासीन थे।

देश काल एवं हिन्दुत्व की सुरक्षा को लक्ष्य में रखकर आद्य शंकराचार्य ने उपनिषद् एवं बादरायण व्यास के ब्रह्मसूत्रों में निरूपित ब्रह्म के निर्गुणमूलक यथार्थस्वरूप का केवलाद्वैत वेदान्त के नाम से प्रतिपादन किया। साथ ही उन्होंने जनसाधारण की आवश्यकता एवं दुर्बलता को ध्यान में रखकर बहुजनहिताय भक्ति (ज्ञान-भक्ति) को भी वेदान्त (ज्ञान-knowledge) के साधन के रूप में स्वीकार कर, उसे भी वेदान्त के साथ संलग्न कर दिया। रूपक की शैली में कहें तो उन्होंने वेदान्त (ज्ञान) पुरुष के साथ भक्तिकन्या का पाणिग्रहण करवा दिया।

रामानुज, निम्बार्क, मध्व एवं वल्लभ इत्यादि परवर्ती वेदान्ताचार्यों ने बादरायण व्यास के ब्रह्सूत्रों का अपने-अपने पक्ष में अर्थघटन करके शंकर के वेदान्त (निर्गुण-ज्ञान) के विरोध में सगुण वेदान्त से सम्बद्ध भिन्न-भिन्न स्वतंत्र वेदान्तसंप्रदायों की स्थापना की। जिसमें उन्होंने निर्गुण-ज्ञान की अपेक्षा सगुण-भक्ति की श्रेष्ठता ऐसे जोरदार शब्दों में प्रतिपादित की कि भक्ति मानों अभिमान में इठलाकर स्वच्छंद हो गई। इसी तथ्य को रूपक की शैली में कहें तो सगुण वेदान्ताचार्यों ने निर्गुण-वेदान्त-ज्ञान से भक्ति को मुक्ति

१. श्रीमद्भागवत १०-५९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(तलाक) दिलवा दी । जिसके दुष्परिणाम इस प्रकार हैं—(१) हिन्दूधर्म राम[1]-कृष्णादि विविध व्यक्ति एवं कल्पित देव-देवियों की पूजा-उपासना[2] में रत होकर शैव, शाक्त, वैष्णव, जैसे अनेक संप्रदायों एवं पंथों में विभक्त हो गया । जिससे न केवल हिन्दुत्व अपितु अखंड भारत का मानस भी खंड-खंड हो गया । पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका, वर्मा, इसी विकार के दुष्परिणाम हैं और आज भी यह विकृति पंजाब, असम जैसे क्षेत्रों में सक्रिय है ।

निष्काम कर्म एवं भक्ति का अपने-अपने पक्ष में अर्थघटन के फलस्वरूप अकर्मण्य साधु, संन्यासी, आचार्यों की अनेक स्वेच्छाचारी परंपराएँ वर्षा में घूरे पर कुकुरमुत्तों की भाँति फूट पड़ीं । शंकर का संन्यासी जहाँ अपने सुदृढ वेदन्त-ज्ञान-सूत्र से हिन्दुत्व के कलेवर को बाँधे था, वहाँ ये तथाकथित कुपरपराएँ उसको काटने में कठोर कुठार सिद्ध हुईं । हिन्दुत्व को अंधविश्वास एवं भक्ति की मधुसिक्ता-पुड़िया चटाकर उसकी गहरी संमूर्च्छा में इन्हीं कुपरंपराओं ने उसके सत्त्व को पीने[3] नाग की तरह पीना प्रारंभ किया । आज हिन्दुत्व एवं देश, जो बर्ण, जाति, छूत-अछूत, वामाचार (मत्स्य, मांस, मदिरा, मुद्रा, मैथुन) बाह्याचार, कर्मकाण्ड एवं अंधविश्वास के घोर पंक में निमग्न है, वह इसी वेदान्त से टूटकर अलग हुई ज्ञान-विहीन पौराणिकी वैयक्तिक अवतार-भक्ति एवं उसके पोषक साधु, संन्यासी, आचार्य, पंडे-पूजारियों की अंधी कुपरंपराओं की कुकृपा का फल है । इस सदर्भ में प्रो. जे. जे. शुक्ल लिखते हैं—

"मेरे मत में भारत एवं इसकी हिन्दू सामाजिक व्यवस्था को सब से अधिक भयंकर हानि यदि किसीने पहुँचाई है तो वह है सोलहवीं सदी का भक्ति-आंदोलन । भक्ति का रूप कुछ इस प्रकार रहा और वर्तमान में भी वैसा ही है कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था को इसने इस भाँति छिन्न-विच्छिन्न कर दिया है कि हिन्दू समाज आज अराजकता, अव्यवस्था की उस चरम-स्थिति तक पहुँच चुका है कि उसके अस्तित्व के आवश्यक सभी मूल्य समूल नष्ट हो चुके हैं ।"[4]

सदियों से देश एवं हिन्दूधर्म के सत्त्व को भेड़िये की भाँति चूसने-चाटनेवाली इन अंधी भक्ति परंपराओं से मुक्ति तभी संभव है, जब यूरोप की भाँति यहाँ भी दार्शनिक क्रांति[5] हो और शंकराचार्य जैसे अनेक वेदान्ती इसे पुनः अपने ज्ञान-प्रकाश से आपूर्ण कर दें । या फिर वेद एवं परशुहस्त दयानंद सरस्वती जैसा क्रांतिकारी सत्त्वशील आर्य-पौरुष जन्म ले । क्योंकि लातों के भूत बातों से नहीं मानते । 'भय बिन होय न प्रीति' ।

---

१. रामकथा ऐतिहासिक नहीं, कल्पित है । कृष्णायन-भूमिका, द्वारकाप्रसाद मिश्र । (राम द्वारा ब्राह्मण परशुराम एवं ब्राह्मण रावण को पराभूत करवाने की मुख्य घटनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक युगीय ब्राह्मणत्व को हीन एवं क्षत्रियत्व को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए ही रामकथा लिखवाई गई है ।)

२. प्राणी जिस अधोमार्ग से जगत् में जन्म लेते हैं, उसी प्रक्रिया से जन्मे मानव की पूजा-उपासना व्यक्तिपूजा।

३. पीना नाग वह नाग, जो सोए हुए मनुष्य की छाती पर चढ़कर उसकी श्वास को पीकर, उसे निष्प्राण कर देता है।

४. In my humble opinion the greatest damage done to this country as well as Hindu social organisation is that by the sixteenth century Bhakti movement. Bhakti Prectised in the manner in which it is done at present will blow away the social frame work, will land the society in the utmost chaos and disorder and ultimetly to annhilation of all values necessary for survival as well as progress – J.J. Shukla, professor of philoshophy, university Dept. of philosophy. Gujarai University,

५. भारत की भाँति यूरोप में भी किसी समय सगुण लीलाएँ करनेवाले अनेक देवताओं का अस्तित्व था । वहाँ के दार्शनिकों ने उन्हें झाड़ू से गंदकी साफ करें वैसे अपनी धरती से निर्मूल कर दिया ।

—यूरोपीय दर्शन, रामावतार शर्मा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ अब हम संक्षेप में किन पुराणों में, किस रूप में कृष्ण–चरित वर्णित हुआ है, प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि पुराणों में वर्णित कृष्ण ब्रजविहारी, गोपीजनवल्लभ, लीलाविहारी एवं रसिक कृष्ण हैं। 'महाभारत' के नरव्याघ्र एवं धर्म–रक्षक कृष्ण के वर्णन का इनमें अभाव है। इन वैष्णवपुराणों में श्रीकृष्ण–गोपिकाओं के प्रेम को विविध रूपों में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही उसे जन्मजन्मान्तर का घोषित किया गया है। गोपीभाव को पुराणों में महाभाव की संज्ञा दी गई है। राधा का उल्लेख 'श्रीमद्भागवत' में नहीं मिलता, पर बाद में वह भी कृष्णचरित का एक शाश्वत अंग बन गई है। वैष्णव–भक्ति से संबद्ध सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण को वृन्दावन–विहारी, रसिक–किशोर एवं राधा को रसिकेश्वरी, स्वामिनी एवं सर्वेश्वरी के रूप में निरूपित किया गया है। कृष्ण का चित्रण परात्पर परब्रह्म के रूप में हुआ है तो राधा उनकी ह्लादिनी सविद् है :–

ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः।
स्वाविद्या संवृतो जीवः संक्लेशः निकराकरः ॥ ॥ सर्वज्ञसूक्ति, विष्णुस्वामी

श्रीकृष्ण सच्चिदानंद स्वरूप हैं और वे ह्लादिनी संविद् से आश्लिष्ट हैं। यह ह्लादिनी संविद् ही आगे चलकर राधा नाम से प्रसिद्ध हो गई। इन वैष्णवपुराणों में कृष्ण, राधा एवं गोपियों के प्रेम को चरमावस्था तक पहुँचाया गया है।

'ब्रह्मपुराण' में अध्याय १८० से २१२ तक कृष्ण–चरित वर्णित है। इसमें कृष्ण की बाल एवं रासक्रीड़ा आदि का वर्णन किया गया है। इसके अंतिम अध्याय में आभीरों के साथ अर्जुन का युद्ध, म्लेच्छों के द्वारा यादवस्त्रीहरण, परीक्षित को राज्य देकर युधिष्ठिर का वन–गमन इत्यादि वर्णन है। 'पद्मपुराण' के प्रथम सृष्टिखंड के १३वें अध्याय में कृष्ण–चरित वर्णित है। 'विष्णुपुराण' छः अंशों में विभक्त है। पांचवें अंश के ३८ अध्यायों में विस्तारपूर्वक कृष्ण का चरित–वर्णित है। इसमें वासुदेव–देवकी के विवाह से वर्णन प्रारंभ होता है। इसमें अर्जुन का उल्लेख है पर 'महाभारत' के युद्ध का कहीं संकेत मात्र भी नहीं मिलता है। इस पुराण में कृष्ण के देहत्याग तक का वर्णन है। 'वायुपुराण' के ९६वें अध्याय में कृष्ण का चरित वर्णित है। इसके ९७वें अध्याय में संकर्षण आदि वीरों का भी वर्णन किया गया है। 'अग्निपुराण' के १२वें अध्याय में कृष्णावतार की कथा वर्णित है तथा इसी पुराण के अध्याय १३, १४, १५ में 'महाभारत' की कथा का वर्णन किया गया है। जिसमें कृष्ण–चरित का उल्लेख है। 'अग्निपुराण' विषय की व्याप्ति की दृष्टि से भारतीय संस्कृति का विश्वकोश कहलाता है। कई दृष्टियों से यह अन्य पुराणों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसमें अलंकारशास्त्र का भी निरूपण हुआ है। 'श्रीमद्भागवत' महापुराण १२ स्कन्धों में विभक्त है। दशमस्कंध सबसे बड़ा है। इसके ९० अध्यायों में विस्तारपूर्वक वासुदेव देवकी के विवाह से लेकर यादवकुल के नष्ट होने तक का वर्णन किया गया है। इस पुराण में कृष्ण की बाल लीलाओं एवं रसिक लीलाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। गोपिकाओं के साथ कृष्ण रासलीला करते हैं। राधा का इसमें कहीं नाम नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि कृष्ण–चरित में राधा को इस पुराण के रचनाकाल तक नहीं जोड़ा गया था। राधा इस पुराण के रचनाकाल के बाद की कल्पना है। ऐसा कई मानते हैं कि 'भागवत' के 'अनयाराधितोनूनम्, इस उल्लेख से राधा के नाम को भागवतकार ने सूचित किया है। रास के समय एक विशेष गोपी को लेकर कृष्ण अन्तर्ध्यान हो गए। वह गोपी राधा ही थी, ऐसा कई विद्वान् अनुमान करते हैं पर यह मनगढन्त बात है। 'देवीभागवतपुराण' के चतुर्थ सर्ग के २० से २४ तक के पांच अध्यायों में कृष्ण–चरित वर्णित है। 'देवीभागवत' भी महापुराण है। 'ब्रह्मवैवर्त्त' के अंतर्गत श्रीकृष्ण–जन्मखंड है। जिसके दो विभाग हैं–पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। इस खंड में कृष्ण के चरित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । इसमें कृष्ण के साथ-साथ राधा का भी उल्लेख मिलता है । कृष्ण की ही भाँति इसमें राधा को भी अवतार माना गया है । इसमें राधा-पूजापद्धति, राधाकवच इत्यादि का निर्देश है । इसमें राधाकृष्ण की सहक्रीड़ाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । 'हरिवंशपुराण' उपपुराण कहलाता है । इसके हरिवंश पर्व के ३३ से ३९ तक के ७ अध्यायों में कृष्ण-चरित वर्णित है । इसी पुराण के विष्णुपर्व के ८१ अध्यायों में भी श्रीकृष्ण के चरित का सविशेष विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । इसके भविष्यपर्व में भी कृष्ण की कथाओं का वर्णन है ।

यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि 'हरिवंशपुराण', 'महाभारत' का खिल पर्व है, प्रक्षिप्त अंश है तथा इसकी गणना कई विद्वान् एक स्वतंत्र उपपुराण के रूप में करते हैं । [1] इस पुराण में विष्णु के चरित का कीर्तन है पर विशेष रूप में कृष्णावतार की कथा भी वर्णित है। जैन तीर्थंकर अरिष्टनेमि यादव कुल के थे और कृष्ण के अतिबन्धु थे । इसका भी इस उपपुराण में उल्लेख मिलता है । [2] उपपुराण कुल २९ हैं तथा हरिवंश ३० वां उपपुराण माना जाता है । 'महाभारत' की लक्षाधिक श्लोक संख्या 'हरिवंशपुराण' को उसका अंश मान लेने पर ही पूरी होती हैं ।

जैन पुराणों में कृष्ण :-जैनियों का एक अलग हरिवंशपुराण (अरिष्टनेमिपुराण) है । जिसमें श्रीकृष्ण को तीर्थंकर अरिष्टनेमि का भाई बताया गया है । इसमें कृष्ण ने अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह किया था, इसका भी वर्णन है । [3]

जैन पुराणों में जो कृष्ण-चरित मिलता है वह वैष्णव पुराणों से भिन्न है । 'अरिष्टनेमिपुराण' के ३५, ३७, ४१, ४४, ४५, ४६, ४७ तथा आगे के भी कई अध्यायों में कृष्ण की कथा वर्णित है । कृष्ण का जन्म देवकी के गर्भ से भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को शंख-चक्र आदि से विभूषित रूप में हुआ । कृष्ण का मथुरा-गमन, कंस वध, उग्रसेन को राज्यप्रदान, सत्यभामा के साथ कृष्ण का विवाह, द्वारका-निर्माण, कृष्ण का अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह तथा कृष्ण के परिवार का भी इसमें विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । इसमें कौरव-पांडवों का भी वर्णन है । इसमें कर्ण का जिन दीक्षा-ग्रहण, जरासंघ-वध इत्यादि अनेक कृष्ण-चरित से संबद्ध कथाएँ वर्णित हैं । [4]

वैष्णवपुराणों से भिन्न रूप में इस जैनपुराण में कृष्ण-चरित वर्णित है । पहले विद्वान् यह मानते थे कि जैनियों ने वैष्णवपुराणों से ही कृष्ण-चरित लिया है । पर यह बात इस पुराण को पढ़ने के बाद निर्मूल सिद्ध हुई है । [5] प्रस्तुत पुराण में कृष्ण-चरित की समाप्ति तक का वर्णन है । द्वैपायन मुनि के के शाप से यदुवंश का विनाश होता है । कृष्ण यादवों के विनाश से संतप्त होकर मथुरा की ओर गमन करते हैं । मार्ग में विश्राम के लिए वे वृक्ष के नीचे शयन करते हैं । वहाँ जराकुमारबाण से उनके चरण को बेध देता है और कृष्ण देहत्याग करते हैं । बलराम कृष्ण के साथ ही थे । वे विषाद करते हैं । कृष्ण का निधन सुनकर पांडव आते हैं । पांडव अंत में प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं और बलदेव तपस्या रत हो जाते हैं ।

---

१. 'हिन्दुत्व' रामदास गौड़-पृष्ठ ४९, २. 'हिन्दुत्व'-रामदास गौड़, पृष्ठ ४९

३. हिन्दुत्व, रामदास गौड़, ४०३,४१०, ४.'हिन्दुत्व', रामदास गौड़, पृष्ठ ४०९, ४१०

५. हिन्दुत्व, रामदास गौड़, -पृष्ठ ४११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत जैनपुराण एवं अन्य पुराणों में कृष्ण को वीर, विजगीशु, न्यायप्रिय, असुर-सहारक, लोकोत्तर-महामानव एवं एक श्रेष्ठ क्षत्रिय राजा के रूप में माना है। जैनपुराणों में कृष्ण-चरित जो भिन्न रूप में मिलता है। इस संबंध में कुछ महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय तथ्य इस प्रकार हैं—

(१) वैष्णवपुराणों में कृष्ण की जन्म तिथि भाद्रपद कृष्ण अष्टमी है, जबकि अरिष्टनेमि (हरिवंश-पुराण) तथा अन्य जैनपुराणों में कृष्ण की जन्म तिथि भाद्रपद शुक्ल द्वादशी बताई गई है।

(२) जैनपुराणों में कृष्ण का महामानव के रूप में वर्णन है।

(३) कृष्ण नरक में अपने कर्म भोगते हैं और बाद में तीर्थंकर बनकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

(४) 'महाभारत' जैसे प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथों में कृष्ण की ब्रज की रसिक लीलाओं का अभाव है वैसे ही जैन पुराणों में भी राधाकृष्ण एवं गोपियों की मधुर लीलाओं का अभाव है एवं साथ ही कृष्ण के गोप जीवन का भी वर्णन नहीं मिलता है।

(५) जैनपुराणों में कृष्ण की १६ हजार रानियों एवं आठ पटरानियों के नाम कहीं नहीं मिलते हैं।

(६) कृष्ण बचपन में पूतना-वध, बकासुर, चाणूर एवं कंस आदि का वध करते हैं। कुरुक्षेत्र के युद्ध में कृष्ण जरासंघ का वध करते हैं।[1]

जैनपुराणों के अतिरिक्त जैनागमों में भी कृष्ण-बलराम का बड़े सम्मान के साथ उल्लेख मिलता है। 'ज्ञातासूत्र' नामक जैनागम में कृष्ण बलराम के संदर्भ में इस प्रकार का सम्मान सूचक संस्तुवन मिलता है—

"अपूयिवयणा खलु वासुदेवावलभद्दा चक्कवट्टी"[2] (अर्ध मागधी प्राकृत)
(पूतिवचनाः खलु वासुदेवबलभद्रादयः चक्रवर्तिनः) (संस्कृत छाया)

वासुदेव कृष्ण, बलराम इत्यादि चक्रवर्ती राजा पवित्र वचन वाले हैं।

जैनागमों में कृष्ण-कथा मिलती है। बलदेव और वासुदेव सदैव भाइयों के रूप में जन्म लेते रहे हैं। जन्म लेकर प्रति वासुदेवों के प्रतिस्पर्धी होते रहे हैं। कंस इनका प्रति वासुदेव था। उसे मारकर कृष्ण ने पृथ्वी का उद्धार किया।[3] अंधक वृष्णि के पुत्र वसुदेव के वासुदेव, बलदेव, जराकुमार, अक्रूर आदि संतानें हुईं। दशार्ह राजाओं में समुद्र विजय प्रमुख था। समुद्र विजय के पुत्र का नाम अरिष्टनेमि था। ये अरिष्टनेमि वासुदेव कृष्ण के चचेरे भाई थे। अरिष्टनेमि यादवों में लोकप्रिय थे। एक बार अरिष्टनेमि ने कृष्ण की आयुधशाला में शंख फूंका। कृष्ण के मन में राज्यापहरण का भय जागा। कृष्ण को बलदेव ने समझाया कि अरिष्टनेमि तीर्थंकार हैं, उनसे युद्ध करना उचित नहीं पर कृष्ण माने नहीं। दोनों में बाहुयुद्ध हुआ जिसमें कृष्ण हारे।[3] अरिष्टनेमि से एक दिन कृष्ण ने पूछा—'मैं मरकर कहां जन्म लूंगा' उत्तर में अरिष्टनेमि ने कहा, "द्विपायन ऋषि के शाप से द्वारका का नाश होगा। कोशाम्र वन में न्यग्रोध वृक्ष के नीचे एक शिला पर जब तुम पीत वस्त्र ओढ़कर सो जाओगे तब जराकुमार के बाण से मरकर तीसरे नरक में जाओगे। फिर उत्सर्पिणी काल में पुण्ड्र जनपद में बारहवें तीर्थंकर होकर निर्वाण प्राप्त करोगे।"

---

१. 'हिन्दुत्व'-रामदास गौड़, २. उत्तराध्ययन सूत्र ३. उत्तराध्ययन सूत्र-पृष्ठ २७१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसी अरिष्टनेमि ने भविष्यवाणी की, वैसा ही हुआ। संब आदि कुमारों ने मदिरा में उन्मत्त होकर द्विपायन ऋषि के साथ मार-पीट की। ऋषि ने क्रुद्ध होकर कृष्ण बलदेव को छोड़कर शेष सारी द्वारका भस्म कर दी। कृष्ण वासुदेव सौराष्ट्र होते हुए हत्थिकप्प (हाथव, भावनगर) नगर के बाहर आए। उस समय कृष्ण को प्यास लगी। बलदेव जल लेने गए। कृष्ण पीत वस्त्र ओढ़कर वहीं सो गए। जराकुमार ने हिरन समझकर बाण मारा। कृष्ण के मर्मस्थल पर बाण लगा। बलदेव जल लेकर आए। जराकुमार ने अपराध के लिए क्षमा माँगी। बलदेव कृष्ण के शव को कंधे पर उठाकर बहुत दिनों तक फिरते रहे और अंत में वे तुंगिया पर्वत पर पहुंचकर तप में लीन हो गए। कृष्ण की मृत्यु के समाचार से पांडवों को भी काफी संताप हुआ, उन्होंने जराकुमार को राज्य सौंपकर श्रमण दीक्षा ग्रहण की।[1]

बौद्ध ग्रन्थों में कृष्ण :-बौद्ध जातकग्रंथ पाली प्राकृत में लिखित ग्रंथ हैं। 'घटजातक' में कृष्ण के चरित का वर्णन मिलता है। इसमें 'महाभारत' की ही भांति कृष्ण का वीर एवं उदार चरित वर्णित है। 'महाभारत' में जैसे कृष्ण की रसिक लीलाओं का वर्णन नहीं मिलता है, वैसे ही इसमें भी कृष्ण की रसिक लीलाओं का वर्णन नहीं है। 'महाउमग्गजातक' में कृष्ण का एक विलासी व्यक्ति के रूप में वर्णन मिलता है। कामान्ध व्यक्ति विवेक-भ्रष्ट हो जाता है। वह ऊंच-नीच का, जाति-कुजाति का विचार नहीं कर सकता। कृष्ण सिवि की माता चण्डालिनी जम्बावती पर आसक्त हो गए और उसको अपनी महिषी बना लिया। 'घटजातक' में देवगम्भा और उपसागर के पुत्र वासुदेव कृष्ण का चरित वर्णित है। इसमें कृष्ण की रसिक लीलाओं का वर्णन नहीं है। इसमें जो कृष्ण की कथा मिलती है। वह 'महाभारत' तथा वैष्णवपुराणों से मिलती-जुलती है।

इस प्रकार हमने वैदिक युग से लेकर जैनागमों तथा बौद्ध-ग्रन्थों तक कृष्ण के संबंध में जो चर्चा की, उसका सार यह है कि, 'ऋग्वेद', 'छान्दोग्योपनिषद्' 'जातक', 'महाभारत', पुराण, इत्यादि में उल्लखित कृष्ण एक ही कृष्ण नहीं हैं किन्तु विभिन्न परंपराओं के विभिन्न कृष्ण नामवाची व्यक्ति हैं जो विविध परंपराओं में विकसित होने पर बाद में एक देवता के रूप में पूजित और सम्मानित हुए।[2]

तात्पर्य यह है कि वैदिक कृष्ण एक भिन्न व्यक्ति हैं। उनका 'महाभारत', वैष्णवपुराण, जैनागमों एवं जातकों के कृष्ण के साथ कोई संबंध नहीं है।

'ऋग्वेद' के कृष्ण इन्द्र के पूजक थे। वे अश्विनीकुमारों की स्तुति करते हैं पर पुराणों में इन्द्र का अभिमान खंडित करवाकर उससे कृष्ण की पूजा करवाकर कृष्ण की महत्ता स्थापित की गई है। 'ऋग्वेद' में अपत्य वाचक रूप में जो कृष्ण हैं, उनके पुत्र का नाम विश्वक या विश्वकाय है और पौत्र का नाम विष्णापू है। पुराणों तथा 'महाभारत' में कृष्ण के पुत्र का नाम प्रद्युम्न है और पौत्र का नाम अनिरुद्ध है। 'ऋग्वेद' में कृष्ण को आंगिरस कहा गया है पर उनके गुरु का नाम नहीं दिया गया है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में आंगिरस कृष्ण के गुरु का नाम घोर आंगिरस दिया गया है। 'महाभारत' एवं वैष्णवपुराणों में कृष्ण के गुरु सांदीपनी बताए गए हैं और ऐसा उल्लेख है कि कृष्ण के कुल पुरोहित गर्ग थे। 'छान्दोग्योपनिषद्' में कृष्ण को देवकी-पुत्र कृष्ण कहा गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि वे मातृ सत्तात्मक परंपरा के व्यक्ति थे। 'महाभारत' तथा वैष्णवपुराणों, जैसे ग्रन्थों एवं जातकों में जो कृष्ण हैं, वे पितृ सत्तात्मक परंपरा के प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्हें पिता के नाम पर से वासुदेव कृष्ण कहा गया है। वासुदेव शब्द की व्युत्पत्ति है-वसुदेवस्य अपत्यं पुमान् वासुदेवः :-अर्थात् वसुदेव का पुत्र वासुदेव।

---

१. 'उत्तराध्ययन' सूत्र टीका पृष्ठ-३९, २. हिन्दी कृष्णकाव्य-परंपरा का स्वरूप विकास पृष्ठ-२३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपने 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक ग्रंथ में द्रविड़ समाज को मातृमूलक व्यवस्था का प्रवर्तक माना हैं।[1] इससे यह प्रतीत होता है कि देवकी पुत्र कृष्ण मातृसत्तात्मक परंपरा के व्यक्ति थे एवं वासुदेव कृष्ण पितृसत्तात्मक परंपरा के व्यक्ति।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'महाभारत', वैष्णवपुराण, जैनपुराण तथा 'महाउमग्गजातक' में जो कृष्ण-चरित की परंपरा मिलती है, उनमें कृष्ण को वासुदेव, कृष्ण कहकर प्रतिष्ठित किया गया है। 'महाउमग्गजातक' में कृष्ण को वासुदेव कृष्ण कहा गया हैं। 'घटजातक' में कृष्ण के पिता का नाम उपसागर और माता का नाम देवगब्भा है। देवगब्भा नाम देवकी से मिलता-जुलता है पर यह संयोग ही कहा जाएगा। वास्तव में देवगब्भा की संस्कृत छाया देवगर्भा होती है, देवकी शब्द से इसका कोई संबंध नहीं है।

एक बात और है। 'छान्दोग्योपनिषद्' के कृष्ण देवकी पुत्र हैं एवं 'महाभारत' तथा वैष्णवपुराण के कृष्ण भी देवकी पुत्र हैं पर अंतर यह है कि 'महाभारत' और वैष्णवपुराणों के कृष्ण देवकी पुत्र से नहीं अपितु वासुदेव कृष्ण के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार 'छान्दोग्योपनिषद्' के देवकी पुत्र कृष्ण और 'महाभारत' और वैष्णवपुराणों के देवकी पुत्र कृष्ण एक नहीं किन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। जैनपुराणों में कृष्ण को वासुदेव और देवकी का पुत्र कहा गया है पर उनको इन पुराणों में कृष्ण नारायण अथवा नवें नारायण के नाम से ही प्रतिष्ठित किया गया है।

कई विद्वान् यह भी मानते है कि 'घोर' ने देवकी पुत्र कृष्ण को जिस प्रकार का उपदेश दिया था, उसी प्रकार का उपदेश वासुदेव कृष्ण ने गीता में अर्जुन को दिया है। इस तरह दोनों कृष्ण एक हुए पर लोकमान्य तिलक ने इस मत को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने 'छान्दोग्योपनिषद्' के कृष्ण और गीता के कृष्ण इन दोनों को दो भिन्न व्यक्ति माना है।[2]

कई विद्वान् ऐसा भी मानते हैं कि पौराणिक कृष्ण ऋग्वेद के कृष्णासुर का ही विकसित रूप है। ऐसे समीक्षकों का कथन है कि कृष्णासुर अहिंसावादी था और इन्द्र युद्ध का देवता था। पर गहराई से विचार करें तो 'महाभारत' एवं वैष्णवपुराणों में जो कृष्ण चरित उपलब्ध होता है वह युद्धवीर एवं नीतिकुशल कृष्ण का है। पौराणिक कृष्ण अहिंसावादी नहीं थे। वे तो उचित युद्ध को भी स्वर्ग का द्वार कहते हैं तथा क्षत्रिय के लिए युद्ध को धर्म मानते हैं।[3] दूसरी बात यह भी है कि 'ऋग्वेद' के कृष्णासुर के पास विशाल सेना थी और जिसके पास विशाल सेना हो, वह कदापि अहिंसावादी नहीं हो सकता।

ऐसा भी कुछ विद्वान् मानते हैं कि वैदिक कालीन सुसंस्कृत आर्य जो कृषि करने लगे थे उन्हें कृष्ण कहा जाता था। कृष्ण नामवाची ये कृषक आर्य सूक्तकार और सूत्रकार भी थे। ये आर्य योद्धा भी थे और गोपालक भी थे। 'ऋग्वेद' के अष्टम मंडल के २५ वें सूक्त के ऋषि आंगिरस कृष्ण हैं। वेदान्त के ब्रह्मसूत्रों के रचयिता द्वैपायन कृष्ण थे।[4] वासुदेव कृष्ण क्षत्रिय योद्धा थे और गोपाल कृष्ण, गोपालक थे। इन सभी के साथ 'कृष्ण' शब्द जुड़ा हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'कृष्ण' गोत्र या गण समाज का नाम था। क्षत्रिय लोग भी अपने उपाध्यायों का गोत्र स्वीकार करते थे।[5] इस संबंध में डॉ. राय चौधरी का यह मत है कि कृष्ण का व्यक्तिवाचक नाम वासुदेव था और गोत्र वाचक नाम कृष्ण था।[6] 'दिनकरजी' ने भी

---

१. संस्कृति के चार अध्याय-रामधारीसिंह 'दिनकर' पृष्ठ-२२,

२. श्रीमद्भगवत गीता रहस्य, तिलक पृष्ठ-५४३ ३. गीता

४. पहले कुछ विद्वान् ऐसा भी मानते थे।

५. भागवत धर्म, श्री हरिभाऊ ऊपाध्याय पृष्ठ-२२३

६. Eearly History of Vaishnawas Sect. Page No.37,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्ण का संबंध कृषि एवं गाय के साथ होना स्वीकार किया है ।[1] प्रो. सुशीलकुमार डे ने कृष्ण–चरित की दो भिन्न–भिन्न कथा–धाराएँ मानी हैं । एक के अनुसार कृष्ण कबीलों के मुखिया थे । दूसरी के अनुसार कृष्ण दार्शनिक और धर्म उपदेष्टा थे । उनका मानना है कि वासुदेव कृष्ण किसी स्थानीय कबीले का मुखिया था । जिसका संबंध बाद में देवगुणसंपन्न एकेश्वरवादी वृष्णिवंशी सात्वत कृष्ण के साथ जोड़ दिया गया । पहले वासुदेव और विष्णु का एकीकरण हुआ और इसके बाद कृष्ण को भी उनके साथ जोड़ दिया गया ।[2]

आधुनिकतम समीक्षक इस तथ्य को तो स्वीकार करते ही हैं कि वैदिक युगीय कृष्ण का 'महाभारत' एवं पुराण कालीन कृष्ण के साथ कोई संबंध नहीं है । इस संबंध में ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है कि 'महाभारत' के पहले कृष्ण का चरित किसी न किसी रूप में जनश्रुतियों मे रहा हो । कोई लिखित आख्यान इस संबंध में उन दिनों न रहा हो । डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक आर्य, अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है ।[3] हरिभाऊ उपाध्याय ने भी स्पष्ट लिखा है कि श्रीकृष्ण के पूर्णावतार की कल्पना बाद की है ।[4]

तात्पर्य यह है कि वैदिक युगीय साहित्य में कृष्ण का जिस रूप में उल्लेख मिलता है 'महाभारत' और पुराणों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग का कृष्ण एकदम भिन्न है । वैष्णवपुराण, जैनपुराण एवं बौद्धजातकों में जिस वासुदेव कृष्ण की कथा का विकास हुआ है, उस कथा के मूल–स्रोत किसी एक अथवा उससे मिलती–जुलती अन्य परंपरा से उद्भूत है । जिनके कारण उनके कथासूत्रों में में समानता है ।[5]

संस्कृत व्याकरण के सुप्रसिद्ध रचनाकार पाणिनि चौथी सदी ईसवी पूर्व हुए । उनका एक सूत्र है– 'वासुदेवार्जुनाभ्यांवुन्'[6] इसका तात्पर्य है, वासुदेव में जिनकी भक्ति है, उसको वासुदेवक और अर्जुन में जिनकी भक्ति है, उनको अर्जुनक कहते हैं । पाणिनि के पश्चात् भाष्यकार पतंजलि हुए । जिनका समय ई. पूर्व १५० के आसपास का है । पतंजलि ने भी वासुदेव को एक आर्य जाति का व्यक्ति कहा है । इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी न किसी रूप में कृष्ण ऐतिहासिक पुरुष थे ।

प्राचीन भारतीय साहित्य में कृष्ण के साथ श्रृंगार–लीलाएँ नहीं मिलती हैं। इस विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'श्रीकृष्णावतार' के दो मुख्य रूप हैं, एक में वे यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न हैं, वीर हैं, राजा हैं, केसरी हैं । दूसरे में वे गोपाल हैं, गोपीजनवल्लभ हैं और राधाधरसुधापान-शाली वनमाली हैं । कृष्ण का पहला रूप प्राचीन है और दूसरा रूप नवीन । धीरे–धीरे दूसरा रूप मुख्य हो गया और प्रथम रूप गौण ।[7]

डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने भी यह स्पष्ट लिखा है कि विष्णु, नारायण, वासुदेव और कृष्ण यह कृष्ण के क्रमिक चरित–विकास की परंपरा है, जो विष्णु की शक्ति के व्यापक अंश को उद्घाटित करती हुई आगे बढ़ी है ।[8] और पुराणों ने इसे विकास के चरम विंदु ब्रह्म तक पहुँचा दिया है ।

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारीसिंह 'दिनकर'
२. Aspect of Sanskrit Literature-Page No. 31, ३. सूरसाहित्य, पृष्ठ–११६
४. भागवतधर्म, उत्तरार्द्ध, पृष्ठ–३४१ ५. हिन्दी कृष्णकाव्य–परंपरा का स्वरूप विकास पृष्ठ–२५
६. अष्टाध्यायी, पाणिनि, ४–३–९८ ७. मध्यकालीन धर्मसाधना, पृष्ठ–१२६
८. राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धांत और अध्ययन पृष्ठ–२२, २. साहित्यकोश मात्र पृष्ठ–९४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैदिक युग से पुराण युग तक को जोड़नेवाली कृष्ण संबंधी साहित्यिक परंपरा आज उपलब्ध नहीं है। इसलिए यह तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि वैदिक युग के कृष्ण का पुराण-काल और महाभारत के कृष्ण के साथ कोई संबंध नहीं है। 'महाभारत' के लेखन से पहले जनश्रुति के रूप में कृष्ण-चरित किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा होगा। क्योंकि पुरातत्त्व की खोज के अनुसार 'महाभारत' से भी पहले की पाषाण मूर्तियां तथा गोपाल कृष्ण के चित्र इत्यादि मिले हैं।[1] डॉ. भंडारकर की भी मान्यता है कि वैदिक और औपनिषदिक कृष्ण, महाकाव्य और पुराणों के कृष्ण तथा कृष्ण वासुदेव को मिलानेवाली कड़ी आज उपलब्ध नहीं है।[2] विन्टर नित्स का अनुमान है कि दो या अधिक कृष्ण थे। जिन्हें बाद में एक देवता के रूप में मिला दिया गया है।[3]

संस्कृत वाङ्मय में कृष्ण : संस्कृत वाङ्मय में गोपाल कृष्ण का उल्लेख महाकवि कालिदास ने भी 'मेघदूत' में किया है। **'गोपवेषस्य विष्णोः'** पाणिनि, पतंजलि एवं कालिदास के अतिरिक्त भी संस्कृत में कई प्राचीन कवि एवं विद्वान् हुए। जिन्होंने कृष्ण के संबंध में लिखा है। कवि एवं नाटककार भास का समय ४०० से ५०० ई. पूर्व का है। 'महाभारत' की कथा के आधार पर उनके 'दूतवाक्य' और 'बालचरित' नामक दो नाटक मिलते हैं। कृष्ण दूत बनकर कौरवों के पास जाते हैं। कौरवों के समक्ष वे संधि का प्रस्ताव रखते हैं। 'बालचरित' नाटक में कृष्ण वीर के रूप में चित्रित हुए हैं। वे कंस का वध करते हैं। कवि अश्वघोष का समय ई. स. की प्रथम शताब्दी है। इसमें गोपाल कृष्ण की मधुर लीलाओं का संकेत मिलता है।[4] अश्वघोष ने जो कृष्ण की मधुर लीलाओं का संकेत किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण के गोपी प्रेम संबंधी प्रसंग जो इतने दिनों तक जनश्रुति में चले आ रहे थे। वे साहित्य में भी गृहीत होने लगे थे। कवि हाल का समय प्रथम शताब्दी निश्चित है। उनके 'गाहा सत्तसई' ग्रंथ में कृष्ण राधा एवं गोपियों की प्रेम संबंधी कथाएं हैं, जिनमें लौकिक शृंगार प्रकट हुआ है। नाटककार भट्ट नारायण का 'वेणीसंहार' एक प्रसिद्ध नाटक है। इसमें कृष्ण चतुर राजनीतिज्ञ के रूप में वर्णित हैं। इस नाटक के मंगलाचरण में कृष्ण की प्रियतमा राधा का उल्लेख है। महाकवि माघ ने 'शिशुपाल-वध' नामक महाकाव्य लिखा। इनका समय ई. स. ४५० के आसपास है। इसकी कथा भी 'महाभारत' से ली गई है। आचार्य अभिनव गुप्त नवीं शताब्दी में हुए। इनके अलंकार-शास्त्र विषयक ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में राधा-कृष्ण के मधुर प्रेम का उल्लेख है। कवि क्षेमेन्द्र ने 'दशावतारचरित' काव्य लिखा। इनका समय ११ वीं शताब्दी है। इस काव्य में कृष्ण के भक्त-वत्सल एवं पराक्रमी स्वरूप का वर्णन है। कवि 'लीलाशुक' ने 'कृष्णकर्णामृतस्तोत्र' ग्रंथ लिखा है। इसमें भक्ति के साथ-साथ माधुर्य एवं आत्म समर्पण के भाव विद्यमान हैं। कवि जयदेव १२ वीं शताब्दी में हुए। 'गीतगोविंद' इनकी सुप्रसिद्ध रचना है। इसमें राधाकृष्ण की शृंगार लीलाओं का वर्णन है। इस ग्रंथ की अश्लीलतम शृंगार-लीलाओं का प्रभाव हिन्दी साहित्य के सूरदास आदि कवियों पर भी प्रत्यक्ष रूप में पड़ा है। इस ग्रंथ का मंगलाचरण ही कृष्ण की अश्लील यौवन लीलाओं का सूचक है। नंद राधा से कहते हैं—'आकाश में काले मेघ छा रहे हैं। बीहड़ जंगल का मार्ग है। श्याम तमाल के वृक्षों के कारण मार्ग और भी भयंकर हो गया है। झंझावात का डर है। यह कृष्ण एकदम डरपोक है। राधा, तू ही इसको घर पहुँचा दे' इस प्रकार नंद की आज्ञा पाकर साथ-साथ निकले और मार्ग के प्रत्येक कुंज और यमुना के किनारे पर मधुर शृंगार-क्रीड़ाएँ करते हुए घर पहुँचने वाले राधा-माधव की जय हो —

---

१. साहित्य कोश, भाग-१, पृ-९४, २. कलेक्टेड् वर्क्स् वोल्यूम, ४ पृष्ठ-१६

३. प्राचीन भारतीय साहित्य, द्वितीय खंड, विन्टर नित्स-डॉ. रामचन्द्र पांडे, पृष्ठ-१२२

४. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला पृष्ठ-५३२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामस्तमालद्रुमैः ।
नक्तंभिरुरयं त्वमेव तदियं राधे गृहं प्रापय ।।
इत्थं नंदनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुंजद्रुमम् ।
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः ।।

'गीतगोविंद' का परवर्ती साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । हिन्दी भक्तिकालीन एवं रीतिकालीन साहित्य ही नहीं अपितु आर्य एवं आर्येतर कृष्ण विषयक साहित्य पर इस ग्रंथ का जबरदस्त प्रभाव है । कृष्ण, राधा, गोपियाँ श्रृंगार रस के अलम्बन ही बन गए । वीरगाथा कालीन मैथिल कोकिल कवि विद्यापति के कृष्ण विषयक श्रृंगार के पद सुप्रसिद्ध हैं । विद्यापति के पश्चात् सूरदास आदि कवियों ने हिन्दी में जो साहित्य लिखा है, वही हमारे विश्लेषण का विषय है ।[1]

प्राकृत एवं अपभ्रंश दोनों मध्यकालीन भाषाओं में कृष्ण-विषयक ग्रंथ मिलते हैं ।

एक बात हम यहाँ और स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि श्रीकृष्णावतार लीलाओं में भक्तों ने मुख्यतः श्रृंगार रस का ही वर्णन किया है । इसी श्रृंगार को आचार्यों ने भक्ति के क्षेत्र में मधुर रस का नाम दिया है । जब आलम्बन लौकिक होता है तब वह श्रृंगार रस कहलाता है और जब आलम्बन अलौकिक हो जाता है तब वह मधुर रस कहलाता है । मानव के जितने भी मनोराग हैं वें सभी भगवान् की ओर प्रेरित होकर अलौकिक बन जाते हैं । भक्त कवियों ने मनुष्य के सभी रागों को ईश्वरोन्मुख करने का प्रयास किया है ।

श्रीकृष्ण के चरित के विषय में हमने विभिन्न विद्वानों के मत यहाँ प्रस्तुत किए हैं । हम यहाँ एक तथ्य भारपूर्वक स्पष्ट करना चाहेंगे कि कृष्ण का महाभारत का वीर, दार्शनिक एंवं धर्म का नेतृत्व करने वाला स्वरूप ऐतिहासिक है एवं उनका व्रज विहारी, गोपी-राधा के साथ लीला करने वाला श्रृंगारी रूप कवियों एवं साधुओं की मनगढन्त कथा है ।[2] डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, डॉ. बाबूराम सक्सेना जैसे हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य विद्वानों ने भी कृष्ण के चरित पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–

'आलोचनात्मक दृष्टि से विश्लेषण करने पर कृष्ण-चरित के हमें मुख्य तीन रूप दिखाई पड़ते हैं–(१) धर्मसंस्थापक कृष्ण, कर्मयोगी कृष्ण । (२) गोपीजनवल्लभ और राधा के प्रिय कृष्ण । (३) बाल गोपाल ।

ऐतिहासिक दृष्टि से कृष्ण-चरित का प्रथम रूप सबसे अधिक प्राचीन एवं कम से कम काल्पनिक है । यह रूप हमें 'महाभारत' में सुरक्षित मिलता है । इस कृष्ण को हम आजकल के शब्दों में राजनीतिज्ञ एवं दार्शनिक कह सकते हैं । किन्तु हमारा यह दुर्भाग्य है कि कृष्ण के इस ऐतिहासिक स्वरूप एवं उनके संदेश की ओर हमने दुर्लक्ष्य किया और फलतः आसुरी-शक्ति को कुचलने और आर्य धर्म की रक्षा करने की शक्ति भारत ने खो दी । इस संबंध में 'दिनकरजी' भी लिखते हैं–'कृष्ण का संबंध फसल और गाय से था । प्राचीन ग्रंथों में उनके साथ जो प्रेम-कथाएँ नहीं मिलतीं, उससे यह भी प्रमाणित होता है कि वे कोरे प्रेमी और हल्के जीव नहीं बल्कि देश के एक बहुत बड़े नेता थे । अवश्य ही गोपाल-लीला, रास और चीरहरण की कथाएँ तथा उनका रसिक रूप बाद के भ्रांत कवियों और आचारच्युत भक्तों की परिकल्पना हैं, जिन्हें इन लोगों ने कृष्णचरित में जबरदस्ती ठूँस दिया है । शकों के ह्रास-काल में जिस प्रकार महादेव का रूपांतर लिंग में हुआ, उसी प्रकार गुप्तों के अवनतिकाल में वासुदेव का रूपांतर व्यभिचारी गोपाल में हुआ ।[3]

---

१. गीतगोविंद, जयदेव, २. भारतीय संस्कृति अने अहिंसा–स्व. धर्मानंद

३. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ–६२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'महाभारत' के ऐतिहासिक वीर एवं कर्मठ कृष्ण को भुलाकर कवियों, दार्शनिक पंडितों, भक्तों और धर्माचार्यों ने मनगढन्त व्यभिचारी गोपीजन वल्लभ कृष्ण को विकसित किया है। आगे चलकर कृष्ण का यह नवीन रसिक एवं व्यभिचारी रूप, कवियों के हृदयों में रसराज शृंगार की अनुभूतियों का चित्रण कराने में सफल हुआ है। धर्माचार्यों ने गोपी कृष्ण, राधा कृष्ण की भावना को लेकर एक नया दर्शन-शास्त्र ही बना डाला। जो अनेक सम्प्रदायों में उपनिषदों के समान ही गंभीर और रहस्यमय माना जाने लगा। पुष्टि सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, राधावल्लभीय संप्रदाय, इत्यादि संप्रदायों में इसी कल्पित कृष्ण के विभिन्न व्यभिचारी रूप वर्णित हैं।[1]

कृष्ण ईसाइयत की देन :–यह तो सर्व विदित है कि ईसा के पूर्व की प्रथम शताब्दी तक के किसी भी भागवत धर्म संबंधी प्रामाणिक ग्रंथ में व्रज में लीला करनेवाले गोपाल कृष्ण का उल्लेख नहीं है। ईसा के बाद की शताब्दियों के ग्रंथों में गोपाल विषय अनेक कथाएँ मिलती हैं। डॉ. ग्रीयर्सन लिखते हैं कि ईसा की दूसरी शती में ईसाइयों का दल सीरिया से आकर मद्रास के दक्षिण हिस्से में बस गया। इन ईसाइयों की भक्ति का पूर्ण प्रभाव हिन्दुओं पर पड़ा। क्राइस्ट में से क्रिस्टो और फिर कृष्ण उनका उपास्य बन गया। वैष्णवों की दास्यभक्ति, प्रसाद, पूतना स्तनपान आदि को ग्रीयर्सन ईसाइयों की देन बताते हैं। ग्रीयर्सन का कहना है कि पूतना बाईबिल की वर्जिन है। प्रसाद लवफीस्ट है। इस तरह ग्रीयर्सन ने बालकृष्ण की कथाओं का जन्म ईसा के पश्चात् ईसाइयत की देन सिद्ध किया है।[2] पाश्चात्य विद्वान् केनडी[3] और बेवर[4] की भी डॉ ग्रीयर्सन के अनुसार यही मान्यता है कि बालकृष्ण की कथा ईसामसीह की कथा का भारतीय अनुकरणात्मक रूप है।

डॉ. भँडारकर आदि विद्वानों की इस प्रकार की मान्यता है कि बालकृष्ण की कथा वास्तव में सीरिया से चलकर भारत में आई घुमक्कड़, म्लेच्छ आभीर जाति के बाल देवता की कथा है। 'हरिवंशपुराण' में आभीरों के बाल देवता श्रीकृष्ण का प्राचीनतम उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ में दीनार[5] शब्द आया है। जिससे भँडारकर का मत है कि ईसा की तीसरी शताब्दी के पश्चात् इस ग्रंथ का काल है। भँडारकर का यह मत है कि आभीर लोग संभवत: बालदेवता की जन्म कथा और पूजा भारत में अपने साथ ले आए। कुछ कथाएँ उन्होंने भारत में आने के बाद और भी जोड़ दीं। भँडारकर यह भी लिखते हैं कि संभव है, वे अपने साथ क्राइस्ट नाम भी लाए हों और संभवत: यही नाम वासुदेव कृष्ण के साथ भारतवर्ष में बालदेवता के एकीकरण का कारण हुआ।[4] तात्पर्य यह है कि वासुदेव कृष्ण के साथ बालदेवता का जो एकीकरण हुआ उसमें क्राईस्ट कारण बने हैं।

कृष्ण: दक्षिण के तमिलवासी आयरों के देवता मायोन :– वृष्णिवंश के समाप्त हो जाने पर इस वंश की स्त्रियों को अर्जुन द्वारिका से कुरुक्षेत्र ले जा रहे थे, तब आभीरों ने उन पर आक्रमण किया। आभीर लुटेरे एवं म्लेच्छ माने गए हैं; जो उन दिनों पंचनद में रहते थे। ये आभीर पहले कोंकण और सौराष्ट्र में रहते थे। ये चरवाहे थे। बाद में ये पंजाब से मथुरा तक फैल गए। कुछ विद्वान् आभीरों को भारतवर्ष के ही मूल निवासी मानते हैं। ईसा के पूर्व भी आभीर भारतवर्ष में थे। पर गोपाल कृष्ण तथा बालकृष्ण की कथाओं का वासुदेव के साथ समावेश इन आभीरों के द्वारा ही हुआ है। डॉ. मलिक

---

१. कृष्णायन, भूमिका पृष्ठ–६७
२. जे. आर. ए. एस. (१९०७ ई.) में हिन्दुओं पर नेटोरियन ईसाइयों का 'ऋण' शीर्षक लेख।
३. 'इण्डियन एण्टीकवरी' जिल्द ३–४ में 'कृष्ण जन्माष्टमी' वाला लेख।
४. जे. आर. ए. एस (१९०७ ई.) में कृष्ण ईसाइयत और गूजर लेख। ३. लेटिन Denarious
५. Vaishnavism, Saivism and minor Religious Systems– R. G. Bhandarkar

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोहम्मद का मत भी यहाँ उल्लेखनीय है। उनका कहना है कि आभीर जाति वास्तव में तमिल प्रदेश की आयर जाति है। आयर का अर्थ ग्वाला होता है। तमिल में 'आ' गाय को कहते हैं। पुराणों में इन्हीं को आभीर कहा गया है। तमिल साहित्य के संघपूर्व काल की रचना तोलकाप्पियम् (ईसा. पूर्व पांचवी शताब्दी) तथा संघकाल (ईसा. की दूसरी शताब्दी तक) की रचनाओं में तमिल प्रदेश के विभिन्न अधिदेवताओं एवं भू-भागों का वर्णन किया गया है। मुल्ले-प्रदेश (वन-भूमि) में गोचारन का व्यवसाय करनेवाले 'आयर' कहे जानेवाले ग्वाल रहते थे। उनके देवता का नाम था 'मायोन' था। ये 'मायोन' आयरों के बाल देवता थे। ये आयर अपने बालदेवता की लीलावाली कथाओं का अभिनय भी करते थे। इस बालदेवता से संबंधित अनेक कथाएँ लोक प्रचलित थीं, जिनका वर्णन संघ-साहित्य में मिलता है। आयर लोग अपने बालदेवता मायोन की बाल्यजीवन संबंधी कथाओं के आधार पर नृत्य भी करते थे।

तमिल के मायोन का वैदिक विष्णु तथा 'महाभारत' के वासुदेव कृष्ण के साथ समन्वय : ईसा से कुछ शताब्दी पूर्व ही उत्तर भारत से आर्य प्राचीन तमिल प्रदेश में गए। उनके साथ 'महाभारत' द्वारा प्रचलित भागवत-धर्म भी दक्षिण भारत में पहुँचा। इस प्रकार उत्तर से आनेवाली वैदिक संस्कृति और तमिल प्रदेश की द्राविड़ संस्कृति का समन्वय हुआ। उत्तर से दक्षिण में जानेवाले आर्य अपने साथ वेद, उपनिषद्, 'रामायण', 'महाभारत' और 'गीता' के विचार ले गए थे। उनके साथ जो कृष्ण-कथा दक्षिण में पहुँची थी, वह 'महाभारत' के वासुदेव कृष्ण की कथा थी, जिसमें बालकृष्ण का रूप नहीं था। जब दो संस्कृतियों का मिलन हुआ, तब तमिल प्रदेश के वैदिक परंपरा से भिन्न देवताओं एवं वैदिक देवताओं का एकीकरण हो गया। तमिल के मायोन, मुरुगन, कोट्रवै, शिवन आदि देवताओं का वैदिक देवताओं से मिलन हो गया। मुल्ले प्रदेश के बाल-देवता 'मायोन' का वैदिक देवता विष्णु से साम्य होने के कारण एकीकरण हो गया। उत्तर से आनेवाले लोगों के देवता, 'महाभारत' और 'गीता' के वासुदेव कृष्ण का भी—जिसमें गोपाल कृष्ण का अंश नहीं था—तमिल प्रदेश के मायोन नामक बालदेवता के साथ एकीकरण होगया। तात्पर्य यह कि तमिल प्रदेश के 'आयर' कहे जानेवाले ग्वाल लोगों के इष्ट देवता 'मायोन' का 'महाभारत' के कृष्ण के साथ साम्य होने के कारण एकीकरण हो गया। इस तरह के एकीकरण के पश्चात् 'मायोन' देवता की बाललीला संबंधी कथाएँ 'महाभारत' के कृष्ण के साथ जुड़ गईं। इस तरह उत्तर भारत और दक्षिण भारत दोनों प्रदेशों की संस्कृतियों के समन्वय के बाद ही वर्तमान कृष्ण के रूप की प्रस्थापना हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान कृष्ण के जीवन का उत्तरार्द्ध 'महाभारत' का है, जो द्वारका एवं महाभारत के युद्ध से संबद्ध है—तथा पूर्वार्द्ध—कृष्ण का बालजीवन—बहुत अंश में तमिल के देवता 'मायोन' का है। तमिल में ईसा के पश्चात् 'कन्नन' शब्द मिलता है, वह भी कृष्ण का ही अपभ्रंश रूप है। कृष्ण का रंग श्याम है। तमिल का 'मायोन' शब्द काले अथवा नीले रंग को सूचित करता है। आर्य गौर वर्ण वाले हैं तथा वे तमिलों को काले रंग वाला कहते हैं। अतः तमिल के देवता 'मायोन' के रंग को कृष्ण द्वारा अपनाना भी कृष्ण मायोन के एकीकरण को पुष्ट करता है।[1]

इस तरह डॉ. मलिक मुहम्मद आभीर जाति को दक्षिण भारत की आयर जाति मानते हैं तथा बालकृष्ण की कथाओं का संबंध तमिल प्रदेश के आयर जाति के बाल देवता से संबंधित मानते हैं। उनका मत है चि कृष्ण की बालजीवन की लीलाओं की कथाओं का संबंध आयर जाति के बाल देवता मायोन के साथ है। कृष्ण के जीवन की उत्तरार्द्ध की कथा 'महाभारत' की है। 'महाभारत' के कृष्ण का समन्वय तमिल प्रदेश के बाल देवता 'मायोन' के साथ हुआ। आज जो कृष्ण का स्वरूप हमारे सामने है, वह कम से कम 'महाभारत' के वासुदेव कृष्ण, तमिल प्रदेश के बालदेवता मायोन दोनों का तो अवश्य समन्वित रूप है।

१. आलवार भक्तों का तमिल प्रबन्धम् और हिन्दी कृष्णकाव्य—डॉ. मलिक मोहम्मद, पृष्ठ—३४, ३५, ३६, ३७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्ण के साथ राधा की कल्पना :–राधा का कृष्ण–चरित के साथ 'पार्वतीपरमेश्वरी' की भांति अभिन्न संबंध है। राधा का उल्लेख कृष्ण–कथा के साथ बहुत बाद की कल्पना है। 'महाभारत' बौद्धजातक, जैनागम, 'विष्णुपुराण,' 'हरिवंशपुराण', 'श्रीमद्भागवत' इनमें कहीं भी राधा का नाम नहीं मिलता है। 'महाभारत' जैसे प्राचीन ग्रंथ में कृष्ण के साथ जो राधा का नाम नहीं मिलता है। उसका कारण यह है कि इनमें कृष्ण एक वीर, कर्मयोगी एवं धर्म के नेता के रूप में आते हैं। ऐसे कृष्ण के साथ राधा के जुड़ने के साथ ही कृष्ण दूसरे ही रूप में हमारे समक्ष आए जो उनकी शृंगार की लीलाओं वाला रूप है। यह दूसरा रूप ही महद् अंश में हिन्दी साहित्य में निरूपित हुआ है। कृष्ण के चरित के साथ राधा कब संवद्ध हुई, इस पर भी हम यहाँ संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

कृष्ण के शृंगारिक रूप का विकास ई. सन् के आरंभ के आसपास हुआ। 'गाहासत्तसई' प्राकृत की रचना है। राधा का उल्लेख सर्व प्रथम इसीमें मिलता है–

मुहवासएण तं कण्ह गोरअं राहि आए व अहोन्तो।
एताणं वलवीणं अण्णनेपि गोरअं हरसि॥ [1]
हे कृष्ण ! त्वं मुखवासेन राधायाः वदनस्य गोरजं हरसि,
एतासां अन्यासां वल्लभीनां अपि गौरवं हरसि। (संस्कृत छाया)

[हे कृष्ण ! तू मुख वायु से राधा के मुख की रज का हरण कर रहा है, पर ऐसा करके तू दूसरी वल्लभियों के गौरव का भी हरण कर रहा है।]

'गाहा सत्तसई' में राधा का जो कृष्ण के साथ प्रेम वर्णन मिलता है। उससे एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि पहले लोक जीवन एवं शृगार–परक काव्यों में कृष्ण के साथ राधा का चित्रण प्रारंभ हुआ। राधा–कृष्ण का यह लौकिक प्रेम ही परवर्ती साहित्य में अलौकिक प्रेम के रूप में परिवर्तित हो जाता है। कृष्ण फिर उस अलौकिक रूप में परब्रह्म होते हैं और राधा उनकी स्वामिनी एवं शक्ति।

पुराणों में राधा :–'श्रीमद्भागवत' तथा 'विष्णुपुराण' दोनों में एक विशेष गोपी का उल्लेख मिलता है। 'श्रीमद्भागवत' के दशमस्कंध के रास प्रसंग में कृष्ण एक गोपी को लेकर अदृश्य हो जाते हैं। उस गोपी को लेकर कहा गया है कि इसने निश्चय ही विशेष रूप से हरि की आराधना की है : **'अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः'**।

भागवत के इस उल्लेख से कई समीक्षक वह गोपी राधा ही थी, ऐसा मानते हैं। 'विष्णुपुराण' में ऐसा उल्लेख है कि एक गोपी को कृष्ण ने पुष्पों से अलंकृत किया था क्योंकि पिछले जन्म में उस गोपी ने विष्णु की पूजा की थी—

अत्रोपविश्य सा तेन कापि पुष्पैरलंकृता।
अन्यजन्मनि सर्वात्मा विष्णुरभ्यर्चितो यथा॥

इसके पश्चात् 'ब्रह्मवैवर्त्तपुराण' में राधा का उल्लेख मिलता है। 'हाल सतसई' में ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि 'विष्णुपुराण' और 'श्रीमद्भागवत' की विशेष गोपी राधा ही है।

राधा कृष्ण की ही भांति आभीरों की कुल देवी : इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ई. सन् के आरंभ के आसपास कृष्ण की एक विशेष प्रिया के रूप में राधा को स्वीकार कर लिया गया था। कुछ

---

१. गाहा सत्तसई–१/२९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वान् ऐसा भी मानते हैं कि जैसे आभीरों के गोपालकृष्ण कुल देवता थे वैसे ही राधा उनकी कुल देवी या प्रेम देवी के रूप में थी ।

कृष्ण की विशेष प्रियतमा गोपी राधा ही हो सकती है । इस प्रकार की धारणा ई. सन् के आसपास ही निश्चित हो चुकी थी पर ७वीं ८वीं शताब्दी के पूर्व राधा के स्पष्ट चिह्न नहीं मिलते हैं । ७वीं ८वीं शताब्दी की बंगाल से एक मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमें कृष्ण के साथ एक स्त्री है, जो राधा ही हो सकती है, ऐसा अनुमान है ।

आलवारों से पूर्व के तमिल साहित्य में कन्नन–नप्पिन्नै (कृष्ण–राधा) की प्रेम लीलाओं आ उल्लेख मिलता है । नप्पिन्नै यह विशेष गोपी ही थी । जैसे उत्तर भारत के कृष्ण साहित्य में कृष्ण के साथ राधा जुड़ी हुई है, वैसे ही आलवार संतों ने नप्पिन्नै को कृष्ण की प्रियतमा माना है ।[1] आठवीं शताब्दी से संस्कृत प्राकृत तथा अन्य भाषाओं के साहित्य में राधा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । भट्ट नायक के 'वेणिसंहार' नाटक में नान्दी श्लोक में राधा का उल्लेख है । आठवीं शती के वाक्पतिराज रचित प्राकृत महाकाव्य 'गड्डवहो' के मंगलाचरण में राधा का उल्लेख है । राधा ने कृष्ण के वक्षस्थल पर नखक्षत किए हैं, वे कौस्तुभ मणि की भाँति कृष्ण के वक्षस्थल पर सुशोभित हो रहे हैं । वे नखक्षत हमारे दुःखों को दूर करें । इसके पश्चात् १२वीं से १४वीं शती तक के क्षेमेन्द्र, जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति ने राधा–कृष्ण की 'प्रेमलीलाओं' का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है । इसके पश्चात् चैतन्य सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय, राधा वल्लभी सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय इत्यादि सम्प्रदायों में राधा की उपासना प्रारंभ हुई । इनमें से कई ऐसे भी सम्प्रदाय हैं, जिनमें कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक महत्त्व दिया गया है ।

निष्कर्ष यह कि वेदों–उपनिषदों में अनेक कृष्णों का वर्णन मिलता है, पर वें हमारे प्रतिपाद्य कृष्ण से सर्वथा भिन्न हैं । हमारे कृष्ण पञ्च भूतात्मक शरीर की भाँति पांच विभिन्न कृष्णों के मिश्रित रूप हैं–

(१) सीरिया[2] की घुमक्कड़ आभीर[3] म्लेच्छ[4] जाति के कल्पित बालदेवता कृष्ण ।
(२) दक्षिण भारत के तमिलनाडु की आयर जाति के कल्पित बालदेवता कृष्ण ।
(३) ईसामसीह के जीवन के अनुकरण पर पौराणिक शैली में वर्णित कृष्ण ।
(४) वैदिक युगीय विष्णु के माहात्म्य से सम्पन्न कल्पित कृष्ण ।
(५) 'महाभारत' के आंशिक ऐतिहासिक कृष्ण ।

यह एक विचित्र संयोग है कि 'भागवत' के एक छंद में घुणाक्षरन्याय[5] से इन पांचों कृष्णों के नामों का अनायास ही उल्लेख हो गया है—

---

१. आलवार भक्तों का तमिल प्रबन्धम् और हिन्दी कृष्णकाव्य, पृ.–१३
२. सीरिया आज भी म्लेच्छ (इस्लामी) देश है । मुहम्मद पैगंबर से पहले म्लेच्छ मूर्तिपूजक थे ।
३. आभीर का ही अपभ्रंश रूप अहीर एवं आयर हैं । व्रज के गोपालक अहीर कहलाते हैं । गुजरात के गोपालक रबारी भी आभीर ही हैं । रबारी शब्द राह–द्वारी→राहबर→रबारी इस प्रकार व्युत्पन्न है । रबारी शब्द के अर्थ से भी इस जाति का घुमक्कड़ होना सिद्ध होता है ।
४. म्लेच्छ संस्कृत शब्द है । यह मुसलमानों एवं ईसाइयों के लिए प्रयुक्त होता रहा है । यवन शब्द भी म्लेच्छ का ही पर्याय है । पैगंबर मुहम्मद से पहले अरब के निवासी भी हिन्दुओं की तरह मूर्तिपूजक थे । –वीरविनोद– भाग–१
५. घुणाक्षरन्याय–लकड़ी को खानेवाले कीड़े (घुण) से लकड़ी खाते–खाते अपने आप ही किसी अक्षर की आकृति का बन जाता । बिना किसी विचार, इच्छा एवं संकल्प के किसी बात का अपने आप ही बन जाना या हो जाना ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ।। स्कं. १, अ-८

(१) कृष्ण : आयरों के कल्पित बालदेवता कृष्ण । (२) **नन्दगोपकुमार :** आभीरों के कल्पित बालदेवता कृष्ण (३) **वासुदेव एवं देवकीनन्दन :** महाभारत के आंशिक ऐतिहासिक कृष्ण । (४) (५) **गोविन्द :** ईसा मसीह के अनुकरण पर वर्णित कृष्ण एवं वैदिक युगीय विष्णु के माहात्म्य से सम्पन्न कल्पित कृष्ण ।

सीरिया की आभीर म्लेच्छ जाति जब भारत में आई तब वह अपने बालदेवता कृष्ण की पू.ा-उपासना को भी साथ लेकर आई । यही आभीर जाति उत्तर से दक्षिण भारत में पहुंचकर आयर कहलाई । इन्हीं आभीरों एवं आयरों के बालदेवता कृष्ण का चरित ईसा मसीह के जीवन के अनुकरण पर पुराण की अप्रस्तुत गप्प शैली में लिखा गया । यह कार्य दक्षिण भारत में सम्पन्न हुआ क्योंकि ईसाई सर्व प्रथम भारत के दक्षिण भू-भाग में ही आकर बसे थे । इसके पश्चात् परब्रह्म के विरुद से विभूपित वैदिक युगीय विष्णु एवं 'महाभारत' के आंशिक ऐतिहासिक कृष्ण का माहात्म्य दक्षिण भारत में पहुँचा और फिर दोनों का मिश्रण भी आभीर, आयर एवं ईसा मसीह के त्रिरूपात्मक कृष्ण में कर दिया गया । यही हमारे वर्तमान कृष्ण की रामकहानी है ।

पर यही कृष्ण हमारे सगुण वैष्णव वेदान्तियों द्वारा प्रतिपाद्य निगमागमसम्मत लीलापुरुषोत्तम वह परब्रह्म हैं, **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**, स्वयं साक्षात् भगवान् हैं, जिनकी लीला ही समस्त चराचर है । यही वह हिरण्यगर्भ है, जिसने सकाम होकर बीज (विराट्) उत्पन्न किया और जो अनादिकाल से ही ब्रह्माण्ड, आकाश, पृथ्वी एवं अनंत-अनंत जीव-वनस्पति के रूप में निरंतर फैलता ही चला जा रहा है ।[1] यही कृष्ण परब्रह्म है, जिसके नाभि-कुहर से खिले ब्रह्माण्ड-कमल के किंजल्क हैं-नक्षत्र, पर्वत, नदियां, सागर, वनस्पति, प्राणी ।[2] यही कृष्ण समस्त प्राणियों का हृदय-कमलस्थ दहर है,[3] हृदय-गुहाविष्ट जीवात्मा-परमात्मा है,[4] योगियों का ध्यानबिंदु है, निर्गुणवेदान्तियों[5] का अनुभवैकगम्य निराकार ब्रह्म है एवं सगुण[6] वेदान्तियों द्वारा **'बालानां सुखबोधाय'** साधारण बाल-बुद्धिवाले साकार भक्तों के **'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ।'** असत्य के द्वारा सत्य प्रकट करने की पुराण-प्रसिद्ध गप्प-शैली में वर्णित पौराणिक कृष्ण है । और यही वह मदनमोहन वेषी वनमाली कृष्ण है, जो व्रज के केलिकुंजों एवं यमुना तट पर अभिशरण शीला नितंबिनी गोपवधुओं का रतिसुखसार है ।[7] ब्रह्म का यही सकाम रूप समस्त सृष्टि का बीज है । ब्रह्म का सृष्टिकर्म एवं उससे उत्पन्न,[8] प्राणियों की शक्ति, स्वरूप, प्रकृति एवं उनका अणु-अणु काममय है और हमारा प्रतिपाद्य कृष्ण भी इसीका साक्षात् श्रीविग्रह है—

---

१. हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । सदाधार पृथिवी द्यामुपेताम् । ऋग्वेद ।
२. नाभेरभूत् स्वकणिकावटवन्महाब्जम् । भागवत ७-९-२२
३. परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् । भागवत-
४. दहर उत्तरेभ्यः ।। वेदान्तसूत्र १-३-१४ गुहाप्रविष्टावात्मानौ तद्दर्शनात् ।। वेदान्तसूत्र १-२-११
५. बादरायण व्यास एवं आद्य शंकराचार्य ।
६. आचार्य रामानुज, आचार्य निम्बार्क, आचार्य मध्व, आचार्य विष्णुस्वामी, आचार्य वल्लभ, आचार्य बलभद्र मिश्र ।
७. गीतगोविंद, जयदेव
८. कुछ पंथ-संप्रदाय, साधु-संन्यासियों का काम रहित जीवन का ढोंग करके उसे ब्रह्मचर्य नाम देकर उत्तम बताना वेदान्त के ब्रह्मकर्म के विरुद्ध है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

**संसाररत्नं मृगशावकाक्षी रत्नं च शृंगाररसो रसानाम् ।
तच्चानुभावाच्चिरमर्जुनेन्द्र ! पुरानुभूतं मधुसूदनेन ।।-विद्यापति**

हे महाराज अर्जुनेन्द्र ! संसार में रत्न मृगलोचनाएं हैं एवं रसों में रत्न शृंगार है । पहले मधुसूदन ने इसे विविध अनुभावों द्वारा खूब छक कर भोगा है ।

कृष्णसार की मदगंध मात्र से जैसे मृगियां ऋतुमती हो उठती हैं, वैसे ही इस सकाम ब्रह्म गोपीजनवल्लभ कृष्ण–कृष्णसार की महामदगंध से समस्त अग–जग ऋतुमान, वर्द्धमान, गतिमान एवं सकाम है । गोपांगनाएं जैसे इसे हृदय–पर धारण करके सनाथ हुईं, वैसे ही कवि–कलाकार, चित्र–संगीतकार की कल्पनाएं, वर्ण–गंध एवं स्वर–लहरियां भी इसे पाकर कृतकाम हुए हैं ।

कृष्ण की ही भांति राधा भी आभीरों एवं आयरों की कल्पित कुल देवी थीं । इसके चरित का विकास भी कृष्ण के ही समानान्तर दक्षिण भारत के आयरों एवं आलवार संतों की भक्तिवाणी में हुआ है । आलवारों के कन्नन–नप्पिन्ने ही हमारे वर्तमान कृष्ण–राधा हैं ।

कृष्ण के इस स्वरूप निश्चय से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण भारत के आयरों की जन्मभूमि तमिलनाडु ही कृष्ण एवं कृष्णभक्ति की गंगोत्री है । यहीं के आलवार संतों की कृष्ण–भक्ति–धारा 'हरद्वार' की जाह्नवी है । यही धारा कर्णाटक, महाराष्ट्र एवं गुजरात[1] में प्रवाहित होती हुई कलकत्ता में जैसे गंगा सागर हो गई है, वैसे ही व्रज में पहुंचकर यह कृष्ण–भक्ति का अथाह सागर बन गई है । इस सागर में वंगभूमि की यमुनोत्री से निःसृत महाप्रभु चैतन्य की राधा–कृष्ण की मधुर भक्तिधारा संगम में गंगा से यमुना की भांति आ मिली है । कृष्णभक्ति को दक्षिण से उत्तर में प्रवाहित करनेवाले भगीरथ हैं–आचार्य निम्बार्क, आचार्य मध्व, आचार्य वल्लभ एवं संत रामानंद । रामानंद के लिए तो प्रसिद्ध ही है– **'भक्ति द्राविड ऊपजी लाये रामानंद ।'**

इसी लीलापुरुषोत्तम कृष्ण को लेकर रचित हिन्दी कृष्ण काव्य में से हमें भक्ति एवं वेदान्त के रत्न ढूंढने हैं ।

---

१. गुजरात–आबू के आगे का वर्तमान सिरोही, मारवाड़ तथा पंजाब का काफी हिस्सा ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय अध्याय

कृष्ण–भक्ति

* विष्णु : एक साधारण वैदिक देवता एवं वैष्णव–धर्म ।
* पांचरात्र–मत ।
* नारायण और वासुदेव कृष्ण का वैदिक देवता विष्णु में समन्वय ।
* पांचरात्र–मत में दशावतार की कल्पना, वैदिक–हिंसात्मक यज्ञों के विरोध में अहिंसा–यज्ञों का प्रारंभ, विष्णु एवं नारायण का वासुदेव कृष्ण में समन्वय ।
* वैष्णव–धर्म के एक मात्र इष्ट देव कृष्ण । नारायणीय धर्म, पांचरात्र–मत, सात्वत–धर्म भागवत–धर्म, ये सभी नाम एक दूसरे के पर्याय तथा कृष्ण–भक्ति इन्हीं द्वारा सुविकसित परम मदगंधी, मनोहर, आह्लादक, भक्ति–पुष्प ।
* भागवत–धर्म की प्राचीनता, उदयकाल लगभग ६०० ई. पूर्व के आस–पास अहिंसात्मक वैदिक–यज्ञों के विरोध में ।
* भागवत–धर्म के प्रणेता क्षत्रिय, बाद में जैन एवं बौद्ध नास्तिक धर्मों से टक्कर लेने के संदर्भ में ब्राह्मणों द्वारा भी सम्माननीय ।
* निर्गुण एवं सगुण वेदान्त सम्प्रदायों का उदय ।
* प्रथम वैष्णव सगुण वेदान्ताचार्यः रामानुज ।
* निम्बार्काचार्य ।
* विष्णुस्वामी एवं आचार्य वल्लभ ।
* वैष्णव–भक्ति की व्याप्तिः दक्षिण से उत्तर भारत की ओर ।
* उत्तर भारत के वैष्णव सम्प्रदाय तथा स्वामी रामानंद ।
* आचार्य वल्लभ, शुद्धाद्वैत वेदान्त एवं पुष्टि सम्प्रदाय ।
* अष्टछाप की स्थापना ।
* वृंदावन के अन्य वैष्णव सम्प्रदाय ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

।। ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ।।

द्वितीय अध्याय

कृष्ण-भक्ति

भक्ति एवं वेदान्त दोनों अन्तः सलिला सरस्वती की भाँति सत्त्वशील व्यक्ति की अंतरंग सारस्वत यात्राएं हैं। दोनों स्थितियों में वह अपने परम-सत्त्व अन्तरात्मा ब्रह्म की ओर अभिमुख होता है। दोनों में उसका लक्ष्य एक ही होता है, पर मार्ग भिन्न-भिन्न होते हैं। एक में भाव का प्राधान्य है तो दूसरी में बुद्धि का। वाणानुसंधान के समय जैसे लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठ हुआ जाता है, वैसे ही भक्ति में भक्त अपने इष्ट के प्रति तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। इष्ट के प्रति ऐसी परानुरक्ति को ही 'शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र' में भक्ति कहा है-**'सा परानुरक्तिश्वरे भक्तिः'**[1]। **'शरवत्तन्मयो भवेत्'** की इस वाणानुसंधान के समय जैसी तन्मयावस्था में भक्त की समस्त ऐहिकता सर्पकंचुकिवत् सहज में ही उससे विलग हो जाती है। इस स्थिति में उसे प्रतीत होता है कि मानों कोई बरबस उसे अपनी ओर खींच रहा है और वह विवश होकर उसके प्रति खिंचा जा रहा है। आकर्षण की इस मधुरतम स्थिति में भक्त का अंतर पुकार उठता है-

> **खींच लिया मेरा प्राणवायु उस 'काले' ने।**
> **कृष्ण! कृष्ण! हाय तुम कितने कठोर हो।**
> **सब कुछ छोड़े बिना पाये नहीं जाते हो।** विष्णुप्रिया, मैथिलीशरण गुप्त, पृ. ४०

जीव को अपनी ओर खींचना ही 'काले' का उस पर परम अनुग्रह है-**'पोषणं तदनुग्रहः'**। नरसी मेहता भी ऐसे भगवदनुग्रह के लक्ष्य हो चुके हैं। वे 'श्याम' के प्रेम-दंश से ऐसे विह्वल हो उठते हैं कि उन्हें सारे ब्रह्मांड में श्याम ही श्याम व्याप्त दृष्टिगत होता है। उन्हें प्रतीत होता है कि श्याम उसे पुकार रहा हैं-'तू मैं ही हूं'-तू मैं ही हूं।' फिर वे स्वयं को रोक नहीं पाते हैं। उस 'काले' के आकर्षण से वे उसमें विलीन होने को उत्कंठित हो उठते हैं क्योंकि उनकी तुलना में अब उन्हें यहाँ कोई बरेण्य प्रतीत नहीं हो रहा है-

> **निरखने गगन मां कोण घूमी रह्यो, तेज हुं तेज हुं शब्द बोले।**
> **श्यामनां चरणमां इच्छु छुं मरण रे, कोई नथी अहियां कृष्ण तोले।**
> नरसिंह महेता-कृत काव्य-संग्रह, पृ. ४८४,४८५

'तत्त्वमसि-तत्त्वमसि' का ही 'तेज हुं-तेज हुं' अपभ्रंश रूप है।

भक्ति के महाभाव में निमग्न मीरां भी उस 'काले' के प्रेमदंश से आजन्म, आक्षण विह्वल रही थीं। वह एकमेव उसे ही अपने समस्त प्राणों से पीती रहकर अपने जन्म-जन्मान्तर के कौमार्य को अनाघ्रात पुष्पवत् उसको समर्पित करके पूर्णकाम होना चाहती थीं-

> **'चरणसरण री दासी मीरां, जणम-जणम री क्वांरी।**-मीरां पदावली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी का समस्त कृष्ण–काव्य इसी भाँति कृष्ण–भक्ति के महाभाव में निमग्न है ।

भक्ति वेदान्त का ही अंग है एवं इसके प्रकार इत्यादि पर पर्याप्त लिखा जा चुका है । चैतन्य–संप्रदाय के भक्त आचार्य रूप गोस्वामी विरचित 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' भक्ति का अन्यतम श्रेष्ठ लक्षण ग्रंथ है। इसमें भक्ति की स्वतंत्र रस के रूप में स्थापना करके भक्ति–रस के मुख्य भाव दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य एवं गौण भक्ति–भावों पर सविस्तर विचार किया गया है । अतः हम यहाँ केवल अब कृष्णभक्ति के विकास पर ही यथामति अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं ।

'कृष्ण–भक्ति' परवर्ती नाम हैं । प्रारंभ में इसे वासुदेव–भक्ति, सात्वत–भक्ति, नारायणीय–धर्म, पांचरात्र–मत इत्यादि कई नामों से अभिहित किया जाता था । विष्णु हिंदुओं के प्राचीन देवत्रयी में से एक हैं । ये सृष्टि के पालक एवं रक्षक देवता के रूप में स्वीकृत हैं । ब्रह्मा सर्जक हैं, महेश संहारक हैं एवं विष्णु पालक हैं । जब दुष्टों के अत्याचारों से दीन–हीन संत्रस्त होते हैं, तब वे भू-भार हरण करने के लिए अवतार लेते हैं । उनके अवतारों में से राम एवं कृष्ण ये दो अवतार प्रमुख हैं । राम त्रेता में हुए एवं कृष्ण उनके बाद द्वापर में, पर राम की अपेक्षा कृष्ण में देवत्व का आरोप एवं कृष्ण भक्ति का प्रारंभ राम की अपेक्षा अधिक पूर्ववर्ती है । कृष्ण–भक्ति की विकास यात्रा को समझने के लिए हमें भारत के भक्ति आंदोलन पर दृष्टिपात करना आवश्यक होगा । जैसे प्रारंभ में गंगा जाह्नवी के नाम से एक विरल, तरल धारा के रूप में प्रवाहित होती है और फिर अनेक स्रोतों को आत्मसात कर लेने के बाद वह गंगा–सागर बन जाती है, वैसे ही कृष्ण–भक्ति भी प्रारंभ में एक स्वल्प धारा के रूप में दृष्टिगत होती है, फिर आगे चलकर अनेक भक्तिधाराओं के समन्वय से वह महाधारा का विराट् रूप धारण कर लेती है । प्रारंभ में वासुदेव धर्म, भागवत धर्म, पांचरात्र मत, सात्वत धर्म की जो परंपरा थी, वही आगे चलकर वैष्णव–भक्ति के नाम से प्रसिद्ध हुई और उसीका एक महत्त्वपूर्ण अंग है कृष्ण–भक्ति ।

वैष्णव–धर्म–'वैष्णव धर्म' शब्द में जो 'विष्णु' शब्द है उसका 'ऋग्वेद' में अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है । विष्णु कहीं एक साधारण देवता के रूप में, कहीं इन्द्र के सहायक देवता के रूप में और कहीं इन्द्र के सखा के रूप में निरूपित हुए हैं । 'ऋग्वेद' के प्रथम मंडल में 'विष्णु' के लिए 'त्रिविक्रम' शब्द का प्रयोग हुआ है । 'विष्णु' द्युलोक, पृथ्वीलोक और अंतरिक्ष लोक तीनों लोकों को व्याप्त करने वाला देवता है, इसलिए वह सूर्य का प्रतीक भी है । 'ऋग्वेद' में सूर्य के लिए भी 'विष्णु' शब्द' का प्रयोग हुआ है । 'ऋग्वेद' के 'विष्णु' नामक देवता में अन्य देवताओं की अपेक्षा मानवीय गुणों का आधिक्य, अद्वितीय पराक्रम, व्योमत्व अर्थात् अत्यंत व्यापकत्व, विश्वधारण–सामर्थ्य, अमृत तत्त्व पोषण–सामर्थ्य, अवतार धारण करने की शक्ति आदि विशेषताएँ बताई गई हैं । इन्हीं विशिष्ट गुणों का धीरे–धीरे विष्णु में विकास होता चला गया और वे आगे चलकर तीनों देवों में प्रमुख हो गए । फिर उनमें शील, शक्ति और सौंदर्य इन तीनों विभूतियों की प्रतिष्ठा कर दी गई । 'विष्णु' का प्रभाव ब्राह्मण–ग्रंथों के रचनाकाल में भी बढ़ा । उन्हें हरि, केशव, वासुदेव, वृष्णिपति, कृष्ण, वैकुण्ठपति आदि नामों से भी समलंकृत किया गया । 'विष्णु' को इन्द्र के समान ही महत्त्व प्रदान करते हुए उपेन्द्र भी कहा गया है । संस्कृत के महत्त्वपूर्ण 'अमरकोष' नामक छन्दात्मक शब्दकोश के स्वर्गवर्ग में इस तथ्य का उल्लेख इस प्रकार है:

'उपेन्द्रइन्द्रावरजः चक्रपाणिः चतुर्भुजः ।'

पांचरात्र–मत : 'विष्णु को पहले उपेन्द्र अर्थात् इन्द्र का छोटा भाई कहा गया है । ब्राह्मण ग्रंथों के रचनाकाल में ही नारायण और विष्णु इन दोनों का एकीकरण हो गया । नारायण सृष्टि विकास के देवता माने गए हैं । नारायण के गुण विष्णु में मिल गए । इस तरह विष्णु की उपासना के लिए एक व्यापक फलक तैयार हो गया । वेदों के आधार पर संपन्न होने वाले यज्ञों में हिंसा की प्रधानता थी ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैष्णव-यज्ञों में हिंसा को हेय समझा जाने लगा। आगे चलकर धीरे-धीरे वैष्णव-यज्ञों की सात्विकता में वृद्धि होने लगी। 'शतपथब्राह्मण' के अनुसार ऐश्वर्य एवं सर्वस्व प्राप्ति के लिए पांचरात्र-पद्धति प्रारंभ हुई। 'महाभारत' के 'नारायणीय उपाख्यान' में पांचरात्र आचार को ही उपासना के रूप में स्वीकार किया गया है। वासुदेव ही परब्रह्म एवं परमात्मा है। सृष्टि के कर्ता हैं तथा पांचरात्र मत के आराध्य देव हैं। पांचरात्र धर्म को लेकर अनेक संहिताओं की रचनाएँ हुईं, जिनमें इस धर्म पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। पांचरात्र-धर्म में प्रपत्ति अर्थात् शरणागति मानसिक एवं व्यावहारिक दोनों रूपों में अनिवार्य मानी गई है। दक्षिण भारत में उद्भूत श्रीवैष्णव संप्रदाय ने सर्व प्रथम पांचरात्र-धर्म को अपनाया था। आगे चलकर पांचरात्र-धर्म एवं वैष्णव-धर्म इन दोनों के समन्वय के कारण भक्ति आंदोलन में एक नया ज्वार आ गया।

तात्पर्य यह है कि वैदिक कालीन देवता विष्णु के नाम से जो वैष्णव-धर्म का मार्ग तैयार हुआ, आगे चलकर 'महाभारत' काल में इसी को, पांचरात्र के नाम से अभिहित किया गया। ऐसा भी मत है कि पांचरात्र-मत का मूलाधार 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। आगे चलकर यह भी शनैः शनैः सर्वमान्य हो गया कि श्रीकृष्ण विष्णु के ही अवतार हैं और यह भी स्थिर हो गया कि पांचरात्र-मत का आधार श्रीकृष्ण की भक्ति ही है।

नारायण और वासुदेव कृष्ण का समन्वय-

'महाभारत' के नारायणीय उपाख्यान से स्पष्ट होता है कि 'महाभारत' काल में भगवद्भक्ति करने वाले भागवत कहलाते थे। भागवत-धर्म में विष्णु और श्रीकृष्ण की परमेश्वर के रूप में उपासना होती थी। पांचरात्र मत में नारायण ही प्रमुख देवता हैं। 'महाभारत' का नारायणीय आख्यान इस मत का मूल आधार है। 'महाभारत' के शांतिपर्व के ३३४ से ३५१ तक इन १८ अध्यायों में पांचरात्र मत के संबंध में विचार किया गया है। पांचरात्र मत में नारायण ही प्रमुख देवता हैं। नारायण से ही नर, नारायण, हरि, कृष्ण ये चार मूर्तियां उत्पन्न हुईं। नर-नारायण दोनों ऋषियों ने बदरिकाश्रम में तप किया। नारद ने वहां जाकर ऋषियों से प्रश्न किया तो उत्तर में ऋषियों ने नारद को पांचरात्र धर्म सुनाया। राजा उपरिचरवसु ने सर्व प्रथम पाँचरात्र विधि से नारायण की पूजा की। चित्रशिखंडी नामक सात ऋषियों ने पांचरात्र नामक शास्त्र तैयार किया। यह शास्त्र एक लाख श्लोकों का है और आज अनुपलब्ध है। पांचरात्र-धर्म श्रीकृष्ण के जीवन काल में सात्वत लोगों में फैला होगा क्योंकि सात्वत श्रीकृष्ण के ही वंश के थे। इसी कारण पांचरात्र मत को सात्वत भी कहते हैं। नारायण शब्द की व्याख्या नारायणीय उपाख्यान में इस प्रकार की गई है-शरीर को 'नारा' कहते हैं। प्राणियों का शरीर सदा मुझ (परमात्मा) का 'अयन' है। इसलिए मुझ 'परमात्मा' को नारायण कहते हैं। इसी तरह अन्य नामों की व्याख्या भी वहाँ निम्नलिखित रूप में की गई है-

(१) **वासुदेव** : सारे विश्व को मैं व्याप्त कर लेता हूँ और सारा विश्व मुझमें स्थित है। इसी से मुझे वासुदेव कहते हैं।

(२) **विष्णु** : मैंने सारे विश्व को व्याप्त कर लिया है, अतः मुझे विष्णु कहते है।

(३) **दामोदर** : पृथ्वी और स्वर्ग भी मैं हूँ, और अंतरिक्ष भी मैं हूँ इसीसे मुझे दामोदर कहते हैं।

(४) **केशव** : सूर्य, चन्द्र, अग्नि की किरणें मेरे बाल हैं, इसीलिए मुझे केशव कहते हैं।

(५) **गोविंद** : गो अर्थात् पृथ्वी को मैं ऊपर ले आया हूँ, इसीसे मुझे गोविंद कहते हैं।

(६) **हरि** : यज्ञ के हविर्भाग का मैं हरण करता हूँ, इसीलिए मुझे हरि कहते हैं।

(७) **सात्वत** : सत्त्वगुणी लोगों में मेरी गणना होती है, इसीसे मुझे सात्वत कहते हैं।

(८) **कृष्ण** : लोहे का काले वर्ण का हल का फार होकर मैं जमीन जोतता हूँ और मेरा वर्ण कृष्ण है, इसीसे मुझे कृष्ण कहते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पांचरात्र मत में दशावतार मान्य हैं। वेदों को इस मत में महत्त्व दिया गया है पर यज्ञ का अर्थ है, अहिंसा–युक्त वैष्णव–यज्ञ। इस मत में नारायण को ही वेदों का भंडार बताया गया है। नारायण ही सांख्य, नारायण ही ब्रह्म, नारायण ही यज्ञ एवं तप हैं तथा फल भी नारायण की प्राप्ति है। पांचरात्र–मत में पुरुष, प्रकृति, स्वभाव, कर्म और देव इन पांच कारणों से सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है। इसी पांचरात्र–मत को सात्वत–धर्म कहा गया है तथा यह निष्काम भक्ति का पंथ है। इसीसे इसको ऐकान्तिक भक्ति भी कहते हैं। इस संबंध में ऐसा भी मत है कि श्रीकृष्ण ने स्वयं वैदिक हिंसात्मक यज्ञों की प्रतिक्रिया में धार्मिक क्रांति की थी। उन्होंने पुरातन नारायणीय–धर्म को ही परिष्कृत करके पुनः प्रतिष्ठित किया। श्रीकृष्ण के द्वारा परिष्कृत इस नवीन धर्म के नाम में अंतर हो गया। प्राचीन नारायणीय धर्म के उपास्यदेव नारायण थे, किन्तु इस नवीन परिष्कृत धर्म के उपास्यदेव वासुदेव हुए। इसी तरह धर्म का नाम भी नारायणीय–धर्म के स्थान पर 'सात्वत' अथवा 'पांचरात्र' अथवा 'भागवत–धर्म' प्रसिद्ध हुआ।

तात्पर्य यह है कि प्राचीन नारायणीय धर्म ही सुसंस्कृत एवं परिष्कृत रूप में सात्वत, पांचरात्र एव भागवत धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार ये तीनों नाम एक दूसरे के पर्याय हैं। 'पांचरात्र' के अनुसार नारायण एक ही देवता हैं। उन्हीं के तीन भिन्न–भिन्न स्वरूप हैं। एक वासुदेव जो विभु एवं सर्वव्यापि हैं, दूसरे परमात्मा, जो सभी आत्माओं में महान् हैं और तीसरे भगवान्, जो स्रष्टा हैं। नारायण एक ही देवता हैं जो समय–समय पर इन तीनों रूपों में लीलाएँ करते हैं। वासुदेव इस स्वरूपत्रयी में श्रेष्ठ हैं। इस तरह श्रीकृष्ण ने जिस धर्म की प्रतिष्ठा की, उसमें नारायण की उपासना वासुदेव उपासना के रूप में प्रचलित हुई और इस धर्म का केन्द्र सर्व प्रथम श्रीकृष्ण का लीलाधाम शूरसेन प्रदेश (मथुरा के आसपास) रहा।

शूरसेन प्राचीन काल में एक महत्त्वपूर्ण जनपद था। इस जनपद में यादव क्षत्रियों के सात्वत नाम की शाखा में श्रीकृष्ण द्वारा प्रचलित इस सात्वत–धर्म का प्रचार हुआ। सत् शाखा के यादव श्रीकृष्ण के सजातीय थे। इसलिए अपने ही कुल के अद्वितीय महापुरुष के प्रति उनकी श्रद्धा स्वाभाविक थी। इस तरह सात्वतों द्वारा स्वीकृत इस धर्म को ही सात्वत धर्म कहा गया। 'महाभारत' में भी एतद् विषयक उल्लेख मिलता है। वहाँ स्पष्ट लिखा है कि संकर्षण ने वासुदेव की पूजा कलियुग के आरंभ में सात्वत पद्धति से ही की थी। [1] 'महाभारत' में तत्कालीन प्रचलित पांच धार्मिक मतों का उल्लेख है। इसमें पांचरात्र भी एक धर्म है–'**साङ्ख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतस्तथा**।'[1] पांचरात्र के नामकरण के संबंध में भी कई मत हैं। 'रात्र' शब्द का अर्थ ज्ञान होता है। इस मत में पांच प्रकार का ज्ञान कथित है इसलिए इसको पांचरात्र कहते हैं। '**रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधंस्मृतम्**।'[2] परमतत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग, एवं विषय (संसार) इन पांच प्रकार के विषयों का निरूपण इस मत में है। दूसरा मत यह भी है कि नारायण ने अपने पांच शिष्यों को एक–एक करके पांच रात्रियों तक पांच प्रकार का उपदेश दिया। वह उपदेश इस प्रकार है–(१) ज्ञानकाण्ड (२) साधना–पद्धति, (३) विग्रह–विवेचन, (४) अर्चा–विधान, (५) आचार–काण्ड।[3]

'शतपथब्राह्मण' में एक विशेष प्रकार के यज्ञ का नाम पांचरात्र है। पांचरात्र का सबसे प्रथम एवं प्राचीन उल्लेख यही है। इसके पश्चात् 'महाभारत' के शांतिपर्व में नारायणीय उपाख्यान में इसका उल्लेख मिलता है। इसके पश्चात् 'हरिवंशपुराण' में चतुर्मूर्ति शब्द मिलता है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध ये ही चतुर्मूर्ति हैं, जो पांचरात्र के चतुर्व्यूह में परिगणित हैं। प्रस्तुत पुराण के पश्चात् इस मत का उल्लेख

१. 'महाभारत' विष्णुपर्व–पृष्ठ ६०७ ४१, २. नारद-पांचरात्र, ३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ७० अंक ४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रमशः 'ब्रह्म-पुराण' (१९२) 'विष्णु-पुराण' (५-१८-५८) 'कूर्म-पुराण' (४१-९५) और 'भागवत-पुराण' (१०-४०-१०-२१) में क्रमशः चतुर्व्यूह एवं पांचरात्र का उल्लेख मिलता है। चारों वेद एवं सांख्य-योग इन पाँचों का समावेश होने के कारण यह मत पांचरात्र कहलाया ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि पांचरात्र मत काफी प्राचीन एवं सात्वत-मत, भागवत-धर्म, ऐकान्तिक-धर्म, वैष्णव-धर्म एवं वैष्णव-संप्रदाय ये सभी एक दूसरे के पर्याय हैं। इस मत के उपास्यदेव वासुदेव जो ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य और तेज इन छः गुणों से संपन्न हैं। इनको षड् ऐश्वर्य भी कहते हैं। वासुदेव षड् ऐश्वर्य से संपन्न होने के कारण भगवान् कहलाते हैं या भगवत् कहलाते हैं। इस तरह भगवत् के उपासक भागवत कहलाए। पांचरात्र की भाँति भागवत-धर्म नाम भी पुराना है।

भागवत-धर्म की प्राचीनता

भागवत्-धर्म का इतिहास अति प्राचीन है। लगभग ई. पूर्व ६०० के आसपास ब्राह्मण ग्रंथों के हिंसा प्रधान यज्ञों की प्रतिक्रिया में एक तरफ बौद्ध और जैन धर्म के सुधार के आंदोलन चल रहे थे तो दूसरी ओर उपासना प्रधान एवं अहिंसा प्रधान यह भागवत-धर्म विकसित हो रहा था।[1] अपने प्रारंभ काल में यह धर्म वृष्णिवंश के क्षत्रियों की सात्वत नामक जाति में ही प्रचलित रहा। इसी कारण इसको सात्वत नाम भी दिया गया।

जैन एवं बौद्ध धर्म नास्तिक थे एवं वैदिक परंपरा का खंडन करने वाले थे। जबकि सात्वत-धर्म वैदिक परंपरा को मानने वाला था। केवल इतना ही कि हिंसा प्रधान वैदिक यज्ञों का इस मत में निषेध था। बौद्ध और जैन धर्मों की प्रवृत्ति खंडनात्मक होने से इनका प्रचार और परिचय कम समय में ही अधिक लोगों तक व्याप्त हो गया। इसके विपरीत शांतभाव से स्वयं को वेद विहित घोषित करता हुआ यह सात्वत धर्म कच्छप की गति से शनैः शनैः निरंतर भारतीय लोक जीवन में गतिमान रहा। इस धर्म के प्रचार के प्राचीन प्रमाण के रूप में हम पाणिनि की अष्टाध्यायी के 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' सूत्र को प्रस्तुत कर सकते हैं। प्रथम अध्याय में हम पहले कृष्ण-चरित के विकास के संदर्भ में भी इस सूत्र का उल्लेख कर चुके हैं। जिसका तात्पर्य है वासुदेव के उपासक वासुदेवक और अर्जुन के उपासक अर्जुनक कहलाते हैं।

पाणिनि का काल चौथी शताब्दी ई. पूर्व निश्चित है। उपर्युक्त सूत्र से यह सिद्ध हो जाता है कि पाणिनि के काल तक भागवत-धर्म अच्छी तरह प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था।[1] कृष्ण-चरित के विकास के संदर्भ में जैनागमों एवं बौद्ध साहित्य के ग्रंथों में वासुदेव का उल्लेख मिलता है। ये सभी ग्रंथ तीसरी-चौथी ई. शती पूर्व के हैं। इससे भी यह ज्ञात होता है कि इस समय तक वासुदेव की पूजा-उपासना भली भाँति प्रतिष्ठित हो चुकी थी।[2] २०० ई.पू. बैक्ट्रीया के राजदूत हेलियाडोरस ने वासुदेव की प्रतिष्ठा में गरुडस्तम्भ बनवाया था और बड़े गौरव के साथ उसने स्वयं को भागवत कहा था। इसी प्रकार मेवाड़ की प्राचीन राजधानी चित्तौड़ के पास के घोसुंडी गांव (घोसुंडा) के शिलालेख से भी कृष्ण पूजा की प्राचीनता प्रमाणित हुई है। यह शिलालेख ई. पू. पहली शती का है। मथुरा में ई. पूर्व प्रथम शताब्दी के समय में महाक्षत्रप षोडश के समय का शिलालेख मिलता है। इसके अनुसार वसु नामक एक व्यक्ति ने मथुरा में भगवान् वासुदेव का मंदिर बनवाया था। ई. सन् तीसरी चौथी शताब्दी में मेगस्थनीज नामक यूनानी

---

१. वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास-दु. के. शास्त्री, २. वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास-दु. के. शास्त्री

३. वैष्णवधर्म नो संक्षिप्त इतिहास-दु. के. शास्त्री, ४. गैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास, दु. के. शास्त्री

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजदूत चन्द्रगुप्त मौर्य की राज्यसभा में उपस्थित हुआ था। उसने लिखा है कि 'जोबेरीज' (यमुना) के किनारे 'सोरसेनाई' (शौरसेनी) जाति के लोग रहते थे। 'मेथोरा' (मथुरा) एवं 'क्लोसोबारा' (कृष्णपुर) इस प्रदेश के मुख्य नगर थे। इस प्रदेश के लोग हेराक्लीज (कृष्ण) के विशेष रूप में उपासक थे। इससे भी सिद्ध होता है कि मौर्य काल में भागवत-धर्म एवं कृष्ण पूजा प्रचलित थी।[1]

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भागवत-धर्म काफी प्राचीन धर्म था एवं इस धर्म का प्राचीन नाम वासुदेव धर्म या वासुदेवोपासना है। इस धर्म का भागवत-धर्म नाम ई. पू. दूसरी तीसरी शताब्दी में प्रचलित हो चुका था। सर्व प्रथम यह धर्म शूरसेन निवासी सात्वत जाति तक ही सीमित था। ई. सन् पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दियों में जब सात्वत जाति ने स्थानान्तरण किया तब यह धर्म पश्चिमी भू-भाग की ओर भी फैला और यूनान के लोग भी इसे अपनाने लगे। अपनी इसी स्थानान्तरण की प्रक्रिया में सात्वत धर्मी लोग दक्षिण भारत में कोंकण तथा फिर शनैः शनैः पूरे दक्षिण भारत में फैल गए।

दक्षिण के प्राचीन तमिल साहित्य में वासुदेव एवं कृष्ण के अनेक संदर्भ मिलते हैं। उनसे यह स्पष्ट होता है कि सात्वत लोग वहां भी पहुँच चुके थे और उन्हीं के प्रभाव के कारण वहां वासुदेव पूजा प्रारंभ हुई।

भागवत-धर्मः क्षत्रियों द्वारा प्रचलित-

भागवत-धर्म ब्राह्मणों के द्वारा नहीं, अपितु ब्राह्मणेतर क्षत्रियों के द्वारा प्रचलित धर्म है। प्रारंभ में इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया था, पर जब बौद्ध एवं जैन धर्मों का प्राबल्य हुआ तथा ब्राह्मणों ने भी इसे अपना लिया और फिर उन्होंने ही इसे विधिवत् वैष्णव-धर्म के रूप में संगठित किया। 'महाभारत' के नारायणीय उपाख्यान में इस धर्म को वैष्णव-यज्ञ भी कहा गया है। इस वैष्णव-यज्ञ में पशुवध का निषेध है एवं इसके विपरीत दम, तप, सत्य, अहिंसा एवं इन्द्रिय निग्रह का विधान है। 'महाभारत' में वैदिक देवता विष्णु से वासुदेव को अभिन्न कहा गया है तथा कृष्ण को भी उन्हीं का अवतार द्वितीय वासुदेव कहा गया है।

यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि वेदों में 'त्रिविक्रम' तीन पादों से तीनों लोकों को आवृत्त करनेवाले एक भव्य देवता विष्णु हैं। यज्ञ-प्रधान ब्राह्मणकाल में विष्णु को यज्ञ की संज्ञा दी गई थी। वे अग्नि से भी श्रेष्ठ माने जाने लगे। पहले वेदों में विष्णु को उपेन्द्र (इन्द्र का छोटा भाई) कहा गया पर ब्राह्मण-काल में इन्द्र की अपेक्षा विष्णु की महत्ता बढ़ने लगी। इस प्रकार विष्णु पशुयज्ञ विरोधी नवीन धर्म के उपास्य बनने के लिए वैदिक देवताओं में सबसे उपयोगी सिद्ध हुए। इसी कारण 'महाभारत' में विष्णु को वासुदेव से अभिन्न कहा गया है तथा वासुदेव उपासक सात्वत-धर्म को वैष्णव-धर्म नाम दिया गया है।

'गीता' में '**वृष्णिनां वासुदेवोऽस्मि**' 'मैं वृष्णियों में वासुदेव हूँ' इस प्रकार के उल्लेख से यह सूचित होता है कि कृष्ण से पहले एक और भी वासुदेव (कृष्ण) हो चुके थे। 'महाभारत' के नारायणीय उपाख्यान के उपास्य नारायण हैं पर उन्हें विष्णुरूप बताया गया है तथा ऐसा कहा गया है कि नारायण ही वासुदेव हैं, वे कंस का वध करने के लिए जन्म लेंगे। 'महाभारत' के इस प्रकार के उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि 'महाभारत' काल तक अध्यात्म तत्त्व के देवता नारायण, ऐतिहासिक पूज्य पुरुष वासुदेव, वैदिक देवता उर्वाय विष्णु, ये तीनों एक होकर 'महाभारत' युद्ध के कृष्ण में समन्वित होने लगे थे और इस प्रकार के समन्वय के प्रयत्न अनेक रूपों में हो रहे थे। उस समय इस प्रकार का भी प्रयत्न हो रहा था कि कृष्ण ही नारायण, वासुदेव, हरि, भगवान् और विष्णु के अवतार हैं। 'महाभारत' में तथा 'श्रीमद्भागवत' आदि पुराणों में कृष्ण को 'सात्वतर्षभः' एवं 'सात्वतांपतिः' कहा गया है, इससे भी स्पष्ट होता है कि कृष्ण वृष्णिवंश के सात्वत थे तथा सात्वतों के कुल धर्म को अर्थात् भागवत-धर्म को 'महाभारत' और पुराणों के माध्यम से एक व्यापक लोकधर्म का रूप देने का प्रयत्न हो रहा था।

---

१. वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास- दु. के. शास्त्री

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भागवत-धर्म का विकास : प्रथम काल—

गुप्त सम्राटों के समय में भागवत धर्म पर्याप्त विस्तार पा चुका था। गुप्त सम्राट् स्वयं को परं-भागवत कहते थे। गुप्तवंश का यह समय चौथी-पांचवीं शताब्दी का था। यों गुप्तकाल में वैदिक ब्राह्मण-धर्म स्मार्त-मत के नाम से प्रचलित था। इस मत में पांच देवताओं की उपासना की जाती है। वे हैं-विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश। भागवत-धर्म के उत्थान का यह प्रथम काल है। जिसमें ५०० ई. पूर्व से लेकर ५०० ई. सन् तक की सुदीर्घकालीन भागवत-धर्म की धीर मन्दगति से विकसित परंपरा चली। इसी काल में भागवत-धर्म के पोषण के लिए अनेक पुराणों की रचनाएँ हुईं तथा 'रामायण' एवं 'महाभारत' की रचनाएँ हुईं।

द्वितीय काल : निर्गुण एवं सगुण वेदान्त-सम्प्रदायों का उदय काल—

भागवत-धर्म का दूसरा काल ई. सन् की छठी शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक का माना जाता है। इस काल में इस धर्म की पर्याप्त उन्नति हुई। बौद्ध-धर्म व्याप्त हो रहा था और वैदिक धर्म, स्मार्त वैदिक-धर्म उसकी शक्ति को तोड़ने में लगा हुआ था। शंकराचार्य ने भी बौद्ध धर्म को क्षीण करने में अपनी पूरी शक्ति लगाई। इस काल में दक्षिण भारत में भी भागवत-धर्म उन्नति की दिशा की ओर गति कर रहा था। दक्षिण में आलवार संत हुए, जिनकी संख्या १२ मानी गई है। आलवारों की भक्ति में प्रपत्ति अर्थात् शरणागति एवं राम तथा कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति भाव प्रकट हुआ है। आलवारों ने कृष्ण एवं गोपियों की प्रेम क्रीड़ाओं का भावपूर्वक वर्णन किया है। आलवारों की भक्ति में माधुर्य एवं वात्सल्य के भाव प्रकट हुए हैं। दक्षिण भारत में लगभग ९वीं १०वीं शताब्दी में आलवारों के भक्ति आंदोलन को वैदिक एवं शास्त्रीय रूप प्रदान करने वाले अनेक आचार्य हुए। निर्गुण वेदान्ती शंकर मायावादी विचारधारा के दार्शनिक थे। उनके सिद्धांत में भक्ति को जोड़ना कठिन था। फलतः विशिष्टाद्वैतवाद अस्तित्व में आया।

विशिष्टाद्वैत से सम्बद्ध सर्व प्रथम आचार्य रंगनाथ मुनि हुए। इनका समय ९वीं शताब्दी है। इन्होंने 'योगरहस्य' एवं 'न्यायतत्त्व' नामक दो ग्रंथों में विशिष्टाद्वैत-मत का उल्लेख वैष्णव-धर्म के विकास के संदर्भ में किया हैं। इसका विशेष परिचय आगे तृतीय अध्याय में दिया गया है। नाथ मुनि के पश्चात् यामुनाचार्य हुए। इन्होंने मायावाद का खंडन करके विशिष्टाद्वैत सिद्धांत का मंडन किया है एवं विष्णु एक श्रेष्ठ देवता हैं, इस प्रकार की स्थापना करके पांचरात्र सिद्धांत की वैदिक प्रामाणिकता स्थापित की है।

प्रथम वैष्णव आचार्य रामानुज—

दक्षिण के वैष्णव आचार्यों में रामानुज का स्थान श्रेष्ठ है। ये ११वीं शताब्दी में हुए। 'ब्रह्मसूत्र' पर इन्होंने 'श्रीभाष्य' लिखा। इन्होंने विधिवत् विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की तथा प्रपत्तिपूर्ण वैष्णव-भक्ति धर्म की स्थापना की। ऐसा विश्वास है कि स्वयं श्री एवं लक्ष्मी के द्वारा यह धर्म प्रतिपादित हुआ है इसलिए वैष्णव धर्म को भी श्री वैष्णव धर्म कहते हैं तथा लक्ष्मीनारायण इसके उपास्य हैं। रामानुज के पश्चात् दक्षिण में मध्वाचार्य हुए। ये द्वैतवादी थे। इन्होंने मायावाद का खंडन करके भक्तिपथ प्रशस्त किया। महाराष्ट्र में इनका प्रचार विशेष रहा। बंगाल का गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय भी मध्वाचार्य के द्वैतवाद की शाखा है।

निम्बाकाचार्य—

दक्षिण में १२वीं शताब्दी में निम्बार्काचार्य हुए। निम्बार्काचार्य के संप्रदाय का प्रधान केन्द्र दक्षिण भारत न होकर वृंदावन था। इन्होंने 'ब्रह्मसूत्र' की व्याख्या की है और द्वैताद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इन्होंने सनकादि संप्रदाय की स्थापना की है जो इनका भक्तिपक्ष है। इसीको हंस-संप्रदाय, सनातन-संप्रदाय एवं देवर्षि-संप्रदाय भी कहते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विष्णुस्वामी एवं आचार्य वल्लभ—

वैष्णव आचार्यों में विष्णुस्वामी का भी उल्लेख मिलता है । ये बालकृष्ण के उपासक थे एवं इन्होंने रुद्र-संप्रदाय की स्थापना की थी । शुद्धाद्वैत वेदान्त सिद्धांत के प्रथम संस्थापक ये ही माने जाते हैं । इन्हीं के शुद्धाद्वैत से सम्बद्ध सिद्धांतों को आगे चल कर आचार्य वल्लभ ने विशेष रूप में पल्लवित किया ।

वैष्णव-भक्ति की व्याप्ति दक्षिण भारत से उत्तर भारत की ओर—

मध्यकालीन भारतीय भक्ति आंदोलन का महाज्वार दक्षिण भारत से ही उत्तर भारत की ओर आया है । कृष्ण-भक्ति के व्रजवृंदावन के महाकेन्द्र आचार्य वल्लभ भी दक्षिण के ही थे । 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानंद' यह सुप्रसिद्ध कथन भी इसी का सूचक है । श्रीमद्भागवत-माहात्म्य में भी इस संबंध में उल्लेख मिलता है । व्रज में अपने ज्ञान एवं वैराग्य नामक दोनों मुमुर्षु पुत्रों के पास बैठी हुई युवती भक्ति नारद जी से अपनी आपबीती कह रही है-'मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्णाटक में मैं पुष्ट हुई, यत्किंचित् पुष्टि मैंने महाराष्ट्र में प्राप्त की, गुजरात में मैं क्षीण एवं बूढ़ी हो गई । वहाँ घोर कलिकाल के कारण पाखण्ड पंथ चल रहे थे । उन्हीं के कारण मेरी गत बिगड़ी । अब मैं पुनः वृंदावन में आ गई हूँ । मुझे यहां नया यौवन एवं नया स्वरूप प्राप्त हुआ है-

> **उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता ।**
> **क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ।।४८।।**
> **तत्र घोर कलेर्योगात् पाखण्डैः खण्डिताङ्गका ।**
> **दुर्बलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सह मन्दताम् ।।४९।।**
> **वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी ।**
> **जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठं रूपा तु साम्प्रतम् ।।५०।।**

द्रविड देश का अर्थ जैसा कि सभी आज तक मानते चले आ रहे हैं, दक्षिण भारत होता है, किन्तु डॉ. सत्येन्द्र द्रविड़ देश का अर्थ मोहन जोदाड़ो और हड़प्पा से लगाते हैं । **'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानंद'** इस संदर्भ में डॉ. सत्येन्द्र लिखते हैं—'नई प्राग् ऐतिहासिक शोधों से यह सिद्ध होता है कि भक्ति का मूल द्रविड़ों में है और दक्षिण के द्रविडों में नहीं । उनके महान् पूर्वज मोहन-जो-दा-ड़ो और हड़प्पा के द्रविड़ों में है ।[1] लगता है कि यह प्रश्न विशेष संशोधन की अपेक्षा रखता है, क्योंकि आज तक के भक्ति परंपरा के सभी अध्येता दक्षिण भारत के तमिल आदि प्रदेशों को ही द्रविड़ प्रदेश मानते चले आ रहे हैं । दक्षिण से उत्तर भारत की ओर आकर जिन आचार्यों ने भागवत-धर्म (वैष्णव-धर्म) का पुनरुत्थान किया, उनके सम्प्रदाय निम्नानुसार हैं—

(१) श्रीरामानुजाचार्य	विशिष्टाद्वैतवाद	श्री-संप्रदाय
(२) श्रीविष्णुस्वामी	शुद्धाद्वैतवाद	रुद्र-संप्रदाय
(३) श्रीनिम्बाकाचार्य	द्वैताद्वैतवाद	निम्बार्क संप्रदाय
(४) श्रीमध्वाचार्य	द्वैतवाद	माध्व-संप्रदाय

---

१. सूर की झाँकी- डॉ. सत्येन्द्र पृष्ठ-२१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन संप्रदायों से प्रभावित एवं प्रेरित होकर ई. सन् की १४वीं से १६वीं शती तक के दो सौ वर्षों में जो सगुण–वेदान्त–भक्ति संप्रदाय अस्तित्व में आए, वे इस प्रकार हैं—

(१) श्रीसंप्रदाय, रामानंदी संप्रदाय (विशिष्टाद्वैत वेदान्त)
(२) चैतन्य–संप्रदाय, (अचिन्त्य–भेदाभेद–वेदान्त)
(३) श्रीवल्लभाचार्य, पुष्टिमार्ग (शुद्धाद्वैत वेदान्त)
(४) श्रीराधावल्लभीय संप्रदाय, गो. हित हरिवंश (भक्ति में वेदान्त को अनपेक्षित माननेवाला संप्रदाय)
(५) श्रीहरिदासी संप्रदाय

उपर्युक्त संप्रदायों में प्रथम 'श्री–संप्रदाय' को छोड़कर शेष सभीं कृष्ण–भक्ति से सम्बद्ध संप्रदाय हैं।

दक्षिण भारत में भक्ति को एक तो शास्त्रीय रूप मिला, दूसरा उसका आध्यात्मिक पक्ष प्रबल हुआ। इस तरह दक्षिण में जो भक्ति पुष्ट हुई थी, वह बड़े वेग से उत्तर भारत की तरफ महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, आसाम, बंगाल आदि प्रदेशों में फैली।

उतर भारत के वैष्णव सम्प्रदाय : स्वामी रामानंद–

स्वामी रामानंद उत्तर भारत के एक ऐसे संत थे, जिनके नाम से रामानंदीसंप्रदाय प्रसिद्ध है। इन्होंने आध्यात्मिक दृष्टि से रामानुज के विशिष्टाद्वैत–मत को माना एवं भक्ति के लिए एक अलग संप्रदाय स्थापित किया। जो सभी के लिए सुलभ हुआ। सीताराम इनके उपास्य थे। रामानंद के शिष्य दोनों प्रकार के हैं। उच्चवर्ग के भी तथा निम्न जाति के भी। निम्न जाति के कबीर रामानंद के ही शिष्य थे और उच्चवर्ण के तुलसीदास भी इन्हीं की वैष्णव परंपरा में हुए।

आचार्य वल्लभ : शुद्धाद्वैत वेदान्त एवं पुष्टि संप्रदाय : १५ वीं शताब्दी में आचार्य वल्लभ ने 'पुष्टिमार्ग' की स्थापना की। 'पुष्टिमार्ग' शुद्धाद्वैत वेदांत सिद्धांत पर आधारित है। हमारा प्रतिपाद्य विषय कृष्ण–काव्य मुख्यतः आचार्य वल्लभ द्वारा संस्थापित शुद्धाद्वैत वेदांत से ही सम्बद्ध है। पुष्टिमार्ग की भक्ति का केन्द्र व्रज रहा। गोवर्द्धन पर्वत पर आचार्य वल्लभ ने गोवर्द्धननाथजी के स्वरूप की स्थापना की। सूरदास आचार्य वल्लभ के ही शिष्य थे। जो अष्टछाप के कवियों में प्रधान हैं। पुष्टि–संप्रदाय में भगवान् के अनुग्रह की प्राप्ति ही मुख्य है। गोपीभाव की भक्ति ही इसमें श्रेष्ठ है, जिसको प्रेम लक्षणाभक्ति नाम से भी अभिहित किया गया है। आचार्य वल्लभ ने बालभाव से बालकृष्ण की सेवा प्रारंभ की। उन्होंने शुद्धाद्वैत एवं पुष्टिभक्ति को लेकर १६ ग्रंथ लिखे। जो षोडशग्रंथ के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने लिखा है कि श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। उनको किसी भी भाव से भजा जा सकता है। प्रेम, सख्य, वात्सल्य यहां तक कि शत्रुभाव से भजने वालों को भी श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त हुआ है। गोपियों ने कान्त–भाव से, गोपों ने सख्यभाव से, नंद–यशोदा ने वात्सल्यभाव से, कंस–शिशुपाल ने शत्रुभाव से श्रीकृष्ण को प्राप्त किया है। वे लिखते हैं कि **'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः'**। वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथजी ने गोवर्द्धननाथजी (श्रीनाथजी) की पूजा का मंडान किया। भोग, कीर्तन इत्यादि सेवाओं की व्यवस्था की। दिन की आंठ झाँकियों के लिए अलग–अलग आठ कीर्तनकार नियुक्त किए, जो अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये आठों अष्टछाप के कवि कृष्ण कवियों में सिरमौर हैं और आठों में सूर सुमेरु हैं। विट्ठलनाथजी ने चार कीर्तनकार शिष्य अपने पिता वल्लभाचार्य के लिए और चार अपने। सूरदास, कुम्भनदास, परमानंददास और कृष्णदास ये चार कीर्तनकार वल्लभाचार्य के शिष्य थे एवं नंददास,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविंद स्वामी ये चार विट्ठलनाथजी के। 'हिन्दी कृष्णकाव्य में भक्ति एवं वेदांत' विषय के ये ही आठ कवि प्रमुख हैं, जिनके वेदांत निरूपण के संबंध में आगे विचार किया जाएगा।

वल्लभचार्य के अतिरिक्त वृंदावन में और भी कृष्णभक्ति से संबद्ध संप्रदाय विकसित हुए। उनमें से राधावल्लभीय-संप्रदाय, गौड़ीय वैष्णव-संप्रदाय मुख्य हैं। इन सभी संप्रदायों ने 'श्रीमद्भागवत' को केन्द्र में रखा है। यदि हम यह कहें कि 'श्रीमद्भागवत' ही कृष्णभक्ति का मेरुदण्ड है तो भी अतिशयोक्ति नहीं। आचार्य वल्लभ ने तो 'श्रीमद्भागवत' को प्रस्थान चतुष्टय कहकर इसे सविशेष महत्त्व दिया है।

इस भाँति वेदों में जो भक्ति-कल्पवल्लि अंकुरित हुई, वही आगे चलकर विष्णु, नारायण, वासुदेव, कृष्ण जैसे विविध देवकल्पद्रुमों का आश्रय पाकर सात्वतधर्म, भागवतधर्म, पांचरात्र-मत, ऐकान्तिक-भक्ति, वैष्णव-भक्ति, पुष्टि-संप्रदाय, चैतन्य-संप्रदाय, राधावल्लभीय-संप्रदाय, हरिदासी-संप्रदाय जैसी भक्तिधाराओं से अभिसिंचित होकर रामेश्वरम् से हिमालय एवं कच्छ से असम तक खूब फली-फूलीं।

इसी परम वरीयसा एवं परम पावनी भक्ति-कल्पवल्लि का वाह्य कलेवर सगुणोपासना है तो वेदान्त इसका आभ्यन्तर। विगत दो सहस्र से भी अधिक काल से भारत ही नहीं, अपितु विश्व के अनेक देशों के जन-मानस को कृष्ण-भक्ति की इन अमिय धाराओं ने संतृप्त एवं परिपुष्टकर उसे परम् आह्लादकारिणी एवं उत्तरोत्तर अभिवृद्धिमती जिजीविषा के मधुर ज्वार से कृतकाम कर रखा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय अध्याय

दर्शन एवं वेदान्त

* षड् नास्तिक दर्शन : लोकायत (चार्वाक) जैन, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक ।
* षड् आस्तिक दर्शन : वैशेषिक, न्याय, सांख्य, (निरीश्वरवादी–दर्शन), योग, पूर्वमीमांसा (निरीश्वरवादी), उत्तरमीमांसा (वेदान्त) ।
* उत्तरमीमांसा दर्शन : (वेदान्त) ब्रह्मसूत्र, अद्वैत वेदान्त, विशिष्टाद्वैत वेदान्त, द्वैत वेदान्त, द्वैताद्वैत वेदान्त, शुद्धाद्वैत वेदान्त, अचिन्त्य–भेदाभेद वेदान्त तथा शैव इत्यादि वेदान्त ।
* भारतीय दर्शन का एक छोर लोकायत दर्शन है तो दूसरा वेदान्त । दोनों के समन्वय से जीवन–चक्र पूर्ण होता है । एक जीवन के स्थूल को तो दूसरा चिरंतन सूक्ष्म को सम्पुष्ट करता है । दोनों ही मूलतः वैदिक हैं । लोकायत को ईर्ष्यावश कठ–मुल्लों ने नास्तिक नाम दिया है तो वेदान्त को इन्हीं की परंपरा ने जटिल बना रखा है । वेदान्त का सीधा-सा अर्थ है–ब्रह्म–ज्ञान । जड़–चेतन समग्र जो है वही ब्रह्म है । उसका ज्ञान ब्रह्म–ज्ञान है । नमक की डली जल में घुल जाती है । जड़–चेतन में वैसी ही घुलन की सहज अनुभूति ही ब्रह्म-भाव है । 'जागीनें जोऊं तो जगत् दीसे नहीं' नरसी महेता की इस पंक्ति में 'जागना' ब्रह्म–ज्ञान है तो 'जगत् का नहीं दीखना' लुप्त हो जाना, ब्रह्म–भाव है ।
* व्याकरण में शब्द की भाँति वेदान्त भी दो प्रकार का है–अविकारी एवं विकारी । शंकर का निर्गुण वेदान्त अविकारी है तो बाद के सभी आचार्यों के सगुण वेदान्त विकारी, परिवर्तनशील, क्षणिक एवं नाशवान हैं । इन विकारी वेदान्तों का परिणमन ही पौराणिकी पाखण्ड–भक्ति है ।
* वेदान्त–भक्ति ब्रह्मभाव है तो पौराणिकी भक्ति अंधविश्वास । वेदान्त–भक्ति का आधार ज्ञान है तो पौराणिकी भक्ति का अज्ञान ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

।। ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ।।

तृतीय अध्याय

दर्शन एवं वेदान्त

गत अध्याय में हम कृष्ण-भक्ति पर विचार कर चुके हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम भारतीय दर्शन एवं वेदान्त पर विचार करेंगे।

'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा : 'दर्शन' शब्द 'दृश्' दर्शने धातु में करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगने से बना है।[1] **'दृश्यते अनेन अस्मिन् वा इति दर्शनम्'** अथवा **'दृश्यते तद् (ब्रह्म) एतद् (विश्वम्) अनेन ज्ञानचक्षुषा त्रिकालदर्शिभिः आत्मज्ञैः ऋषिभिः मुनिभिः इति दर्शनम्।**[2] अर्थात् त्रिकाल द्रष्टा आत्मज्ञानी, ऋषि-मुनियों के द्वारा ज्ञान-चक्षुओं से जो ब्रह्म एवं यह विश्व देखा जाए वह 'दर्शन' है।

देखने के स्थूल साधन नेत्र हैं। इनके द्वारा वस्तुओं का जो ज्ञान होता है, उसको चाक्षुष् प्रत्यक्ष कहते हैं। इस तरह चाक्षुष् प्रत्यक्ष ज्ञान ही दर्शन का वास्तविक अर्थ है, ऐसा मत चार्वाक जैसे स्थूल भौतिकवादी दर्शनों का है।[2] इनके विपरीत जो सूक्ष्म दर्शनशास्त्र हैं, उनका मत है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जिनका चाक्षुष् प्रत्यक्ष संभव नहीं। वे आंखों से नहीं किन्तु तात्त्विक बुद्धि अर्थात् ज्ञान-दृष्टि से देखी जा सकतीं हैं। इस तात्त्विक बुद्धि अथवा ज्ञान-दृष्टि के आधार पर 'दर्शन' का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—'जिसके द्वारा ब्रह्म, जीव, जगत् इत्यादि विषयक ज्ञान प्राप्त हो सके, वह 'दर्शन' है।

दर्शन का प्रयोजन : दर्शन का प्रयोजन है, जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना। दर्शन-शास्त्र की उत्पत्ति का प्रयोजन है, दुःख सामान्य (संपूर्ण दुःख) का निवारण तथा सुख सामान्य (उत्तम सुख) की उपलब्धि। इसी प्रयोजन से दर्शनशास्त्र का जन्म हुआ है। डॉ. भगवानदास अपने 'दर्शन का प्रयोजन' नामक ग्रंथ में लिखते हैं—'सांसारिक एवं पारमार्थिक (इलाही रूहानी) दोनों सुखों को साधने का मार्ग जो दरसावे, वही सच्चा दर्शन है।'[1] जो अभ्युदय एवं निःश्रेयस का मार्ग दिखाए वह दर्शन है-

यदाभ्युदयिकं चैव तैः श्रेयसिकमेव च। सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत् तद्धि दर्शनम्॥

इस अपरिमेय ब्रह्माण्ड, जगत्-जीवन इनका सर्जक कौन है? चेतन (जीवन) क्या है? जिसके अभाव में प्राणी मृत हो जाता है? मृत हो जाने के पश्चात् चेतन कहाँ चला जाता है? कर्म, कर्मफल क्या हैं? पाप-पुण्य क्या हैं? आचरणीय एवं अनाचरणीय कर्म कौन-कौन से हैं? पदार्थ क्या है? ईश्वर है या नहीं है? है तो वह साकार है अथवा निराकार या फिर साकार-निराकार दोनों है? ऐसे कई प्रश्न मानव के मन में सहज रूप में उद्भूत होते रहने हैं। दर्शन इन्हीं जैसे अनेक प्रश्नों के उत्तर देता है। दर्शन का

---

१. करणाधिकरणयोश्च ११३-३-११७, अष्टाध्यायी, पाणिनि २, भारतीय दर्शन, वाचस्पति गैरोला, पृष्ठ-९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्देश्य है, जीवन की समग्रता को रूपायित करनेवाले अति सूक्ष्म सूत्रों-जीव का रोना, हँसना, सोचना, विचारना-पर विचार करना है। 'दर्शन' जीवन की जिज्ञासाओं को लेकर जन्मा है। इस प्रकार जीवन की मीमांसा करना ही दर्शन का एकमेव प्रयोजन है।[1]

वैज्ञानिक जिस प्रकार सत्यान्वेषी होता है, ठीक उसी प्रकार दार्शनिक भी सत्यान्वेषी होता है। इस दृष्टि से दर्शन भी एक विज्ञान है, एक शास्त्र है। पुराणों का अधिकांश आधार नगरों के नाम-ठाम को छोड़कर मनगढन्त कल्पना है पर दर्शन का समग्र आधार सप्रमाण सत्य एवं तत्त्वचिंतन है। इस तरह दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत प्रमाणशास्त्र, तत्त्वदर्शन इत्यादि का भी समावेश हो जाता है।

इस प्रकार दर्शन का तात्पर्य है सत्य या तत्त्वनिर्णय। भारत प्रारंभ से ही आत्मानुसंधान, सत्त्वानुशीलन एवं सत्यान्वेषण की ओर अभिमुख रहा है। वेद, उपनिषद् एवं दर्शन इसके प्रमाण हैं। भारतीयों में मानव के जन्म से जीवन की अंतिम श्वास तक की गतिविधि के प्रति बड़ी तीव्र जिज्ञासा रही है। सांसारिक एवं पारलौकिक जीवन पर भारत के ऋषि-मुनियों ने आज से सहस्रों वर्ष पूर्व एक सुदीर्घ काल तक निरंतर अनुसंधान किया है और उसी का परिणाम है भारतीय दर्शनशास्त्र।

'दर्शन' विचारशास्त्र है तो धर्म' आचारशास्त्र। एक जीवन से लेकर ब्रह्माण्ड तक की मानवीय विचार-यात्रा है तो दूसरी मानवीय मूल्यों की शाश्वत आचार-संहिता। हमारे यहां दर्शन एवं धर्म का सहज एवं सुभग समन्वय हुआ है। इसी हेतु दर्शन का प्रयोजन त्रिविध ताप निवृत्ति माना गया है-
'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ । (सांख्यकारिका-१)

हमारे यहां की ऋषि परंपरा भोग एवं त्याग दोनों प्रकार की रही है। जो कर्मकाण्ड के प्रवर्तक ऐहिक एवं पारलौकिक भोग-सुख (स्वर्ग आदि) से सम्बद्ध मंत्रों के द्रष्टा या रचयिता ऋषि हैं, वे प्रवृत्तिधर्मानुयायी हैं एवं जो मोक्ष-विषयक मंत्रों के द्रष्टा, ज्ञान का प्रतिपादन करनेवाले हैं, वे ऋषि निवृत्तिधर्मानुयायी हैं। ये निवृत्तिधर्मानुयायी ऋषि ही दार्शनिक थे।[1] भारत सदा गुण पूजक रहा है। वाह्याचार नहीं, किन्तु आन्तरिक प्रोज्ज्वलता का यह सदा उपासक रहा है। भारत में देव एवं असुर दोनों जाति के तत्त्वचिन्तक हुए हैं और दोनों का भारत ने समान भाव से आदर किया है। यहाँ वेदनिंदक तथागत बुद्ध, लोकायत दर्शन के आदि ऋषि द्रष्टा वृहस्पति, चार्वाक आदि को भी महर्षि कहकर समादृत किया गया है।

भारत में निवृत्तिधर्मानुयायी ऋषियों के भी दो संप्रदाय हैं-आर्ष एवं अनार्ष। जिन्हें हम क्रमशः वैदिक एवं अवैदिक अथवा आस्तिक एवं नास्तिक भी कह सकते हैं। वेदों को प्रमाण माननेवाले दर्शन आस्तिक तथा वेदों का प्रमाण नहीं माननेवाले दर्शन नास्तिक कहे जाते है। कई विवेचक आस्तिक का अर्थ ईश्वरवादी तथा नास्तिक का निरीश्वरवादी भी करते हैं, पर ऐसा करना सत्य से हटना है। क्योंकि आस्तिक कहे जाने वाले षड्दर्शनों में सांख्य एवं पूर्वमीमांसा ये दो दर्शन ऐसे हैं जो ईश्वर को नहीं मानते हैं। इस प्रकार के अर्थ को लेकर षड्वैदिक दर्शनों को आस्तिक दर्शन कहेंगे तो अव्याप्ति दोष होगा। अतः नास्तिक-आस्तिक शब्दों का उपर्युक्त प्रथम अर्थ अवैदिक एवं वैदिक ही ठीक है। यो मूल रूप में वैदिक एवं अवैदिक दोनों प्रकार के दर्शनों का चरमोद्देश्य एक ही है और वह है-परम पद की उपलब्धि। नास्तिक एवं आस्तिक दोनों दर्शन सैद्धान्तिक दृष्टि से मूलतः विरोधी हैं और इनके विरोध के फलस्वरूप ही भारतीय दर्शनों ने विविध रूपों में विकास किया है।

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ. ४४५
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला-४४७,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आस्तिक एवं नास्तिक तत्त्वचिन्तन को लेकर उपनिषदों में देवराज इन्द्र और दैत्यराज विरोचन की कथा है ।[1] दोनों तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए एक बार लोकपितामह ब्रह्मा के पास गए । ब्रह्मा ने दोनों को स्वाध्याय तथा मनन का अवसर देने के हेतु से कहा–'जो जलों में, दर्पणों में, नेत्रों में दिखाई देता है, वही आत्मा है ।' ब्रह्मा ने जो कहा था, उसका बड़ा सरल आशय है । जैसे शरीर का जल में, दर्पण में, प्रतिबिंब दिखलाई पड़ता है, वैसे ही शरीर भी प्रतिबिंब है। इस शरीर का जो मूल बिम्ब ब्रह्म है, वही आत्मा है ।

असुरराज विरोचन स्थूल बुद्धिवाले थे । उन्होंने अनेक स्थानों पर अपने ही प्रतिबिंब को देखकर समझ लिया कि शरीर ही आत्मा है । देवराज इन्द्र सूक्ष्म बुद्धिवाले थे । उन्होंने ब्रह्मा से कई बार शंकाएं कीं और अन्त में उन्हें तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ । इस प्रकार देवराज इन्द्र एवं असुरराज विरोचन दोनों क्रमशः आस्तिक तथा नास्तिक तत्त्वचिन्तन के अनुसर्ता हैं ।

असुरराज विरोचन ने शरीर को ही आत्मा मानकर असुरों में स्थूल देहात्मवादी अर्थात् प्रत्यक्ष भौतिकवादी तत्त्वज्ञान का प्रचार किया । इसके फलस्वरूप आसुरी विचारधारावाले काम–भोग को ही परम पुरुषार्थ मानते रहे हैं । अर्थात् शरीरसुख को ही प्रमुखता देते रहे हैं । यही आसुरी नास्तिक विचारधारा यूरोप में फैली । मरने पर भी शरीर को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति के मूल में यही विचारधारा है । भारत में चार्वाक, सौत्रान्तिक बौद्ध दर्शन की वज्रयान शाखा, शैव, शाक्त, वैष्णवों में स्थूल भोगात्मक मांस, मदिरा, मैथुन एवं अधरामृत, समर्पण जैसी धर्म के नाम पर बीभत्स एवं व्यभिचारी क्रियाएँ इत्यादि में इसी आसुरी विचारधारा को हम फलती–फूलती देखते हैं । भारत के शैव, शाक्त एवं वैष्णव संप्रदायों में इसी भोगपरक वामाचारी, व्यभिचारी प्रवृत्ति को देखकर बड़े खेद के साथ वीर–भूमि मेवाड़ के 'वीरविनोद' में इतिहासकार कविराज श्यामलदास लिखते हैं–

अन्ते शाक्ताः बहिः शैवाः सभामध्ये चं वैष्णवाः । नाना रूपधरा कौलाः विचरन्ति महीतले ।।

अर्थात् शाक्त भीतर गुप्त रूप में, शैव बाहर सभी के सामने एवं वैष्णव खुल्लम–खुल्ला सभाओं में वामाचार (व्यभिचार इत्यादि) अर्थात् मद्य–मांस मैथुनादि में प्रवृत्त हैं। इस प्रकार पृथ्वी (भारत) पर धर्म के नाम पर नाना रूपों में वामाचारी ही विचरण कर रहे हैं । धर्म के नाम पर शैवों में गांजा, भंग, जैसे मादक द्रव्यों का सेवन, शाक्तों में मांस–मदिरा सेवन एवं वैष्णवों में 'समर्पण' तथा 'अधरामृत' एवं बौद्धों की वज्रयानी परंपरा तथा कौलाचार में मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पंच मकारों को ही प्राणस्वरूप माना गया है—

अष्टैश्वर्यं परं मोक्षं मद्यपानेन शैलजे । मांसभक्षणमात्रेण साक्षान्नारायणी भवेत् ।।
मत्स्यभक्षणमात्रेण कालीप्रत्यक्षतामियात् । मुद्रासेवनमात्रेण भूसुरो विष्णुरूपधृक् ।।
मैथुनेन महायोगी मम तुल्यो न संशयः ।।

हे पार्वती ! मद्यपान करने से आठों सिद्धियां एवं परमोक्ष, मांस भक्षण मात्र से साक्षात् नारायणत्व प्राप्त होता है । मत्स्य भक्षण करते समय ही कालिका के दर्शन होते हैं ।·मदिरा के सेवन मात्र से ही विष्णुरूप

---

१. हिन्दू संस्कृति अंक, कल्याण १९५०, पृ. २७७,३७८ २. महानिर्वाण तन्त्र, पंच मकारफल, तंत्र– ११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त होता है । मैथुन द्वारा महायोगी मेरे (शिव के) तुल्य होता है । इसमें संशय नहीं है ।[1] हम शैव, शाक्त, वैष्णवों में आज-कल क्या इसी तरह के आचार नहीं देख रहे हैं ?

बौद्धधर्म के विकृत रूप वामाचारी वज्रयान और सहजयान ने भारत के पूर्वी भागों में आठवीं शती में चौरासी सिद्धों की परंपरा को जन्म दिया । मैथुन-मदिरापरक इस वीभत्स धर्म-परंपरा को तेरहवीं शती में तुर्कों की तलवार ने समूल नष्ट कर दिया, पर उसका जो प्रभाव भारत पर रह गया उसीके फल स्वरूप भारत के शैव, शाक्त एवं वैष्णव संप्रदायों में अद्यावधि मांस, मदिरा, मैथुन, मुद्रा इत्यादि वामाचारी, व्यभिचारी पाखंड प्रथा धर्म के नाम पर किसी न किसी रूप में विद्यमान है ।[2] धर्मस्थान में व्यभिचार के लिए इस्लाम में तो कमर तक खड्डे में गाड़ कर पत्थरों से देहान्त दंड का विधान है[3] पर दुर्भाग्य से हिन्दू-धर्म की उदारता में ऐसा कुछ भी नहीं हैं । वैष्णव तो 'सभामध्ये च वैष्णवा:' सैकड़ों वर्षों से खुलेआम यह सब कुछ कर रहे हैं और कहते हैं कि हम कृष्ण हैं ।

शकों के ह्रास काल में महादेव का रूपान्तर लिंग में होने का उल्लेख हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं, क्या वह पंच मकार में से अंतिम 'मैथुन' का परिणाम नहीं है ? साथ ही कृष्ण के व्यभिचारी एवं रसिक रूप की कल्पना जो भ्रान्त कवियों एवं आचारच्युत भक्तों ने की है, क्या वह वामाचार के व्यभिचारी कर्मों का फल नहीं है ? आज भी वैष्णवों में सुनते हैं 'समर्पण' एवं 'अधरामृत' प्रथाएं हैं । क्या ये कौलाचार के ही रूप नहीं हैं ? 'समर्पण' का संबंध अंतिम 'म' मैथुन के साथ माना जाता है । मूल तांत्रिकों ने पंच मकार के आध्यात्मिक पक्ष को लिया था, पर स्थूल भोगवादी धर्म के आचार्यों ने अपने स्वभोगविलास के लिए इसके भोग रूप को ही अपने स्वार्थ के हित धर्म में ग्रहण कर लिया है। भारतीय हिन्दू धर्म सदा से उदार रहा है, पर इतना औदार्य भी किस काम का जो हम अपने प्राणस्वरूप धर्म एवं परमात्मा की पूजा को भी शुद्ध न रख सकें । हमें विश्व के दूसरे धर्मों को उत्तर देना है। वे हमें पूछते हैं । हम किस मुंह से उन्हें उत्तर दें ? विदेशी भी इन सबको लेकर जिज्ञासा करते हैं । 'भागवत' की व्यभिचारपरक लीलाओं में एक स्थान पर एक गोपी पर प्रसन्न होकर अपना गाल उसके गाल के साथ सटाकर कृष्ण अपने मुख का लार से भरा हुआ चर्वित पान उसके मुख में देते हैं—

> कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम् ।
> गण्ड-गण्डं सन्दधत्या अदात्ताम्बूल चर्वितम् ।।[4]

एक गोपी ने रास के समय अपना कोमल कपोल कृष्ण के कपोल से मिलाया, तब भगवान् कृष्ण ने उसके मुख में अपना चबाया हुआ पान दे दिया । कैसी है यह शर्मजनक प्रक्रिया ! ब्रह्म ऐसा करेगा ? और फिर मूर्ख कथाभट्ट इसका आध्यात्मिक अर्थ भी लगाते हैं । यही वैष्णवों में 'अधरामृत' है ।

व्यभिचारमूलक 'समर्पण' का स्रोत 'भागवत' की 'दानलीला' है । कृष्ण ने खुलकर गोपियों से 'यौवन-दान' मांगा है। भागवत' के इसी प्रसंग को सूर ने काफी पल्लवित किया है—

> लागी काम-नृपति की सांटी, जोबन-रूप हिं आनि अयौ ।[5]
> त्रासित भई तरुनी अनंग डर, सकुचि रूप-जोबन हिं दियौ ।।

१. विशेष अध्ययन के लिए देखिए—हिन्दुत्व, तन्त्रखंड, पृ. ४८३ से ४९९
२. देवांगना (उपन्यास की भूमिका) आचार्य चतुरसेन शास्त्री, ३. कुराने शरीफ, सूरे अन्नूर, बारा-१८
४. भागवत-दशमस्कन्ध, अध्याय-३३, श्लोक-१३, ५. सूरसागर-पद ३३०७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोपिकाओं ने काम संत्रस्त होकर कृष्ण को अपना शरीर–यौवन समर्पित कर दिया। यही वैष्णवों में 'समर्पण' है। धर्मस्थानों में कृष्ण–लीला के अनुकरण पर सुनते हैं, बड़े बढ़िया वास्तविक नाटक होते हैं।

साधारण जीवन में, घर–गृहस्थी में भी जो आचार अत्यन्त निंद्य, हेय माने गये हैं, वे परमात्मा के नाम पर निरूपित होते हैं। वेद, उपनिषद्, वेदान्त, संन्यासी एवं परम अद्वैतवादी शंकर की इस पवित्र भारत–भूमि में धर्म के नाम पर ऐसे कौलाचार किस बुद्धिजीवी को चिन्तामग्न नहीं कर देंगे? हिन्दुत्व के पास ऐसों के लिए कोई दण्ड है?

नास्तिक एवं आस्तिक दोनों प्रकार के भारतीय दर्शनों की जाह्नवी वेद हैं। वेदों का निन्नानवे प्रतिशत अंश कर्मकाण्ड एवं उपासना से सम्बद्ध है, पर सौवां अंश ज्ञान का है और वही हमारी नास्तिक–आस्तिक भारतीय दर्शनों की गोमुखी है। इस संबंध में वाचस्पति गैरोला लिखते हैं–'नास्तिक एवं आस्तिक दर्शनों के मूल सिद्धांत वेदों में निहित हैं। देव और असुर दोनों ही आस्तिक ऐवं नास्तिक विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक ओर वेदों में आस्तिक दर्शनों से सम्बद्ध विचार मिलते हैं तो दूसरी ओर ऐसे मत भी मिलते हैं, जिनमें वेदनिंदकों, नास्तिकों एवं असुरों का उल्लेख है।[1]

वैदिककालीन ब्राह्मण ग्रंथों के पुरोहित आचार्यों ने यज्ञ-यागादि में हिंसा एवं स्थूल कर्मवाद का प्रचार किया, उसका तीव्र विरोध उपनिषद् काल के ऋषियों के साथ–साथ महावीर एवं बुद्ध ने भी किया। बौद्धों, जैनों ने तथा इनके परवर्ती अनुयायियों ने जिन दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना कीं, उनका संबंध किसी न किसी रूप में उपनिषदों में वर्णित मानवता के परमोच्च आदर्शों के साथ अवश्य रहा है। नास्तिक कहे जाने वाले इन विचारकों ने प्रत्यक्ष में खुले आम वाह्याचार एवं हिंसात्मक यज्ञ-याग बहुल वैदिकधर्म के प्रति समाज के समक्ष अविश्वास घोषित किया।

चावार्क, जैन (आर्हत) माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, ऐवं वैभाषिक ये षड्दर्शन नास्तिक (अनार्ष) हैं। इनमें से चार्वाक एवं जैन (आर्हत) दोनों दर्शन स्वतंत्र हैं एवं शेष चार दर्शन बौद्धदर्शन के अन्तर्गत आते हैं। वैशेषिक, न्यांय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा (वेदान्त) ये षड्दर्शन आस्तिक हैं। इनमें से भी वैशेषिक, न्याय, सांख्य, एवं योग ये चार दर्शन वेदों में विश्वास रखनेवाले हैं, फिर भी किसी अंश में ये स्वतंत्र लौकिक एवं तार्किक विचारों से भी प्रभावित हैं।[2] पूर्वमीमांसा एव उत्तरमीमांसा ये दोनों दर्शन पूर्णतः वैदिक विचारों पर आधारित हैं।

उपर्युक्त नास्तिक–आस्तिक द्वादश दर्शनों को विकासक्रम की दृष्टि से हम अभ्युदयकाल, भाष्यकाल एवं वृत्तिकाल इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं।

प्रथमकाल दर्शनों का अभ्युदयकाल है। इस काल में द्वादश में से प्रत्येक दर्शन पर स्वतंत्र रूप में सूत्र ग्रंथ लिखे गए हैं। सूत्रकाल की परवर्ती कालावधि ईसा की द्वितीय–तृतीय शती तक पहुँचती है।[2] इस काल तक लगभग सभी दर्शनों के सूत्रग्रंथ निर्मित हो चुके थे।

सूत्रकाल के पश्चात् द्वितीय युग भाष्यकाल आता है। इस काल में द्वादश–दर्शनों के सूत्र-ग्रंथों पर भाष्यों का निर्माण हुआ। वादरायण व्यास के 'ब्रह्मसूत्र' वेदान्त ग्रंथ पर आचार्य शंकर (अद्वैत वेदान्त), आचार्य रामानुज (विशिष्टाद्वैत वेदान्त), आचार्य निम्बार्क (द्वैताद्वैत वेदान्त), आचार्य वल्लभ (शुद्धाद्वैत वेदान्त), इत्यादि ने अपनी–अपनी दृष्टि से भाष्य लिखकर वेदान्त एवं भक्ति संप्रदायों की स्थापना की। दर्शन के

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ. ४४८ २. –वही– पृ. ४४९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रग्रंथों पर पन्द्रहवीं शताब्दी तक भाष्य लिखे गए पर इस कालावधि में भी अपवाद के अनुसार 'ब्रह्मसूत्र' पर अठारहवीं शताब्दी में भी भाष्य लिखा गया है। इसलिए किसी भी कालावधि को शतप्रतिशत ठीक से नहीं निश्चित किया जा सकता।

भाष्यकाल के पश्चात् कुछ शताब्दियों तक भाष्यग्रंथों पर वृत्तियाँ एवं टीकाएं लिखी गईं। इसी को हम तृतीय युग वृत्तिकाल कहते हैं।

भारतीय दर्शनों का स्वर्णकाल भाष्ययुग है। इस युग में आचार्यों ने अपने-अपने संप्रदाय की स्थापना के लिए जो 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखे, वे भारतीय मेधा के परमोज्ज्वल प्रकाश हैं। इनमें ऐहिक जीवन की अपेक्षा पारलौकिक जीवन को, स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म को एवं बाहर की अपेक्षा अन्तःकरणाभिमुख होने को श्रेष्ठ कहा गया है, जो भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन की पराकाष्ठा है।

षड् आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त एक और भी श्रीभरद्वाजकृत 'कर्ममीमांसा' दर्शन के नाम से सप्तम आस्तिक दर्शन को भारत-धर्म महामण्डल के द्वारा मान्यता प्राप्त हुई है। यह सातवां आस्तिक दर्शन महर्षि जैमिनिकृत पूर्वमीमांसा दर्शन से भिन्न है। 'कर्ममीमांसा' दर्शन के ग्रंथ को विद्वानों ने परम उपयोगी कहा है।[1]

अब यहां हम उपर्युक्त षड् नास्तिक एवं आस्तिक दर्शनों पर विचार करेंगे—

नास्तिक दर्शन : हमने ऊपर यह लिखा है कि वेदों में नास्तिकों, वेदनिंदकों एवं असुरों का उल्लेख है। इससे वेदमंत्र द्रष्टा ऋषियों के मन के औदार्य का पता चलता है। वेदों में नास्तिकों का उल्लेख है, इससे नास्तिक दर्शनों को वैदिक या आस्तिक नहीं कहा जा सकता। नास्तिक दर्शन मूलतः वेदनिंदक हैं एवं वेदों को प्रमाण नहीं मानते हैं। इस संबंध में निम्नलिखित प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

> **नास्ति वेदोदितो लोक इति येषां मतिः स्थिरा।**
> **नास्तिकास्ते, तथास्तीति मतिर्येषान्त आस्तिकाः॥**
> **अवैदकप्रमाणानां सिद्धान्तानां प्रदर्शकाः।**
> **चार्वाकाद्या षड्विधास्ते ख्याता लोकेषु नास्तिकाः॥**[2]

अर्थात् वेद उपनिषद् आदि में कथित सिद्धांत प्रामाणिक नहीं हैं, ऐसी मतिवाले नास्तिक हैं। चार्वाक आदि नास्तिक हैं। ये नास्तिक वेदों से भिन्न तथ्यों को ही प्रमाण मानते हैं।

(१) चार्वाक दर्शन : इस प्राचीनतम दर्शन के आदि आचार्य वृहस्पति हैं। ये वास्तविकतावादी थे। चार्वाक नामक ऋषि इनके शिष्य थे। चार्वाक ऋषि ने इनके सिद्धान्तों को प्रमाण मानकर एक नवीन दर्शन की स्थापना की, जो उन्हीं के नाम से अर्थात् चार्वाक नाम से प्रसिद्ध हुआ। आचार्य वृहस्पति का समय महाभारत (ई. सन् का प्रारंभकाल) से भी पूर्व का होना निश्चित है।[3] उपनिषद्-काल के पश्चात् एक ऐसा समय आया, जिसमें सामान्य जनता का विश्वास आध्यात्मिकता से उठ गया। ऐसे समय वेद-विरुद्ध चार्वाक दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। इस दर्शन का प्राचीन नाम 'लोकायत' था। जिसका अर्थ है-लोक-प्रचलित मत, अर्थात् जन साधारण का मत। इस मत का मूल आधार है-'प्रत्यक्षमेव

---

१. हिन्दू संस्कृति अंक (कल्याण) वर्ष २४, संख्या-१, २. जनवरी, १९५०
२. प्राच्यदर्शन, महामहोपाध्याय राधाप्रसाद शास्त्री
३. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ. ४४९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाणम्'–प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। इस भौतिक जगत् का ज्ञान प्रत्यक्ष–प्रमाणें: द्वारा ही होता है। इस दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार ही तत्त्व हैं। आकाश को यह मत भौतिक कणों की विरलता मात्र ही मानता है। अतः इस मत में केवल चार पदार्थ ही जगत् के मूल कारण माने गए हैं। चार्वाक मत के अनुसार यह जगत् इन्हीं चार भौतिक पदार्थों का आकस्मिक संघात है किन्तु ये तत्त्व अचेतन हैं। अचेतन से चेतन कैसे संभव हो सका? इसके उत्तर में चार्वाक कहते हैं—'जिस तरह लाल रंग न तो पान में ही है और न सुपारी और चूने में ही, लेकिन इन तीनों के एक साथ चर्वण से लाल रंग उत्पन्न हो जाता है। उसी प्रकार इन चारों तत्त्वों के मिश्रण से विशेष प्रक्रिया द्वारा समन्वय होने पर चैतन्य जीव की उत्पत्ति होती है। चार्वाक वस्तुवादी थे। उन्होंने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार तत्त्वों के मिश्रण से ही जगत् एवं जीवन का विकास सिद्ध किया है, वैसे ही पश्चिम के दार्शनिक ल्वायड मार्ग ने अपने ग्रंथ 'Emergent–Evolution', तथा अलक्जेंडर ने 'Space, Time and Deity'–(दिक्, काल और ईश्वर) नामक ग्रंथ में जगत् के विकास की व्याख्या की है।[1] इनकी वस्तु-वादी विचारधारा को 'Theory of Emergent Evolution' (आविर्भावात्मक विकासवाद) से भी पर्याप्त सहायता मिली है। ये दोनों दार्शनिक मानते हैं कि जगत् विकास का परिणाम है। जड़ वस्तुओं का विकास होते–होते एक ऐसी अवस्था आती है, जब जीवन का प्रादुर्भाव हो जाता है। जीवन विकसित होते–होते एक ऐसी स्थिति आती है, जब चैतन्य स्फुरित हो जाता है। इसी तरह कालक्रम से विचार या चिन्तन का आविर्भाव होता है। इस तरह जड़ (Matter), जीवन (Life), चैतन्य (consciousness), और विचार (Thought) ये सब विकास-पथ में क्रमशः मील के पत्थर हैं। इसी प्रकार विकास का क्रम आगे बढ़ता जाता है और नये–नये गुणों का प्रदुर्भाव होता जाता है। चैतन्य से युक्त स्थूल शरीर ही पुरुष अथवा आत्मा है। इस मत में आत्मा की कोई अलग सत्ता नहीं है। यह निरीश्वर-वादी दर्शन है। यह मोक्ष में विश्वास नहीं रखता। इस जीवन में सुख से जीना ही मोक्ष है। चार्वाक वेद को धूर्तों का प्रलाप समझते हैं। पर वेद से यहां यज्ञादि कर्म, पशु-हिंसा, पूर्व–जन्म, कर्मफल वाला वेदों का भाग समझना चाहिए तथा वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त जिन ब्राह्मण–ग्रंथों में इनकी व्याख्या है, उन्हें ही समझना चाहिए। चार्वाक आत्मा और शरीर को एक मानते हैं अर्थात् अभिन्न मानते हैं। इसमें एक अन्य संप्रदाय भी है—सुशिक्षित चार्वाक संप्रदाय। इस संप्रदाय में शरीर से आत्मा को भिन्न माना गया है।[2] चार्वाक दर्शन के मतानुसार शरीर का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है। मृत्यु ही इस मत में मोक्ष है। यह मत पुनर्जन्म को नहीं मानता है। अर्थात् यह परलोकवादी नहीं है। यह दर्शन प्रत्यक्ष वस्तुवाद एवं स्वभाववादी है। यह कर्म के नियम का भी निषेध करता है। यह सूक्ष्म इन्द्रियातीत भावों को मानने के पक्ष में नहीं है। पाप और पुण्य में इसका विश्वास नहीं है। अतः उसके फल में भी इसे विश्वास नहीं है। पुण्य करने से स्वर्ग और पाप करने से नरक मिलता है। इसके मत में यह सब भ्रम एवं व्यर्थ बातें हैं। अतः मोक्ष प्राप्ति भी एक भ्रम अथवा भोले-भाले लोगों को बहलाने की प्रक्रिया है। चार्वाक दर्शन में सुख को ही परम पुरुषार्थ माना है। इसका मूल मंत्र इस प्रकार है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

---

१. यूरोपीय दर्शन, स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा, भूमिका, हरिमोहन झा पृ. ९,

२. हिन्दुत्व, पृ. ६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रियों के सुख की तुलना में बौद्धिक (मानसिक, काल्पनिक) सुखों का चार्वाक दर्शन में कोई स्थान नहीं है। इन्हें काम अर्थात् कर्म ही प्यारा है। धर्म, अर्थ, मोक्ष व्यर्थ की कल्पनाएँ हैं। अतः यह दर्शन नास्तिक दर्शन की श्रेणी में रखा गया है। इस मत में ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है। ईश्वर केवल मन की कल्पना है, जिसका जीवन के साथ कोई संबंध नहीं है। इस मत में पाखण्ड नाम मात्र को भी नहीं है। कोई संन्यासी, आचार्य मोक्ष, गोलोक के नाम पर किसीको भी ठग नहीं सकता। हमारी दृष्टि से ईश्वर की प्रत्यक्ष में बातें करनेवाले भी यथार्थ जीवन तो चार्वाक के अनुसार ही जी रहे हैं। लगभग शत-प्रतिशत लोग जीवन-यापन कर रहे हैं चार्वाक के अनुसार ही। फिर भले ही, वे ढोंग परम आस्तिक होने का क्यों न करें। चार्वाक मत से संबद्ध निम्नलिखित प्रमाण लोक-प्रसिद्ध हैं—

अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितः॥

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मापारलौकिकः।
नैववर्णाश्रमादीनां क्रियाश्चफलदायिका॥१॥

अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
प्रज्ञा पौरुषहीनानां जीवीकेति बृहस्पतिः॥२॥

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते॥३॥

मृतानापि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यथा पाथेयकल्पना॥४॥

यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेह समाकुल॥५॥

ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित्॥६॥ संस्कृतवाङ्मयपरिचय;
पं. मधुसूदनप्रसाद मिश्र, पृ. ४४

अग्नि उष्ण है, जल शीतल है, वायु शीत स्पर्शवाला है। इस प्रकार किसने इन तत्त्वों को विचित्र बनाया है? किसी ने नहीं। इन तत्त्वों का ऐसा ही विचित्र स्वभाव है। परलोक में होनेवाला न स्वर्ग है, न मोक्ष है, न परलोक में जानेवाला आत्मा ही है। वर्णाश्रम आदि की क्रिया अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र इन वर्णों का अपना-अपना कर्म और ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास इन आश्रमों के अपने-अपने कर्म भी यहां या जन्मान्तर में फल नहीं देते हैं। यज्ञ, तीनों वेद, त्रिदण्ड और भस्म लगाना यह सब दंभ है एवं बुद्धिहीन तथा कायर लोगों की जीविका के लिए हैं। यज्ञ में मारा हुआ पशु यदि स्वर्ग को जाएगा तो यजमान अपने पिता को ही उस यज्ञ में क्यों नहीं मारता। मरे हुए प्राणियों का भी तृप्ति का साधन यदि श्राद्ध होता है तो विदेश जानेवाले के लिए पाथेय लेना व्यर्थ है। यहां किसी ब्राह्मण को भोजन करा दें तो जहां रास्ते में आवश्यक होगा, वहीं उसे आहार मिल जाएगा। आत्मा परलोक में जाती है तो स्वजनों के प्रेम से व्याकुल होकर वह पुनः परलोक से लौटकर क्यों नहीं यहां आती। बात यह है कि ब्राह्मणों ने अपनी जीविका का लिए यह पाखंड रचा है। मृत जीवों का प्रेत-कर्म किसी और उद्देश्य से नहीं किया जाता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) जैन-दर्शन : (आर्हत दर्शन) महावीर स्वामी से पूर्व २३ तीर्थंकर हो चुके थे । अतः महावीर स्वामी २४वें जैन तीर्थंकर हैं । जैन-दर्शन में तीन वस्तुओं को प्रमाण माना है-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना गया है, इसके विरोध में जैन-दर्शन अस्तित्व में आया । जैन-दार्शनिकों का मत है कि आध्यात्मिक विषयों का यथार्थ ज्ञान तीर्थंकरों के उपदेश (शब्द) से ही होता है । प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं । जैन-दर्शन में मनुष्य, पशु-पक्षियों के अनिरिक्त पेड़, पौधों और मूल कणों को भी चेतन माना गया है । सभी जीव एक ही प्रकार से चेतन नहीं हैं । उनमें कुछ एकेन्द्रिय हैं । इससे उन्हें केवल स्पर्श-बोध होता है । कुछ दो इन्द्रिय वाले, कुछ तीन और चार इन्द्रिय वाले भी जीव होते हैं । उच्च वर्ग के मनुष्य तथा पशु पांच इन्द्रिय वाले प्राणी हैं ।

शरीर बंधन में बद्ध होने के कारण पंचेन्द्रिय होते हुए भी मनुष्य का ज्ञान सीमित होता है, और उन्हें नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं । कर्म-बंधन के कारण ही प्राणी को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता । इस बंधन से प्राणी छुटकारा पाकर और अपने स्वाभाविक गुणों से प्रकाशित होकर मुक्त हो जाता है । मुक्त जीव को ही ईश्वर कहते हैं । अतः इनके मत से मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित आवश्यक हैं ।

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जर, मोक्ष इन सातों पदार्थों का उचित ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान कहलाता है । सम्यक् चरित्र की सिद्धि के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह-व्रत का पालन आवश्यक हो जाता है । कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाने के लिए वासनाएं शांत होनी चाहिएं । अतः सम्यक् दर्शन , सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र से वासनाएं शांत होती हैं और कर्मों का क्षय हो जाता है । जीव को पुद्गल बद्ध किए रहता है । अनंत चतुष्टय, अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान और अनंत शक्ति तथा अनंत आनंद की प्राप्ति होना ही जीव की मोक्षावस्था है । यह दर्शन भी निरीश्वरवादी दर्शन है । जैन-दर्शन में ईश्वर के स्थान पर तीर्थंकरों को माना गया है । जिन्हें ईश्वर की भांति ही सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान समझा गया है । जैन-दर्शन भौतिकवादी तथा बहुलतावादी दर्शन है । जैन दर्शन का साहित्य अतीव समृद्ध है । उमा स्वाति विरचित 'तत्त्वार्थसूत्र', कुन्द कुन्दाचार्य विरचित 'प्रपंचसार', समन्त भद्र विरचित 'आप्तमीमांसा' ग्रंथ जैन-दर्शन के प्राचीनतम एवं प्रारंभिक प्रमुख ग्रंथ हैं । इन ग्रंथों का रचनाकाल तृतीय शताब्दी से भी पूर्व का माना गया है । इनके पश्चात् मध्ययुग में सिद्धसेन, हरिभद्र, विद्यानंद एवं गुजरात (सिद्धपुर-पाटण) के कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र (११ वीं शताब्दी) हुए ।

बौद्ध-दर्शन : ब्राह्मणवाद के विचार-शून्य हिंसा-प्रधान, यज्ञ-याग, कर्मकाण्ड, इत्यादि की प्रतिक्रिया में बौद्ध दर्शन ने जन्म लिया । बौद्ध-दर्शन के संस्थापक महात्मा बुद्ध थे । महात्मा बुद्ध के उपदेशों से बौद्ध धर्म तथा बौद्ध-दर्शनों की उत्पत्ति हुई । बौद्ध-दर्शन के मूल में गौतम बुद्ध का 'प्रतीत्य-समुत्पादवाद' का सिद्धांत है । इस सिद्धांत का तात्पर्य यह कि विश्व कार्य-कारण की शृंखला का परिणाम है । प्रत्येक घटना दूसरी घटना का परिणाम होती है । बुद्ध ने जीवन का 'निदान[1]' समझाया कि दुःख है और दुःख का मूल कारण अविद्या है । अविद्या से संस्कार, विज्ञान आदि उत्पन्न होते हैं । बुद्ध का 'निदान' इस प्रकार है—

मानव के विविध दुःखों का कारण अविद्या है । मानव के विविध दुखों से बुद्ध दुःखी होकर जिज्ञासु बने । अनेक वर्षों तक घोर साधना की । अंत में ज्ञानी होकर उन्होंने चार आर्य सत्यों के रूप में दुःख

१. 'निदानन्त्वादिकारणम्' अमरकोश, मूल कारण, आदि कारण को निदान कहते हैं ।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मूल कारणों को खोज निकाला । ये चार आर्य सत्य हैं—दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख का अंत है और दुःख–निवारण का उपाय है । इनके अनुसार दुःख संसार के सभी प्राणियों में विद्‌यमान हैं । वह किसी अवस्था में दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता है । हमारे जरा–मरण का भी कारण है । उसका कारण भी है, जन्म ग्रहण करना । उसका कारण हमारी सांसारिक तृष्णा है और सबका कारण अज्ञान है । यदि हम ज्ञान के द्वारा यह समझ लें कि सांसारिक विषय क्षणिक और दुखरूप हैं तो दुःखों का अंत हो जाए और पुनर्जन्म न हो । कारण नष्ट हो जाने से दुःख का अंत हो जाता है । यही तीसरा आर्य सत्य है । दुःख के निवारण करने का उपाय अष्टमार्ग का अवलंबन है । अष्टमार्ग ये हैं—(१) सम्यक्–दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि । ये वे साधन हैं, जो अविद्‌या (अज्ञान) को नष्ट करते हैं, बुद्ध निर्मल होती है और मानव निर्वाण प्रप्त कर सकता है । इसके बाद मानव का जन्म नहीं होता है ।

बुद्ध आत्मा को नहीं मानते । आत्मा को मन और देह का समुदाय मात्र समझते हैं । उन्होंने आत्मा को पंचस्कंध योग माना है । ये स्कंध हैं—रूप, वेदना, विज्ञान, संस्कार और संज्ञा । इन पंचस्कंधों के योग से आत्मा बनी । अर्थात् रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार इनका संघात ही आत्मा है । आत्मा इन्हीं तत्त्वों का प्रतीक मात्र है ।

बुद्ध ने 'प्रतीत्यसमुत्पादवाद' को इसीलिए धर्म कहा, क्योंकि इसके द्वारा आत्मा–परमात्मा को न मानते हुए भी जगत् को समझाया जा सकता है । जैसे दीपक की प्रत्येक ज्योति क्षणस्थायी होकर भी दूसरी ज्योति की उत्पत्ति का कारण है । उसी प्रकार प्रत्येक उत्पत्ति का कारण अवश्य है । यही कारण–कार्य शृंखला जगत् की सच्ची व्याख्या है । जगत् क्षणस्थायी वस्तुओं का अनवरत प्रवाह है । प्रतीत्यसमुत्पादवाद में हम जिस प्रकार की दशाएँ उपस्थित कर देंगे, उसी प्रकार की उत्पत्ति का प्रवाह चल पड़ेगा । अतः बौद्ध–दर्शन में मानव के प्रयत्न, कर्म का महत्त्व बहुत अधिक है ।

बुद्ध के प्रतीत्यसमुत्पादवाद की तुलना में फ्रेंच दार्शनिक हेनरी वर्गसां के विचार के दृष्टव्य हैं । हेनरी वर्गसां के अनुसार भी जगत् निरंतर प्रवाह रूप है । सृष्टि का मूलभूत तत्त्व है—जीवनी शक्ति (Elanvital), जो धारा की तरह निरंतर भिन्न–भिन्न दिशाओं में बहती रहती है । वही वनस्पति, पशु–पक्षी, मनुष्य आदि के रूप में व्यक्त होती रहती है । यह अनवरत प्रवाह ही सत्य है । यही वेदान्त के ब्रह्म का चेतन रूप है । कोई वस्तु स्थायी या एकरूप नहीं रहती । सम्पूर्ण विश्व नदी की धारा के समान सतत परिवर्तनमय है । ये विचार बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पादवाद अथवा क्षणभंगवाद से भिन्न नहीं हैं । जो विचार भारतीय मेधा में विद्युत् की भाँति चमक रहा है, वही सुदूर यूरोप के दार्शनिक की प्रतिभा द्वारा भी प्रकाशित हो रहा है ।[1]

जिस प्रकार दीपक में से बत्ती या तैल को हटा देने से ज्योति की उत्पत्ति रुक जाती है, उसी प्रकार इस जन्म के संस्कारों का नाश भी बुद्ध के बताएं गए प्रयत्नों से संभव है और निर्वाण की प्राप्ति भी संभव है । जीवन का ध्येय भी यही है कि दुःखमय संसार से छुटकारा मिले । बौध्द दर्शन ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखता है । जगत् को स्वयंभू मानता है, जो निःसत्य, निरात्म है । इसे वह अनादि मानता है । बुद्ध का विचार है कि सब कुछ क्षणिक है । सृजन होता है, संहार होता है । जीव दुःखमय है, दुःख का कारण तृष्णा है और तृष्णा का कारण अविद्या है ।

१. यूरोपीय दर्शन, भूमिका, पृ. [illegible], हरिमोहन झा

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्ध के उपदेशों का उद्देश्य इस लोक में ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा निर्वाण प्राप्त है। इनके निर्वाण का तात्पर्य है—सभी मनोविकारों का उपशमन। बुद्ध ने मध्यम-मार्ग का उपदेश दिया था। बौद्ध-दर्शन असत्कार्यवाद को मानता है। अर्थात् कारण के नष्ट होते ही कार्य की उत्पत्ति भी नहीं होती।

भगवान् बुद्ध ने कठोर तप के अनंतर 'युक्ताहार-विहार' का मध्यम-मार्ग अपनाया और फिर उसी को सर्वश्रेष्ठ बताया। वेदों एवं शास्त्रों के नाम पर जो उन दिनों हिंसात्मक राजस्-तमस् यज्ञों की बोलबाला थी, उसका ही मुख्यतः बुद्ध ने विरोध किया। वैदिक एवं शास्त्रीय तथ्यों को प्रसारित करने के बदले बुद्ध ने अपने अनुभूत सत्य को अपने ही ढंग से प्रसारित किया। इतिहासकारों का कहना है कि बुद्ध ने जिस धर्म का प्रचार किया, उसे वे स्वयं शुद्ध सनातन धर्म ही मानकर जीवनभर प्रचार करते रहे।[1]

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित चार आर्य सत्यों एवं उनके मत का परवर्ती बौद्ध धर्मानुयायियों ने भाष्य किया। इसके फलस्वरूप बौद्ध-धर्म तीन प्रधान भागों में विभक्त हो गया—हीनयान, महायान, और वज्रयान। 'हीनयान' मत बुद्ध को एक महापुरुष मानता है। जिन्होंने साधना द्वारा निर्वाण प्राप्त किया। यह निवृत्तिप्रधान मत है। इसका लक्ष्य एवं आराध्य 'अर्हत' हैं। 'महायान' भक्ति-प्रधान मार्ग है। हीनयान के भावुक भक्तों ने ही इसका प्रसार किया। हीनयान के ग्रंथ पाली भाषा में हैं एवं महायान के संस्कृत में। महायान के आराध्य 'बोधिसत्त्व' हैं। भगवान् बुद्ध सामान्य महापुरुष नहीं, किन्तु इस मत में अवतार माने गए हैं। बौद्धधर्म में आगे जो वामाचारी एवं व्यभिचार-मूलक तांत्रिक साधनाएँ प्रचलित हुईं। उनको अपनाकर साधना करनेवाली शाखा वज्रयान कहलाई।

बौद्ध-दर्शन चार हैं—(१) माध्यमिक, (२) योगाचार, (३) सौत्रान्तिक एवं (४) वैभाषिक। इन चारों दर्शनों पर हम यहां क्रमशः विचार कर रहे हैं।

(१) माध्यमिक : माध्यमिक दर्शन का पहला सिद्धांत है, जितनी वस्तु-सत्ता है, जितना भाव है, सब क्षणिक है। जैसे बादल में बिजली को हम आकाश में प्रत्यक्ष देखते हैं पर क्षण मात्र में ही वह विलीन हो जाती है, उसी तरह सत् पदार्थ क्षणिक हैं। सत् का लक्षण है— 'अर्थक्रियाकारित्वम् सत्त्वम्' किसी वस्तु का क्रिया करने का स्वभाव ही सत्ता है। माध्यमिक दर्शन का यही सिद्धांत क्षणिकवाद है। जड़-चेतन सभी वस्तुएँ क्षण-क्षण में बदल रही हैं। एक क्षण पहले जो जैसी थी, दूसरे क्षण वह वैसी नहीं रही। गंगा बह रही है। जो जल एक क्षण में एक स्थान में है, दूसरे क्षण में और दूसरे स्थान में वह भिन्न हो गया है। अतः गंगा के बहने की क्रिया, जो उसमें गंगापन पैदा करती है, क्षणिक है। अतः गंगा की सत्ता भी क्षणिक है। इस प्रकार से सभी पदार्थों में यह मत क्षणिकता का दर्शन करता है।

इस दर्शन का दूसरा सिद्धांत है—'संसार दुःखमय है', इसका सदा चिन्तन करते रहना चाहिए। संसार क्षणिक है, अतः दुःखरूप है। यदि इसका व्यक्ति चिन्तन नहीं करेगा तो उससे निवृत्ति के लिए वह उपाय कैसे करेगा। संसार को व्यक्ति दुःखरूप मानेगा तभी उससे व्यक्ति हटने के उपाय करेगा। अतः सब दुःख-दुःख है, यह भावना करनी चाहिए।

इस दर्शन का तीसरा सिद्धांत है—संसार स्वलक्षण है—स्वलक्षण हैं। अर्थात् जो वस्तु जैसी है, वह वैसी ही है। इससे भिन्न समान सत्ता के अभाव में इसका दूसरा लक्षण असंभव है। स्वलक्षण है, अपने में अपना ही लक्षण है। सभी क्षणिक होने से किसी वस्तु के समान किसी दूसरी वस्तु को नहीं

१. हिन्दू-संस्कृति अंक, पृ. २७९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कह सकते । क्योंकि जिस समय हम कहेंगे–'यह वस्तु इसके सदृश है,' उस समय वह वस्तु नहीं है, क्योंकि क्षण के बदलते ही वह वस्तु बदल चुकी होती है और इस तरह उसका समान लक्षण भी नहीं है । अतः यह संसार स्वलक्षण है–स्वलक्षण है, ऐसा मानना चाहिए ।

इस दर्शन का चौथा सिद्धांत है–'सब शून्य हैं–सब शून्य है ।' संसार की जितनी वस्तुएं हैं, वे न सत् हैं, न असत् हैं और न सत्–असत् उभयरूप हैं । संसार शून्य रूप है । घटादि पदार्थ सत् हैं तो उसे बनाने के प्रयत्न की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए । ये पहले से ही विद्यमान हैं तो कुम्हार, चाक, डण्ड़ा, मिट्टी, धागा इन कारणों की क्या आवश्कता है ? यदि इनका असत् स्वभाव है तो कुम्हार, मिट्टी इत्यादि कारणों का कोई प्रयोजन नहीं है । जो वस्तु असत् है, हजारों कारणों के एकत्र करने पर भी उसका निर्माण संभव नहीं । जैसे वंध्यापुत्र, आकाशपुष्प एवं खरगोश के सींग । यदि कहें कि सत्–असत् उभय रूप है तो यह भी कहना उचित नहीं, क्योंकि जो सत् है, वह असत् नहीं हो सकता और जो असत् है, वह सत् नहीं हो सकता ।

सभी क्षणिक हैं–क्षणिक हैं, दुःख है–दुःख है, स्वलक्षण है–स्वलक्षण है, शून्य है–शून्य है । इस प्रकार कीं चार प्रकार की भावना से परम पुरुषार्थ करने पर मुक्ति मिलती हैं, पर यह मुक्ति यों निर्वाण शून्य है । शून्य में सभी वस्तुओं का लय हो जाना ही मुक्ति है । माध्यमिक मत शून्यवादी है । इस दर्शन का नाम माध्यमिक इसलिए पड़ा कि भगवान् बुद्ध के उपदेश के अनुसार इस मत ने आधी बात मान ली और आधी छोड़ दी । यह मध्य में रहा, इसलिए माध्यमिक कहलाया–

"शिष्यैस्तावद्योगश्चाचारश्चेति द्वयं करणीयम् ।
तत्र प्राप्तार्थस्य प्राप्तये यः पर्य्यनुयोगः संयोगः ।। गुरुक्तस्याङ्गीकरणमाचारः ।

अर्थात् शिष्य को चाहिए कि वह योग एवं आचार दोनों का अनुष्ठान करे । अप्राप्त वस्तु (न समझ में आनेवाली बात) की प्राप्ति (ज्ञान) के लिए पर्य्यनुयोग या शंका करना 'योग' है । गुरु के कथन को अंगीकार करना 'आचार' है । माध्यमिक दर्शन ने गुरु (बुद्ध) के कथन को तो स्वीकार कर लिया, पर पर्य्यनुयोग नहीं किया, इसी कारण यह माध्यमिक कहलाया ।

(२) योगाचार : बुद्ध के कई शिष्यों ने पर्य्यनुयोग (शंकाएं) भी किया और साथ ही बुद्ध के सभी वचनों का अंगीकार भी किया । इस कारण यह दर्शन योगाचार कहलाया । सब क्षणिक हैं–सब क्षणिक हैं, दुःख है–दुःख है, स्वलक्षण है–स्वलक्षण है, शून्य है–शून्य है । योगाचारी बुद्ध के इन चारों उपदेशों को मानते हैं । इन्होंने बाह्य अर्थ के शून्यत्व को तो स्वीकार किया है, पर अन्तर (बुद्धि) में जो अर्थ हैं, उनको शून्य किस प्रकार कह सकते हैं ? इस प्रकार के पर्य्यनुयोग भी किए हैं, शंकाएँ भी उठाई हैं । स्वयं संवेदन (बुद्धि तत्त्व, ज्ञानरूप वस्तु) को तो मानना ही चाहिए । इसे न मानने पर तो जगत् में अंधकार ही अंधकार फैल जाएगा । इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान से अलग कोई भी वस्तु नहीं है । जिस प्रकार प्रकाश अपने स्वरूप को स्वयं ही प्रकाशित करता है, वैसे ही हर वस्तु की स्वरूप बुद्धि स्वयं ही अपने स्वरूप को प्रकाशित करती है । बुद्धि से अनुभाव अर्थात् अनुभव का विषय अन्य कोई पदार्थ नहीं है । बुद्धि का अनुभव दूसरा कोई नहीं है । जो ग्रहण किया जाए और जो ग्रहण करने का साधन है, इन दोनों का ही अभाव है, इसलिएं बुद्धि स्वयमेव प्रकाश को प्राप्त होती है–

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यस्ति तस्यानानुभवो परः । ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ।।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार बुद्धि का न कोई प्रकाश करनेवाला है, और न बुद्धि सें कोई वस्तु प्रकाशित ही है। सब कुछ ज्ञान ही ज्ञान है। ग्राह्य-विषय, ग्राहक-बुद्धि इन दोनों का अभेद अनुमान से ही सिद्ध होता है। जो वस्तु जिससे जानी जाती है, वह उससे अलग नहीं होती। ज्ञान से चक्षु आदि इन्द्रियां जानी जाती हैं तो ये ज्ञान से भिन्न नहीं हैं। उन ज्ञानरूपी इन्द्रियों से नीले, पीले आदि जाने जाते हैं, तो ये भी ज्ञान से भिन्न नहीं हैं। योगाचार मत का कहना है कि यदि इनमें भेद मानेंगे तो ज्ञान के साथ अर्थ का संबंध नहीं बैठ सकेगा, क्योंकि इनके मत में संबंध के नियम का कारण जो तादात्म्य है, वह भेद में नहीं बन सकता। ग्राह्य, ग्राहक, ग्रहण अर्थात् ज्ञेय, ज्ञापक, एवं ज्ञान में जो भेद दृष्टिगत होता है, वह भ्रम है। वास्तव में एक ही ज्ञान रूप को तीन रूप से समझना है। जैसे हम नेत्र को दबाकर किसी वस्तु को देखें तो वह दो दिखाई देंगी, तो जैसे वस्तु का दो दिखाई देना भ्रम है, वैसे ही ज्ञेय, ज्ञापक एवं ज्ञान का भेद भी भ्रमजन्य है। इस प्रकार योगाचार के अनुसार यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि 'बाहर के पदार्थ शून्य हैं पर आन्तर पदार्थ जो हमारे में ज्ञान भासता है, शून्य नहीं है। सब क्षणिक-क्षणिक है, दुःख है-दुःख है, स्वलक्षण है-स्वलक्षण है, शून्य है-शून्य है। इन चार प्रकार की भावनाओं से शनैः-शनैः मोक्ष के प्रतिबन्धक अनेक प्रकार के विषयों का स्वरूप नष्ट होगा और फलस्वरूप विशुद्ध विज्ञान का उदय होगा। विशुद्ध विज्ञान का अर्थ है केवल ज्ञान, ज्ञान ही ज्ञान। इसीको मोक्ष कहते हैं। यह शुद्ध ज्ञान भी नित्य नहीं है। दीपक की लौ की तरह धाराओं के रूप में बना रहता हैं।

माध्यमिक दर्शन शून्य की प्राप्ति को मुक्ति मानता है, जबकि योगाचार शुद्ध विज्ञान के उदय को मुक्ति मानता है। योगाचार दर्शन बुद्ध के उपदेश की चार भावनाएं मानता है तथा उनके शून्यवाद को भी मानता है, परन्तु पर्य्यनुयोग (शंका उठाना) के द्वारा यह आन्तर पदार्थ को शून्य नहीं मानता।

(३) सौत्रान्तिक दर्शन : माध्यमिकों ने आचार को, बुद्ध के उपदेश की चारों भावनाओं को यथावत् अंगीकार कर लिया, किन्तु वे पर्य्यनुयोग (शंका) से दूर रहे। योगाचार ने बुद्ध के आचार को यथावत् अंगीकार करने के साथ-साथ शंकाएं (पर्य्यनुयोग) भी कीं, जिसके फलस्वरूप उन्होंने बाह्य अर्थ के शून्यत्व को तो स्वीकार कर लिया पर अन्तर (बुद्धि) में जो अर्थ हैं, उन्हें शून्य-रूप में स्वीकार नहीं किया। बुद्ध के तीसरे सौत्रान्तिक शिष्य ने योगाचार के इस कथन को असंगत माना कि बाहर की सभी वस्तुएँ शून्य हैं, असंगत हैं। उन्होंने पदार्थों का बुद्धिस्थित रूप (भाव जगत्, अहम्=मैं) को तथा बाहर स्थित रूप (इदम्= यह नील, घट, पट आदि) दोनों को शून्य नहीं, पर सत्य माना। इस प्रकार आगे चलकर शाक्त-दर्शन के प्रभाव के कारण यह दर्शन मुक्ति एवं भुक्ति दोनों का साधक बन गया—

श्रीसुन्दरीसाधकतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।

श्रीविद्या के उपासक के लिए भोग एवं मोक्ष करस्थ ही हैं। एक हाथ में मोक्ष है तो दूसरे में भोग।

सौत्रान्तिक दर्शन बिना प्रत्यक्ष के ही, अनुमिति से ही बाह्यवस्तु की सत्ता को स्वीकार करता है। बाह्यवस्तु के अनुमान कर लेने के कारण ही इस मत को बाह्यानुमेयवाद भी कहते हैं। तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है। सब कुछ क्षणिक है-क्षणिक है, दुःख है—दुःख है, शून्य-शून्य है, इत्यादि में दृढ़ भावना ही तत्त्वज्ञान है—**'सौत्रान्तिकाः प्रत्यक्षं विना अनुमित्यैव बाह्यवस्तुसत्तामङ्गीकुर्वन्ति।**

---

१. श्री विद्या की उपासना शाक्त-उपासकों के लिए अतीव महत्त्वपूर्ण है। इसी को पंचदशाक्षरी, षोडशाक्षरी (षोडशी) भी कहते हैं। विशेष जानकारी के लिए देखिए-उपासना अंक-'कल्याण' अथवा 'दुर्गासप्तशती', गोरखपुर, देवी-अथर्वशीर्ष'।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तमतत्त्वज्ञानान्मुक्तिर्भवति। सर्वं क्षणिकं-क्षणिकं, दुखं:-दुखं:, स्वलक्षणं-स्वलक्षणं, शून्यं-शून्य मिति भावनाचतुष्टये दार्ढ्यं प्राप्त्या तत्त्वज्ञानं जायते। बौद्धसूत्राणामन्तस्य (सिद्धान्तस्य) तच्छिष्यैरेव परिज्ञातत्त्वेनास्य दर्शनस्य सौत्रान्तिकेति नाम।'

सौत्रान्तिक मानते हैं कि ज्ञान-सन्तान ही आत्मा है। यह क्षणिक है। यह वृक्ष की भाँति आरोह, परिणाह, ऊपर, नीचे, समविस्तारवाला है। इसके पाँच स्कन्ध (अंग) हैं-रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार।

जो निरूपित हो अथवा निरूपण किया जा सके, वही रूप है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पाँचों निरूपित हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, इनसे निरूपण किया जाता है। इस तरह रूप-स्कन्ध में पाँचों ज्ञानेद्रियां तथा पांचों विषय आ गए। आलय विज्ञान (अहम् ज्ञान) तथा प्रवृत्ति विज्ञान (विषयों में ज्ञान) दोनों मिलाकर विज्ञान स्कन्ध हुआ। रूप स्कन्ध एवं विज्ञान स्कन्ध के संबंध से उत्पन्न सुख-दुःख आदि के प्रवाह को वेदना स्कन्ध कहते हैं। वेदना स्कन्ध एवं रूप स्कन्ध से उत्पन्न राग, द्वेष, काम, क्रोध इत्यादि उपक्लेश तथा धर्म एवं अधर्म संस्कार-स्कन्ध कहलाते हैं। नाम का प्रपंच संज्ञा स्कन्ध कहलाता है। बाहर तथा भीतर फैली हुई इन शाखाओं और स्कन्धों से सुशोभित ज्ञान-रूप वृक्ष आत्मा है। यही हमारे संपूर्ण दुःख, दुःख का स्थान एवं दुःख का साधन है। ऐसी भावना करके उसके निरोध का उपाय करना चाहिए। यह उपाय तत्त्वज्ञान से ही संभव है। तत्त्वज्ञान के चार उपाय हैं--(१) दुःख, (२) आयतन, (३) समुदाय एवं (४) मार्ग। उपर्युक्त पाँचों स्कन्ध दुःख हैं। पाँचों विषय, मन और बुद्धि ये बारह आयतन हैं। ये ही दुःख के स्थान हैं। राग, द्वेष, मद, मान और दंभ आदि का समूह जो मनुष्य के हृदय में पैदा होता है, यही समुदाय है। यह समुदाय ही दुःख का साधन है। सब कुछ क्षणिक है, ऐसी स्थिर भावना ही मार्ग है। इस प्रकार से उत्तम ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। यह तत्त्वज्ञान भी सर्व क्षणिक है-क्षणिक है, दुःख है-दुःख है, स्व-लक्षण है-स्व-लक्षण है, शून्य है-शून्य है, इस प्रकार की चारों भावनाओं के सुदृढ़ करने पर ही संभव है। सूत्र का अर्थ है, संक्षिप्त कथन एवं अन्त का अर्थ है रहस्य। सूत्र एवं अन्त, इन दोनों शब्दों में तद्धित 'इक्' प्रत्यय लगने से सौत्रान्तिक शब्द निष्पन्न हुआ है। बुद्ध के सूत्र (संक्षिप्त-कथन) के अन्त (रहस्य) को ठीक से जान लेने के कारण इस दर्शन का नाम सौत्रान्तिक पड़ा।

बौद्धों की वामाचारी वज्रयान शाखा का तांत्रिक मार्ग इसी दर्शन को मानता है।

(४) वैभाषिक-दर्शन : सौत्रान्तिक ने बौद्ध एवं बाह्य दोनों प्रकार के पदार्थों को सत्य माना। सौत्रान्तिक ने बौद्ध पदार्थों को प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध किया एवं बाह्य पदार्थों को अनुमान से सिद्ध किया। वैभाषिक ने बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष सिद्ध माना। इस प्रकार वैभाषिक दर्शन बाह्य प्रत्यक्षवादी दर्शन है। प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ है— आँखों देखी बात। यह दर्शन चार्वाक के जड़वाद को ही उत्तम एवं बौद्धिक रूप में स्वीकार करता है। यह स्वाभाविक है कि शास्त्र को छोड़कर केवल प्रत्यक्ष को ही आधार मान लेने पर मानव की विकारी प्रकृति उसको तर्क के सहारे भोगों को ही सत्य मानने की ओर प्रेरित करती है। इस दर्शन का मत है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय, मन एवं बाह्येन्द्रियों से अग्राह्य विषय, ये द्वादश आयतन हैं। इनसे भिन्न अन्य किसी भी सत्ता को यह दर्शन स्वीकार नहीं करता है। द्वादश आयतन में आत्मा के न होने से इसमें आत्मा की सत्ता मान्य नहीं है। जगत् की स्वतंत्र सत्ता प्रत्यक्षगम्य है। मूर्त (बाह्य) एवं चित्त (आंतर) के रूप में जगत् दो प्रकार का है। दोनों की स्वतंत्र सत्ता है तथा दोनों परस्पर निरपेक्ष हैं। यह दर्शन जगत् के बाह्य तथा आंतर सभी पदार्थों को सत्य मानता है। इसी कारण इसे सर्वास्तिवाद भी कहते हैं—**वैभाषिकदर्शनमते जगतो बाह्याभ्यन्तर-समस्तपदार्थाः सत्यभूताः। सत्यतापरिज्ञानञ्च प्रत्यक्षेणैव भवति।**[1].

१. संस्कृतवाङ्मयपरिचयः पृ. ४५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्ध ने अपने शिष्यों की मनःस्थिति को समझकर उनको अलग-अलग रूप में समझाया, जिसके कारण बुद्ध के कथन (भाष।) विरुद्ध अर्थात् वदतोव्याघात के रूप में लगे । इस 'विरुद्ध-भाषा' तत्त्व को जान लेने के कारण ही इस दर्शन का नाम 'वैभाषिक' पड़ा । वैभाषिकों का यह निश्चित मत है कि भगवान् बुद्ध के कथन का वास्तविक अर्थ उन्होंने ही समझा है । बुद्ध के कथन का यथार्थ रूप यह है कि बाहर तथा बुद्धि में संपूर्ण पदार्थ हैं । पर इन पदार्थों में ही शिष्य कहीं आसक्त न हो जाएं, इस कारण प्रत्येक शिष्य की मनोवृत्ति को ध्यान में रखकर उसके लिए जैसा उपदेश उचित लगा, वैसा ही बुद्ध ने दिया । बुद्ध ने अपने प्रथम शिष्य माध्यमिक को यह देखकर कि कहीं यह पदार्थों में ही आसक्त न हो जाए, उसे उपदेश दिया— 'सब शून्य है ।' दूसरा शिष्य योगाचार विज्ञान ही विज्ञान है, इसके प्रति आग्रही देखकर, उसे विज्ञान सत् एवं शून्य है, ऐसा उपदेश दिया । तीसरे शिष्य सौत्रान्तिक को देखा कि वह बाहर और बुद्धि के भीतर दोनों पदार्थों को सत् मानता है। बुद्धि के पदार्थों को प्रत्यक्ष और बाहर के पदार्थों को अनुमेय मानता है, तो उसे दोनों सत् हैं, ऐसा उपदेश दिया । इस प्रकार अधिकारी भेद के अनुसार (प्रसंग, परिस्थिति, रुचि आदि के अनुसार) उपदेशों में भी भेद हो गया । इस भेद को, अर्थात् विरुद्ध कथन के रहस्य को वैभाषिकों ने ही जाना ।

'विवेकविलास' में चारों प्रकार का बौद्धदर्शन संक्षेप में इस प्रकार संगृहीत है—

बौद्धानां सुगतो देवो विश्वञ्च क्षणभंगुरम् ।
आर्य्य-सत्त्वाख्यया तत्त्वं चतुष्टयमिदं क्रमात् ।।

दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः ।
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामियम् ।।
दुःख संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विज्ञानं वेदनासंज्ञा संस्कारो रूपमेव च ।।
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानिहि ।।
रागादीनां गणो योऽसौ समुदेति नृणां हृदि ।
आत्मात्मीय स्वभावाख्यः सस्यात्समुदयः पुनः ।।
क्षणिकास्सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा ।
समार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते ।।
प्रत्यक्षमनुमानञ्च प्रमाणद्वितयं मतम् ।
चतुः प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः ।।

अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहुमन्यते ।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्ष ग्राह्योऽर्थोनि बहिर्मतः ।।

आचारसंहिता बुद्धिर्योगाचारेण सुसम्मता ।
केवलां सविदं स्वस्थां मन्यते मध्यमा पुनः ।।

रागादिज्ञानसन्तान वासनाच्छेद सम्भवा ।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ।।

कृतिः कमण्डलुमौड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम् ।
सङ्घो रक्ताम्बरत्वञ्चशिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः ।।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आस्तिक दर्शन :

(१) वैशेषिक दर्शन–भारतीय षड् आस्तिक दर्शनों में वैशेषिक प्राचीनतम माना गया है। विद्वानों की मान्यता है कि मौर्ययुग में इस दर्शन का प्रवर्तन हो चुका था। विलक्षणता के कारण ही इसका वैशेषिक नाम पड़ा। विलक्षणता से तात्पर्य है– वस्तुओं की सूक्ष्म स्वतंत्र सत्ता, जिसका निरूपण न वेदान्त में ही हो पाया है, और न सांख्य, न्याय आदि दर्शनों में ही। वस्तुओं की इसी विलक्षण विश्लेषणात्मक विशेष पद्धति के कारण ही इसे वैशेषिक नाम से अभिहित किया गया है। कश्यप गौत्रीय महर्षि कणाद इस दर्शन के प्रवर्तक थे। कणाद का वास्तविक नाम महर्षि उलूक था। अनाज की मंडी में तथा मंडी के मार्ग में क्रय-विक्रय के समाप्त हो जाने पर अन्न के जो दानें जमीन पर बिखरे होते, उन्हें सब के चले जाने पर महर्षि उलूक बीनकर ले आते। उन कणों पर ही अपना निर्वाह करने के कारण, इनका नाम कणाद पड़ा। इनका समय ई. पूर्व ३०० माना जाता है। इस दर्शन में आत्मा और बाह्य पदार्थों को सत्य माना गया है। इस दर्शन में आत्मा अनेक, नित्य, सुख, दुःख और ज्ञान आदि गुणों से युक्त है। आत्मा की उत्पत्ति और विनाश नहीं होते। यह ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं है। आत्मा अनादि है। इस दर्शन में आत्मा को अनादि, अनन्त और विभु माना है। भौतिक वस्तुओं को यह दर्शन सत्य मानता है। शरीर से पृथक् होने पर आत्मा को विषयों का ज्ञान नहीं रहता। अतः आत्मा की अपनी स्वतंत्र सत्ता है।

महर्षि कणाद ने अपने सूत्रों में परमात्मा का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। इस करण अनेक विद्वानों का कथन है कि यह दर्शन पहले निरीश्वरवादी था, किन्तु परवर्ती वैशेषिक दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण दिए हैं। अर्थात् यह प्रमाणित किया है कि यह दर्शन भी ईश्वरवादी दर्शन की श्रेणी में आता है।

दुःख की निवृत्ति ही मोक्ष हैं। पाप और पुण्य के नाश होने से कर्म भी क्षय होते हैं और कर्मों की समाप्ति से पुनर्जन्म भी नहीं होता। यही दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है। इस दर्शन में आत्मा का परमात्मा में मिल जाना मोक्ष नहीं है। इसके विचार से आत्मा का परमात्मा से साम्य हो जाता है। फिर भी पृथकता रहती ही है। मोक्ष जीवात्मा की स्वरूप में स्थिति है। इस दशा में आत्मा विशेष गुणों से रहित हो जाती है।[1]

वैशेषिक दर्शन का मुख्य विषय पदार्थों का विवेचन करना है। पदार्थ वह वस्तु है, जिसका किसी 'पद' (शब्द) से अभिधान होता है। **'पदस्यार्थः पदार्थः'** जिसके विषय में कुछ कहा जा सके, उसे पदार्थ कहा जाता है, जो ज्ञान का विषय है, वह पदार्थ कहलाता है—**अभिधेयत्वं पदार्थस्य सामान्यलक्षणम्।** महर्षि कणाद का कथन है कि पदार्थों के सम्यक् ज्ञान होने से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। अर्थात् धर्माचरण से उत्पन्न जो द्रव्यादि छः पदार्थों के साधर्म्य–वैधर्म्य द्वारा तत्त्वज्ञान है, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त छः पदार्थ 'भाव' हैं। जिनकी सत्ता है, जो विद्मान है, वे 'भाव' कहे जाते हैं। भाव कहते हैं–सत्ता, अस्तित्व, होना और 'अभाव' भी एक सातवां पदार्थ है। अभाव कहते हैं, असत्ता, अनस्तित्व तथा तथा न होना—

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्तकीर्तिताः॥

१. तर्क भाषा, पृ. २३, २. तर्क भाषा, पृ. २३

३. भारतीयदर्शन, डॉ. यदुनाथ सिंहा, अनु. डॉ. गोवर्धनप्रसाद भट्ट, पृ. १२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव ये सात पदार्थ हैं। कणाद के सूत्रों के परवर्ती वैशेषिक दार्शनिकों ने 'अभाव' नामक सातवें पदार्थ की और कल्पना की है, पर सातवें पदार्थ का कणाद ने न समर्थन किया हैं, न विरोध ही।

क्रिया और गुण के समवायी कारण का नाम है द्रव्य। गुण और क्रिया से समवेत द्रव्य के नौ प्रकार हैं: (१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिक्, (८) आत्मा और (९) मन। इनमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन ये सक्रिय और आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा ये निष्क्रिय द्रव्य माने गए हैं। इनमें प्रथम पांच भौतिक परमाणु हैं, जिनके गुण क्रमशः गंध, रस, रूप, शब्द और स्पर्श हैं। परमाणु शाश्वत हैं। आकाश, दिक् और काल अप्रत्यक्ष द्रव्य हैं। ये एक, सत्य, नित्य एवं विभु हैं। किन्तु मन नित्य तो है, परन्तु विभु नहीं है। आत्मा शाश्वत एवं सर्वव्यापी द्रव्य है। जीव मन के द्वारा आत्मा की अनुभूति करता है। 'आत्मा' वह द्रव्य है, जिसका असाधारण गुण चैतन्य हैं। चेतन उसको कहते हैं जो इन्द्रियों का प्रवर्त्तक, विषयों का उपभोक्ता और शरीर से भिन्न है। जैसे रूप आदि गुण पृथ्वी आदि द्रव्यों के आश्रित हैं, उसी प्रकार इस चैतन्य का आधारभूत द्रव्य 'आत्मा' है। 'मैं' आत्मा का वाचक (पर्यायवाची) है। मैं 'मैं' वह चेतन द्रव्य है, जो ज्ञानेच्छुओं और सुख-दुःखादि गुणों का आधार है। इसलिए चैतन्य शरीर के जो श्वास, प्रश्वास, पलकों का उठाना, गिराना, मन का दौड़ना इन्द्रिय-विकार, सुख-दुःख, प्रयत्न आदि अनेक व्यापार हैं, वे आत्मा के ही परिचायक (लिंग) हैं। प्राण तथा अपान, निमेष तथा उन्मेष, जीवन के अधिष्ठाता मन को प्रेरित करनेवाला, सभी इन्द्रियों का स्वामी तथा अनेक मनोदशाओं का सूचक केवल 'आत्मा' है। इसीलिए वैशेषिक को अनेकान्तवादी दर्शन कहा गया है। आत्मा के दो भेद किए गए हैं: जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्माएँ अनित्य तथा शरीर भेद से अनंत हैं और परमात्मा नित्य और एक है। जीवात्मा के पांच, सामान्य और नौ विशेष यों कुल १४ गुण हैं। सामान्य गुण पांच हैं--(१) संख्या, (२) परिमाण, (३) पृथक्त्व, (४) संयोग, (५) विभाग। विशेष गुण नौ हैं--(१) बुद्धि, (२) सुख, (३) दुःख, (४) इच्छा, (५) द्वेष, (६) प्रयत्न, (७) भावना, (८) धर्म, (९) अधर्म। जीवात्मा के मुक्त हो जाने पर उसके विशेष गुण विलुप्त हो जाते हैं और सामान्य गुण ही बने रहते हैं।

'मन' उसे कहते हैं, जो सुखादिकों के ज्ञान का साधक होता है। ज्ञान, इच्छा और सुख-दुःखादि जो आभ्यन्तरिक पदार्थ हैं, उनके साक्षात्कार के लिए मन की आवश्यकता है। इन्द्रिय से गृहीत विषयों का ज्ञान मन के द्वारा आत्मा तक पहुँचता है। इसीलिए जब मन अन्यत्र रहता है तब जीवात्मा को ज्ञानोपलब्धि नहीं हो सकती। मन बड़ा द्रुतगामी है। इसी कारण भिन्न-भिन्न संवेदनाओं के युगपत् (एक साथ) ज्ञान का यह आधार है। मन के आठ सामान्य गुण हैं—(१) संख्या (अनन्त), (२) परिमाण, (३) पृथक्त्व, (४) संयोग, (५) विभाग, (६) परत्व, (७) अपरत्व, (८) वेग।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार एक-एक शरीर में एक-एक मन अणुरूप में विद्यमान रहता है। अतः मन निरवयव है, अणुरूप है और प्रत्यक्ष का आभ्यन्तरिक साधन है। वह एक अन्तरिन्द्रिय है, जिसके द्वारा आत्मा विषयों को ग्रहण करती है।

गुण केवल द्रव्य में ही पाया जाता है। द्रव्य निरपेक्ष है, किन्तु गुण को द्रव्य की अपेक्षा रहती है। गुण के २४ प्रकार हैं—(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) शब्द, (६) संख्या, (७) परिणाम, (८) पृथक्त्व, (९) संयोग, (१०) विभाग, (११) परत्व, (१२) अपरत्व, (१३) द्रव्यत्व, (१४) स्नेह,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१५) बुद्धि, (१३) सुख, (१७) दुःख, (१८) इच्छा, (१९) द्वेष, (२०) प्रयत्न, (२१) गुरुत्व, (२२) संस्कार, (२३) धर्म, (२४) अधर्म। कर्म गत्यात्मक होता है। कर्म द्रव्य का सक्रिय स्वरूप है। कर्म को द्रव्यों के संयोग-विभाग का कारण कहा गया है। 'वैशेषिक' सूत्र में उसका लक्षण देते हुए कहा गया है कि जो एक ही द्रव्य के आश्रित हो, जो स्वयं गुण रहित हो और जो संयोग विभाग का निरपेक्ष कारण हो, वह 'कर्म' कहलाता है। कर्म के पाँच भेद हैं-- (१) उत्क्षेपण, (२) अवक्षेपण, (३) आकुंचन, (४) प्रसारण, (५) गमन।

किसी वर्ग के साधारण धर्म को सामान्य कहते हैं। सामान्य का अर्थ हुआ जाति। वह नित्य है, जैसे मनुष्य। परमाणुओं की अपनी-अपनी विशेषताओं को विशेष कहते हैं। दिक्, काल, आकाश, मन, आत्मा तथा परमाणु आदि जो निरवयव होने के कारण नित्य द्रव्य कहते हैं। उनमें एक मन का दूसरे मन से, एक परमाणु का दूसरे परमाणु से अथवा एक आत्मा का दूसरी आत्मा से विभेद करनेवाला पदार्थ ही 'विशेष' है। इसलिए विशेष का कभी नाश नहीं होता। समवाय नित्य संबंध को कहते हैं। अवयवों का अवयवों के साथ, गुण का, कर्म का द्रव्य के साथ, सामान्य का व्यक्तियों के साथ जो संबंध है, उसे समवाय संबंध कहते हैं। द्रव्य के बिना गुण तथा कर्म नहीं टिक सकते। इसी नित्य संबंध को समवाय कहते हैं।

'न रहने' को अभाव कहते हैं। अभाव के चार भेद हैं-(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अत्यन्ताभाव, (४) अन्योन्याभाव।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार सृष्टि और लय इन दोनों का आदि-अन्त नहीं है। जिस प्रकार सृष्टि प्रक्रिया परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर है, उसी प्रकार प्रलय भी उसी के अधीन है।

इस प्रकार वैशेषिक दर्शन सृष्टि एवं प्रलय की प्रक्रिया को एक ऐसा शाश्वत चक्र मानता है, जो निरंतर घूमता ही रहता है और जिसका न आदि है और न अंत ही है।

(२) न्यायदर्शन : न्याय भी अति प्राचीन दर्शन है। इस दर्शन का प्रवर्तन मौर्ययुग में हो चुका था।[1] यह तर्कवादी दर्शन है। इसका प्राचीन नाम 'आन्विक्षिकी' भी है। अनु उपसर्ग ईक्ष् (देखना) से तद्धित में ठक् एवं स्त्रीलिंगवाची 'ई' लगने से 'आन्विक्षिकी' शब्द बना है। इसका अर्थ होता है, किसी भी विषय का तर्क द्वारा अनुसंधान करना। 'न्यायदर्शन' का एक और नाम 'हेतुविद्या' है। इस दर्शन में तर्क द्वारा किसी वस्तु को सिद्ध करने में मध्यमपद या हेतु ही महत्त्वपूर्ण होता है। जैसे 'यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः' इस वाक्य में 'धूम' मध्यमपद या हेतु ही महत्त्वपूर्ण है एवं शेष गौण हैं। अतः इसे 'हेतुविद्या' कहा गया है।

भारतीय न्यायदर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम थे। इनका काल २०० ई. पू. माना जाता है।[2] इन्होंने न्यायदर्शन पर सूत्रात्मक ग्रंथ लिखा, जो 'गौतमन्यायसूत्र' के नाम से सुप्रसिद्ध है। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद ने वैशेषिकदर्शन के सूत्र लिखे। कणाद ने 'प्रमेय' पर विचार करते हुए आत्मा पर भी प्रकाश डाला है। महर्षि गौतम ने अपने न्यायदर्शन में पदार्थविद्या पर विचार किया है। न्याय में भी पदार्थों पर तर्कपूर्ण विचार किया गया है। इस प्रकार वैशेषिक एवं न्याय दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए दर्शन हैं एवं न्यायदर्शन वैशेषिक की पूर्ति है—

इदं दर्शनं (वैशेषिक) मुख्यतया पदार्थविद्याप्रतिपादकम्। प्रमेयविस्तारैः सहात्मनात्मविचारोऽप्यत्र कृतो दृश्यते। महर्षि गौतमकृते न्यायदर्शनग्रन्थे एतस्यैव विषयस्य पूर्तिरस्ति।[3]

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, २. भारतीयदर्शन, डॉ. यदुनाथ सिन्हा, पृ. १२
३. संस्कृतवाङ्मयपरिचयः, पृ. ४६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि गौतम का अक्षपाद नाम भी है। ये अपने विशेष गुण, सूक्ष्म चिंतन एवं दर्शन के कारण अक्षपाद कहलाए। जो इतना सूक्ष्म द्रष्टा है कि पैरों से भी देख लेता है, वह अक्षपाद है। यह कथन असंगत नहीं है। सूक्ष्म द्रष्टा न केवल अपने नेत्रों से अपितु वह अपनी स्पर्श, घ्राण, श्रवण, रसना (जिह्वा) इन्द्रियों से भी देख लिया करता है। जो आंखों से नहीं देखी जा सकती, उसका प्रत्यक्षीकरण इनके द्वारा भी विशेष मेधावी के लिए संभव है। इन इन्द्रियों के द्वारा ही नहीं किन्तु कई विशेष व्यक्तियों का तो प्रत्येक रोम भी चक्षु बन जाता है। वह उनसे देखता ही नहीं, किन्तु आहार तक ग्रहण कर लेता है। इसीलिए तो दार्शनिक, योगी, कवि, कलाकार, प्रेमी, भक्त इत्यादि विशेष कोटि में परिगणित होते हैं। अपने उद्यान की एक लंगड़ी मैना अपनी करुणा छिपा न सकी और क्रान्तद्रष्टा कवि रवि बाबू के अन्तःकरण के राडार पर उसकी करुणा प्रतिबिम्बित हो उठी। भिक्खु आनंद के पूछने पर कि 'यह पौधा खिलेगा?' बुद्ध ने एक क्षण भीतर झांककर उत्तर दिया—'खिलेगा।' भिक्खु आनंद ने महाबोधि का उपहास करते हुए पौधा उखाड़ फैंका, पर कुछ दिनों बाद देखा तो वही पौधा पुष्पित होकर एक विजयी की भाँति खड़ा लहरा रहा था। यह बुद्ध का पदार्थ के आरपार दिक्-काल से भी परे, योग-चक्षुओं से देखना था। योगी भी श्वास से ही समस्त आहार ग्रहण कर लेते हैं एवं त्रिकालदर्शी होते हैं। परमात्मा ने चींटी से लेकर हाथी तक को अनंत-शक्ति प्रदान की है। कौन अपनी कितनी शक्ति को जाग्रत कर पाता है, यह तो शक्तिमान के बस की बात है। इस प्रकार न्याय-दर्शन के द्रष्टा महर्षि गौतम अक्षपाद हों, पैरों से देखनेवाले हों—तो कोई आश्चर्य नहीं। इस दर्शन के द्रष्टा अक्षपाद होने के कारण यह अक्षपाद-दर्शन भी कहलाता है।

'न्याय' शब्द का अर्थ है—जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि की जा सके-**'नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिः।'** इस विवक्षितार्थ की सिद्धि पंचावयवी तर्क द्वारा होती है। इसीलिए पंचावयव वाक्यों का अपर नाम 'न्याय' या 'न्यायप्रयोग' भी है।[1] ये पंचावयव तर्क हैं—(१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) उपनयन, (५) निगमन। **'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयननिगमनानि पंचावयवाः।'**[2] ऊपर हमने 'न्यायदर्शन' को 'हेतुदर्शन' कहा है। यहाँ पंचावयव तर्कों में 'हेतु' भी एक महत्त्वपूर्ण तर्क है। न्यायदर्शन में प्रमाण चार माने गए हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द, (४) उपमान। **'यथार्थानुभवश्चतुर्विधः। प्रत्यक्षानुमित्युपमिति शाब्दभेदात्।'**[3] इनके अतिरिक्त नैयायिक और किसी को प्रमाण नहीं मानते हैं।

इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से उत्पन्न ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहलाता है। इसी को यथार्थ ज्ञान भी कहते हैं। यह निर्विकल्प एवं सविकल्प के रूप में दो प्रकार का होता है। जिस ज्ञान में वस्तु के स्वरूप की, उसकी जाति, नाम इत्यादि की प्रतीति होती है, वह सविकल्पक ज्ञान कहलाता है। जिस वस्तु में स्वरूप, जाति, नाम इत्यादि की स्पष्ट प्रतीति न हों, वह ज्ञान निर्विकल्पक कहलाता है। जैसे किसी को देखने पर 'यह कुछ है।' यह ज्ञान निर्विकल्पक हुआ तथा 'यह हाथी है, यह राम है,' यह ज्ञान सविकल्पक हुआ। पं. केशव मिश्र ने मूक व्यक्ति एवं बालक के ज्ञान के साथ निर्विकल्पक ज्ञान की तुलना की है—**'बालक-मूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पम्।'**[4] जैसे एक घड़ी को देखने पर प्रौढ़ व्यक्ति उसके नाम, जाति, निर्माण इत्यादि के बारे में जानता है पर बालक उसके, नाम, जाति एवं निर्माण के बारे में नहीं जानता है। इस प्रकार प्रौढ़ का ज्ञान सविकल्पक है एवं बालक का निर्विकल्पक।

---

१. संस्कृतवाङ्मयपरिचयः, पृ. ४६, २. तर्कसंग्रह, अनुमानपरिच्छेद, अन्नम् भट्ट

३. तर्कसंग्रह, अनुमानगुणनिरूपण, अन्नम् भट्ट

४. तर्कसंग्रह, सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद, पृ. १०३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रियों के प्रमुख दो भेद हैं--कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय । प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए हमें ज्ञानेन्द्रियों की आवश्यकता रहती हैं । पदार्थ में इन्द्रिय संबंध के लिए घड़ा, वस्त्र इत्यादि वस्तुओं का होना आवश्यक है । ऐसा होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान संभव है । पदार्थ सात हैं—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय, (७) अभाव—'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः ।[1]

पदार्थ के साथ इन्द्रियों के संबंध को सन्निकर्ष कहते हैं । इन्द्रिय और पदार्थ के संबंध के कारण जो ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं तथा संबंध को सन्निकर्ष कहा जाता है । सन्निकर्ष छः प्रकार के हैं[2]-(१) संयोग, (२) संयुक्तसमवाय, (३) संयुक्तसमवेतसमवाय, (४) समवाय, (५) समवेतसमवाय, (६) विशेषणविशेष्यभाव ।

गौतम ने चार प्रमाण माने हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, और, शब्द । प्रमाण अर्थात् किसी बात को सिद्ध करने का विधान । उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर न्याय में जिन विषयों पर विचार किया जाता है, वे प्रमेय (जो प्रमाणित किए जाएं) पदार्थ के अन्तर्गत हैं एवं ये बारह माने गए हैं[3]-(१) आत्मा, सभी वस्तुओं को देखनेवाला, भोग करनेवाला, (२) शरीर, भोगों का आयतन-आधार, (३) इन्द्रियां, भोगों के साधन, (४)अर्थ, वस्तु जिनका भोग होता है, (५) मन, भोग, (६) बुद्धि, अन्तःकरण अर्थात् वह भीतरी इन्द्रिय जिसके द्वारा सब वस्तुओं का ज्ञान होता है, (७) प्रवृत्ति, अर्थात् वचन, मन और शरीर का व्यापार, (८) दोष, जिसके कारण अच्छे या बुरे कामों में प्रवृत्ति होती है, (९) प्रेत्यभाव, पुनर्जन्म, (१०) फल, सुख-दुःख का संवेदन या अनुभव, (११) दुःख, पीड़ा, क्लेश, (१२) अपवर्ग, दुःख से अत्यंत निवृत्ति या मुक्ति । इनके अतिरिक्त प्रमाण के विषय या प्रमेय और भी हो सकते हैं, पर गौतम ने अपने सूत्रों में इन्हीं पर विचार किया है । इन्हीं के ज्ञान से अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

न्याय में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख और ज्ञान, ये आत्मा के लिंग कहे गए हैं । लिंग से तात्पर्य है, अनुमान के साधन, चिह्न या हेतु । शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों से आत्मा पृथक् है । वैशेषिक दर्शन में भी इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख एवं ज्ञान को आत्मा के लिंग कहा गया है । आत्मा यों शरीर, इन्द्रिय और मन से पृथक् है । इसके हेतु भी गौतम ने दिए हैं । वेदान्ती आत्मा एक मानते हैं जबकि नैयायिक अनेक आत्मा मानते हैं । सांख्य दर्शन भी अनेक पुरुष मानता है, पर वे पुरुष को अकर्ता, अभोक्ता, साक्षी एवं द्रष्टा मात्र मानता है । नैयायिक आत्मा को कर्ता, भोक्ता आदि मानते हैं । संसार को रचनेवाला आत्मा हीं ईश्वर है । नैयायिक आत्मा की ही भाँति ईश्वर में भी संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, इच्छा, बुद्धि, प्रयत्न ये गुण मानते हैं पर ये गुण ईश्वर में नित्यरूप में माने गए हैं । दुःख, द्वेष और संस्कार के अतिरिक्त शेष सभी आत्मा के गुण ईश्वर में है ।[1] न्यायदर्शन का उद्देश्य है, आत्मा को शरीर, इन्द्रियां तथा सांसारिक विषयों के बंधन से मुक्त कराना । आत्मा शरीर और मन से पृथक् है । नैयायिकों के अनुसार आत्मा निराकार है । यह स्पर्शादि गुण रहित, ज्ञान अथवा चैतन्य का अमूर्त आश्रय है । यह देशकाल के बन्धनों से मुक्त और सीमातीत है । इसीलिए इसे विभु और नित्य कहा गया है । आत्मा निरवयव है । यह उत्पत्ति रहित होने के कारण अनादि है । नाशरहित होने के कारण यह अनंत है । इसके दो भेद हैं—जीवात्मा और परमात्मा । न्यायदर्शन चैतन्य को आत्मा का अनिवार्य गुण नहीं मानता है, किन्तु बाहर से संयोगवश आगन्तुक गुण मानता है । जब कि वेदान्त आत्मा को स्वयं चैतन्य स्वरूप मानता है ।

---

१. तर्कसंग्रह, २. तर्कसंग्रह, प्रत्यक्षपरिच्छेद, ३. हिन्दुत्व, रामदास गौड़, पृ. ५३५

CC-0. Gurukul Kangri Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भौतिक वस्तुओं के संमिश्रण से शरीर का निर्माण होता है । शरीर आत्मा के भोग का आश्रय है, किन्तु यह नाशवान् है । इसके दो भेद हैं-योनिज, अयोनिज । नैयायिकों ने शरीर की व्याख्या करते हुए लिखा है कि चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थ के आश्रय को शरीर कहते हैं । जिस पदार्थ से सुख हो, उसको प्राप्त करने और जिससे दुःख हो उसको दूर करने का प्रयत्न चेष्टा है। अतः शरीर के लक्षण के अन्तर्गत वृक्षों का शरीर भी आ जाता है, पर वाचस्पति मिश्र का अभिप्राय है कि यह लक्षण वृक्ष-शरीर में घटित नहीं होता, क्योंकि वृक्षों के शरीर हैं पर उनमें चेष्टाएँ तथा इन्द्रियां स्पष्ट नहीं हैं ।[1] पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार शरीर उत्पन्न होता है । पंचभूतों से पांचों इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है । घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का ग्रहण होता है, क्योंकि यह पृथ्वी से बनी है, रसना जल से बनी है, क्योंकि जल का ही गुण रस है । चक्षु तेज से बने हैं, क्योंकि रूप तेज का ही गुण है । त्वचा (चमड़ा) वायु से बनी है, क्योंकि स्पर्श वायु का ही गुण है । श्रोत्र आकाश से बना है, क्योंकि शब्द आकाश का गुण है ।[2]

शरीर में इन्द्रियों के जो प्रत्यक्ष गोलक देखे जाते हैं, बौद्ध उन्हीं को इन्द्रियाँ कहते हैं--जैसे-आँख की पुतली, जीभ इत्यादि । पर नैयायिकों का मत है कि जो-जो अंग दिखाई पड़ते हैं, वे इन्द्रियों के अधिष्ठान मात्र हैं, इन्द्रियाँ नहीं हैं ।[3] इन्द्रियों का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता । सांख्य में ग्यारह इन्द्रियां मानी गई हैं न्याय में कर्मेन्द्रियाँ नहीं मानी गई हैं पर मन एक करण और अणुरूप माना गया है । यदि मन सूक्ष्म न होकर व्यापक होता तो युगपत् (एक साथ) ज्ञान संभव होता, अर्थात् अनेक इन्द्रियों का एक क्षण में एक साथ संयोग होते हुए, उन सबके विषयों का एक साथ ज्ञान होता । पर न्यायदर्शन ऐसा नहीं मानता । गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पांचों भूतों के गुण और इन्द्रियों के अर्थ अथवा इन्द्रियों के विषय हैं । न्यायदर्शन में बुद्धि को ज्ञान या उपलब्धि कहा है । सांख्यदर्शन में बुद्धि नित्य कही गई है, जब कि न्याय में अनित्य ।[4]

मन अणु है । मनन करने वाला साधन मन है । मनन अर्थात् सोचना-विचारना । यह मन इन्द्रिय एवं आत्मा के बीच संबंध स्थापित करनेवाला एक माध्यम है । इसलिए यह बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार की इन्द्रियों से संबद्ध है, किन्तु इसकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह कि यह अस्पृश्य, अदृष्ट होते हुए भी क्रियाशील है और यह अनुमान-सिद्ध है । मन अणु है तथा सूक्ष्म है । आत्मा स्वभावतः अचेतन है । मन एवं शरीर के संयोग होने पर ही आत्मा में चैतन्य का गुण आता है । चैतन्य आत्मा का स्वरूप नहीं है, वरन् आगन्तुक गुण है । न्याय का यह मत वेदान्त को मान्य नहीं है । वेदान्त आत्मा को स्वयं चैतन्य मानता है । न्यायदर्शन सुषुप्ति एवं मुक्ति की दशाओं में आत्मा को चैतन्यगुण से रहित मानता है तथा आत्मा की यही शुद्ध स्वाभाविक अवस्था है । न्यायदर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञाता, भोक्ता और कर्ता है । आत्मा ही सबका द्रष्टा, सुख-दुःख का भोक्ता है । जानना, सुख-दुःख का अनुभव करना एवं प्रयत्न करना आत्मा के धर्म हैं ।

भारतीय दर्शनों का क्रमिक विकास हुआ है । चार्वाक आत्मा और शरीर को एक ही मानते हैं । बौद्ध आत्मा को विज्ञान-सन्तान मानते हैं, किन्तु नैयायिक इन मतों का खंडन करते हुए आत्मा को एक नित्य द्रव्य मानते हैं, जिसमें कई कारणों के सामूहिक व्यापार के कारण चैतन्य का गुण समाविष्ट रहता है । नैयायिक आत्मा को विभु एवं नित्य मानते हैं । न्याय-दर्शन के अनुसार सांसारिक विषयों में आसक्ति अथवा अनाशक्ति का कारण आत्मा ही है । यही आत्मा मिथ्या ज्ञान, राग-द्वेष तथा मोह में लिप्त होकर

---

१. वैशेषिक सूत्रोपस्कार, शंकर मिश्र, २. तर्कसंग्रह, द्रव्यनिरूपण ।
३. हिन्दुत्त्व, पृ. ५३६, ४. हिन्दुत्त्व, पृ. ५३६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सद्-असद् कर्म करवाती है। इसी कारण आत्मा पापमय हो जाती है। जिसके कारण आत्मा को जन्म-मरण के चक्र में फंसना पड़ता है। न्याय-दर्शन के अनुसार जब समस्त दुःखों का अंत हो जाता है तब मुक्ति प्रप्त होती है। नैयायिक इसी को अपवर्ग कहते हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार आत्मा मुक्त होने पर चैतन्य रहित हो जाती है और उसे दुःख-सुख आदि की भी अनुभूति नहीं होती है।

न्यायदर्शन में ईश्वर की सत्ता पर भी गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है। न्याय ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखता है। ईश्वर ही संसार की सृष्टि करके उसका पालन तथा संहार करता है। ईश्वर निःशरीर है, किन्तु उसमें इच्छा, ज्ञान एवं प्रयत्न के गुण विद्यमान हैं। वह सर्वज्ञ है। वह शक्तिमान है एवं अनंत ज्ञान का भंडार है। इस तरह वह निराकार हुआ। ईश्वर ही दिक्, काल, आकाश, मन, आत्मा तथा भौतिक परमाणुओं की सहायता से सृष्टि का निर्माण करता है। ये परमाणु आदि नित्य हैं एवं ईश्वराधीन सत्ताएँ हैं। ये सत्ताएँ ही जगत् के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार वेदान्त के सिद्धांत की भाँति ईश्वर मकड़ी की तरह अपने उदर से सृष्टि का परिणमन (सृष्टि को जो भीतर है, उसे वाहर प्रकट करना) नहीं करता, किन्तु कुंभकार की भाँति नित्य परमाणुओं के उपादानों को लेकर सृष्टि की रचना करता है। इसी कारण सृष्टि निर्माण में ईश्वर उपादान कारण नहीं, किन्तु निमित्तकारण माना जा सकता है। ईश्वर को हम न्याय-दर्शन के अनुसार विश्वकर्मा कह सकते हैं। उसीने पर्वत, सागर, सूर्य, चन्द्र का निर्माण किया है। न्यायदर्शन इस बात को मानता है कि सृष्टि के मूल में कोई चेतन सत्ता अवश्य है, जो सर्वशक्तिमान है, और वही सत्ता ईश्वर है। मनुष्य ईश्वर की कृपा से तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करके मुक्ति पा सकता है।

(३) सांख्यदर्शन : सांख्यदर्शन के प्रवर्तक उपनिषद् कालीन महर्षि कपिल थे। यह दर्शन, वैशेषिक एवं न्यायदर्शन से भी प्राचीन है। 'कठ', 'छान्दोग्य', 'श्वेताश्वतर' एवं 'मैत्रेय' आदि उपनिषदों तथा महाभारत', 'गीता' आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में जो सांख्यदर्शन के सिद्धांत प्रचुरमात्रा में निरूपित हुए है, उनसे इसकी प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। अपने पूर्ववर्ती सांख्यदर्शन के विचारों को सुव्यवस्थित करने की दृष्टि से महर्षि कपिल ने 'सांख्यसूत्र' ग्रंथ लिखा। संप्रति उपलब्ध 'सांख्यसूत्र' में ५२४ सूत्र हैं जो छः अध्यायों में विभक्त हैं।[1]

कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें २५ तत्वों की संख्या निर्धारित की जाने के कारण इसे सांख्य नाम से अभिहित किया गया है। 'श्रीमद्भागवत' में इसे 'तत्त्वसंस्थान' एवं इसके टीकाकार श्रीधर स्वामी ने इसका 'तत्त्वगणक' नाम दिया है। कई विद्वानों का यह भी मत है कि ज्ञान का सम्यक् निदर्शन होने से इसका नाम 'सांख्य' पड़ा। 'सम्' उपसर्ग 'ख्या'—प्रकथने धातु से सांख्य शब्द निष्पन्न हुआ है—

सम्-सम्यक् ख्यायते, प्रकाश्यते, वस्तुतत्त्वमनयेति, 'संख्या' सम्यग् ज्ञानम्, तस्यां प्रकाशमानमात्मतत्त्व सांख्यमिति श्रीधर स्वामी।[2]

जिसके द्वारा पदार्थ-तत्त्व भली भाँति स्पष्ट हो, उसका सम्यग् ज्ञान हो, वह सांख्यशास्त्र, श्रीधर स्वामी।

सम्यक् ख्यायते, सर्वोपाधि शून्यतया प्रतिपाद्यते, परमात्मतत्त्वमनयेति संख्या, उपनिषद्, तयैवतात्पर्यपरिसमाप्त्या प्रतिपाद्यते यः सांख्यः।[3]

---

१. 'सांख्यसूत्र' (पोथी), भाषा-टीकाकार पं. रामस्वरूप शर्मा, संवत् १९३० लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद।
२. शब्दार्थचिन्तामणि भाग-४, पृ. ७९८, ७९९,
३. शब्दार्थचिन्तामणि भाग-४, पृष्ठ. ७९८४ ७९९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् जिसमें परमात्म तत्त्व का सम्यक् निरूपण हुआ हो, वह शास्त्र सांख्य ।

उत्तम आत्मबुद्धि को भी सांख्य कहते हैं—'**संख्या सम्यगात्मबुद्धिः** ।[1]

सम्यक् ज्ञान का संबंध आत्मा से है । अविद्या के कारण आत्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है । आत्मा एवं अविद्या पर सांख्य में जितना सूक्ष्म विचार किया गया हैं, उतना न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों में नहीं ।

सांख्य में चार प्रकार से पदार्थों को दिखाया गया है—(१) केवल प्रकृति, (२) केवल विकृति, (३) प्रकृति–विकृति उभयरूप और (४) प्रकृति–विकृति दोनों से भिन्न ।

सांख्य में पच्चीस तत्त्व माने गए हैं। उपर्युक्त चारों पदार्थों के अन्तर्गत ये तत्त्व इस प्रकार आ जाते हैं–

स्वरूप	संख्या	नाम	
(१) प्रकृति	१	प्रकृति = १	१
(२) विकृति	१६	**पंच ज्ञानेन्द्रियां** : (१) चक्षु, (२) घ्राण ३) रसना, (४) त्वक् (त्वचा), (५) श्रोत्र = ५ **पंच कर्मेन्द्रियां** : (१) वाक्, (२) पाणि (हाथ), (३) पाद, (४) पायु, (मलद्वार, गुदा) (५) उपस्थ (पुरुप और स्त्री की गुह्येन्द्रिय : लिंग, योनि) = ५ **पंच महाभूत** : (१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु(५) आकाश = ५ मन = १	१६
(३) प्रकृति–विकृति	७	**पंच तन्मात्राएँ** : (१) शब्द, (२) स्पर्श, (३) रूप, (४) रस, (५) गन्ध = ५ महत् तत्त्व और अहंकार = २	७
(४) न प्रकृति न विकृति	१	पुरुष = १	१
			कुल = २५

उपर्युक्त पच्चीस तत्त्वों में प्रकृति एवं पुरुष दो मूल तत्त्व हैं, अतः सांख्य द्वैत मूलक दर्शन माना गया है–

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्‌ध्यनादी उभावपी ।[2]

और प्रकृति एवं पुरुष ये दोनों तत्त्व सांख्य में अनादि माने गए हैं ।

'**प्रकरोति इति प्रकृतिः**' जो अतिशय कार्य करे, वह प्रकृति है । महदादि संपूर्ण कार्यों की जो जड़ है, वह मूल प्रकृति है । 'प्रधान', 'माया', 'अव्यक्त', आदि इसी प्रकृति के पर्याय हैं । इस प्रकृति का कोई कारण नहीं है । इसी कारण इसे मूल प्रकृति कहा गया है । सत्त्व, रज एवं तम की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहते हैं । प्रकृति जड़ और एक है । पुरुष चेतन और अनेक हैं । प्रकृति और पुरुष का

१. शब्दार्थचिन्तामणि भाग–४, पृष्ठ–७९८, ७९९ २. हिन्दुत्व, पृ. ५३९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संयोग ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है। सांख्यदर्शन प्रकृति और पुरुष का संयोग इन दो प्रकार के तत्त्वों में पारमार्थिक अर्थात् वास्तविक भेद मानता है। अपने–अपने अस्तित्व के लिए पुरुष और प्रकृति परस्पर स्वतंत्र हैं। चेतन पुरुष का गुण नहीं, किन्तु इसका स्वरूप ही है। शरीर, मन एवं इन्द्रियों से पुरुष भिन्न है, एवं नित्य है। यह तटस्थ रूप से सांसारिक वस्तुओं और व्यापारों का अलग से अवलोकन करता है। यह स्वयं न कोई कार्य करता है और न इसमें कोई परिवर्तन होता है। प्रकृति के परिणामों के उपभोग के लिए ही पुरुष की सृष्टि की गई है, जो प्रकृति से भिन्न है। प्रत्येक जीव के लिए पुरुष के शरीर से संबद्ध एक–एक पुरुष माना गया है। इसी कारण एक मनुष्य का सुख–दुःख दूसरे से कोई संबंध नहीं रखता। अर्थात् सांख्य में अन्तःकरण युक्त पुरुष एक नहीं है, किन्तु अनेक हैं। नहीं तो एक के मरने से सभी मर जाते, एक के पंडित होने से सभी पंडित हो जाते पर ऐसा नहीं होता है, इसलिए अन्तःकरण––विशिष्ट–पुरुष अनेक हैं।

सांख्य के अनुसार पुरुष कारणहीन है। उसका कोई कार्य नहीं है। वह न प्रकृति है, न विकृति है। इस प्रकार पुरुष नित्य, व्यापक, क्रियाहीन, गुणरहित एवं चेतन है। पुरुष निर्गुण होने के कारण संसार में रहने पर भी जल–कमलवत् निर्लिप्त है। संसार भोग्य है, पुरुष चेतन भोक्ता है, वही आत्मा है। प्रकृति कर्त्री है। पुरुष के पास होने से प्रकृति चेतनवत् भासित होती है और चेतन असंग है फिर भी प्रकृति के कर्तृत्व और सुख–दुःखादि धर्मों को अपने में मानता है। प्रकृति और पुरुष का अंध–पंगु न्याय से संबंध है। जैसे कोई अंधा चलने में समर्थ होने पर भी मार्ग देख नहीं सकता, अतः मार्ग देखने के लिए नेत्रवाले पंगु को कन्धे पर उठा लेता है। पंगु भी देख तो सकता है, पर लंगड़ा होने से चल नहीं सकता, इस कारण वह किसी पैरवाले का आश्रय चाहता है। इसी तरह अचेतन प्रकृति अपनी प्रवृत्ति के लिए पुरुष को आश्रय बनाती है। इस प्रकार उत्पत्ति–धर्म–रहित पुरुष अपने भोग के लिए प्रकृति का आश्रय लेता है।

जगत् का मूल कारण प्रकृति है। इसे प्रधान भी कहते हैं। सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण प्रकृति के तीन गुण अथवा उपादान हैं। ये गुण परस्पर विरोधी होते हुए भी एक दूसरे के आश्रित हैं। ये एकाकी नहीं रह सकते। जिस प्रकार रस्सी तीन सूत्रों से बंधी रहती है, उसी प्रकार तीन मौलिक तत्त्वों (गुणों) से प्रकृति बनी है। अतः ये तीनों गुण पुरुष को संसार से बांधने के लिए रज्जु स्वरूप हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार न किसी की उत्पत्ति होती है, न विनाश ही।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।–गीता

अर्थात् जो पदार्थ नहीं है, वह कभी उत्पन्न नहीं होता तथा जो है उसका कभी अभाव नहीं होता। **'सतः अभावः, असतश्चोत्पादो न'**। उत्पत्ति और विनाश वस्तु के धर्म हैं, पर ये वस्तु नहीं हैं। एक धर्म दूसरे को ग्रहण करता है। इसलिए वस्तु में नहीं, किन्तु मात्र वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन होता है। इसी परिवर्तन को परिणाम तथा 'विवर्त' कहा गया है और इसी बात कीं सिद्धि के लिए सांख्य दर्शन में 'सत्कार्यवाद' के सिद्धांत की स्थापना की गई है।

'सत्कार्यवाद' सांख्यदर्शन का अत्यंत ही सूक्ष्म वैज्ञानिक सिद्धांत है। इसके अनुसार कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान रहती हैं। इसके आधार पर यह माना जाता है कि यह समस्त संसार रूप कार्य 'मूल प्रकृति' रूप 'कारण' में अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है। सत्कार्य के दो भेद हैं–'परिणाम' और 'विवर्त'। वस्तु के स्वरूप में जो परिवर्तन होता है, उसी को 'परिणाम' तथा 'विवर्त' कहा जाता है। इसी परिवर्तन को सांख्य में 'परिणामवाद' और वेदान्त में 'विवर्त्तवाद' कहा गया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। प्रत्येक तत्त्व या वस्तु में रहनेवाली शक्ति की अथवा उस वस्तु का या तत्त्व का जो स्वरूप है, उसको धर्म कहा जाता है। यह धर्म ही परिवर्तनशील है। दूध का जो दही बन जाता है, वह धर्म के परिवर्तन के कारण ही।

पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि की रचना हुई। पुरुष के संयोग के साथ ही प्रकृति की साम्यावस्था नष्ट हो जाती है।

सांख्य के मतानुसार सृष्टि-क्रम इस प्रकार है। सत्त्व के आधिक्य के कारण महत् की उत्पत्ति होती है। महत् के सत्त्वगुण पर जब पुरुष का चेतन प्रभाव पड़ता है, तब महत् भी चेतन प्रतीत होने लगता है। यही महत्-बृद्धि कहलाता है। अहंकार के संयोग से आत्मा स्वयं को कर्ता समझने लगता है पर वास्तव में आत्मा कर्ता नहीं है। अहंकार में सत्त्व का आधिक्य होने से पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन की उत्पत्ति होती है। अहंकार में तम का आधिक्य होने से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं पंचतन्मात्राओं की सृष्टि होती है। पंचतन्मात्राओं से क्रमशः पंचमहाभूतों-अकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी—की सृष्टि होती है। इस प्रकार सांख्य २५ तत्त्वों को मानता है। इनमें से केवल पुरुष को छोड़कर शेप सभी तत्त्व प्रकृति में विद्यमान हैं।

जैसे कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, पैरवाले अंधे को अपनी यात्रा के लिए आखोंवाले पंगु की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार जड़ प्रकृति और निष्क्रिय पुरुष दोनों मिलकर अपना कार्य संपादित करते हैं। भोग एवं अपवर्ग दोनों कार्य प्रकृति-पुरुष के संयोग के बिना संभव नहीं हैं।

पुरुष, जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति इन सभी का प्रत्यक्ष द्वारा नहीं, किन्तु अनुमान द्वारा ज्ञान होता है। जो प्रत्यक्ष है, वह प्रकृति का परिणाम हैं। उसी प्रकृति के परिणाम को विकृति कहा गया है। शरीर में रहने से पुरुष को जीवात्मा और संसार में व्यापक होने से उसे परमात्मा कहा गया है। न्यायदर्शन में जो स्थान आत्मा को प्राप्त है, सांख्य में वही स्थान 'पुरुष' को प्राप्त है। पुरुष निरपेक्ष तथा नित्य है किन्तु अविद्या के कारण अपने शरीर को इन्द्रिय तथा मन से पृथक् नहीं समझता। वस्तुतः पुरुष एवं बुद्धि के भेद-ज्ञान के बिना मुक्ति हो नहीं सकती। विवेक होने पर पुरुष का शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकार तथा बुद्धि से भेद समझ में आने लगता है और सुख-दुःख का अन्त हो जाता है। उस दशा में पुरुष संसार का द्रष्टा मात्र रह जाता है। यही केवल्यावस्था है। जीवित रहते हुए भी जब मुक्त पुरुष संसार से अपने ममत्व को हटा लेता हैं तो जीवन्मुक्त कहलाता है और शरीरान्त के पश्चात् वह देहमुक्त कहलाता है। विवेक-ज्ञान आध्यात्मिक अभ्यास से होता है। सांख्य की पुरुष संबंधी धारणा वैशेषिक दर्शन एवं न्याय दर्शन की अपेक्षा कहीं अधिक उत्तम है।

ईश्वर नहीं है, यह सिद्ध करने का सांख्य दर्शन ने कहीं भी प्रयत्न नहीं किया है। सांख्य का तो यह मत है कि सृष्टि, प्रलय एवं कर्मविपाक में कहीं भी तो ईश्वर की आवश्यकता नहीं है।[1]

ईश्वरवादी सांख्यकारों ने ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हुए कहा है कि यद्यपि ईश्वर ने प्रकृति के सहयोग से जगत् को उत्पन्न नहीं किया है, फिर भी ईश्वर का अस्तित्व हमें इसलिए स्वीकार करना चाहिए कि जड़ प्रकृति में जो क्रिया का उन्मेष होता है, वह ईश्वर की ही प्रेरणा से होता है। प्रकृति और ईश्वर का संबंध लोह चुम्बक जैसा है। जिस प्रकार चुम्बक के निकट रखे जड़ लोहे में गति या क्रिया पैदा हो जाती हैं, वैसे ही ईश्वर के नैकट्य से प्रकृति में क्रियाशीलता उत्पन्न हो जाती है। इस दृष्टि से ईश्वर

१, भारतीयदर्शनशास्त्र का इतिहास, डा. न. कि. देवराज, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाबाद, १९५०, पृ. ३०७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सत्ता प्रकृति की सत्ता से भी ऊंची है । यह ईश्वर पूर्णकाम, नित्य और जीवों में अन्तर्यामी होकर उनके कार्यों का साक्षी बना रहता है । ईश्वर को न माननेवाले सांख्यदर्शनकारों ने जो शंकाएँ एवं कारण बताए हैं, वे अधिक तर्क संगत न होने पर भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करनेवाले सांख्यदर्शनकारों की युक्तियों की अपेक्षा अधिक स्थायी एवं वजनदार हैं ।[1]

बौद्ध-दर्शन असत् से सत् की उत्पत्ति, न्याय सत् से असत् की उत्पत्ति मानता है, किन्तु सांख्य सत् से सत् की उत्पत्ति का प्रतिपादन करता है । सांख्य का मूल तर्क है, किसी पदार्थ से विरोधी पदार्थ की उत्पत्ति संभव नहीं है । जो पदार्थ जिस पदार्थ से अन्वित (व्याप्त) है, उसका कारण भी वही (व्यापक) है । पदार्थ का नाश नहीं होता है किन्तु उसका तिरोभाव होता है ।[2]

(४) योगदर्शन : योगदर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि हैं । विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि सुप्रसिद्ध वैयाकरणी एवं महाभाष्यकार मुनि पतंजलि से योगदर्शन के उद्‌घाता (प्रवर्तक) पतंजलि भिन्न व्यक्ति थे एवं उनसे पहले बौद्ध युग से भी पूर्व हुए थे ।[3] पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर महाभाष्य लिखनेवाले मुनि पतंजलि का समय ई. पूर्व ४५१ है । योगदर्शन ईश्वरवादी दर्शन है । सांसारिक क्लेशों के नाश का एक व्यावहारिक मार्ग बताने के लिए ही योग-दर्शन प्रवृत्त हुआ है । योगार्थ वाची 'युजिर्' अथवा समाधिवाची 'युज्' धातु में करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय लगने से योग शब्द निष्पन्न हुआ है । **'युज्यते जीवः ब्रह्मज्ञानेन इति योगः ।'** जिसके द्वारा जीव ब्रह्मज्ञान से युक्त बनता है, वह योग है । योगदर्शन का अंतिम लक्ष्य भी यही है । शब्दार्थ-चिन्तामणि' में योग की कई रूपों में व्याख्या की गई है, उनमें से निम्न लिखित महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) **चित्तवृत्तिनिरोधे :** चित्तवृत्तियों का निरोध योग है ।

(२) **निष्कामकर्मणि :** निष्कामभाव से कर्म में निवृत्ति योग है ।

(३) **अन्तःकरणशुद्धिरूपेवैराग्ये :** वह वैराग्य भाव योग है, जिसमें अन्तःकरण निर्मल हो जाता है ।

(४) **चित्तैकाग्रात् आत्मतत्त्व स्वस्वानुभावारूढत्वे :** वह योग है, जिसमें चित्त एकाग्र होने से स्व स्वानुभावारूढ साधक को आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है ।

(५) **मनोनाशवासनाक्षयानुकूले पुरुषप्रयत्ने :** वह योग है, जिसके द्वारा साधक मन में उठी वासनाओं को विनष्ट करके मन को अपने अनुकूल बनाता है, वह मन का स्वामी बनता है, मन के दासत्व से मुक्त होता है ।

(६) **चित्तस्यात्माकारप्रयत्नेन निवृत्तिकतापादने** वह योग है, जिसमें मन (चित्त) आत्मस्थ हो जाने से उसे परम शांति (आनंद) की प्राप्ति होती है ।

(७) **समत्वे :** सत्त्व, रज एवं तम ये तीनों गुण जिसमें समत्व की स्थिति में आ जाते हैं। फलतः साधक निर्विकार हो जाता है । इनकी विषम स्थिति में ही प्रकृति सविकार होती है ।

(८) **जीवात्मापरमात्मैक्ये :** वह योग है, जिसमें जीवात्मा-परमात्मा से जुड़ जाती है ।

(९) **अखण्डसाक्षात्कारे :** वह योग है, जिसमें जीवात्मा को परमात्मा का अखण्ड साक्षात्कार हो जाता है ।

परवर्ती योगशास्त्र में तन्त्र का भी समावेश कर लिया गया था । जिसके अनुसार 'कायव्यूह' का बहुत विस्तार करके शरीर के भीतर अनेक प्रकार के चक्र आदि कल्पित किए गए । क्रियाओं के अधिक

---

१. भारतीयदर्शनशास्त्र का इतिहास, डॉ. देवराज, पृ. ३०८

२. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, १९५०, पृ. २८१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

३. संस्कृतसाहित्य का इतिहास, वाचस्पति गैरोला, पृ. ४५१

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्तार के फलस्वरूप हठयोग की एक अलग शाखा निकली, जिसमें नेती, धोती, बस्ती आदि षट्कर्म तथा नाड़ी-शोधन आदि का वर्णन किया गया है। आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ एवं उनके शिष्य गुरु गोरखनाथ हठयोगी ही थे।[1] कई तंत्र सहज जीवन के ही उत्तम मानते हैं। 'महानिर्वाणतंत्र' में कहा गया है कि सब कुछ ब्रह्मरूप है, फिर कैसा योग और किसकी पूजा? 'सर्वं ब्रह्मेति विदुषो न योगो न च पूजनम्।'[2]

'योग' का अर्थ 'समाधि' भी है। सम्यक् प्रकार से परमात्मा में मिल जाना ही समाधि है। जीव जब कामना, वासना, आसक्ति और संस्कारों से मुक्त हो जाएगा, तभी वह ब्रह्म से युक्त हो सकेगा। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के बीच जो स्वजातीय, विजातीय और स्वगत आदि भेद हैं, उनसे वियुक्त होकर ब्रह्म से मिल जाना ही 'योग' है। महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन के समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य इन चार 'पादों' में विभक्त किया है।

'समाधि' पाद में योग के उद्देश्य, लक्षण पर विचार करके उसके साधन के उपाय बताए हैं। 'साधन' पाद में क्लेश, कर्मविपाक एवं कर्मफल पर विचार किया गया है। 'विभूति' पाद में योग के अंग, योग का परिणाम, योग के द्वारा अणिमा, महिमा आदि सिद्धियां किस तरह प्राप्त होती हैं, इस पर प्रकाश डाला गया है तथा कैवल्य या मोक्ष का विवेचन किया गया है।

योग के मतानुसार मनुष्य अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (आसक्ति) इन पाँच प्रकार के क्लेशों से सदा घिरा रहता है। वह कर्म के अनुसार जन्म लेकर आयु व्यतीत करता है एवं भोग भोगता है। महर्षि पतंजलि ने इन सभी प्रकार के क्लेशों से बचने का उपाय योग बताया है। उनका कहना है कि मनुष्य क्रमशः योग के अंगों का साधन करता हुआ सिद्ध हो जाता है तथा अंत में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

पतंजलि ईश्वर को नित्यमुक्त, एक, अद्वितीय तथा त्रिकालातीत मानते हैं। योगदर्शन संसार को दुःखमय तथा हेय मानता है। यह जीवात्मा के मोक्ष के लिए योग के ही एकमात्र उपाय मानता है।

पतंजलि ने चित्त की पाँच प्रकार की वृत्तियां मानी हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, निरुद्ध और एकाग्र। आरंभ की क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त इन तीन वृत्तियों में योग नहीं हो सकता। केवल निरुद्ध एवं एकाग्र में संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात ये दे प्रकार के योग हो सकते हैं। जिस अवस्था में ध्येय का रूप प्रत्यक्ष रहता हो, उसे संप्रज्ञात योग कहते हैं। संप्रज्ञात योग पाँच प्रकार के क्लेशों के विनष्ट करता है। असंप्रज्ञात अवस्था में किसी भी प्रकार की वृत्ति का उदय नहीं होता है। ज्ञाता और ज्ञेय का भेद भी दूर हो जाता है। केवल संस्कार शेष रहता है। यही योग की अंतिम भूमि है। इसकी सिद्धि हो जाने पर मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

पतंजलि ने योग साधन का उपाय बताते हुए लिखा है कि प्रथम किसी स्थूल विषय का आधार लेकर तत्पश्चात् किसी सूक्ष्म वस्तु के लेकर एवं अंत में विषयों का त्याग करके अपना चित्त स्थिर करना चाहिए।

अभ्यास और वैराग्य, ईश्वर का प्रणिधान (गाढ़ चिंतन), प्राणायाम और समाधि, विषयों से विरक्ति इत्यादि चित्तवृत्ति के स्थिर करने के उपाय हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठों योग के अंग हैं। योगसिद्धि के लिए इन सभी की साधना आवश्यक है। जो व्यक्ति

१. हिन्दुत्व. पृ. ५४४, २. शब्दार्थचिन्तामणि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन सभी की साधना कर लेता है, वह संसार के क्लेशों से मुक्त होकर मुक्ति प्राप्त करता है। योगी योग-साधन से विलक्षण शक्तियां अर्जित कर लेता है, जिन्हें सिद्धि कहते हैं।

योग में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का अभ्यास करना धर्म के अंतर्गत आता है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय ये 'नियम' के अंतर्गत आते हैं। आनंदप्रद शारीरिक स्थिति को 'आसन' कहा गया है। श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक क्रिया का नियंत्रण करके उसमें नियमित क्रम लाना प्राणायाम कहलाता है। इन्द्रियों को विषयों सें हटाने को प्रत्याहार कहते हैं। शरीर के भीतर या बाहर की किसी वस्तु पर चित्त को केन्द्रित करना 'धारणा' कहलाती है। विषय के अविराम चिन्तन को 'ध्यान' कहते हैं। अंतिम अवस्था 'समाधि' में ध्यानकर्ता का चित्त ध्येय में लीन हो जाता है। इन यौगिक क्रियाओं से दोष-बीज के क्षय होने पर असंप्रज्ञात समाधि द्वारा योगी मोक्ष प्राप्त करता है।

पतंजलि ईश्वर में विश्वास रखते हैं। इसलिए चित्त की एकाग्रता एवं आत्मज्ञान के लिए उन्होंने ईश्वर को ही ध्यान का सर्वोत्तम केन्द्र बताया है। योगदर्शन में आत्मा को शुद्ध, बुद्ध, नित्य एवं मुक्त माना है। बुद्धि के कारण ही उसे बंधन में पड़ना पड़ता है। संसार क्लेशमय है, अतः हेय है। पुरुष एवं प्रकृति का संयोग ही संसार का कारण है और यह कारण हेय है। इसका आत्यंतिक वियोग ही ज्ञान है तथा सम्यक् ज्ञान ही इसका उपाय है। आत्मा का बुद्धि के साथ संघर्ष भी संसार में क्लेशों का कारण है। जब अविद्या का नाश हो जाता है तब यह संघर्ष भी नष्ट हो जाता है।

योगदर्शन ईश्वर के अस्तित्व को पूर्णतः स्वीकार करता है। सांख्यदर्शन में जो स्थान विवेक को दिया गया है, वही स्थान योगदर्शन में ईश्वर को दिया गया है।

(५) **पूर्वमीमांसा :** पूर्वमीमांसा दर्शन निरीश्वरवादी दर्शन है। यह भौतिक जगत् को ही मानता है। अतः यह बाह्य सत्तावादी एवं यथार्थवादी दर्शन है। यह दर्शन जगत् की वस्तुओं का निर्माण पूर्वसंचित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्त्वों के संयोग से मानता है। इस दर्शन के अनुसार इस लोक में किए गए कर्मों का फल परलोक में मिलता है। इस दर्शन के सूत्रकार महर्षि जैमिनि (ई. पू. ४००) हैं। वेदों का निन्यानवे अंश कर्मकाण्ड और उपासना तथा एक अंश ज्ञानकाण्ड है। पूर्वमीमांसा में कर्मकाण्ड पर विचार किया गया है। अतः इस 'कर्ममीमांसा' में यज्ञों पर विस्तृत विचार किया गया है। अतः इसे 'यज्ञविद्या' तथा इसका 'ब्रह्मसूत्र' पर लिखा सूत्रात्मक भाष्य बारह अध्यायों में विभक्त होने के कारण इसे 'द्वादशलक्षणी' भी कहते हैं। वेदों का अधिकांश कर्म में आ जाता है तथा कर्म मानव के लिए स्वभावतः प्रथम आचरणीय होने से इस दर्शन को 'पूर्वमीमांसा' कहते हैं। कर्म की अनित्यता का ज्ञान होने पर व्यक्ति कर्म के पश्चात् ज्ञान की ओर अभिमुख होता है, इसलिए वेदान्त को 'उत्तरमीमांसा' कहा गया है।

वेदों का जैसे निन्यानवे अंश कर्मकाण्ड एवं उपासना से सम्बद्ध है, वैसे ही कर्मकाण्ड एवं बाह्याचारियों की संख्या भी समाज में निन्नानवे प्रतिशत हैं। हमारे यहां शास्त्रों में कर्मकाण्ड के अधिकारी को कनिष्ठ एवं अज्ञानी, उपासना के अधिकारी को मध्यम एवं ज्ञान के अधिकारी को श्रेष्ठ कहा गया है। समाज में कर्मकाण्डी एवं उपासक बहुसंख्यक हैं एवं वेदान्त का अधिकारी ज्ञानी तो करोड़ों में भी दुर्लभ है।[1] तात्पर्य यह कि केवल कर्मकाण्ड निम्नस्तर के कनिष्ठ अधिकारी के लिए, कर्मकाण्ड तथा उपासना मध्यमस्तर के अधिकारी के लिए एवं कर्मकाण्ड, उपासना तथा ज्ञान श्रेष्ठ अधिकारी के लिए है। श्रेष्ठ अधिकारी कर्मकाण्ड एवं उपासना दोनों निष्काम भाव से एवं लोकसंग्रह के लिए ही करता है। उसका प्रमुख उद्देश्य तो ज्ञानोपलब्धि ही होता है।[2]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

१. हिन्दुत्व, पृ. ५४८, २. हिन्दुत्व, पृ ५४८

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्रकारों ने विद्या के परा और अपरा दो प्रकार कहे है । परा विद्या में आत्मा पर विचार करने-वाले अधिकारी आते हैं । ये भी कनिष्ठ, मध्यम एवं उत्तम तीन प्रकार के होते हैं । इस दृष्टि से वैशेषिक एवं न्याय के अधिकारी कनिष्ठ, सांख्य एवं योग के मध्यम तथा वेदान्त के उत्तम हैं । 'पूर्वमीमांसा' अपरा विद्या में सूक्ष्म मूल तत्त्वों पर विचार न किया जाकर स्थूल, शुष्क कर्मकांड पर विचार किया गया है, अतः इस दर्शन का अधिकारी भी कनिष्ठ माना गया है ।

'पूर्वमीमांसा' का प्रथम सूत्र है—**'अथातो धर्मजिज्ञासा'** विधिपूर्वक जिस कर्म के आचरण से जन्मान्तर में परमानंद की प्राप्ति हो, वह वेद-प्रतिपाद्य कर्मानुष्ठान ही धर्म है । इस वेदप्रतिपाद्य-कर्म का प्रतिपादन ही 'पूर्वमीमांसा' का मुख्य आधार है । वैदिक कर्मकाण्ड प्रतिपादन ही इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य है । कर्मकाण्ड का आधार वेद है । यह दर्शन वेद को अपौरुषेय तथा वैदिक ज्ञान को स्वयं प्रमाणित मानता है ।

'पूर्वमीमांसा' के अनुसार वेद-विधान धर्म एवं वेद जिसका निषेध करें, वह अधर्म माना गया है । विहित कर्मों का आचरण एवं निषिद्ध कर्मों का त्याग धर्म कहलाता है । निष्काम कर्म से पूर्वजन्म के किए हुए कर्मों का नाश होता है एवं शरीरान्त होने पर मुक्ति मिलती है । परमसुख की प्रप्ति ही मोक्ष है ।

सांख्यदर्शन का तत्त्वज्ञान उत्तरमीमांसा में आगे बढ़ा । सांख्य, योग और उत्तरमीमांसा ये तीनों दर्शन पुण्यकर्मों का उदय आवश्यक मानते हैं ।[1] योगदर्शन ने कर्म के एक रूप का विकास किया । उसने कहा—'उत्तम अधिकारी के लिए योग है । कामना-हीन, वैराग्यवान् एवं मुमुक्षु ही उत्तम अधिकारी है । ऐसा अधिकारी व्यक्ति ही योग-साधना द्वारा समाधि लाभ से कैवल्य की प्राप्ति कर सकता है ।' योग का कर्मविधान विरक्त के लिए है, पर जो विरक्त नहीं है, भोगरत है, उसे भी मोक्ष की कामना है । ऐसे भोगरत कनिष्ठ अधिकारी के लिए महर्षि जैमिनि ने 'पूर्वमीमांसा' दर्शन का प्रतिपादन किया है ।

यह दर्शन वेदों को नित्य एवं उनके मंत्रों को देवता मानता है । विधि अर्थवाद, मंत्र, स्मृति और नामधेय वेदों के ये पाँच अंग हैं । शब्द नित्य है । शब्दों द्वारा इन पाँच अंगों की ही अभिव्यक्ति होती है । वेदादि किसी भी ग्रंथ के तात्पर्य को समझने के लिए ग्रंथ का उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इन सात बातों पर ध्यान देना आवश्यक है । प्रत्येक वाक्य से किसी व्यापार या कर्म का बोध होता है और उसका कुछ फल होता है । कर्म स्वयं फलोत्पादन करने में समर्थ हैं ।

'पूर्वमीमांसा' दर्शन में कर्मफल का विधान, कर्मभेद आदि का वर्णन 'धर्म' के विवेचन के साथ किया गया है । इस दर्शन का उद्देश्य है, व्यक्ति में शास्त्रों के प्रति प्रबल निष्ठा उत्पन्न करके उसे अधर्म से निवृत्त करना तथा धर्म में प्रवृत्त करना । इस दर्शन में विधिरूप अर्थ को कर्म कहा गया है । **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ।'** जब तक धर्म का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक विधि को सही रूप में नहीं पहचाना जा सकता है । जैमिनि ने अपने दर्शनसूत्रों में विधि की मीमांसा की है । इसी कारण जैमिनि के दर्शन को 'मीमांसा-दर्शन' भी कहते हैं । 'मीमांसादर्शन' का प्रमुख प्रतिपाद्य है, वैदिक विधि-निषेधों का आशय समझाना । उनमें परस्पर संगति बैठाना एवं युक्तियों के द्वारा कर्मकाण्ड के मूल सिद्धांतों का प्रतिपादन करना ।

'पूर्वमीमांसा' में शरीर, इन्द्रियाँ और बुद्धि, इन तीनों से आत्मा को भिन्न बताया गया है । आत्मा, नित्य, अविनाशी और विभु है । विभु से तात्पर्य है, सर्वव्यापी । आत्मा न तो अणु-परमाणु है और न

१.हिन्दुत्व, पृ. ५४९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीर–परिमाण ही। आत्मा की उत्पत्ति एवं विनाश नहीं होता। आत्मा के संयोग से ही शरीर में चेतन की उत्पत्ति होती है। पूर्वजन्मों के कर्मानुसार ही शरीर प्राप्त होता है। जब पाप एवं पुण्य क्षय हो जाते हैं तब नया शरीर नहीं धारण करना पड़ता। यही मोक्षावस्था कहलाती है। जैनियों के कर्म–निर्झरा के सिद्धांत से यह सिद्धांत तुलनीय है। 'पूर्वमीमांसा' दर्शन के दो संप्रदाय हैं–एक कुमारिल भट्ट का और दूसरा प्रभाकर मिश्र का। प्रभाकर मिश्र का कथन है कि आत्मा में सुख–दुःख आदि अनेक विशेष गुण वर्तमान रहते हैं। जब इन विशेष गुणों का नाश हो जाता है, तब आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती है और यही मोक्ष है। इस दर्शन का मत है कि काम्य कर्मों के आचरण से स्वर्ग सुख एवं समृद्धि प्राप्त होती है तथा निषिद्ध कर्मों के आचरण से जीवन पापमय बनता है। शरीर–बंधन से मुक्ति होने के लिए काम्य एवं निषिद्ध दोनों प्रकार के कर्मों से विरत हो जाना चाहिए, किन्तु संचित कर्मों से निवृत्ति पाने के लिए नित्य–नैमित्तिक कर्मों को करते हुए आत्मज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है। इस कारण प्रभाकर मिश्र एवं कुमारिल भट्ट दोनों ने ज्ञान-कर्म समुच्चय को मोक्ष का उपाय माना है।

जैमिनिकृत 'पूर्वमीमांसासूत्र' ग्रंथ बारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में विधि, अर्थवाद, मंत्र, स्मृति और नामधेय की प्रमाणता पर विचार किया गया है। द्वितीय में अपूर्वकर्म, उसके फल का प्रतिपादन तथा विधि–निषेध की प्रक्रिया, तृतीय में श्रुतिलिंग, वाक्यादि प्रमाणता–अप्रमाणता, चतुर्थ में नित्य एवं नैमित्तिक यज्ञों, पंचम में यज्ञों एवं श्रुतिवाक्यों के पूर्वापर संबंध, षष्ठ में यज्ञकर्ता और यज्ञ करानेवालों के अधिकार का निर्णय, सप्तम एवं अष्टम् में एक यज्ञ की विधि को दूसरे यज्ञ में प्रयुक्त करने, नवम में मंत्रों के प्रयोग पर, दशम में यज्ञों में कुछ कर्मों के करने या न करने से होनेवाले दोषों, एकादश में तन्त्रों पर एवं द्वादश अध्याय में शब्द के नित्य–अनित्य होने के संबंध में सूक्ष्म विचार करके शब्द की नित्यता प्रतिपादित की गई है। इस दर्शन के प्रत्येक अध्याय के पांच भाग हैं— विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और सिद्धांत।[1] इसलिए सूत्रों को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि कौन-सा सूत्र इन पांचों में से किसका प्रतिपादक है।

इस दर्शन में वाक्य, प्रकरण, प्रसंग या ग्रंथ के तात्पर्य के निर्णय के लिए यह कथन सुप्रसिद्ध है—

उपक्रमोपहारौ अभ्यासोऽपूर्वताफलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिंगतात्पर्यनिर्णये॥

किसी ग्रंथ या प्रकरण के तात्पर्य निर्णय के लिए ये सात बातें आवश्यक हैं—उपक्रम (आरंभ), उपसंहार (अंत), अभ्यास (बार–बार कथन), अपूर्वता (नवीनता), फल, (ग्रंथ का परिणाम या लाभ जो बताया गया हो), अर्थवाद (किसी तथ्य को किसी के गले उतारने के लिए, दृष्टान्त, उपमा, गुण–कथन आदि के रूप में जो कुछ कहा जाए और जो मुख्य बात के रूप में न हो, गौण हो) और उपपत्ति (साधक) प्रमाणों द्वारा सिद्धि। मीमांसक इसी पद्धति के द्वारा वैदिक वचनों के तात्पर्य को स्पष्ट करते हैं। मीमांसकों ने शब्दार्थ का निर्णय भी विचारपूर्वक किया है। उदाहरणार्थ यज्ञ के लिए जहाँ 'सहस्र–संवत्सरः' प्रयोग हो, वहां 'संवत्सर'[2] का अर्थ दिन लेना चाहिए।

---

१. हिन्दुत्त्व–पृ. ५४९

२. राम ने दस सहस्र संवत्सर (वर्ष) तक राज्य किया अर्थात् दस हजार दिन तक राज्य किया। पूर्वमीमांसकों की भांति परवर्ती कवियों ने भी अतिशयोक्ति के रूप में या साधारण जन भ्रम में रहें, इन्हें विस्मय हो, इस हेतु से भी 'संवत्सर' जैसे दो अर्थवाले शब्दों का प्रयोग किया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पूर्वमीमांसा' कर्मकाण्ड का प्रतिपादक होने से पौरुषेय एवं अपौरुषेय सभी प्रकार के वाक्यों को कार्यपरक मानता है। प्रत्येक वाक्य किसी न किसी व्यापार का, कर्म का बोधक होता है, जिसका कोई न कोई फल अवश्य होता है। इस कारण मीमांसक किसी तथ्य के निर्णय के समय इस पर अवश्य विचार कर लेते हैं कि वह वाक्य 'विधिवाक्य' (प्रधान कर्म सूचक) है अथवा केवल अर्थवाद (गौण-कथन) ? अर्थवाद किसी दूसरी बात को अधिक ग्राह्य बनाने के लिए या उसके प्रति अधिक उत्तेजना उत्पन्न करने के लिए आता है।

'पूर्वमीमांसा' का तत्त्वदर्शन अन्य दर्शनों से एकदम भिन्न है। यह निरीश्वरवादी दर्शन है। आत्मा, ब्रह्म, जगत्, जीव आदि का इसमें विवेचन नहीं किया गया है। इसमें केवल वेद एवं वेदों के शब्दों की नित्यता का प्रतिपादन किया गया हैं। इस दर्शन के अनुसार मंत्र ही सब कुछ हैं। मंत्र ही देवता हैं। देवताओं की अलग कोई सत्ता नहीं है। **शब्दमात्रं देवता**[1]' ऐसा इसका निश्चित मत है। इस दर्शन का कथन है कि सभी कर्म फल के उद्देश्य से किए जाते हैं। फल कर्म के द्वारा ही प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में कर्म और उनके प्रतिपादक वचनों (वेदों) के अतिरिक्त बाहर से और किसी देवता या ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है।[2]

शब्द की नित्यता को लेकर नैयायिकों एवं 'पूर्वमीमांसा' के दार्शनिकों के मत में पर्याप्त अंतर है। 'पूर्वमीमांसा' शब्द को नित्य मानता है, जबकि नैयायिक शब्द को अनित्य।

सांख्य एवं 'पूर्वमीमांसा' दोनों दर्शन निरीश्वरवादी हैं और दोनों वेदों की प्रामाणिकता को मानते हैं पर दोनों में अंतर इतना ही है कि सांख्य प्रत्येक कल्प में वेद का नवीन प्रकाश मानता है जबकि 'पूर्वमीमांसा' उसे नित्य अर्थात् कल्पान्त में भी नष्ट न होने वाला मानता है।[3] इस दृष्टि से विचार करें तो यद्यपि 'पूर्वमीमांसा' ईश्वर को नहीं मानता है, तथापि वेदों में सर्वाधिक विश्वास रखने के कारण आस्तिक षड्दर्शनों में यह सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि यह वेदों को नित्य एवं सर्वोपरि मानता है। इसकी दृष्टि में वेद नित्य शब्द का ही प्रकाश या अभिव्यक्ति है। प्रत्येक कल्प में ये प्रकट होते हैं। मूल शब्द ध्वनि रहित सत्ता है। वही समय-समय पर ध्वनि रूप में अभिव्यक्त होता है। यह अभिव्यक्ति ही स्फोट कहलाती है। वास्तविक एवं नित्य वेद भी नित्य ध्वनिहीन शब्द के रूप में हैं। जिसकी ध्वनिमय स्थूल शब्द व रूप में अभिव्यक्ति ऋषियों के माध्यम से होती है। अतः कवि एवं ऋषि मंत्र द्रष्टा हैं-मंत्रकार नहीं। वेदों के संबंध में यह स्मरण दिलाना चाहते हैं कि हमने प्रथम अध्याय में कवियों को आदि मंत्र-गायक एवं ऋषियों को कवियों के द्वारा गीत-मंत्रों के द्रष्टा कहा है।

(६) उत्तरमीमांसा-दर्शन : (वेदान्त दर्शन) वेदान्त भारतीय आध्यात्मिक चिन्तनधारा की महद् उपलब्धि है। लोकायत (चार्वाक) दर्शन के आद्यद्रष्टा महर्षि बृहस्पति का प्रत्यक्षदर्शी-दर्शन एवं महर्षि कणाद का पदार्थ-विवेचन हमारी नास्तिक-आस्तिक चिन्तनधारा का एक छोर है तो वेदान्त का ब्रह्मचिंतन दूसरा। ब्रह्म का लक्षण है—**'जन्माद्स्य यतः'** अर्थात् जिसके द्वारा सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं, वह ब्रह्म है। यह ब्रह्म जड़-चेतन का समग्र रूप है। जो फैल रहा है, फैलता ही चला जा रहा हैं, जड़-चेतन के रूप में, यही तो ब्रह्म है और इसी ब्रह्म का प्रत्यक्ष रूप ब्रह्माण्ड है। ब्रह्म-जड़-चेतन का सूक्ष्मतम बीज है तो ब्रह्माण्ड उसका वट-वृक्ष। ये ब्रह्म एवं ब्रह्माण्ड ही हमारे वेदान्त के प्रतिपाद्य हैं।

---

१. भट्टदीपिका, २. हिन्दुत्व, पृ. ५५०, ३. हिन्दुत्व, पृ. ५५०, ब्रह्मसूत्र, १-१-२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं, वेदों का निन्यानवे प्रतिशत अंश कर्मकाण्ड है पर एक अंश, जो ज्ञानकाण्ड है वही भारतीय वेदान्त की जाह्नवी है। वेद के इसी अंश पर ऋषियों ने उपनिषदों में विचार किया है, पर वेदान्त के साथ-साथ अन्य विषयों का भी उनमें निरूपण मिलता है, जैसे सत्वाद का वर्णन है तो असत्वाद का भी। ऐसी स्थिति में बुद्धि-विभ्रम होना स्वाभाविक है कि कौन-सा विचार आर्ष है और कौन-सा अनार्ष ? इस कठिनाई को दूर करने के लिए हीं बादरायण व्यास[1] ने ब्रह्मसूत्रों (वेदान्त-सूत्रों) का प्रणयन किया है।

'उपनिषदांवेदसिद्धान्तप्रतिपादकत्वेऽपि तासामनेकतया, परस्परं तत्सिद्धान्तेषु विरोधस्य प्रतीयमानतया च तद्विरोधपरिहारार्थं महर्षिबादरायणव्यासेन ब्रह्मसूत्राणि विरचितानि।[1]

अर्थात् उपनिषदों में वेद के वेदान्त-विषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है, पर उनमें सैद्धान्तिक दृष्टि से अनेक प्रकार का विरोध दृष्टिगत होता है, उस विरोध को दूर करने के लिए एवं उपनिषदों में निरूपित वेदान्त विषयक विचारों में परस्पर समन्वय करने के लिए, महर्षि बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्रों का प्रणयन किया।

'वेदान्त' शब्द 'वेद' एवं 'अन्त' इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न हुआ है। अतः इसका अभिधेयार्थ हुआ-वेदों का अंतिम भाग। उपनिषदों का निरूपण वेदों के पश्चात् हुआ, इसलिए 'वेदान्त' शब्द से उपनिषदों का ग्रहण होता है। 'अन्त' शब्द के तात्पर्य, सिद्धान्त, आन्तरिक अभिप्राय तथा मन्तव्य इतने अर्थ होते हैं। 'वेदान्त' में जो 'अन्त' शब्द है, इसका प्रयोग उपनिषदों में ऋषियों ने इन्हीं अर्थों में किया है। इस तरह वेद अर्थात् ब्रह्म, अन्त अर्थात् चिन्तन, विचार। यों 'वेदान्त' का अर्थ हुआ ब्रह्म-चिन्तन, ब्रह्म पर विचार। ऋषियों के मतानुसार वेद (ज्ञान) का अन्त (पर्यवसान) ब्रह्मज्ञान में हैं, क्योंकि सूक्ष्म दृष्टि से नाम-रूपात्मक जगत्, देवी-देव, मनुष्य, कीट-पतंग सभी तो ब्रह्मरूप हैं, ब्रह्म से अभिन्न हैं, यही वेद-सिद्धान्त है, वेदान्त है। जो कुछ दृष्टिगत हो रहा है, जो कुछ नाम-रूप से अभिहित किया जाता है, उसकी सत्ता ब्रह्म की सत्ता से अभिन्न है। वेदों का यही मौलिक सिद्धान्त है, अंतिम तात्पर्य है एवं सर्वोच्च सर्वमान्य अभिप्राय है।[2]

अधिकारी के भेद से 'पूर्वमीमांसा' (कर्मकाण्ड) का अनुसर्ता कनिष्ठ, आत्मपरक वैशेषिक, न्याय, सांख्य एवं योग का मध्यम तो वेदान्त का ब्रह्मजिज्ञासु उत्तम माना गया है। बादरायण व्यास ने सर्व-प्रथम वेदान्त के अधिकारी ब्रह्मजिज्ञासु पर विचार किया है—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्मसूत्र १-१-१, **(अथ अतः ब्रह्मजिज्ञासा)**

अथ- नित्य-अनित्य पदार्थों का विवेक तथा इहलोक-परलोक के नश्वर भोगों के प्रति वैराग्य होने के पश्चात्, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान एवं श्रद्धा इन षड्-साधनों से व्यक्तित्व के संपुष्ट तथा निर्मल हो जाने के पश्चात्;

अतः- यज्ञ, तीर्थाटन, सगुण देव-देवी उपासना, व्रतोपवास, मंत्र-जपादि ब्राह्याचारों से सबद्ध कर्मकाण्ड के अनित्य फलदायी होने का कारण;

ब्रह्मजिज्ञासा- (उत्तम अधिकारी को) ब्रह्मजिज्ञासा होती है और ऐसा उत्तम कोटि का ब्रह्मजिज्ञासु करोड़ों में भी दुर्लभ है।

---

१. संस्कृतवाङ्मयारिवारः, पृ. ५२, २. हिन्दुत्व, पृ. ५५१, ३. हिन्दुत्व, रामदास गौड़

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन षड्-साधनों से मनुष्य निर्मल होता है, वे ये हैं-

१. शम : विषयेभ्यः इन्द्रियोपरतौ-विषयों से इन्द्रियों को हटा लेना ।

२. **दम** : विकारहेतुसन्निधानेऽपि मनसोऽविक्रियत्वे-विकार उत्पन्न करनेवाले विषय संमुख होने पर भी मन को दमित करके रखना, विकारी न होने देना ।

३. **उपरति** : विषयेभ्यः इन्द्रियाणां परावृत्तौ-अपने-अपने विषयों से इन्द्रियों को हटा लेना ।

४. **तितिक्षा** : शीतोष्णमानापमानलाभालाभशोकहर्षादिद्वन्द्वसहिष्णुतायाम्-ठंडी-गर्मी, मान-अपमान, लाभ-हानि, शोक-हर्ष की स्थिति में अविकारी रहना । स्थितप्रज्ञ होना ।

५. **समाधान** : ब्रह्मणि मनःस्थिरीकरणे-ब्रह्म में मन को स्थिर करना ।

६. **श्रद्धा** : गुरुवेदान्तादि वाक्येषु इदमित्थमेवेतिप्रमाणरूपायामास्तिक्यबुद्धौ-गुरु-वेदान्त आदि के वचनों को आदरपूर्वक आस्तिक बुद्धि से स्वीकार करना । (षड्-साधनों की व्याख्या, देखिए-'शब्दार्थचिन्तामणि' संस्कृतशब्दकोश)

वेदान्त, उपनिषद् एवं श्रुति ये तीनों समानार्थी शब्द हैं । आचार्य शंकर ने 'ब्रह्मसूत्र' के अपने शारीरक भाष्य में वेदान्त के लिए 'श्रुति' शब्द का ही प्रयोग किया है । उपनिषद्, 'ब्रह्मसूत्र' एवं 'श्रीमद्भगवद्गीता' ये तीनों मिलकर 'प्रस्थानत्रयी' अथवा 'प्रस्थानत्रयम्' कहलाते हैं ।

श्रुति-प्रस्थान : प्रथम प्रस्थान उपनिषद् को वेदान्ती श्रुतिप्रस्थान कहते हैं । ईशोपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डुक्योपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद् कौषीतक्युपनिषद् एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् उपनिषदों में ये द्वादश उपनिषद् मुख्य हैं । इनमें से ऐतरेयोपनिषद् और कौषीतक्युपनिषद्, ऋग्वेद, केनोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद् सामवेद्, ईशोपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् शुक्ल-यजुर्वेद, कठोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् कृष्ण-यजुर्वेद, प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् और माण्डुक्योपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध उपनिषद् हैं । ये सभी श्रुतिप्रस्थान के अंतर्गत आते हैं ।

न्याय-प्रस्थान : द्वितीय प्रस्थान 'ब्रह्मसूत्र' न्यायप्रस्थान है । 'ब्रह्मसूत्र' को 'शारीरकमीमांसा' एवं मुख्यतः 'उत्तरमीमांसा' एवं 'वेदान्तसूत्र' भी कहते हैं । ब्रह्म ही प्रतिपाद्य होने से इसे 'ब्रह्मसूत्र', शरीरस्थित जीवावस्थापन्न ब्रह्मविषयक विवेचन होने सें इसे 'शारीरक-मीमांसा', वेद के अन्तिम (उत्तर) ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादक होने से इसे 'उत्तरमीमांसा', वेदों का अन्त तात्पर्य प्रतिपादित होने के कारण इसे 'वेदान्त' नाम से अभिहित किया गया है ।

स्मृति-प्रस्थान : तृतीय प्रस्थान 'गीता' 'स्मृतिप्रस्थान' है । आचार्य शंकर ने अपने प्रस्थानत्रयी के भाष्य में 'गीता' के स्थान पर सर्वत्र 'स्मृति' शब्द का ही प्रयोग किया है ।

आज हिन्दुओं के घर-घर में अलग-अलग भगवान् प्रकट हो रहे हैं, जो ब्रह्म एवं परब्रह्म मनवा लिए जाते हैं । अपने स्वार्थ के लिए किसी को भी भगवान्, ब्रह्मरूप मनवा लिया जाता है । साधु, संन्यासी, आचार्य स्वयं को ही साक्षात् भगवान् एवं ब्रह्म कह कर पुजवा रहे हैं और ऐहिक सुख भोग रहे हैं । कैसी है यह अंधी, ज्ञान विहीन मूर्ख परंपरा । जड़-चेतन समग्र में व्याप्त सूक्ष्म प्राणतत्त्व ब्रह्म है, जो अगोचर, निराकार एवं इन्द्रियातीत है । बीज में अंकुरित होनेवाला प्राणतत्त्व अगोचर है, वैसे ही चेतनरूप ब्रह्म यथार्थ में अगोचर एवं इन्द्रियातीत हैं । अंकुरित बीज सगुण बनता है, साकार बनता है, वैसे ही यह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्माण्ड ही अगोचर ब्रह्म का गोचर रूप है। ब्रह्माण्ड का विशालता रहस्यमय है एवं कल्पना से परे है। अरबों सूर्यों से जाज्वल्यमान हमारी देवयानी आकाश गंगा में हमारा सूर्य सबसे छोटा है। विज्ञान कहता है कि ऐसी इस ब्रह्माण्ड में अरबों-खरबों आकाश गंगाएं हैं, जो किसी एक महासूर्य की प्रदक्षिणा कर रही हैं। इनमें कितना जड़-चेतन व्याप्त है? यही ब्रह्म एवं ब्रह्माण्ड हैं। लेखनी से तो लिख गए पर न इसकी व्याप्ति की कल्पना ही की जा सकती है और न कभी विज्ञान ही इस रहस्य को जान पाएगा। तो बताइए ऐसे जड़-चेतन की समग्रता का समष्टि रूप ब्रह्म, ब्रह्माण्ड सिमटकर स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य, लिंग-योनि जैसे अधोमार्ग से यहां लीलाएं करने आएगा? ऐसा सोचना भी पाप है। लीला है तो समस्त ब्रह्माण्ड ही उसकी लीला है। राम-कृष्ण व्यक्तिवाचक नहीं किन्तु समूहवाचक नाम हैं। परम वेदान्ती कबीर का राम साकार नहीं, वह ब्रह्म का पर्याय है। कबीर लिखते हैं-'**दसरथ सुत तिहुं लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।**' सभी दसरथ के पुत्र को ब्रह्म एवं भगवान् माननेवाले राम (ब्रह्म) के रहस्य को नहीं जानते। उसका तो मर्म ही कुछ और है।

दसरथ के यहां जन्मा राम तो अधिक से अधिक जैसे महापुरुष हो सकता है, परब्रह्म नहीं, वैसे ही वसुदेव पुत्र कृष्ण भी ब्रह्म नहीं पर महापुरुष ही है। हां, फिर बालक के हाथ में गुड्डा-गुड़िया देकर कहें कि लो, खेलो, नाचो, गाओ, इनके साथ। ये तुम्हारे मित्र हैं। तो वैसे ही राम-कृष्ण के बारे में भी साकार की कल्पना को लेकर कहा ही गया है और पुराण बने ही हैं। ध्यान रहे, कल्पना का अर्थ है, मनगढन्त बात। आचार्य शंकर तथा उपनिषदों में सगुण को मनगढन्त कल्पना एवं सांसारिक पदार्थ की भांति क्षणिक एवं नाशवान कहा है। ब्रह्म-विचार को लेकर कहें तो (बादरायण व्यास) उपनिषद् एवं शंकर ठीक हैं। हिन्दूधर्म के संरक्षक सिक्खों के गुरु नानक, प्राचीन वैदिक आर्य-धर्म के पुनः प्रतिष्ठापक आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानंद सरस्वती सही हैं। क्रिश्चियन एवं इस्लाम भी ब्रह्मतत्त्व को लेकर ठीक हैं। प्राचीन भारत में ऐसे कल्पित बहुरूपिये भगवान् एवं तरह-तरह के कल्पित संप्रदाय नहीं चल सकते थे। यह सारी गड़बड़ी पुराणों एवं सगुण विकारी वेदान्तों से प्रारंभ हुई है। पुराण सत्य नहीं, किन्तु कल्पित, निराधार एवं झूठे हैं। सत्य हैं तो वे केवल इस माने में कि उनमें अन्योक्ति के रूप में कोई दर्शन, वेदान्त एवं जीवन की सच्चाई निहित है। जैसे 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश' में पशु-पक्षियों के माध्यम से कथाकार ने मानव-जीवन को उपदेश दिया है, वैसे ही पुराणों को भी समझ लेना चाहिए।

प्राचीन भारत में 'प्रस्थानत्रयी' पर भाष्य लिखकर एवं विद्वत्-सभाओं में अपने मत को पुष्ट करके ही कोई आचार्य नवीन संप्रदाय स्थापित कर सकता था। अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए जिन-जिन वेदान्ताचार्यों ने 'प्रस्थानत्रयी' पर भाष्य, टीकाएं, विवरण, वार्तिक आदि लिखे हैं, वे निम्नलिखित हैं-

(१) आचार्य शंकर (७९९ ई.) **शारीरकभाष्यम्, अद्वैतवेदान्तमत (सम्प्रदाय)**
(२) आचार्य भास्कर (१००० ई.) **भास्करभाष्यम्, भेदाभेदवेदान्तमत (सम्प्रदाय)**
(३) आचार्य रामानुज (११४० ई.) **श्रीभाष्यम्, विशिष्टाद्वैतवेदान्तमत (सम्प्रदाय)**
(४) आचार्य मध्व (१२३८ ई.) **पूर्णप्रज्ञभाष्यम्, द्वैतवेदान्तमत (सम्प्रदाय)**
(५) आचार्य निम्बार्क (१२५०) **वेदान्तपारिजातभाष्यम्, द्वैताद्वैतवेदान्तमत (सम्प्रदाय)**
(६) आचार्य श्रीकण्ठ (१२७० ई.) **शैवभाष्यम्, शैवविशिष्टाद्वैतवेदान्तमत (सम्प्रदाय)**
(७) आचार्य श्रीपति (१४०० ई.) **श्रीकरभाष्यम् वीरशैवविशिष्टाद्वैतवेदान्तमत (सम्प्रदाय)**
(८) आचार्य वल्लभ (१५०० ई.) **अणुभाष्यम्, शुद्धाद्वैतवेदान्तमत (सम्प्रदाय)**
(९) आचार्य विज्ञान भिक्षु (१६०० ई.) **विज्ञानामृतभाष्यम्, अविभागाद्वैतवेदान्तमत (सम्प्रदाय)**
(१०) आचार्य बलदेव (१७२५ ई.) **गोविन्दभाष्यम्, अचिन्त्यभेदाभेदवेदान्तमत (सम्प्रदाय)**

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मसूत्र' के कुल सूत्रों की संख्या विवादास्पद है। कहीं ५५६[1] तो कहीं ५५०[2] का उल्लेख मिलता है। 'ब्रह्मसूत्र' में चार अध्याय हैं एवं प्रत्येक अध्याय चार–चार पादों में विभक्त है।

'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम अध्याय का नाम 'समन्वय' है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसमें विविध प्रकार की श्रुतियों का समन्वय किया गया है। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में स्पष्ट ज्ञापक श्रुतियों, द्वितीय पाद में अस्पष्ट ब्रह्म भावात्मक श्रुतियों, तृतीय एवं चतुर्थ पादों में संशयात्मक श्रुतिसमूहों का समन्वय किया गया है। द्वितीय अध्याय का नाम अविरोध है। इसके प्रथम पाद में अपने मत की स्थापना के लिए स्मृति, तर्क आदि विरोधों का परिहार (खंडन), दूसरे में विरुद्ध मतों पर दोषारोपण, तृतीय में ब्रह्म से तत्त्वों की उत्पत्ति एवं चतुर्थ में भूतविषयक श्रुतियों का विरोध–परिहार किया गया है। तात्पर्य यह कि इस अध्याय में विरोधी दर्शनों का खण्डन करके सूत्रकार ने सयुक्ति एवं सप्रमाण अपने वेदान्त मत की स्थापना की है। तृतीय अध्याय के सूत्रकार ने 'साधन' नाम से अभिहित किया है। इसमें प्रथम जीव एवं ब्रह्म के लक्षणों का निर्देश करके मुक्ति के वाह्य एवं अंतरंग साधनों का निरूपण किया है। चतुर्थ अध्याय के 'फल' नाम दिया गया है। इसमें सूत्रकार ने जीवन–मुक्ति, जीव की उत्क्रान्ति, सगुण एवं निर्गुण उपासना के फल के तारतम्य (अन्तर) पर किसकी उपासना से किस प्रकार के फल की प्राप्ति होगी, इस पर विचार किया है।

भाष्यकारों ने अपनी–अपनी दृष्टि से ब्रह्मसूत्रों की संगति लगाई है, विषय निर्वाचन किया है। अर्थात् किस–किस सूत्र में क्या–क्या विषय प्रतिपादित हुआ है, इसे स्पष्ट किया गया है। यह विषय निर्वाचन अधिकरणों द्वारा किया गया है। आचार्य शंकर के मतानुसार १९१, आचार्य बलदेव के मतानुसार १९८, रामानुज के अनुसार १५६, निम्बार्क के अनुसार १५१, वल्लभ के अनुसार १६२, मध्व के अनुसार २२३ अधिकरणों की संख्या है। प्रत्येक अधिकरण पंचावयव है–विषय, संगति, पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष (सिद्धांत)। अर्थात् उपर्युक्त पाँच विभागों में आचार्यों ने प्रत्येक अधिकरण का विभाजन करके अपने-अपने मत की स्थापना की है।

'ब्रह्मसूत्र' में आत्मा एवं ब्रह्म चिन्तन सूर्य में प्रकाश की भाँति व्याप्त है। जन्म–जन्मान्तर के कर्म और उपासना से अन्तःकरण निर्मल होने पर जिस परमतत्त्व ब्रह्म के ज्ञान की जिज्ञासा होती है, उसी का इसमें प्रधानतः निरूपण किया गया है। 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ भी यही है कि निरंतर सदा आत्मा के समीप रहना। उप–समीप, नि–सदा, षद्–प्राप्त होना। ऋषियों ने भी उपनिषद् का तात्त्विक अर्थ ब्रह्मविद्या बताया है, जो वेदान्त का पर्याय है।

न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों ने ईश्वर, जीव और जगत् अथवा जगत् के मूल द्रव्य परमाणु इन तीन तत्त्वों को मानकर ईश्वर को जगत् का कर्ता माना है और यह मान्यता स्थूल दृष्टि से सर्वसाधारण जन के लिए सहज ही ग्राह्य भी है। वैशेषिक दर्शन ने जगत् का मूल परमाणु माना है, जो नित्य है तथा इन्हीं परमाणुओं के ईश्वर–प्रेरित संयोग से सृष्टि होती है।

इसके पश्चात् सांख्य ने इससे आगे बढ़कर तीन के स्थान पर दो ही तत्त्व सृष्टि के लिए आवश्यक माने– (१) पुरुष (आत्मा) और (२) प्रकृति। असंख्य चेतन जीवात्माएँ ही पुरुष हैं तथा अव्यक्त जड़ जगत् ही प्रकृति है। इस प्रकार एक ओर असंख्य चेतन जीवात्माएँ हैं तो दूसरी ओर जड़ जगत् या अव्यक्तमूल।

---

१. हिन्दुत्व, पृ. ५५२, २. संस्कृतवाङ्मयपरिचयः, पृ.५३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांख्य ईश्वर को नहीं मानता है। किस प्रकार अव्यक्त प्रकृति से क्रमशः अपने आप जगत् का विकास हुआ है, इसका सविस्तार वर्णन सांख्यसूत्रों में निरूपित हुआ है। नैयायिकों ने जगत् का कोई कर्ता है, ऐसा माना है, इस मत का भी सांख्य ने खण्डन किया है। पुरुष (आत्मा) केवल द्रष्टा है, वह कर्ता नहीं है। प्रकृति जड़ एवं क्रियामयी है। पुरुष पंगु है, तो प्रकृति अंधी। असंख्य पुरुषों (आत्माओं) के सान्निध्य से ही प्रकृति सृष्टि-क्रिया में संलग्न होती है। योग ने सभी तत्त्व सांख्य के यथावत् स्वीकार करके ईश्वर नामक एक और नवीन तत्त्व अपनी ओर से जोड़ दिया है।

सांख्य में जड़–चेतन के द्वैत का निरूपण हुआ है। ये दोनों तत्त्व अलग–अलग हैं एवं **'पंग्वन्धन्याय'** (लंगड़ा–अंधा न्याय) से सयुक्त होकर सृष्टि करते हैं, यह द्वैत निरूपण है।

वेदान्त में जीव–ब्रह्म की एकता : वेदान्त ने सांख्य से भी आगे बढ़कर प्रकृति एवं असंख्य पुरुषों (आत्माओं) को एक ही परम तत्त्व ब्रह्म में अविभक्त रूप में संलग्न करके सांख्य के जड़–चेतन के द्वैत के स्थान पर जीव–ब्रह्म के अद्वैत की स्थापना की है। इस प्रकार बादरायण व्यास ने वेदान्त के ब्रह्मसूत्रों द्वारा भारतीय आध्यात्मिक क्षेत्र में जो युगान्तकारी समन्वयात्मक कार्य किया, वह अपने आप में अभूतपूर्व कहा जाएगा। संस्कृत काव्यशास्त्र में ऐसा ही कार्य आचार्य अभिनव गुप्त ने ध्वनि प्रस्थापना करके किया है। दोनों प्रतिभाएँ अपने–अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं एवं भारतीय विद्या–जगत् की सात्त्विक–मेधा के उच्चतम बिन्दु हैं। वेदान्त ने सांख्य के अनेक पुरुषों अथवा आत्माओं वाले मत का खंडन करके चेतन तत्त्व को एक, अविच्छिन्न मानते हुए कहा कि प्रकृति अथवा माया की 'अहंकार' गुण रूपी उपाधि से ही एक होने पर भी अनेक पुरुषों अथवा आत्माओं की प्रतीति होती है। इस प्रकार आत्माओं की अनेकता भ्रम या माया-जन्य है। वेदान्त ने यह कहा कि सांख्य पुरुष एवं प्रकृति के संयोग से सृष्टि का विकास मानता है। यदि इस संयोग को सत्य मान लें तो आत्मा का मुक्त होना संभव नहीं है। इस प्रकार के तर्कों द्वारा वेदान्त ने पुरुष–प्रकृति के द्वैत को निर्मूल सिद्ध करके उन्हें एक ही परमतत्त्व ब्रह्म के साथ संयुक्त कर दिया है। वेदान्त के अनुसार जगत् का निमित्त कारण एवं उपादान कारण ब्रह्म ही है। नामरूपात्मकजगत् के मूल आधारभूत, नित्य, निर्विकार ब्रह्म तत्त्व के स्वरूप का भी वेदान्त ने निरूपण किया है। जगत् में नामरूपात्मक इन्द्रियगोचर सभी पदार्थ अनित्य एवं परिणामी हैं, परिवर्तनशील हैं, विकारी हैं। ये परिवर्तित होते रहते हैं पर उनका ज्ञान करनेवाला आत्मा या द्रष्टा सदा यथावत् ही रहता है। आत्मा पदार्थों का ज्ञान करनेवाला है, इसलिए भूतकाल में अनुभूत विषय को भी वर्तमानकाल में व्यक्ति जान जाता है। इस तरह आत्मा द्रष्टा है, साक्षी है। ब्रह्म का स्वरूप भी ऐसा ही है। वह चित् स्वरूप या आत्मस्वरूप है। नामरूपात्मक नाना ज्ञेय पदार्थ भी ज्ञाता (चिन्मय आत्मा) के ही सगुण, सोपाधि अथवा मायात्मक रूप हैं, ऐसा सिद्ध करके वेदान्त ने ज्ञाता (आत्मा) और ज्ञेय (पदार्थ) के द्वैत को दूर कर दिया है।

जगत् एवं सृष्टि की उत्पत्ति एवं वेदान्तमत :

(१) विवर्तवाद : जगत् और सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में न्याय 'आरंभवाद' को मानता है। आरंभवाद का तात्पर्य है–ईश्वर सृष्टि उत्पन्न करता है। सांख्य सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में 'परिणामवाद' के सिद्धांत को मानता है। सांख्य कहता है कि सृष्टि का विकास अव्यक्त प्रकृति से उत्तरोत्तर विकार या परिणाम द्वारा अपने आप होता है। वेदान्त ने सृष्टि विषयक इन दोनों सिद्धान्तों के स्थान पर 'विवर्तवाद' को प्रस्तुत किया। इसके अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त अथवा कल्पित रूप है। उदाहरणार्थ रस्सी को यदि हम साँप समझें तो रस्सी सत्य वस्तु है तथा साँप उसका विवर्त अथवा कल्पित एवं भ्रान्तिजन्य प्रतीति है। इसी प्रकार ब्रह्म तो नित्य एवं वास्तविक सत्ता है तथा नामरूपात्मक इन्द्रियगोचर यह जगत्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका विवर्त है। यह विवर्त अध्यास (मिथ्या ज्ञान या मिथ्या आरोप) द्वारा होता है। जो नामरूपात्मक जगत् हमारे समक्ष है वह न तो ब्रह्म का स्वरूप है और न कार्य अथवा परिणाम ही, क्योंकि ब्रह्म निर्विकार एवं अपरिणामी हैं।

२–दृष्टिसृष्टिवाद : अध्यास या मिथ्याज्ञान को लेकर यह कहा जा सकता है कि सांप कोई अलग पदार्थ अवश्य है, तभी तो उसका आरोप किया जाता है। इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए वेदान्त ने 'दृष्टिसृष्टिवाद' नामक सिद्धांत प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त के अनुसार माया अथवा नाम-रूप हमारे मन की वृत्ति (व्यापार, कार्य) है। नाम-रूप की सृष्टि मन करता है और मन हीं इन्हें देखता है। वास्तव में ये नामरूप उसी तरह मन या वृत्तियों के बाहर की कोई वस्तु नहीं हैं, जिस तरह जड़-चित् के बाहर की कोई वस्तु नहीं है। इन वृत्तियों का शमन ही मोक्ष है। मन का विस्तार ही संसार का विस्तार है। मन की सीमा जहां समाप्त हुई कि ब्रह्म ज्ञान एवं इसके पश्चात् ब्रह्म भाव की स्थिति आ जाती है। इस प्रकार मनुष्य के जीवन–विकास की उत्तरोत्तर तीन सीढ़ियाँ हुईं–मन, ब्रह्मज्ञान एवं ब्रह्मभाव। ब्रह्मभाव ही मोक्ष है और जीव का यही अंतिम पुरुषार्थ है।

३–अवच्छेदवाद : उवर्युक्त दोनों में न्यूनता देखकर परवर्ती वेदान्तियों ने 'अवच्छेदवाद' नामक एक नवीन सिद्धान्त को प्रस्तुत करके कहा कि ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् की जो प्रतीति होती है, वह एक रस अथवा अनवच्छिन्न (अभिन्न) सत्ता के भीतर माया द्वारा अवच्छेद (भिन्न) अथवा परिमिति के आरोप के कारण होती है। इस तरह 'अवच्छेदवाद' शंकर के मायावाद से साम्य रखता है।

४–बिम्बप्रतिबिम्बवाद : उपर्युक्त तीनों वादों के स्थान पर कुछ वेदान्ती 'बिम्बप्रतिबिम्बवाद' प्रस्तुत करके कहते हैं कि ब्रह्म प्रकृति अथवा माया में अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित होता है, जिसके कारण नाम-रूपात्मक दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं।

५–अज्ञातवाद (प्रौढवाद) : इस संदर्भ में वेदान्तियों का एक 'अज्ञातवाद' और है। इसको 'प्रौढ़वाद' भी कहते हैं। यह वाद कहता है कि जो जैसा है वह वैसा ही है और सब कुछ ब्रह्म है। ब्रह्म का वर्णन शब्दों द्वारा संभव नहीं, अतः यह अनिर्वचनीय है एवं शब्द तथा भाषा हमारे पास है, वह द्वैत की है, अर्थात् जो कुछ हम कहते हैं, वह भेद (द्वैत) के आधार पर ही कहते हैं। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति को लेकर यह अंतिम 'अज्ञातवाद' पूर्ववर्ती 'विवर्तवाद', 'दृष्टिसृष्टिवाद' 'अवच्छेदवाद' एवं 'बिम्बप्रतिबिम्बवाद' को अस्वीकार करता है।

६–प्रतिबिम्बवाद: ब्रह्म का वास्तविक अथवा पारमार्थिक रूप अव्यक्त, निर्गुण एवं निर्विशेष है। पर व्यक्त एवं सगुण रूप भी ब्रह्म के बाहर नहीं है। इस तथ्य को 'प्रतिबिम्बवाद' के द्वारा भलीभाँति समझाया गया है। प्रकृति रजोगुण की प्रवृत्ति के कारण सत्त्वप्रधान एवं तमःप्रधान इन दो रूपों में विभक्त होती है। सत्त्वप्रधान प्रकृति भी दो रूपों में विभक्त हो जाती है–शुद्ध सत्त्व एवं अशुद्ध सत्त्व। जिसमें सत्त्वगुण पूर्ण हो, वह शुद्ध सत्त्व एवं जिसमें सत्त्वगुण अंशतः हो वह अशुद्ध सत्त्व कहलाता है। प्रकृति के इन्हीं उपर्युक्त भेदों में प्रतिबिम्बत ब्रह्म को जीव कहते हैं।

७–प्रत्यभिज्ञादर्शन : उपर्युक्त षड्नास्तिक एवं षड् आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त शैवदर्शन, पाशुपत–दर्शन, प्रत्यभिज्ञा–दर्शन, शैवाद्वैत–दर्शन, लाकुलीश–पाशुपत–दर्शन, शाक्त–दर्शन, शांडिल्यकृत भक्तिसूत्र (भक्तिदर्शन), वैद्यकशास्त्र का अपना पृथक्–दर्शन, रसेश्वर–दर्शन, ज्योतिषशास्त्र का अपना पृथक् दर्शन 'प्रारब्धवाद' व्याकरण का स्फोटवाद या शब्दाद्वैतवाद–दर्शन, तंत्रसाधना का अपना एक पृथक् दर्शन भी स्वतंत्र दर्शन हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शैवदर्शन में उपासना के लिए वेदादि शास्त्रों के साथ-साथ आगम (तंत्रों) का दक्षिणाचार भी स्वीकार किया गया है। शैवदर्शन में वेदादि (निगम) की भाँति आगम को भी महत्त्व दिया गया है। उपासना के के क्षेत्र में ये निगम (वेद) को गौण एवं आगम को मुख्य मानते हैं। आगम के दक्षिणाचार के साथ शैवों ने वामाचार को भी स्थान दिया है। पाशुपत, प्रत्यभिज्ञा, शिवाद्वैत एवं लकुलीश पाशुपत ये भी शैवदर्शन हैं। कश्मीर के श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने शैवदर्शन का जो नवीन स्वरूप उपस्थित किया, वही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन है।[1] प्रति (प्रत्येक) जीव के लिए महेश्वर का आभिमुख्येन ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन है।

पराशक्ति त्रिपुर सुन्दरी से ही शब्द एवं वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है। परम तत्त्व शिव हैं। शक्ति के के स्फूर्ति रूप धारण करने पर शिव ने उसमें तेजस् रूप से प्रवेश किया, तब बिन्दु का प्रादुर्भाव हुआ। शिव में शक्ति के प्रवेश से नारी तत्त्व-नाद व्यक्त हुआ। ये ही दोनों नाद-बिन्दु मिलकर अर्धनारीश्वर हुए। यही कामतत्त्व है। पुम्-तत्त्व श्वेत एवं नारीतत्त्व लाल है। दोनों से कला की उत्पत्ति हुई है। इस काम एवं कला के तथा नाद एवं बिन्दु के योग से ही सृष्टि हुई है।[1] मूल तत्त्व अनंत एवं अव्यक्त है। सृष्टि के प्रत्येक विकास में उस शिव तत्त्व का आगम है। उस शिव की अजा आद्या-शक्ति ही प्रकृति रूपा है। 'देवीअथर्वशीर्ष' में देवी स्वयं कहती हैं-'**अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। शून्यं चाशून्यं च ॥२॥ अहमानन्दमनानन्दौ। अहं विज्ञानाविज्ञाने। अहं ब्रह्माब्रह्मणी वेदितव्ये। अहं पंचभूतान्यपंचभूतानि। अहमखिलं जगत् ॥३॥ वेदोऽहमवेदोऽहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्चाहम् ॥४॥**' मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ। मुझ से प्रकृति पुरुषात्मक सद्रूप और असद्रूप जगत् उत्पन्न हुआ है ॥१॥ मैं आनन्दरूप एवम् अनानन्दरूप हूं। मैं विज्ञान और अविज्ञान रूपा हूँ। अवश्य जानने योग्य ब्रह्म और अब्रह्म भी मैं ही हूं। पंचीकृत और अपंचीकृत महाभूत मैं ही हूं। यह सारा दृश्य जगत् मैं ही हूं ॥३॥ वेद, अवेद मैं हूं। विद्या और अविद्या भी मैं। अजा (प्रकृति) और अनजा (प्रकृति से भिन्न) भी मैं। नीचे, ऊपर, अगल-बगल भी मैं ही हूं ॥४॥ इस प्रकार वेदान्त में ब्रह्म को जिन विशेषणों से निरूपित किया गया है, आद्याशक्ति के वर्णन में भी उन्हीं का प्रयोग हुआ है। विचार करें तो यही आद्याशक्ति ब्रह्म की स्ववशा शक्ति है, जिससे जन्म, पालन एवं प्रलयरूप समस्त कार्य हो रहे हैं।

वेद, वैष्णव, शैव, दक्षिण, वाम, सिद्धान्त एवं कुल ये शाक्तों में सात आचार हैं। दिव्य भाव के आश्रय से देव-साक्षात्कार, वीरभाव से क्रियासिद्धि और पशु की प्राप्ति से ज्ञान-सिद्धि होती है। शाक्तों में आराधना के लिए महाकाली, उग्रतारा, षोडशी, त्रिपुरसुन्दरी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातंगी एवं कमला महाशक्तियों के ये दस महाविद्या रूप हैं। इनमें से जिन-जिन महाशक्तियों के साथ परतत्त्व के दस आराध्य रूपों की उपासना होती है। ये क्रमशः इस प्रकार हैं-महाकाल, अक्षौम्य-पुरुष, पंचवक्त्र-रुद्र, त्र्यम्बक, कबन्ध, दक्षिणामूर्ति, एकवक्त्र रुद्र, मातंग, सदाशिव एवं विष्णु। शक्ति की कृपा से ही जीव शिवत्व को प्राप्त करके पाशमुक्त होता है।

८-प्रारब्धवाद एवं ज्योतिष : अखिल विश्व की घटनाएं नक्षत्रों पर अवलंबित हैं। नक्षत्रों की गति-स्थिति, संयोग ही जगत् के सभी रूपों, क्रियाओं तथा गुणों के कारण हैं। पृथ्वी पर क्रिया और पदार्थ के रूप में जो भावों की

---

१. हिन्दूसंस्कृति अंक, कल्याण, पृ. २८६

१. शैव-दर्शन का यह तंत्रात्मक (वामपंथ) शिव एवं शक्ति समन्वित अर्द्धनारीश्वर रूप जो काम एवं कला, नाद एवं बिन्दु रूप है। यही प्रतीकात्मक रूप में शिव-शक्ति की लिंग रूप में पूजा का आधार है। शिवलिंग एवं शक्ति योनि दोनों की शिव मंदिरों में पूजा होती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती है, वह समष्टि में नक्षत्रों के रूप में है। प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक आकृति पहले से ही निश्चित है, पर उसमें स्थित जीव बदलता रहता है। सभी आकृतियां, क्रियाएँ शब्द आदि नित्य हैं। उनका आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। इस प्रकार संसार का इतिहास अपने आपको ज्यों का त्यों बारंबार दुहराता रहता है। प्राणी के कर्म, संकल्पपूर्वक ही होते हैं। संकल्प ही कर्म का कारण है। संकल्प भाव-स्तरों की अभिव्यक्ति है। ये ही भाव सभी ग्रहों के अनुसार ही होंगे। प्रारब्धवाद और ज्योतिष दोनों एक ही हैं। मनुष्य के कर्म उसे फल देने में स्वयं समर्थ हैं। यही ज्योतिष दर्शन का सारांश है।

९-रसेश्वरदर्शन एवं चिकित्साशास्त्र : चिकित्साशास्त्र का भी अपना एक दर्शन है। कर्म एवं प्रारब्ध को मानकर उसमें चिकित्सा का क्या स्थान है, यह इस दर्शनशास्त्र का विषय है। चिकित्साशास्त्र से संबद्ध एक ओर 'रसेश्वर-दर्शन' है। परमतत्त्व रस रूप है। शिव एवं पार्वती का वह मूल भाव स्थूल जगत् में पारद एवं अभ्रक के रूप में व्यक्त हुआ है। पारद ही आनंद की मूर्त अभिव्यक्ति है। पारद ही रस है। सृष्टि से पार करानेवाला होने से इसे पारद कहते हैं। इसकी सिद्धि से शरीर जरा-मृत्यु पर विजय पा लेता है।

ज्योतिषशास्त्र के बारे में यहां इतना कह देना आवश्यक लग रहा है कि ज्योतिष का गणित शत-प्रतिशत सच्चा है, वहां ज्योतिष का फलादेश सच्चा नहीं है। ग्रहों के आधार पर फलादेश की पुस्तकें अनुमान के आधार पर लिखी गई हैं। जो बाद में ब्राह्मणों के पेट भरने का जबरदस्त आधार सिद्ध हुई हैं। कुछ दिल के कमजोर, मध्यमस्तर के पढ़े-लिखे, दब्बू ही ज्योतिष के फल पर चलते हैं और कष्ट पाते हैं।

भारतीय आस्था एवं दृष्टि कैसी निर्मल, सूक्ष्म, सारग्रहिणी एवं उदार है कि उसने चिकित्सा, ज्योतिष जैसे स्थूल, उपयोगी विषयों को भी दर्शन (सूक्ष्मब्रह्म) के साथ संलग्न कर दिया है। किसी वरेण्य वस्तु को स्वीकार तो करनी है, पर उसे कितना गौरव, सम्मान, श्रद्धा एवं विश्वास के साथ स्वीकार किया जा सकता है। इसके ये दर्शन प्रमाण हैं। काम जो सृष्टि का आधार है, उसे भी ब्रह्मकार्य कहा गया है। शिव-लिंग की पूजा भी इसी संदर्भ में विचारणीय है। अप्रत्यक्ष रूप से यह भी शिव-लिंग द्वारा ब्रह्मरूप सृष्टिबीज काम की ही पूजा है।

भारत ने सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, जल, वनस्पति, पशु-पक्षी नदियां, पर्वत यहां तक कि प्रत्येक कंकर में शंकर (ब्रह्म) के दर्शन किए हैं। भारत की धरती प्रातःकाल **'अहो उदितो भगवान् सहस्रकिरणः...'** के रूप में हर्षध्वनि करके समस्त चराचर की आत्मा (जीवन) सूर्य का कैसा स्वागत करती है, यह जगत् विदित है—

॥ ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्। भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

और प्रत्येक हिन्दू का औदार्य देखिए— **'नः धियः प्रचोदयात्'** जगत् के सभी प्राणियों की बुद्धि भगवान् सूर्य सत्कर्मों में प्रेरित करे।' जगत् के किसी भी धर्म में चराचर के प्रति ऐसा उदारभाव है, ऐसा अभी तक हमारे ध्यान में नहीं आया। हमारा यह निश्चित मत है कि न केवल भारतीय वेदान्त अपितु समस्त भारतीयता-हिन्दुत्व तन-मन से अद्वैत की ओर शनैः-शनैः गतिशील है। जीवात्मा की सब से ऊंची आकांक्षा यही हो सकती है कि वह सच्चिदानंद हो जाए। सच्चिदानंद उस आनंद का नाम है, जिसे आस्तिक हिन्दू ईश्वर, जैन तीर्थंकर और बौद्ध बुद्ध कहते हैं। जीवात्मा चेतन आत्मा और अचेतन अनात्मा (जड़) के संसर्ग का फल है। अतः उसकी ऊंची से ऊंची आकांक्षा ईश्वरता की ही हद तक पहुंच सकती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और ईश्वरता भी प्रकृति से सविकार है, निर्विकार नहीं।'[२] यही तथ्य रामदास गौड़ दूसरे शब्दों में प्रकट कर रहे हैं। जीवात्मा की सर्वोत्तम आकांक्षा 'सच्चिदानंद' स्वरूप होना ही भारतीय हिन्दुत्व का चरमोद्देश्य है। यह सहज रूप में उसी ओर गतिशील है। हिन्दू को पढ़ाने की आवश्यकता नहीं है, उसके ये जन्म-जन्मान्तर के संस्कार उसे उसी ओर धकेल रहे हैं।

'प्रस्थानत्रयी' अथवा 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखकर परवर्ती आचार्यों ने विभिन्न वेदान्त संप्रदायों की स्थापनाएं की हैं। इन वेदान्त संप्रदायों में शंकराचार्य का अद्वैत-वेदान्त, रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत-वेदान्त, मध्वाचार्य का द्वैतवेदान्त, निम्बाकाचार्य का द्वैताद्वैत-वेदान्त, विष्णुस्वामी एवं वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत वेदान्त तथा आचार्य बलदेव का अचिन्त्यभेदाभेद वेदान्त प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी न किसी रूप में हिन्दी कृष्णकाव्य से संबद्ध हैं। अतः हम आगे इन पर विचार करेंगे।

अद्वैतवेदान्त (अद्वैतवाद) : आचार्य शंकर से भी पहले भारत में अद्वैत मत का प्रचार था, पर 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखकर आचार्य शंकर ने ही अद्वैतवाद को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप प्रदान किया। इसी कारण आचार्य शंकर अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इस मत के प्रवर्त्तक आचार्य शंकर होने के कारण इसे 'शंकरदर्शन' या 'शांकर-मत' भी कहते हैं। **'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या'** ब्रह्म ही सत्य है एवं जगत् माया-मिथ्या है, इस सिद्धांत का शंकर ने बलपूर्वक समर्थन किया है। इस कारण इस मत को 'मायावाद' भी कहते हैं। **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'** जीव ब्रह्म ही है, इस मत को इसमें बड़ी तीव्रता के साथ प्रस्थापित किया गया है, इस कारण इसे 'केवलाद्वैत' भी कहते हैं।

आचार्य शंकर का जन्म सातवीं शताब्दी में दक्षिण भारत के केरल प्रदेश के कालटी गाँव में हुआ।[1] इनके आविर्भाव के समय भारत में वैदिकधर्म प्रायः लुप्तावस्था में था। चारों ओर बौद्ध, जैन एवं वामाचारी कापालिकों का पूर्ण प्रभाव था। बौद्धधर्म की वज्रयान शाखा की वामतंत्र की साधनाएं अनाचार में बदल गई थीं। ऐसी आपत्कालीन स्थिति में अवतीर्ण होकर आचार्य शंकर ने वैदिक आर्य हिन्दूधर्म की डूबती हुई नौका को बचा लिया। बौद्धों के वैभाषिक दर्शन का आधार जड़ को सत्य मानना था। शंकर ने इसकी प्रतिक्रिया में जड़ दृश्य जगत् को मिथ्या कहा। शंकर का मत बौद्धदर्शन के क्षणवादी एवं शून्यवादी मध्यमाचार (माध्यमिक) से साम्य रखता है। बौद्ध-दर्शन के माध्यमिक मत से शांकर-मत इतना ही भिन्न है कि शंकर ने अपने मत में श्रुति, शास्त्र एवं आस्तिकता की प्रतिष्ठा के साथ-साथ आचार की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्त्व दिया है। उस समय देश में जो वज्रयान से संबद्ध वामाचार, कापालिक आचार आदि बीभत्स उच्छृंखलताएँ आचार के नाम पर फल-फूल रही थीं, उनका शंकर ने तीव्र विरोध करके वर्णाश्रम-धर्म के विजय-ध्वज को पुनः भारतीय आकाश में फहराया।

आचार्य शंकर ने अपने 'ब्रह्मसूत्र' के 'शारीरकभाष्य' में आत्मा और अनात्मा पर सर्वप्रथम विचार किया है। जगत् के संपूर्ण प्रपंच को उन्होंने 'द्रष्टा' और 'दृश्य' इन दो भागों में विभक्त किया है। 'द्रष्टा' वह है, जो संपूर्ण प्रतीतियों का अनुभव करनेवाला है एवं 'दृश्य' वह है जो अनुभव का विषय है। इनमें सभी प्रतीतियों के चरम साक्षी का नाम है 'आत्मा'। जो द्रष्टा है तथा जो कुछ उसका विषय है, वह सब 'अनात्मा' है।

---

१. शंकरविजय, व्यासाचलविरचित, मद्रास विश्वविद्यालय

२. आधुनिक विज्ञान और प्रकृति के रहस्य (निबंध) रामदास गौड़ 'संचयन', पृ. ६१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा या आत्मतत्त्व नित्य, निश्चल, निर्विकार, असंग, कूटस्थ, एक और निर्विशेष है। जगत् में जितना भी बुद्धि विषयक एवं स्थूलभूत विषयक प्रपंच है, उसका आत्मा के साथ कोई संबंध नहीं है। जीव अज्ञानवश ही देह, इन्द्रियादि एवं जगत् के इतर विषयों से अपना तादात्म्य मानकर स्वयं को मूर्ख, विद्वान्, सुखी, दुःखी, कर्ता, भोक्ता मानता है। बुद्धि स्थूल प्रपंच आदि के साथ आत्मा का जो तादात्म्य होता है, उसे आचार्य शंकर ने अध्यास (अज्ञान) नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार शंकर के अनुसार संपूर्ण विश्व-प्रपंच की जो प्रतीति हो रही है, वह अध्यास अथवा माया के कारण ही। इसी कारण अद्वैतवाद को मायावाद अथवा अध्यासवाद भी कहते हैं। तात्पर्य यह कि जितना भी दृश्य वर्ग है, वह सब माया के कारण ही विभिन्न-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः तो वह अखंड, शुद्ध, चिन्मात्र ही है।

इसी तथ्य को पश्चिम के दार्शनिक विद्वान् ब्रैडले इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं[1]—'द्रव्य, गुण, संबंध आदि की सूक्ष्म विवेचना करने से हम इस सिद्धांत पर पहुंचते हैं कि ये सभी परस्पर विरोध से ग्रस्त हैं। अतएव जगत् का वह रूप जो हमारी बुद्धि को प्रतीत होता है, आभास मात्र है, वास्तविक नहीं। वास्तविक सत्य केवल निरपेक्ष ब्रह्म (Absolute) है।' (निरपेक्ष ब्रह्म का अर्थ है-निराकार ब्रह्म।) **Appearance and Reality** (आभास और मूल तत्त्व)

गुजरात के आदि वैष्णव कवि नरसी महेता ने जागकर देखा तो जगत् लुप्त हो चुका था और उन्हें सर्वत्र अखंड चिन्मात्र में ब्रह्म ही ब्रह्म की प्रतीति हो रही थी—**'जागीने जोऊँ तो जगत् दीसे नहिं'** और जब वे निद्रा (अज्ञानावस्था) में थे तब उन्हें अनेक 'अटपटे' (उटपटांग) भोगों का आभास हो रहा था—**'ऊंघमां अटपटा भोग भासे'**।

आचार्य शंकर अपनी अनुभूति के फलस्वरूप जिस सिद्धांत की स्थापना कर चुके हैं, कवि के राडाररूपी हृदय पर वही ब्रह्म अखंड रूप में प्रतिबिम्बित हो रहा है। कैसा साम्य है, इन दो भारतीय प्रतिभाओं में! एक वेदान्ती है तो दूसरा कवि।

आत्मा एवं अनात्मा पर विचार कर चुकने के पश्चात् आचार्य शंकर ने ज्ञान-अज्ञान पर चर्चा की है। विभिन्न जागतिक प्रतीतियों के स्थान पर एक, अखंड, सच्चिदानंद की अनुभूति करना ही 'ज्ञान' है, 'ब्रह्मज्ञान' है। इसके विपरीत एक, अखंड, सच्चिदानंद पर दृष्टि न देकर भेद में सत्यत्व बुद्धि करना ही अज्ञान है। जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के आभूषण तत्त्वदृष्टि से सुवर्ण हैं, विभिन्न प्रकार के मिट्टी के पात्र तत्त्वतः केवल मिट्टी हैं तथा लहर एवं भंवर आदि जल से अभिन्न ही हैं, उसी प्रकार यह नाम-रूपात्मक जगत् केवल शुद्ध ब्रह्म ही है। ब्रह्म से भिन्न यहां कहीं कोई वस्तु नहीं है और ब्रह्म ही हमारी आत्मा (जीव) है। इस प्रकार का अभेद ज्ञान ही 'ज्ञान' है, ब्रह्मज्ञान है। इस प्रकार का ज्ञान जब तक नहीं होता, तब तक जीव (आत्मा) आवागमन के चक्र में फँसा रहता है। जीव को जब ऐसा बोध हो जाता है, तब उसकी दृष्टि में जगत् का अत्यंताभाव हो जाता है और वह दूसरों की दृष्टि में शरीर रहते हुए भी स्वयं मुक्त हो जाता है। इसे ही सदेह मुक्तावस्था एवं विदेह-भाव कहते हैं।

आत्मा-अनात्मा, ज्ञान-अज्ञान पर विचार कर चुकने के पश्चात् आचार्य शंकर ने ज्ञान के साधन पर विचार किया है। शंकर ने श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन (निरंतर चिंतन) को ज्ञान का साक्षात् साधन माना है। पर ऐसा भी कहा है कि मूलतत्त्व की जिज्ञासा होने तक ही इन साधनों की सार्थकता है।

---

१. यूरोपीय दर्शन, भूमिका—हरिमोहन झा, पृ. ६
२. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. भ्रमरलाल जोशी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मजिज्ञासा की उत्पत्ति में प्रधान सहायक दैवी-संपत्ति है। चित्त को निर्मल करनेवाला परम सात्त्विक आचरण ही दैवी-संपत्ति है। 'स्मृतिप्रस्थान' (गीता) के षोडश अध्याय के प्रारंभिक तीन श्लोकों में दैवी-संपत्ति का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमाधृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

आचार्य शंकर का मत है कि जो व्यक्ति विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा, एवं मुमुक्षुता इनसे संपन्न है, चित्त शुद्धि होने पर उसीकी ब्रह्म में जिज्ञासा हो सकती है। इस प्रकार की चित्तशुद्धि के लिए निष्काम कर्मानुष्ठान परम अपेक्षित हैं।

आचार्य शंकर ने भक्ति को भी ज्ञान का साधन माना है। भक्ति साधन है तो ज्ञान फल है। इसी तथ्य को हम पहले अध्याय में रूपक की शैली में स्पष्ट कर चुके हैं कि वेदान्त पुरुष है तो भक्ति उसका अनुसरण करनेवाली पतिव्रता नारी। भक्ति ज्ञान के लिए प्राथमिक साधन है। इसका साध्य ज्ञान है। इसीलिए हमने भक्ति का चरम सोपान वेदान्त माना है। जो बात हम पहले कह चुके हैं, उसीको हम आचार्य शंकर द्वारा भी संपुष्ट देख रहे हैं। सोलहवीं सदी से भारत में जो केवल भक्ति का ज्वार आया है,जिसका वेदान्त (ज्ञान) के साथ थोड़ा भी संबंध नहीं है। इसने गलितांग वैश्या की भाँति हिन्दुत्व को पुरुषत्व से हीन एवं रुग्ण कर दिया है। आज जो धर्मस्थानों में हींजड़ों की तरह तालियां बजाना और नाचना हम देख रहे हैं, वह इसी गलितांग (पुरुषों को गर्मी, सुजाक की बीमारी देनेवाली) वैश्या पौराणिकी पाखंडभक्ति का फल है। आज शंकर होते तो हिन्दुत्व की इस पुरुषत्वहीन, निर्वीय दशा को देखकर क्या सोचते ? भोगलिप्सु संन्यासी, साधु, पंडे-पुजारी आचार्यों ने हिन्दुत्व की क्या दुर्दशा की है! श्रृंगार लीलाएं करनेवाले व्यभिचारी कृष्ण के नाम पर एक ओर 'सूत-उवाच' सूतजी महाराज के वंशज 'भागवत' पारायण कर रहे हैं तो दूसरी ओर ब्राह्मणत्व को हीन बताने के अभिप्राय से लिखी 'रामायण' की रामलीलाएं कर रहे हैं और बंदरों-रींछों को उछलते-कूदते देखकर तालियां बजा रहे हैं। वाह रे! शंकर जैसे परम वेदान्ती एवं ज्ञानी भारत की जन्मभूमि !

भक्ति का लक्षण आचार्य शंकर ने 'विवेकचूड़ामणि' में इस प्रकार दिया है-**'स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते'** अर्थात् अपने शुद्ध स्वरूप का स्मरण करना ही भक्ति है। व्यक्ति का शुद्धस्वरूप तो ब्रह्मरूप ही है, अतः व्यक्ति स्वयं ब्रह्मरूप है, इसका अखंड चिंतन किया करे, यही आचार्य शंकर की दृष्टि में भक्ति है। तुलना कीजिए, इस वर्तमान पौराणिकी-पाखण्ड-भक्ति के साथ जो नपुंसकों की भाँति मटकने और तालियां बजाने के अतिरिक्त और क्या है ?

मायावाद के कट्टर विरोधी, शुद्धाद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य वल्लभ ने एवं उनके पुष्टि संप्रदाय के इतर आचार्य, भक्तजनों ने शंकर के मायावाद का खूब खुलकर उपहास किया है। इसी कारण वल्लभ को **'मायावादनिराकर्ता'** कहा जाता है एवं हिन्दी कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत परंपरा का भी यही आधार है। जिस पर आगे यथास्थान विचार किया जाएगा। यों साधारणजन के लिए शंकर ने सगुण भक्ति को प्राथमिक आवश्यकता कहा है। आचार्य शंकर ने 'प्रबोधसुधाकर' में तो यहां तक लिखा है कि कृष्ण की भक्ति के बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।[1] भक्तिमार्ग के हिन्दी कृष्ण-कवियों में यही बात विपरीत

---

१. हिन्दुत्व, पृ. ६०८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में दृष्टिगत होती है। शंकर कृष्ण–भक्ति को चित्तशुद्धि का साधन मानते हैं, जबकि वैष्णवाचार्य इसे केवल चित्ततृप्ति एवं भोगविलास का साधन मात्र ही समझते हैं तथा हिन्दी कृष्ण–भक्त–कवि ज्ञान का खंडन करके केवल शृंगारी कृष्ण–भक्ति को ही साध्य (फल) मानते हैं। इस प्रकार शंकर ने जिस भक्ति को साधन माना, वही भोगलिप्सु स्वार्थी आचार्यों एवं भक्तों के लिए साध्य बन गया। जिसके माध्यम से इंद्रियों को तृप्त किया जा सके, ऐसा प्रमुख आधार बन गया।

ब्रह्म : शंकर के मत में निर्गुण ब्रह्म ही परम तत्त्व है। वही सत्य है एवं यह दृश्य जगत् भ्रम है। ब्रह्म ही नामरूपात्मक जगत् और उसकी सृजन, स्थिति एवं संहार दशाओं का मूल अधिष्ठान है। वह सबकी आत्मा है। जीव पारमार्थिक रूप होने से पूर्ण ब्रह्मस्वरूप है। एक, नित्य एव सार्वभौम चैतन्य ही परमार्थ है। आत्मा जीव का ही पर्याय है। ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वव्यापक है। वह सत्य, ज्ञान एवं अनंत है। वह भूमा (अनंतता, विशालता) है एवं भूमा ही सुख एवं अमृत है। यही अमृततत्त्व परम कारण का ज्ञान कराता है। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण में आत्मा को ही ब्रह्म कहा गया है।[1] यह मिथ्या नहीं सत्य है। जड़ नहीं ज्ञान–स्वरूप है। यह ससीम नहीं असीम है, अनंत है।[2] यह विज्ञान रूप एवं आनंद स्वरूप हैं। यही ब्रह्म का स्वरूप सच्चा एवं वास्तविक लक्षण है, जो ब्रह्म का तात्त्विक रूप या निर्विशेष रूप प्रकट करता है। जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीते हैं और अंत में जिसमें प्रवेश कर जाते हैं, वह ब्रह्म ही है। यह ब्रह्म की सृष्टि, स्थिति और लयवाला लक्षण ब्रह्म का तटस्थ, असत्य, अवास्तविक, एवं क्षणिक, नश्वर, लक्षण है। इसके अनुसार सगुण ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है। यह तटस्थ लक्षण केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है, पारमार्थिक (वास्तविक) दृष्टि से नहीं।

शंकर ने गडरिये के दृष्टांत द्वारा ब्रह्म के स्वरूप एवं तटस्थ लक्षण के भेद को समझाया है। एक गडरिया राजा का अभिनय कर रहा है। उसका वास्तविक स्वरूप गडरिये का है, एवं रंगमंचीय रूप राजा का। उस गडरिये का गडरियावाला रूप उसका स्वरूप लक्षण हुआ और रंगमंच पर जो उसका अवास्तविक राजा का रूप था, वह उसका तटस्थ लक्षण हुआ।

शंकर ने ब्रह्म के इन्हीं दोनों स्वरूप लक्षणवाले पारमार्थिक एवं तटस्थ लक्षणवाले अपारमार्थिक रूपों को क्रमशः परब्रह्म एवं अपरब्रह्म कहा है। इस प्रकार शंकर ईश्वर की सत्ता को तो स्वीकार करते हैं, पर उसे अविद्या कल्पित (मनगढन्त) कहते हैं। तात्पर्य यह कि शंकर का निर्गुण ब्रह्म विश्वातीत है एवं सगुणब्रह्म विश्वरूप है। निर्गुण ब्रह्म सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदों से परे है। विश्वातीत होने से वह इन तीनों भेदों में से किसी भी भेद के द्वारा नहीं समझा जा सकता। अतः वह अनिर्वचनीय है। दूसरी ओर सगुण ब्रह्म अथवा विश्वब्रह्म गुणों के रूप में गृहीत होने के कारण ही उपासना का विषय है और यही ईश्वर कहलाता है।

शंकर के मत में ब्रह्म वस्तुतः एक ही है और वह है निर्गुण, निर्विशेष एवं अनिर्वचनीय। यह निर्गुण ब्रह्म ही मायोपाधिक दशा, असत्य दशा में सगुण है। ब्रह्म की सगुणता वास्तविक नहीं किन्तु मायाकृत है, अवास्तविक है, झूठी है, मनगढन्त है। अविद्या ही माया का दूसरा नाम है। यही अविद्या जीव के व्यवहार का आधार है। वास्तव में अविद्याग्रसित जीव ही निर्गुण ब्रह्म की सगुण ब्रह्म के रूप में कल्पना कर लेता है। यदि जीव को यह ज्ञान हो जाए कि ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है तो उसकी अपनी सत्ता कहाँ–रहेगी ? वह तो स्वयं ही ब्रह्ममय हो जाएगा। जैसे—

---

१. वृहदारण्यक, शांकरभाष्य, २–५–१९, २. तैत्तिरीयोपनिषद्, शांकरभाष्य, २–२–१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाली मेरे लाल की जित देखु तित लाल। लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गई लाल ॥

जीव को अपनी सत्ता की प्रतीति होने का तात्पर्य ही यह है कि वह ब्रह्म के निर्गुण रूप की सगुण के रूप में कल्पना कर लेता है, जो माया शवलित (युक्त) है, वही सगुण ईश्वर है। एक मात्र ब्रह्म का सत्ता तात्त्विक अथवा पारमार्थिक है। यही शंकर का अद्वैत ब्रह्म है।

ब्रह्म त्रिकालाबाधित होने से देश, काल एवं निमित्त से परे है एवं उसकी सत्ता निरपेक्ष है। वही पारमार्थिक सत्ता है। वह जाति, गुण, क्रिया तथा अन्य विकल्पों से रहित है। वह कूटस्थ एवं परमार्थ हैं। वही एक मात्र सत्य है, शेष सब मिथ्या है। कार्यरूप में व्याकृत (प्रकट) ब्रह्म नाम रूप मात्र प्रतीत होता है। वह समस्त प्रपंच का आधार है। यह समस्त प्रपंच ब्रह्म से अभिन्न है। ब्रह्म समस्त अनुभवमूलक गुणों, देश, काल, कारण एवं प्रपंच से भी परे है। इसीलिए उसे उपनिषदों में **'नेति-नेति'** कहा गया है। वह निर्गुण, निष्कल, सूक्ष्म, निर्विकल्प, निर्मल एवं केवल वही सत्य है।[1] ब्रह्म, ज्ञाता, ज्ञान, एवं ज्ञेय का अंतर अविद्या के कारण ही प्रतीत होता है। अविद्या नष्ट होते ही ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय का संबंध ही नहीं रहता है तथा आत्मा अथवा ब्रह्म अपने अनंत आनंद के रूप में प्रकाशित हो जाता है। माया, भ्रम के कारण ही निर्विशेष ब्रह्म सविशेष ब्रह्म-सा प्रतीत होता है और ईश्वर, जीव, उपास्य एवं उपासक में भेद की प्रतीति होती है किन्तु जीव ब्रह्म के अभेद ज्ञान के द्वारा समस्त द्वैत भाव समाप्त हो जाता है। ब्रह्म आधारभूत चैतन्य एवं सच्चिदानंद है एवं ईश्वर पुरुषोत्तम है। जागतिक प्रपंच के कारण ही वह मायोपाधिक ब्रह्म अर्थात् ईश्वर कहलाता है।

ब्रह्म कारणब्रह्म है और ईश्वर कार्य ब्रह्म।[1] शंकर ब्रह्म को निष्क्रिय मानते हैं एवं ईश्वर को सक्रिय। ब्रह्म की अनुभूति सद्यः मुक्ति दायिनी हैं तो ईश्वरोपासना से क्रमेण मुक्ति होती है। ईश्वर केवल व्यावहारिक जगत् में ही सत्य है, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से न वह सत्य है और न उसकी सृष्टि ही। वास्तव में ईश्वर नाम रूप की उपाधियों के द्वारा ही सृष्टि का निर्माण करता है, उसे धारण करता है एवं उसका संहार करता है। ईश्वर ही जगत् का निमित्त एवं उपादान दोनों कारण है। ब्रह्म की तरह ईश्वर भी भोक्ता नहीं, किन्तु केवल साक्षी है। ईश्वर उपासना का विषय होने के कारण ही वह नाना रूपों में भक्तों पर प्रसन्न होकर दर्शन देता है। ईश्वरत्व की ये भावनाएं ही भेदबुद्धि के साधकों, भक्तों एवं लोगों को परम सत्य की यथार्थ भावना तक पहुंचने के लिए मात्र सोपान है। यथार्थ में जगत् की अपेक्षा से ब्रह्म ईश्वर है और निरपेक्षरूप से वही परब्रह्म है।

मायावाद : इस दृश्यमान नानात्व का कारण माया है। 'मा' का अर्थ है 'नहीं' और 'या' का अर्थ है 'जो', अर्थात् जो नहीं है, वही माया है। वस्तुतः माया का कोई अस्तित्व नहीं है। वह झूठी है। जो है ही नहीं, पर दिखाई देती है, भ्रम से वही माया है। माया नामरूप प्रपंचात्मक है और ब्रह्म अप्रपंचात्मक। माया कल्पित है, झूठी है और उसी से जगत् उत्पन्न हुआ है। आचार्य शंकर के अनुसार जब माया ही मिथ्या है तो उसकी सृष्टि जगत् भी मिथ्या है। माया के कारण ही अपरिणामी ब्रह्म नाम-रूपात्मक भिन्न प्रतीत होनेवाले जगत् में अवभासित होता है। जगत् माया का परिणाम है और ब्रह्म का विवर्त है। जगत् जादू की तरह प्रतीति मात्र है और सत्य नहीं है। उस (जगत्) का सत्य ब्रह्म है। माया का अर्थ है जादू। जादू दिखानेवाला हमारी दृष्टि में भ्रम पैदा करके हमें अमुक वस्तु दिखाता है पर वास्तव में वह वस्तु होती नहीं है। केवल हमारा दृष्टि-भ्रम होता है। केमरा-मेन से कहा जाए कि तुम अभी फोटू खींचो तो वह वस्तु सच्ची नहीं होने से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

१. विवेकचूडामणि, शंकराचार्य, पृ. ४६९

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैमरे में नहीं आएगी। आचार्य शंकर के अद्वैतवाद का मूल आधार मायावाद ही है। सृष्टिकाल में जगत् नाम रूपात्मक व्यक्त दशा में रहता है किन्तु इसकी पूर्वावस्था अव्यक्त दशा ही माया है। यह माया स्वतंत्र नहीं है किन्तु ब्रह्मवशा है और यह ब्रह्म की बीज शक्ति है। माया अव्यक्त अविद्या है। अविद्यायुक्त होने से ही जीव के सभी व्यवहार सदा चलते रहते हैं। सोपाधिक ब्रह्म ही माया शवलित (मिश्रित) ब्रह्म है। माया का ब्रह्म पर इच्छामूलक आरोप होता है किन्तु जीव पर उसका अज्ञानमूलक संक्रमण होता है। ब्रह्म तो अपनी इच्छानुसार माया का ग्रहण और त्याग कर सकता है पर जीव ऐसा करने में असमर्थ है। माया ब्रह्म के वश में है, किन्तु जीव माया के वश में है। माया परिणामी एवं अनित्य है तथा ब्रह्म कूटस्थ[1] (सदा काल एकरूप रहनेवाला, अचल) एवं नित्य है। माया का ही संयोग पाकर ब्रह्म ईश्वर अथवा परमेश्वर कहलाता है। माया को अव्यक्त इसीलिए कहा गया है कि वह परमेश्वर की ऐसी विद्या है, जिसके आदि का पता ही नहीं चलता। माया न सत् है, न असत् और न सत्-असत् ही। वह न भिन्न है, न अभिन्न और न भिन्न-अभिन्न ही। वह न सांग है, न अनंग है और सांग-अनंग ही अतः वह अनिर्वचनीय है।[2]

माया को सत् का कभी बोध न होने से माया सत् नहीं कही जा सकती। उसे असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि असत् की प्रतीति नहीं हो सकती, परन्तु माया की प्रतीति तो होती है। माया को सत्-असत् इसलिए नहीं कह सकते कि वह सत्-असत् इन दोनों रूपों में एक साथ उपलब्ध नहीं हो सकती।

माया ब्रह्म से भिन्न इसलिए नहीं हो सकती कि वह ब्रह्म ही की आरोपित शक्ति है। वह अभिन्न इसलिए नहीं हो सकती कि वह संसार रूप में विकृत परिणामवाली है, जब कि ब्रह्म में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। माया भिन्न-अभिन्न भी नहीं है, क्योंकि वह एक साथ भिन्न और अभिन्न रूप में ग्रहण नहीं की जा सकती।

माया अंग सहित इसलिए नहीं हो सकती कि वह मूल रूप में अव्यक्त है तथा त्रिगुणात्मिका होने से अनुमेय है। वह अनंग इसलिए नहीं कही जा सकती कि उसका परिणामी स्वरूप यह दृश्य जगत् है तथा अंग-अनंग के रूप में उभयात्मक प्रतीति के अभाव में वह उभयात्मक भी नहीं है।

ज्ञान विरोधिनी होने के कारण माया अविद्या कहलाती है पर ज्ञान उपस्थित होते ही वह विलीन हो जाती है। माया के कारण ही ब्रह्म से जीव की भिन्न और जगत् की सत्य प्रतीति की भ्रान्ति होती है। माया ही नाम-रूपों के अव्यक्त बीजों को अपने गर्भ में रखती है। परमार्थतः ब्रह्म सत्य है और जीव ब्रह्म है। जिस प्रकार अग्नि की दाहिका शक्ति उससे भिन्न नहीं हो सकती, उसी प्रकार माया की सत्ता न तो पारमार्थिक है और न प्रातिभासिक ही, वरन् व्यावहारिक है। माया का आश्रय जीव है और विषय ब्रह्म है। वह जीवों से ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को छिपा लेती है। शंकर ने माया को जगत् की उत्पत्ति का कारण मानते हुए लिखा है—

> **अव्यक्त नाम्नी परमेशशक्ति, अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।**
> **कार्यानुमेया सुधियैव माया, यथा जगत् सर्वमिदं प्रसूयते ॥**[3]

अर्थात् जो अव्यक्त नामवाली, त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वर की परा शक्ति है, वही माया है। जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। सुधि इसके कार्य से ही इसका अनुमान किया करते हैं।

---

१. 'कूटवत् (शृंगवत्) निर्विकारेणस्थितः कूटस्थ उच्यते।', शब्दार्थचिन्तामणि
२. विवेकचूडामणि, शंकराचार्य, ३. विवेकचूडामणि, शंकराचार्य, श्लोक-११३, ११५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माया की आवरण एवं विक्षेप दो शक्तियां हैं। इन्हीं शक्तियों के कारण ब्रह्म का वास्तविक रूप तिरोहित हो जाता है और उसमें अवास्तविक जगत् की प्रतीति होने लगती है। आवरण शक्ति तमो रूपा है और विक्षेप शक्ति रजो रूपा है। ये दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। आवरण शक्ति वस्तु का वास्तविक रूप तिरोहित कर देती है और विक्षेप से एक नवीन वस्तु की सृष्टि हो जाती है। अर्थात् माया की आवरण-शक्ति द्वारा वास्तविकता पर पर्दा डाल दिया जाता है और विक्षेप शक्ति द्वारा दूसरी वस्तु (पृथ्वी, आकाश इत्यादि) का आरोप कर दिया जाता है। माया सत्, रज और तम रूप स्वरूप युक्त त्रिगुणात्मिका है। वही समस्त कारण शक्तियों का समन्वित रूप है। अपने स्वरूप ज्ञान के अभाव में बद्ध जीव उसी में सोए रहते हैं।[1] जीव ब्रह्म रूप होने पर भी इन्हीं माया के आवरणों के कारण वह स्वयं को भिन्न समझता है। इन आवरण-विक्षेप माया के आवरणों को ही अध्यास कहते हैं। जो जैसा नहीं है, उसमें वैसी झूठी बुद्धि करना ही अध्यास कहलाता है। इस अध्यास के कारण ही जीव में कर्ता, भोक्ता की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। जो स्वयं ही मिथ्या ज्ञान रूप है, किन्तु शाश्वत है।

आवरण एवं विक्षेप इन दोनों शक्तियों के कारण यथार्थ की भ्रांति होने से जीव में ब्रह्म से अलग होने तथा जगत् के सत्य होने की भ्रांति उपस्थित होती है और नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त जीव स्वयं को शरीरादि अनित्य पदार्थों से आवृत्त समझने लगता है। वस्तुतः मिथ्या प्रतीति का ही दूसरा नाम अध्यास है। यही अध्यास का पहला रूप है और ब्रह्म के सगुण रूप की भ्रांति उसका दूसरा रूप है।

इसी अध्यास, भ्रांति को दूर करने के लिए वेदान्त **'तत्त्वमसि'** का उपदेश देता है। वेदान्ती एक ही पदार्थ को प्रकृति, अज्ञान, अविद्या और माया आदि विभिन्न नामों से अभिहित करते हैं। वह पदार्थ जगत् का उपादान कारण होने से प्रकृति, विधान के विरुद्ध होने से अविद्या, ज्ञान के विरुद्ध होने से अज्ञान तथा अघटित घटना घटित होने से माया कहलाता है। इस प्रकार के अध्यास को नष्ट करने के लिए आचार्य शंकर कहते हैं—

एवमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूप, कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रवर्त्तकः। सर्वलोक-प्रत्यक्षः। अस्यानर्थहेतोः प्रहणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ताः आरभन्ते।[2]

अर्थात् इस प्रकार अनादि, अनंत, नैसर्गिक, मिथ्या-ज्ञान स्वरूप और (आत्मा में) कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि भाव उत्पन्न करनेवाला, यह अध्यास सभी को प्रत्यक्ष है। इस अनर्थ के हेतु अध्यास को समूल नष्ट करने के लिए तथा ब्रह्म एवं आत्मा के ऐक्य का ज्ञान उत्पन्न करने के लिए सभी वेदान्त आरंभ किए जाते हैं।

जीवात्मा : देहस्थ आत्मा ही जीव कहलाता है। जीव के अंदर स्थित पारमार्थिक तत्त्व आत्मा ही जीव का आधारभूत चैतन्य है।[3] आत्मा ही निर्विशेष चैतन्य है और यही जीव को प्रकाशित करता है। आत्मा चित् शक्ति स्वरूप, अजन्मा, अव्यय प्रत्ययों का द्रष्टा[4], बुद्धि उपहित होकर नित्य चैतन्य है और बुद्धि की वृत्तियों को प्रकाशित करता है। ज्ञाता और ज्ञेय एक ही हैं, किन्तु अविद्या के कारण यह भेद प्रतीत होता है। यह संपूर्ण जगत् ही आत्मा है और यही सत्ता है। आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त,

---

१. विवेकचूडामणि, शंकराचार्य

२. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, उपोद्घात, २. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, १-१-४

३. ईशावास्योपनिषद्, शांकरभाष्य ५ केनोपनिषद्, शांकरभाष्य, २-४

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निराकार, जन्म–जरा–मरण रहित, अमृत, अभय, निर्विकार, सर्वगत, अचिन्त्य, अभेद्य, अदाह्य, सनातन तथा परमार्थ है[1]—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते । तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

जीव आत्मा से भिन्न नहीं है । आत्मा जीव का सत्यरूप ही है । इस प्रकार 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' जीव ब्रह्म ही है । देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के संघात से अलग सत्य, चैतन्य–मात्र स्वरूप ही आत्मा है ।[2]

आत्मा ही ज्ञेय रूप है । जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में उसकी सत्ता समान रूप से रहती है । इस कारण आत्मा अपरिणामी है । आत्मा अकर्ता, जन्म–मरण से परे पारमार्थिक सत्ता मात्र है । वह निष्क्रिय, अपरिणामी एवं अपरिवर्तनशील है । स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से भिन्न पंचकोशों से परे, तीनों अवस्थाओं का साक्षी, चौबीस तत्त्वों का आधार, अविद्या एवं माया रूपी उपाधि से क्रमशः प्रतीयमान होनेवाले जीव तथा ईश्वर से भिन्न जो सच्चिदानंद स्वरूप है, वही आत्मा है ।[3] जीव वस्तुतः ब्रह्म स्वरूप ही है । ब्रह्म जीव का अन्तर्तम सत्य है । इसी कारण जीव भी चैतन्य स्वरूप ही है । जीव के इस निर्विशेष चैतन्य स्वरूप को ही आत्मा के नाम से अभिहित किया जाता है ।

आचार्य शंकर ने जीव का मूल स्वरूप निर्विशेष चैतन्य माना है । आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य है । जिस प्रकार ब्रह्म अनन्त, अनवच्छिन्न, चैतन्य स्वरूप है, उसी प्रकार जीव भी अपने मूल आत्मा के रूप में अनंत चैतन्य स्वरूप है ।

क्रिया बुद्धि–व्यापार है, जिसका आत्मा पर अध्यास होता है । जीव की क्रिया ही दुःख का कारण होती है । यही क्रिया जो दुःख–सुख की अनुभूतियों का कारण है, अविद्या कहलाती है । इस अविद्या के कारण एक ही आत्मा नाना जीवों के रूपों में दृष्टिगोचर होती है । यह आत्मा ही समस्त बुद्धि प्रपंचों का साक्षी है । इच्छा, द्वेष, प्रयत्न एवं क्रिया मायोपहित (मायावेष्टित) जीव के धर्म हैं, आत्मा तो ब्रह्म है, जो एक मात्र तत्त्व है, जो अन्तर्बाह्य समान रूप से है । यही आत्मा निर्विशेष, ब्रह्म तथा भूमा है ।[4]

शंकर जीव को ब्रह्म का अंश नहीं मानते । वह इसलिए कि ब्रह्म निरवयव है । यदि जीव को ब्रह्म का अवयव माना जाए तो ब्रह्म का ब्रह्मत्व ही नहीं रहेगा । वस्तुतः जीव ईश्वर का कल्पित भेदवाला अंश है, स्वाभाविक नहीं ।[5] जीव ब्रह्म का विकार अथवा परिणाम भी नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म तो अविकारी एवं अपरिणामी है । जीव तथा ब्रह्म का जो यह दृश्यमान बाह्य भेद प्रतीत हो रहा है, वह वास्तविक एवं सत्य नहीं है, वह तो व्यावहारिक है क्योंकि वह (जीव) शरीर, मनस् और बुद्धि आदि मायोपाधियों से परिच्छिन्न है ।

शंकर कहते हैं कि जिस प्रकार घटाकाश तत्त्वतः महाकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अर्थात् घटाकाश महाकाश से भिन्न नहीं है, वैसे ही जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है—

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवो यथा । नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवो तथा ॥

—माण्डूक्योपनिषद्, अद्वैत प्रकरण

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता,–२ अध्याय, श्लोक–२२,२३,२४,२५, २, ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य २–३–१९
३. तत्त्वबोध, सूत्र–२१, ४. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, २–२–३५, ५. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, २–३–४६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घट के आकार–प्रकार तथा जीव की उपाधियां केवल अस्थायी अवरोध हैं । इनके अस्तित्वकाल तक जीवात्मा एवं घटाकाश अपने पारमार्थिक स्वरूप से पृथक् दिखाई देते हैं किन्तु इनके कारण न तो कोई वास्तविक भेद होता है, और न उसके स्वरूप में ही किसी प्रकार का विकार उत्पन्न होता है । **'तत्त्वमसि'** तुम (जीव) तत् (ब्रह्म) हो, 'छान्दोग्योपनिषद्' का यह सिद्धांत शंकर को मान्य है । इस सिद्धांत को अवच्छेदकवाद कहा गया है ।

जगत् मिथ्या है । जगत् अनादि तथा व्यवहारकाल में वर्तमान अवश्य है, किन्तु वह अनंत नहीं है। अतः एव व्यावहारिक दृष्टि से सत्य होते हुए भी तत्त्वतः वह असत्य है । पारमार्थिक दृष्टि से तो ब्रह्म ही परम सत्य है, अन्य सब मिथ्या है, भ्रम है, माया है । जो यह दिखाई दे रहा है, वह अविद्या के कारण ही । अविद्या के नष्ट होने पर ज्ञानावस्था में आत्मानुभूति होते ही, जीव ब्रह्म का तादात्म्य होकर जगत् का विलय हो जाता है । यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है, विकार या परिणाम नहीं । अतात्त्विक परिवर्तन विवर्त एवं तात्त्विक परिवर्तन विकार कहलाता है ।[1]

जगत् की स्थिति माया के कारण ब्रह्म अथवा आत्मा के ऊपर अध्यस्त[2] (आरोपित) की गई है । ब्रह्म अधिष्ठान है एवं जगत् अध्यस्त । वास्तविक सत्ता तो अधिष्ठान (आरोप या कल्पना का आधार ब्रह्म) की ही है । अध्यस्त जगत् तो मिथ्या है । माया के द्वारा ही ब्रह्म जगत् के रूप में प्रतिभासित होता है । शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्त एवं एक होने पर भी ब्रह्म विश्वप्रपंच के रूप में भासित होता है—

यदिदं सकलं विश्वं, नाना रूपं प्रतीतमज्ञानात् । तत्सर्वं ब्रह्मैव ।[3]

इस प्रकार शंकर ने अद्वैत ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्य माना है—

निर्गुणं निष्कलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरंजनम् । एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ।।

अर्थात् वह ब्रह्म गुण एवं कलारहित, सूक्ष्म निर्विकल्प और निर्मल है । वही एक, अद्वितीय ब्रह्म सत्य है । उसमें अन्य पदार्थ कुछ भी नहीं हैं । ब्रह्मज्ञान होते ही अविद्या का नाश हो जाता है और द्वैत भाव भी नष्ट हो जाता है ।

यह जगत् ईश्वर की इच्छा शक्ति का ही विकास है । ईश्वर ही सभी रूपों को उत्पन्न कर के सभी का नाम रखकर और उसमें प्रविष्ट होकर बोलना, चलना आदि व्यवहारों को करता हुआ स्थित है । इस प्रकार जगत्, जीव एवं ईश्वर व्यवहारतः सत्य हैं । आचार्य शंकर का कहना है कि अविद्या के कारण ही जगत् की प्रतीति होती है । ब्रह्म ही जगत् का निमित्तोपादान कारण है. उसके अतिरिक्त अन्य सब मिथ्या है । जिस प्रकार मिट्टी के ढेले को जान लेने से मिट्टी के विकार के सभी मृण्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म को जान लेने से ही विविध वैचित्र्यमय विशाल जगत् का भी ज्ञान हो जाता है । यह ब्रह्म (जगत्) उसी ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उसी में स्थित रहता है और अंत में उसी में समा जाता है । ब्रह्म ही सभी की योनि है ।

शंकर ने सृष्टि की प्रक्रिया में माया को उपादान कारण माना हैं । ब्रह्म की माया नामक विक्षेप शक्ति से आकाश की, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है । शंकर ने पंच महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) के विशिष्ट मिश्रण से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है । जिसे पंचीकरण का सिद्धांत कहते हैं । अंत में ब्रह्म ही रह जाता है ।

---

१. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, २–१–७

२. अध्यस्त आरोपित, मान लिया गया । ३. विवेकचूडामणि, शंकराचार्य, श्लोक–२२९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोक्ष : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये मानव जीवन के चार पुरुषार्थ माने गए हैं। इनमें मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। शंकर के मत में ब्रह्म ही परम सत्य है। जीव एवं जगत् की प्रतीति का कारण अविद्या है। यह ब्रह्म ही जीव का वास्तविक स्वरूप है और इस ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार ही मोक्ष है। ज्ञानार्जन द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है एवं आत्म-साक्षात्कार ही ब्रह्म-साक्षात्कार है। जिसके फलस्वरूप अविद्या तथा उसके कार्यों का नाश हो जाता है तथा हृदयस्थ चिदाभास ब्रह्म में जीव का परिणमन हो जाता है, फिर ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता। जीव के ब्रह्म में लय (परिणमन) हो जाने की इस अवस्था को शंकराचार्य ने मोक्ष कहा है। मोक्षावस्था में जीव सुख-दुःख आदि सांसारिक कष्टों से मुक्त हो जाता है। यहीं जीव की ब्रह्मस्थिति है।

मोक्ष न तो आत्मा का परिवर्तन ही है और न कार्य का परिणाम ही। वह न तो प्राप्य है और न उत्पाद्य ही। वह वस्तुतः जीव ब्रह्म का अभेद ही है। जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का तो ज्ञान है, पर वह अविद्या के कारण आवृत्त रहता है और शरीर-संपर्क के कारण भिन्न प्रतीत होता है। अविद्या का नाश होते ही माया कृत उपाधियां नष्ट हो जाती हैं और जीव को आत्मा के सहज स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और यही मोक्ष है। सोने का हार गले में है पर ध्यान न रहने क कारण कोई उसे इधर-उधर ढूंढ़ता रहे, पर अन्य कोई बता दे कि हार तो गले में ही है, तो उस स्थिति में उसका भ्रम नष्ट हो जाता है और उसे हार मिल जाता है। मोक्षावस्था ठीक इसी प्रकार की है। ब्रह्म भीतर ही है, जिसे हम आत्मा कहते हैं, बस इतना जान लेना ही ब्रह्म को जान लेना है और यही ब्रह्मज्ञान मोक्षावस्था हैं।

मुक्ति दो प्रकार की होती है—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। शरीर रहते हुए ज्ञान हो जाने से मुक्ति हो जाए वह जीवन्मुक्ति कहलाती है और शरीर त्याग के पश्चात् होनेवाली मुक्ति विदेहमुक्ति कहलाती है। शंकर ने ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष का अन्य कोई साधन नहीं माना है।

शंकर के अनुसार संचित एवं क्रियमाण कर्म के नष्ट होने पर जीवितावस्था में ही तत्त्वज्ञान हो जाने से जीव अपने प्रारब्ध-कर्म के नष्ट होने तक शरीर को पूर्ववत् धारण किए रहता है। यही जीवन्मुक्तावस्था है। नवीन कर्म के अभाव में जीव के नवीन शरीर धारण करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। प्रारब्ध कर्म के क्षय हो जाने पर जीव का शरीर पात हो जाता है और वह मुक्त हो जाता है।

आचार्य शंकर ने अद्वैत-वेदान्त की सुदृढ चट्टान पर भारतीय वर्णाश्रम धर्म, जो खंड-खंड हो चुका था, उसका प्रासाद फिर से खड़ा कर दिया। उन्हीं के द्वारा जप, तप, व्रत, उपवास, यज्ञ, दान, संस्कार, उत्सव और प्रायश्चित्त आदि हिन्दू सनातन आचार एक बार पुनः सप्राण होकर जीवित हो उठे। साधारण कोटि के लोगों के लिए तथा हिन्दू लोक-संग्रह के लिए शंकर ने विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति इनके समन्वित रूप में पंच देवोपासना प्रारंभ की। पंचदेवोपासनावाला यह मत 'स्मार्त' कहलाया। स्मार्त मत के प्रचार-प्रसार के लिए शंकर ने अपने शिष्यों का 'दशनामी' संप्रदाय चलाया। शंकर के चार प्रधान शिष्य थे—पद्मपाद, हस्तामलक, मण्डन और तोटक। इनमें पद्मपाद, के दो शिष्य थे—(१) तीर्थ और आश्रय, हस्तामलक के दो शिष्य थे—(३) वन और (४) अरण्य, मण्डन के तीन शिष्य थे—(५) गिरि, (६) पर्वत और (७) सागर तया तोटक के तीन शिष्य थे-(८) सरस्वती, (९) भारती और (१०) पुरी। इन्हीं दस संन्यासियों के नाम से दस भेद चले। जो दशनामी संन्यासी के नाम से प्रसिद्ध हुए। शंकर ने भारत की चारों दिशाओं में चार मठ स्थापित किए थे। दक्षिण भारत में शृंगेरी मठ, जगन्नाथपुरी में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोवर्द्धन मठ, द्वारका में शारदा मठ तथा भारत की उत्तरीय हिमगिरि शृंखलाओं में जोशी मठ। पुरी, भारती और सरस्वती संन्यासियों की शिष्य परंपरा के अन्तर्गत शृंगेरी मठ है, तीर्थ और आश्रम शारदा मठ के अन्तर्गत, वन और अरण्य गोवर्द्धन मठ के अंतर्गत है तथा गिरि, पर्वत और सागर जोशी मठ के अंतर्गत हैं।

संपूर्ण अखंड भारत[1] एक विराट् सूर्यमंदिर है, एवं सभी भारतीय सूर्योपासक हैं। इस आशय से प्राचीन भारतीय सम्राटों ने पूर्व में सूर्य की प्रथम किरण भारत का जहाँ स्पर्श करती है, वहाँ प्रातः सूर्यपूजा के लिए कोणार्क का सूर्यमंदिर[2], जहाँ सूर्य भारत के ठीक मध्य में रहता है, उस विन्दु पर मध्याह्न सूर्यपूजा के लिए कालप्रियनाथ[3] का सूर्यमंदिर एवं सूर्य की अंतिम किरण जहाँ शिशु भारत के सिर पर अपना वात्सल्य का वरद हाथ फिराकर विदा लेती है उस स्थान पर सायं सूर्यपूजा के लिए कश्मीर के के उत्तुंग शिखर पर मार्तण्ड[4] का सूर्यमंदिर बनवाया और ।। ॐ भूर्भुवः स्वः । **तत्सवितुर्वरेण्यम् । भर्गोदेवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात्** ।। के सविता संस्तुवन से सदियों तक हिन्दुत्व को ऐक्य के सूत्र में आबद्ध रखा, ठीक ऐसा ही महद् कार्य इन सूर्यमंदिरों के विध्वस्त[5] कर दिए जाने पर या होने पर आचार्य शंकर ने भारत के चारों कोनों पर चार मठ स्थापित करके एवं उसीकी परंपरा में दशों दिक्पालों की भाँति दशनामी संन्यासियों की परंपरा प्रारंभ करके किया। पर आज हम देख रहे हैं, एक ओर

---

१. **अखंड भारत** : वर्मा, तिब्बत, बांग्लादेश, श्रीलंका, पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान के साथ वर्तमान प्रजातंत्र भारत।

२. **अर्क** : संस्कृत में ('अर्क' प्रातःकालीन सूर्य को कहते हैं। **कोण** उदित होते सूर्य का सर्वप्रथम दिखाई देनेवाला भाग। कोण + अर्क = कोणार्क।

३. **कालप्रिनाथ** : संस्कृत में मध्याह्न सूर्य को 'कालप्रियनाथ' कहते हैं। सुभद्राकुमारी चौहान की रानी झांसी कविता में—'रानी बढ़ी **कालपी** आई' इसमें **कालपी** शब्द प्राचीन कालप्रियनाथ का अपभ्रंश रूप है। 'भगवान् कालप्रियनाथस्ययात्रायां ..' ऐसा भवभूति के **'उत्तररामचरित'** नाटक के प्रारंभ में भी उल्लेख मिलता है।

४. **मार्तण्ड** : संस्कृत में अस्तगामी सूर्य को मार्तण्ड कहते हैं। यह स्थान कश्मीर में आज भी मटंड के नाम से खंडहर के रूप में विद्यमान है। सुनते हैं कि वहां मुसलमान बैठता है और मटंड नाम से धर्मस्थान के रूप में इसे सम्हालता है। कैसी हुई है, 'हिन्दुत्व' की दुर्गति। प्रत्यक्ष देवता जगत् का आत्मा सूर्य को समाप्त किया। उसके स्थान पर व्यभिचारी कृष्ण की पौराणिकी कल्पित पाखण्डपूजा प्रारंभ हुई। उसीका यह दुष्परिणाम है।

५. गुजरात में द्वारका स्थित सुप्रसिद्ध वर्तमान रणछोडराय का मंदिर असल में कभी सूर्य मंदिर था। (देखिए–संस्कृति के चार अध्याय–दिनकरजी) तथा पुरी का जगन्नाथ का मंदिर भी असल मे बुद्ध मदिर थां। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह वैदिक कालीन प्रतापी देवता सूर्य पौराणिक कृष्णपूजा के दुराग्रहियों का शिकार बना है। गुजरात में सोमनाथ के पास एवं महेसाणा के पास मोढ़ेरा जैसे तथा भारत में अन्यत्र भी सूर्य मंदिर ध्वस्त एवं खंड़हर के रूप में पड़े हैं, उसके पीछे, हमें तो वासुदेव कृष्ण की पूजा का दुराग्रह ही प्रतीत होता है। एक को हटाओ और दूसरें को बिठाओ। यही बात यहां प्रतीत हो रही हैं। हिन्दू धर्म प्रजातंत्रात्मक है। उससे कई लाभ हैं, पर लाभ की अपेक्षा हानियां अधिक हुई है। हर दिन एक नया देव कुकुरमुत्ते की तरह प्रकट हो रहा है। कोई व्यवस्था ही नहीं है और परवर्ती देव पूर्ववर्ती देवता के सिर पर ही पैर रखकर प्रकट हों रहा है। पहले था, उससे आगेवाला बड़ा है, महान् है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षयग्रस्त, दुर्बल, मृतःप्राय, छिन्न–विच्छिन्न, पौराणिक अंधविश्वासों में गर्क हिन्दुत्व जो अंधों की तरह हाथी के टटोल रहा है और दूसरी ओर यह शंकर के दशनामी दस दिक्पालों की परंपरा स्वोदर पोषण में संलग्न और निष्क्रिय, मायां में लिप्त होकर हिन्दू समाज के लिए भाररूप बनी हुई है और 'लोकायत' के 'खाओ, पिओ, आनंद करो' के सिद्धांत के चरितार्थ कर रही है। 'रश्मिरथी' में दिनकरजी लिखते हैं—

इच्छा नर की और, और फल देती उसे नियति है ।
फलता विष पीयूष-वृक्ष में, अकथ प्रकृति की गति है ।।

मनुष्य की इच्छा कुछ होती है और नियति उसे कुछ और ही विपरीत फल देती है। तो कभी–कभी ऐसा होता है कि अमृत के वृक्ष पर भी विष–फल लग जाता है, क्योंकि प्रकृति की माया बड़ी विचित्र है। शंकर ने चार मठों के दशनामी संन्यासियों की स्थापना के समय हिन्दुत्व के कैसे भावी उज्ज्वल रूप के देखा होगा, पर शंकर के जाते ही क्या हो गया, इस दसनामी साधु–संन्यासियों की परंपरा के ? बस, दिखावे की थोड़ी सगुण पूजा कर लेते हैं, फिर चांदी की खड़ाऊएं, मखमल के गद्दी–तकिए, चांदी के छत्र–चमर ? और यह सब किसकी कमाई पर, केवल हिन्दुत्व के नाम पर मिली श्रद्धा, विश्वास और दया की......पर । संन्यासी के लिए ऊपर आकाश और नीचे धरती। वह तो करपात्री होता है और रात–दिन हिन्दुत्व के बांधने में लगा रहता है। गेरुआ वस्त्र उसका वास्तव में रात–दिन अग्नि का अभिषेक होता है—

संन्यास वस्त्रों की गैरिकता
परिधान के लिए केवल रंग हैं
पर उस धारणकर्ता के लिए
वह ज्वाला का
अहोरात्र अभिषेक है । –'महाप्रस्थान'–नरेश महेता

तो शंकर की परंपरा में तथा अन्य आज लगभग दो करोड़ के लगभग भारत में साधु–संन्यासी हैं। इनमें से कितने हैं जो हिन्दुत्व के दर्द के पहचानते हैं, और इसके लिए दिन–रात कुछ कर रहे हैं। केवल राम–नाम लेकर मंदिर बनाकर बैठना और खाना, हराम का खाना है। संन्यासी, पुजारी, आचार्य वही है, जो मंदिर के सम्हाले, हिन्दुत्व के सम्हाले और अपने पेट के लिए आठ घंटा फैक्टरी, खेत में अथवा कहीं भी शारीरिक श्रम का काम करे।

इस सन्दर्भ में आज के बुद्धिजीवी हिन्दू, शंकराचार्य की इस संन्यासी परंपरा के देखें। कोई संन्यासी लगता है, हिन्दुत्व की चिंता में दुर्बल ? हराम की खा कर गोल–मटोल, मोटे–मुष्टण्डे हुए जा रहे हैं। शर्म भी नहीं आती है। कैसे जाता है, मुंह की तरफ इनका हाथ।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त (विशिष्टाद्वैतवाद)

विशिष्टाद्वैत के मत में मीमांसाशास्त्र एक ही है। पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा के भेदों के वह स्वीकार नहीं करता है। आचार्य जैमिनी के 'पूर्वमीमांसा' के प्रथम सूत्र '**अथातो धर्मजिज्ञासा**' से लेकर बादरायण व्यास के 'उत्तरमीमांसा' के अंतिम सूत्र '**अनावृत्तिः**, तक के बीस अध्यायों का पदार्थ विचार करने वाला यह वेदान्त मत एक ही मीमांसादर्शन मानता है[1] जो 'धर्ममीमांसा', देवमीमांसा' एवं

---

१. हिन्दुत्व, पृष्ठ ६४१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ब्रह्ममीमांसा' नामक तीन काण्डों में विभक्त है । द्वादश अध्यायों में विभक्त आचार्य जैमिनीकृत 'धर्ममीमांसा' प्रथम काण्ड हैं, जिसमें धर्म का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है । चार अध्यायों में विभक्त आचार्य काशकृत्स्नकृत 'देवमीमांसा' द्वितीय काण्ड है, जिसमें देवोंपासना पर विचार किया गया है। चार अध्यायों में विभक्त भगवान् बादरायण व्यास कृत 'ब्रह्मसूत्र' तृतीयकाण्ड है, जिसमें ब्रह्म पर पूर्ण विचार करके इस मत के आचार्यों ने अपना विशिष्टाद्वैत वेदान्त मत स्थापित किया है । इस प्रकार कर्म, उपासना एवं ज्ञान इन तीनों काण्डों से युक्त संपूर्ण शास्त्र को इस मत के आचार्यों ने एक ही 'मीमांसाशास्त्र' का नाम दिया है ।

'ब्रह्सूत्र' में विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य आश्मरथ्य का उल्लेख मिलता है । जिससे इस मत की प्राचीनता सिद्ध होती है । इस मत के आचार्यों का क्रम इस प्रकार माना जाता है—भगवान् श्रीनारायण ने जगज्जननी श्रीमहालक्ष्मी को उपदेश दिया, लक्ष्मी ने वैकुण्ठ पार्षद श्री विष्वक्सेन को, विष्वक्सेन से श्री शठकोप स्वामी को, शठकोप स्वामी से श्रीनाथ मुनि को, श्रीनाथ मुनि से पुण्डरीकाक्ष स्वामी को, पुण्डरीकाक्ष से राममिश्र स्वामी को, राममिश्र स्वामी से श्रीयामुनाचार्य को इस मत का उपदेश प्राप्त हुआ ।[1]

श्री यामुनाचार्य (लगभग ९६५ विक्रम संवत्) ने ब्रह्मसूत्र की विष्णुपरक व्याख्या की । इन्हीं ने अपने अलौकिक पांडित्य से इस मत को नवीन आलोक प्रदान किया । इसके पश्चात् बारहवीं शताब्दी में आचार्य रामानुज ने इस मत को समस्त भारत में व्याप्त कर दिया । रामानुज के इस महद् कार्य के कारण ही यह मत 'रामानुजमत' के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ ।

विशिष्टाद्वैत शब्द 'विशिष्ट' एवं 'अद्वैत' इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है । 'विशिष्ट' से तात्पर्य है— चेतन और अचेतन विशिष्ट (युक्त) ब्रह्म । 'अद्वैत' से तात्पर्य है अभेद अथवा एकत्व । अर्थात् चेतन–अचेतन से विशिष्ट ब्रह्म के अभेद (एकत्व) का प्रतिपादन करने वाला सिद्धांत विशिष्टाद्वैत वेदान्त है ।

शांकर मतानुयायी सुरेश्वराचार्य ने कहा कि ज्ञान स्वप्रकाश है, अखंड है, कूटस्थ एवं नित्य है । ज्ञान ही आत्मा है। ज्ञान ही परमात्मा है । ज्ञान निष्क्रिय है । ज्ञान निर्विशेष है । ज्ञान में भेद नहीं है । ज्ञान आपेक्षिक नहीं है । यामुनाचार्य ने इसको अवैदिक प्रतिपादित करते हुए कहा कि ज्ञान आत्मा का धर्म है। आत्मा ज्ञान–स्वरूप नहीं, किन्तु आत्मा ज्ञाता है । ज्ञातृत्व शक्ति आत्मा की है। ज्ञान सक्रिय है। ज्ञान सविशेष है। ज्ञान स्वप्रकाशरूप नहीं, पर आपेक्षिक है ।

यामुनाचार्य का मत है कि श्रुति ही आत्मप्रतिपत्ति (आत्मा की प्रतीति) का प्रमाण है । नैयायिक अनुमान से आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, पर आचार्य यामुन का मत है कि केवल अनुमान से ही आत्मा को सिद्ध नहीं किया जा सकता । आचार्य यामुन के मत से ईश्वर पुरुषोत्तम है । ईश्वर जीव से श्रेष्ठ है। जीव कृपण है। दुःख शोक में डूबा हुआ है। पर ईश्वर सर्वज्ञ, सत्य–संकल्प एवं असीम सुखसागर है । ईश्वर पूर्ण है एवं जीव अणु । जीव अंश है एवं ईश्वर अंशी । ईश्वर एवं जीव नित्य पृथक् हैं । मुक्त–जीव ईश्वर भाव को प्राप्त नहीं होता पर ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है ।

जगत् ब्रह्म का परिणाम है । ब्रह्म ही जगत् के रूप में परिणत हुआ है । जगत् ब्रह्म का शरीर है । ब्रह्म जगत् की आत्मा है । आत्मा और शरीर अभिन्न हैं इसलिए जगत् ब्रह्मात्मक है । जगत् रूप शरीर ब्रह्म की कलामात्र है ।

---

१. हिन्दुत्व, पृष्ठ ६४१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीव और ब्रह्म भिन्न हैं। जीव और ब्रह्म में अभेद कभी संभव नहीं। ब्रह्म और जीव में सजातीय और विजातीय भेद नहीं है, किन्तु स्वगत भेद है। स्वगत भेद का अर्थ है, दोनों में अपने आपमें स्तरीय भेद है, छोटे-बड़े का भेद है। इसी को स्वामी-सेवक भेद कहते हैं। तत्त्व तीन हैं-चित्, अचित् और पुरुषोत्तम। चित् जीव है, अचित् जगत् है और पुरुषोत्तम ब्रह्म है। ब्रह्म सगुण, अशेषकल्याणगुणगणसागर, सर्व नियन्ता है एवं जीव उनका दास है। जगत् जड़ है और ब्रह्म का शरीर है। जीव, जगत् एवं ब्रह्म इन्हीं तीन मौलिक पदार्थों के आधार पर आचार्य रामानुज ने अपने मत का विस्तार किया।

आचार्य रामानुज ने प्रस्थानत्रयी पर भी भाष्य लिखकर विशिष्टाद्वैत संप्रदाय की विधिवत् स्थापना की। इन्होंने अपने मत में ब्रह्म को सूक्ष्म चित् और सूक्ष्म अचित् दो पक्षों से विशिष्ट (युक्त) कहा है और इस प्रकार चित्-अचित् विशिष्ट समग्र तत्त्व ब्रह्म ही है, ऐसी स्थापना की। ब्रह्म के इसी सूक्ष्म चित् से स्थूल चित् (जीव) तथा सूक्ष्म अचित् से स्थूल अचित् (जड़) उत्पन्न हुए। इस प्रकार ब्रह्म केवल निमित्त कारण है तथा स्थूल चित् (जीव) एवं स्थूल अचित् (जड़) उपादान कारण हैं। इस मत में जीव ब्रह्म का अंश है।

विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार ब्रह्म विशिष्टता से रहित कभी नहीं होता। चाहे प्रलय काल में वह कारण ब्रह्म के रूप में हो या सृष्टि काल में कार्य ब्रह्म हो। ब्रह्म प्रलयकाल में सूक्ष्म चिद्-अचिद् विशिष्ट रहता हैं तथा सृष्टिकाल में वह स्थूल चित्-अचिद् विशिष्ट रहता है। इस प्रकार प्रत्येक स्थिति में चिद्-अचिद् विशिष्ट स्थिति में रहने के कारण ही आचार्य रामानुज का वेदान्त-मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

रामानुज के मत में ब्रह्म सगुण एवं सविशेष है। वह निर्गुण नहीं। वह पुरुषोत्तम है, नारायण है। नारायण ही समस्त जड़-चेतन सत्ता के स्वामी हैं। वें निखिल गुणगणैकधाम नित्य वैकुण्ठ बिहारी हैं। उनकी शरण में जाने से ही जीव की मुक्ति होती है। प्रपत्ति (शरणागति) ही मोक्ष का सर्वोत्तम साधन है। रामानुज की उपासना प्रेम मूलक है। बहुदेवार्चन के स्थान पर इस संप्रदाय में विष्णु को ही महत्ता दी गई है तथा पुराणों में 'विष्णुपुराण' को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। सभी वर्णों को भक्ति का अधिकार दिया गया है, फिर भी ब्राह्मणों को प्रधानता दी गई है। इस संप्रदाय को श्रीसंप्रदाय कहते हैं। यों यह संप्रदाय श्रीसंप्रदाय एवं वैष्णव संप्रदाय दो वर्गों में विभक्त है। उत्तर भारत में वैष्णवसंप्रदाय का प्रचार है।

रामानुज के अनुसार तत्त्व तीन हैं—चिद् (जीव), अचिद् (जगत्) तथा ईश्वर। ईश्वर (ब्रह्म) चिद्-अचिद् दोनों से युक्त है। ईश्वर से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। ब्रह्म चिद्-अचिद् अंशों से विशिष्ट होते हुए भी एक है। ब्रह्म सगुण है। वही जड़-चेतन का आधार है। वह उपासना से ही प्राप्य है। अमृत, भूमा और अपनी महिमा में निवास करता हुआ भी वह आदि कारण नित्य, अज, अमर, अनंत, एक-रस एवं सर्वव्यापी है। ईश्वर अनंत इसलिए है कि चिद्-अचिद् में व्याप्त और सभी का अन्तर्यामी होते हुए भी वह चिद्-अचिद् दोनों से लिप्त नहीं है। ब्रह्म सगुण है, निर्गुण नहीं। वह पुरुषोत्तम है एवं कल्याणगुणों का भंडार है। वह सच्चिदानंद, चेतन और आनंदमय है। जीव शेष तथा ईश्वर शेषी है। ईश्वर ही जीव का नियामक हैं। जीवों की संख्या अनंत है। प्रकृति के संयोग से जीव जैसे-जैसे कर्म करता है, उसीके अनुसार बंधन में पड़ता है। आवागमन का कारण भी यही है। संसार के सभी पदार्थ ब्रह्मरूप हैं। इसी कारण वें सुखद हैं। उनका दुःखद प्रतीत होना आगन्तुक कारण है। दुःख का एकमात्र कारण आत्मा का भौतिक शरीर से तादात्म्य ही है। जिस प्रकार शरीर और आत्मा अलग-अलग हैं, उसी प्रकार ज़ीव और ईश्वर भी अलग-अलग हैं। फिर भी ईश्वर, जीव, जगत् का घनिष्ट संबंध है, अतः एक दूसरे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को पृथक् नहीं किया जा सकता । जीव अल्पज्ञ-एवं अनंत हैं और ईश्वर सर्वज्ञ एवं पूर्ण हैं । ईश्वर प्रत्येक जीव में व्याप्त है और उसका नियमन करता है । ईश्वर इसी कारण अंतर्यामी कहलाता है । ईश्वर स्वतंत्र एवं जीव अस्वतंत्र है । ब्रह्म और जीव में सेव्य–सेवक भाव है । सेवक कभी सेव्य वस्तु से अभिन्न नहीं हो सकता । इस तरह भेदाभेदवाद भी विशिष्टाद्वैत के समान ही है ।

ब्रह्म के अचिद् अंश से शरीर की उत्पत्ति होती है, किन्तु आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती । आत्मा नित्य एवं ईश्वर का अंश है । उपनिषद् में आत्मा को सर्वव्यापि कहा गया है । इसका कारण यह है कि आत्मा इतना सूक्ष्म है कि प्रत्येक अचिद् तत्त्व में वह अनुस्यूत है । रामानुज आत्मा को विभु न मानकर अणु मानते हैं । अद्वैतवादी ज्ञान को आत्मा का स्वरूप मानते हैं किन्तु रामानुज ज्ञान को आत्मा का धर्म मानते हैं ।

जीव और ब्रह्म में स्वगत भेद है । जीव और ब्रह्म दोनों चेतन, स्वयं प्रकाशमान, ज्ञानाश्रय, नित्य, देहादि से भिन्न हैं । जीव कर्ता, भोक्ता, ब्रह्म का शरीर तथा दास है । जीव की ब्रह्म से कभी अभिन्नता नहीं हो सकती । अप्राकृत चिन्मय शरीर से वैकुण्ठधाम में निवास की प्राप्ति मुक्ति है । यह मुक्ति ब्रह्म की कृपा से उनकी प्रपत्ति द्वारा प्राप्त होती है । विशिष्टाद्वैत मत शरणागति–प्रपत्ति का मार्ग है । न्यासविद्या (समर्पण) ही प्रपत्ति है । आनुकूल्य का संकल्प और प्रातिकूल्य का त्याग ही स्वरूप है । तात्पर्य यह कि शास्त्र विपरीत समस्त कर्म त्याज्य हैं और शास्त्राचार ही विहित है, क्योंकि शास्त्र ही भगवान् के आदेश हैं ।

माया : रामानुज के अनुसार माया ईश्वर की गुणमयी भावरूपा शक्ति है, जो ईश्वराधीन है और उसी में वह निवास करती है । रामानुज के मत में प्रकृति को ही माया कहा गया है । रामानुज प्रकृति को ईश्वर का अंश मानकर ईश्वर द्वारा ही उसे संचालित मानते हैं । रामानुज के मत में माया सत्य है, पर ईश्वर माया से स्वतंत्र है ।

जगत् : रामानुज के मत में ज्ञान शून्य, विकारयुक्त अचिद् तत्त्व ही जगत् है । सूक्ष्म चिद्–अचिद् ब्रह्म ही कारण है और स्थूल चिद्–अचिद् ब्रह्म ही कार्य है । यही सृष्टि की प्रक्रिया है । शंकर जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहते हैं। वहां रामानुज उसे परिणाम कहते हैं । रामानुज सृष्टि युक्त संसार को भ्रम नहीं मानते । इस प्रकार रामानुज के परवर्ती सभी आचार्यों ने शंकर के मायावाद का खंडन किया हैं ।

रामानुज के मत में ईश्वर कारण एवं जगत् कार्य हुआ । इस तरह कारण के सत्य होने से कार्य भी सत्य हुआ । कार्य कारण का विवर्त नहीं किन्तु परिणाम है । अतः जगत् ईश्वर की शक्ति अर्थात् प्रकृति का परिणाम हुआ । ब्रह्म कारण भी है एवं कार्य भी, तब सृष्टि को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ।

मोक्ष : रामानुज दास भाव से परमेश्वर की प्राप्ति को ही जीव का परम पुरुषार्थ अथवा मोक्ष मानते हैं । अर्थात् भगवान् के दासत्व की प्राप्ति ही मोक्ष है । दोष रहित, निर्मल ज्ञानयुक्त मुक्तात्मा ब्रह्म सदृश हो जाता है । रामानुज के अनुसार परमेश्वर की प्राप्ति ही जीव का परम लक्ष्य है । ज्ञानमुक्ति का साधन नहीं, किन्तु ध्यान, उपासना आदि मुक्ति के साधन हैं ।

यहाँ यह विचारणीय है कि शंकर के केवलाद्वैत तक वेदान्त केवल औपनिषदिक शुद्ध, अविकारी ज्ञान पर ही आधारित रहा, पर विशिष्टाद्वैत से निर्गुण के स्थान पर सगुण, ज्ञान के स्थान पर भक्ति–प्रपत्ति इत्यादि के रूप में स्थूलता की ओर हमारी वेदान्त धाराओं की प्रवृत्ति बढ़ी । वेद, उपनिषद् एवं उपनिषदों के समन्वयात्मक रूप वादरायण व्यास के **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** से शुद्ध ब्रह्मज्ञान एवं वेदान्त की जो निर्मलधारा बही,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह आचार्य शंकर तक तो परम निर्मल रही, पर परवर्ती नगरों की गंदी गटरों के मलिन जलों के मिलने से जैसे गंगा–यमुना का जल प्रदूषित हो जाता है वैसे ही पौराणिक सगुणोपासना एवं बाह्याचार प्रधान परवर्ती विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि संप्रदायों में वह उत्तरोत्तर मलिन होती ही गई और इस मलिनता का कुत्सित चरम रूप हम शुद्धाद्वैत वेदान्त से संबद्ध पुष्टिसंप्रदाय के 'समर्पण' एवं 'अधरामृत' जैसे कुआचारों में देख सकते हैं।

वेदान्त को हम शब्द की भांति दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं–(१) अविकारी (२) विकारी। शंकर का वेदान्त अविकारी है, निर्गुण है एवं परम शुद्ध है। शंकर के परवर्ती रामानुज का विशिष्टाद्वैत वेदान्त, मध्व का द्वैत वेदान्त, निम्बार्क का द्वैताद्वैत वेदान्त, वल्लभ का शुद्धाद्वैत वेदान्त, बलदेव का आचिन्त्यभेदाभेद वेदान्त इत्यादि सभी सगुण वेदान्त विकारी वेदान्त हैं। पुराण इन्हीं वेदान्तों के पोषक हैं और इन्हीं वेदान्तों की आत्मजा है–भक्ति, जिसने प्रबला होकर, हिन्दुत्व को क्षय एवं कुष्ठ रोग से पीड़ित कर रखा है। आज हिन्दुत्व बहु देवोपसना के दुर्गंध के दल–दल में फंसकर क्षीण हो चुका है, वह सब कुछ इन्हीं सगुण वेदान्त, इनके पुत्र पुराण एवं पुत्री भक्ति कन्या का कुफल है।

द्वैतवेदान्त (द्वैतवाद, शुद्ध–द्वैतवाद, स्वतंत्रास्वतंत्रवाद) :

द्वैत–वेदान्त के प्रमुख आचार्य मध्व हैं। जिन दिनों भारत में शांकरमत एवं भक्तिवाद का संघर्ष चल रहा था, उन्हीं दिनों मध्व के स्वतंत्रास्वतंत्र मत का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह कहा जा सकता है कि वैष्णवों के भक्तिवाद का ही परिणाम मध्व का मत है। मध्व ने शंकर के मत का तीव्र स्वर में खंडन किया है। विशिष्टाद्वैत मत पर तो शंकर का बहुत कुछ प्रभाव है, पर मध्व का मत उससे सर्वथा भिन्न है। मध्व ने अपने मत की पुष्टि के लिए प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा है।

मध्व मत में ब्रह्म स्वतंत्र है। वह स्वतंत्र प्रमेय है। वह सगुण है एवं सद्गुणों का आलय है। वह भाव और अभाव से परे है। पदार्थ दस हैं–(१) भाव–वस्तु, (२) गुण, (३) क्रिया, (४) जाति, (५) विशेषत्व, (६) विशिष्ट, (७) अंशी, (८) शक्ति, (९) सादृश्य, (१०) अभाव। ये सभी पदार्थ परतंत्र हैं। जो इनकी परतंत्रता को जानते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। तत्त्व दो हैं–स्वतंत्र एवं परतंत्र। इनमें से ब्रह्म स्वतंत्र है एवं जीव तथा उपर्युक्त दस पदार्थ परतंत्र हैं। ब्रह्म, शिव आदि अन्य सभी देवों में विष्णु श्रेष्ठ हैं। ये ही स्रष्टा, पालक एवं संहारक हैं। ये ही मुक्तिदाता हैं। ये ही काल, देश, गुण और शक्ति में असीम होने के कारण स्वतंत्र हैं।

जीव अणु है। वह परतंत्र है। वह प्रत्येक देह में भिन्न है। वह कभी भगवान् के साथ अभिन्न नहीं हो सकता। भगवान् सेव्य तथा जीव सेवक है। इसी कारण जीव भगवान् से भिन्न है। उसका ज्ञान ससीम है, इस कारण वह ईश्वर पर पूर्णरूप से निर्भर है। जीव दो प्रकार के हैं—दुःखी एवं दुःखरहित।

जगत् सत्, जड़ और परतंत्र है। भगवान् ही जगत् के नियामक हैं। काल की दृष्टि से जगत् असीम है। अचेतन वस्तु तीन प्रकार की है—नित्य, अनित्य और नित्यानित्य। जगत् सत्य है। शंकर ने जगत् को असत्य माना है, इसका मध्व ने खंडन किया है।

मध्व ने जीवन् मुक्ति एवं निर्वाण मुक्ति को व्यर्थ कहा है। इनके मत में वैकुण्ठ की प्राप्ति ही मुक्ति है। ईश्वर से जीव सर्वथा पृथक् है। इस प्रकार का पूर्णज्ञान होने पर, ईश्वर के गुणों की प्राप्ति होने पर, ईश्वर की अनंत, असीम शक्ति एवं गुणों का बोध होने पर तथा जगत् के सभी पदार्थों के यथार्थ स्वरूप

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का ज्ञान होने पर मुक्ति होती है। विष्णुलोक और रूप की प्राप्ति ही मुक्ति है। मुक्त जीव भी ईश्वर का सेवक है। मुक्ति के लिए इन पांच प्रपंच भेदों का ज्ञान आवश्यक है—(१) भगवान् जीव से पूर्ण पृथक् है, (२) भगवान् जगत् से पूर्ण पृथक् है, (३) एक जीव दूसरे जीव से पृथक् है, (४) जीव जगत् से पृथक् है, (५) जड़ जगत् के कार्य रूप में परिणत होने पर उसका एक अंश दूसरे अंश से पृथक् है। इन पांच प्रपंचात्मक भेदों के पूर्ण पार्थक्य के कारण ही इसे शुद्ध द्वैतवाद भी कहा जाता है। भक्ति ही मुक्ति का साधन है। त्याग, भक्ति ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है।

'श्रीमद्भागवत' के आधार पर स्थापित प्रथम संप्रदाय मध्व संप्रदाय ही है। इसमें द्वैतवाद के आधार पर कृष्णोपासना पर सर्वाधिक बल दिया गया है। पर यहां पर स्पष्ट करना उचित होगा कि उपनिषदों में द्वैत भाव को भयजनक कहा गया है—**'उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयजनं भवति'**[1] अर्थात् जब किसी भी तरह की द्वैत की भावना मनुष्य में उत्पन्न होती है, तो उसे भय होना प्रारंभ हो जाता है। तात्पर्य यह कि जब कि अद्वैत की भावना व्यक्ति को निर्भय बनाती है, तब द्वैत की भयभीत।

द्वैताद्वैत–वेदान्त (द्वैताद्वैतवाद, निम्बार्क संप्रदाय) द्वैताद्वैत वेदान्त के अनुसार द्वैत भी सत्य है एवं अद्वैत भी। 'ब्रह्मसूत्र' में इस मत का एवं आचार्य का उल्लेख मिलता है, इससे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है।[2] द्वैताद्वैतमत एक तरह से भेदाभेदवाद ही है। दसवीं शताब्दी में आचार्य भास्कर ने भेदाभेदवाद के आधार पर ब्रह्म पर विचार किया है, वह शिव या विष्णुपरक नहीं। ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य निम्बार्क ने 'ब्रह्मसूत्र' की विष्णुपरक व्याख्या करके द्वैताद्वैतमत की स्थापना की। इसको सनकादि संप्रदाय भी कहते हैं। ब्रह्मा के चारों मानस पुत्र सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमार ये चारों ऋषि इस मत के आचार्य माने जाते हैं।

निम्बार्क पहले भास्कराचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे। इनके मतानुयायी इन्हें सूर्य का अवतार मानकर यह मानते थे कि पाखण्डरूप अन्धकार को विनष्ट करने के लिए ही भूखण्ड पर भगवान् भास्कराचार्य अवतीर्ण हुए। इनका दूसरा नाम नियमानंद भी था।[3] ये जो निम्बार्काचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए, इसके पीछे भी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। ये वृंदावन के निकट रहते थे। उन दिनों एक दण्डी अथवा और किसी अन्य मत से एक जैन उदासीन इनके यहां अतिथि के रूप में आए। दोनों में संध्या तक विचार–विमर्श होता रहा। भास्कराचार्य अतिथि को भोजन कराना चाहते थे पर दण्डी एवं जैन लोगों में रात्रि भोजन निषिद्ध माना गया है। इस कारण अतिथि ने भोजन करने से मना कर दिया। तब भास्कराचार्य ने योगसिद्धि के द्वारा सूर्य की गति को रोक दिया। सूर्य उनकी आज्ञा से निकट के एक नीम (निम्ब) के वृक्ष पर कुछ काल के लिए स्थिर हो गया। जब अतिथि भोजन कर चुके तब भास्कराचार्य की आज्ञा लेकर सूर्य अस्त हुआ। तभी से भास्कराचार्य निम्बार्क या निम्बादित्य के नाम से प्रसिद्ध हो गए।

आचार्य निम्बार्क के मत में ब्रह्म, जीव और जड़ दोनों से भिन्न भी है और अभिन्न भी है, अर्थात् पृथक् भी है और अपृथक् भी है। इसी पर निम्बार्क का दर्शन निर्भर है। जीव एवं जगत् दोनों ब्रह्म के ही परिणाम हैं। जीव ब्रह्म से अत्यंत पृथक् और अपृथक् है। इसी प्रकार जगत् भी ब्रह्म से अत्यंत पृथक् एवं अपृथक् है।

वेदाध्ययन के पश्चात् जिज्ञासु कर्म की मीमांसा करता है। कर्मफल की नश्वरता की प्रतीति होने पर वह उसका निरादर करके भक्ति की ओर अभिमुख होकर ब्रह्ममीमांसा का अधिकारी होता है। निम्बार्क ने

१. वेदान्त विशेषांक (कल्याण) पृ. ४, २. हिन्दुत्व, पृ. ६७१
३. हिन्दुत्व, पृष्ठ–६७१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म को ही जो भगवान् वासुदेव हैं–जिज्ञासा का विषय कहा है—'**सर्वाभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासाविषयः**' भगवान् की प्रसन्नता और उनके दर्शन प्राप्त करना ही जीव का प्रयोजन है। भगवान् को प्रसन्न करने से ही जीव सभी तरह के दुःखों से मुक्त होता है एवं उसे परमानंद की प्राप्ति होती है। ब्रह्म सर्वशक्तिमान है एवं उसका सगुणरूप ही मुख्य है। वह जगत् के रूप में परिणत होने पर भी अविकारी ही रहता है। ब्रह्म जगत् से अतीत रूप में निर्गुण है। स्वरूपतः ब्रह्म जगत् से अतीत है। प्रलयावस्था में सारा जगत् ब्रह्म में लीन हो जाता है, पर उस स्थिति में भी उसमें विकार नहीं होता। अभेद होने के कारण ब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण एवं सृष्टि के कारण वह सगुण है।

जीव ब्रह्म का अंश है एवं ब्रह्म अंशी है। जीव और ब्रह्म दोनों भिन्न भी हैं तथा अभिन्न भी हैं। अंश–अंशी तथा 'अज्ञ' और 'ज्ञ' के होने के कारण ही दोनों में भेद है। अर्थात् ब्रह्म 'अंशी' एवं 'ज्ञ' है तथा जीव 'अंश' एवं 'अज्ञ' है। यही दोनों में भेद है। '**तत्त्वमसि**' श्रुति वाक्य ब्रह्म–जीव दोनों में अभेद कहता है।

ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान दोनों कारण है। ब्रह्म ही जगत् के रूप में परिणत हुआ है। प्रलय काल में जगत् ब्रह्म में लीन हो जाता है। जगत् के रूप में परिणत होने पर तथा जगत् के प्रलय काल में लीन होने पर भी ब्रह्म में कोई विकार नहीं होता।

जीव बद्ध है। वह अणु है। वह अल्पज्ञ है। मुक्तावस्था में भी वह जीव रूप में ही रहता है। जीव का नित्यत्व चिरस्थायी है। मुक्तावस्था में भी जीव अणु है। बद्धावस्था में जीव अपनी ब्रह्मस्वरूपता तथा जगत् की ब्रह्मस्वरूपता की प्राप्ति नहीं करता है, क्योंकि दृश्य जगत् के साथ वह एकात्मता को प्राप्त किए रहता है। किन्तु मुक्त स्थिति में जीव ब्रह्म के साथ अपने और जगत् के अभिन्नत्व की अनुभूति करता है। जीव इस स्थिति में स्वयं को एवं जगत् को ब्रह्म रूप में ही देखता है।

भक्ति ही साधन है। उपासना द्वारा ब्रह्म की उपलब्धि होती है। मुक्ति का एकमेव उपाय भक्ति ही है। ब्रह्म का सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों में विचार किया जा सकता है। भक्ति, उपासना आदि के द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

शुद्धाद्वैत–वेदान्त (ब्रह्मवाद, शुद्धाद्वैतवाद) :

दक्षिण भारत के पाण्ड्यविजय राज्य के राजगुरु देवेश्वर के पुत्र आदि विष्णुस्वामी ने बादरायण व्यास के 'ब्रह्मसूत्र' पर 'सर्वज्ञसूक्त' नामक भाष्य लिखकर शुद्धाद्वैत–वेदान्त का प्रवर्तन किया।[1] इन्हीं की शिष्य परंपरा में आचार्य वल्लभ (संवत् १५३५, वैशाख एकादशी) हुए, जिन्होंने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखकर शुद्धाद्वैत वेदान्तधारा को विशेष रूप से पुष्ट किया। आचार्य वल्लभ ने 'ब्रह्मसूत्र' के अणुभाष्य में अपना मत प्रकट किया है। इनका मत शंकर एवं रामानुज से बहुत अंशों में भिन्न एवं मध्व के द्वैत मत से साम्य रखता है। मध्व की भाँति इन्होंने भी श्रीकृष्ण को पूर्णब्रह्म माना है।[2]

वल्लभ के मत से ब्रह्म निर्गुण एवं निर्विशेष है। वही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है और गोलोक के अधिपति श्रीकृष्ण ही स्वयं ब्रह्म हैं। वही जीव के लिए सेव्य हैं। जीव अणु और सेवक है। जगत् (प्रपंच भेद) सत्य है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों शुद्ध हैं। इसी कारण यह मत शुद्धाद्वैत कहलाता है।

---

१. हिन्दुत्व, पृ. ६७४, २. हिन्दुत्व, पृ. ६७५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र रूप में वल्लभ का यही मत है । 'शुद्धाद्वैत' में शुद्ध शब्द का अर्थ है, माया रहित । माया रहित ब्रह्म ही जगत् का कारण एवं कार्य है ।[1] शुद्धाद्वैतवाद को ब्रह्मवाद भी कहते हैं । ब्रह्मवाद से अभिप्राय है, **'सर्वं ब्रह्मः इतिवादः ब्रह्मवादः'** । अर्थात् जीव, जगत् सभी ब्रह्मरूप हैं । जीव और जगत् दोनों ही सत्य हैं ।

ब्रह्म का स्वरूप : ब्रह्म सत्, चित् और आनंद स्वरूप है । वह सर्वत्र व्यापक, अव्यय, सर्वशक्तिमान एवं गुणवर्जित है । वल्लभ ने 'ब्रह्मसूत्र' के **'सर्वधर्मोपपत्तेश्च** (२-१-३७) के आधार पर ब्रह्म को सर्वमय कहा है । ब्रह्म अनंत स्वाभाविक गुणों से युक्त एवं मायाधीश है । वह अन्तर्यामी, वैश्वानर, आधार-आधेय, मुक्त, प्राणभूत, भूमन, अक्षर, प्रकाशक एवं परमात्मा है । शर्करा-पुत्तलिका की तरह वह सर्वांग आनंद स्वरूपी है । सच्चिदानंद ब्रह्म नित्य और उसकी लीला भी नित्य है । वल्लभ ने ब्रह्म के तीन रूप मुख्य माने हैं—(१) आधिदैविक परब्रह्म, (२) आध्यात्मिक अक्षर ब्रह्म, (३) आधिभौतिक जगत् ब्रह्म । आधिदैविक परब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप है । वह एकमात्र भक्ति से ही लभ्य है । वह केवल **'रसो वै सः'**[2] रस रूप है । श्रीकृष्ण ही स्वयं रसरूप परब्रह्म हैं । अक्षर ब्रह्म ज्ञानगम्य है । इसमें आनंदांश स्वल्पमात्रा में तिरोहित रहता है । यह जगत् ही आविभौतिक ब्रह्म है । कारण रूप ब्रह्म से परिणत होने के कारण कार्यरूप जगत् भी ब्रह्म ही है । वल्लभ के मत में ब्रह्म एक ही है-वह सगुण भी है । वह जागतिक गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण एवं आनंदादि दिव्यधर्म युक्त होने के कारण सगुण है । इस प्रकार वह निराकार भी है एवं साकार भी है ।

ब्रह्म का विरुद्धधर्माश्रयत्व : आचार्य वल्लभ ने **'उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत्'** ('ब्रह्मसूत्र' ३/२/२७) **'प्रकाशाश्रयद्वा तेजस्त्वात्'** (ब्रह्मसूत्र ३/२/२८) आदि सूत्रों के आधार पर ब्रह्म को विरुद्ध सर्वधर्मयुक्त माना है । **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** ऐसे कथनों से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म निर्धर्मक है तथापि सधर्मक है । निराकार है तो भी साकार है । निर्विशेष है तो भी सविशेष है । निर्गुण है तो भी सगुण हैं । वह अणु से भी अणु एवं महान् से भी महान् है । ब्रह्म के अनंत रूप हैं, फिर भी वह एक और व्यापक है । वह कूटस्थ (अचल) है फिर भी चल है । वह अकर्ता-कर्ता, अविभक्त, अगम्य-गम्य जैसे परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय है । वह दृश्य होने पर भी अदृश्य है । वह विविध प्रकार की सृष्टि करता है, फिर भी विषयों से दूर है । वह क्रूरकर्मा है, फिर भी निर्दय नहीं है । ब्रह्म और उसके धर्म सूर्य और प्रकाश की भांति अनन्य हैं । ब्रह्म अनेक रूपवाला है, फिर भी सैंधव की भांति अंदर और बाहर सदा एक रस है, शुद्ध है । वह निर्मम, निरपेक्ष और चतुर है, फिर भी भक्तों के पास वह डरपोक है, इच्छायुक्त है एवं प्रमत्त है । वह सर्वज्ञ है, फिर भी भक्तों के पास वह अज्ञानी है । 'भागवत' में कहा गया है—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः । प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥

१०-२९-४२

अर्थात् विह्वलतापूर्ण बातें सुनकर योगेश्वर भगवान् कृष्ण दयापूर्वक मुसकाये और आत्माराम होने पर भी गोपियों के साथ रमण करने लगे ।

---

१. **माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः । कार्य-कारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ॥**

शुद्धाद्वैतमार्तंड, गो. गिरधरजी

२. तैत्तिरीयोपनिषद्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म पूर्णकाम होने पर भी भक्त की कामना पूर्ण करने के लिए वह काम (इच्छा) से संतप्त है। दीन न होने पर भी वह भक्त के समक्ष नम्रतापूर्वक दीन वचन बोलता है। स्वयं प्रकाश होने पर भी वह भक्त के अतिरिक्त अन्य के पास प्रकाशित नहीं होता। वह बाहर और अंदर दोनों स्थानों पर रहता है। वह स्वतंत्र होने पर भी पराधीन है। वह आधार-आधेय है, फिर भी वह अविकृत एवं निर्लेप है। वह प्रमाण और प्रमेय, साधन और फल दोनों है। सभी वाद भ्रमजन्य कल्पना के परिणाम हैं। किसी भी वाद ने ब्रह्म के अंश का स्पर्श भी नहीं किया है, फिर भी ब्रह्म अपनी इच्छा से सर्व वादों के अनुकूल हो जाता है। प्रत्येक वाद 'अंधों के हाथी की तरह' ब्रह्म के एक-एक अंश का प्रतिपादन करता है। ब्रह्म सभी वादों का अनुसरण करता है, क्योंकि अक्षर, पद, वाक्य भी ब्रह्मरूप ही हैं। अवतार धारण करने पर वह प्रापंचिक जगत् के सभी धर्मों को स्वीकार करता है, फिर भी वह अचल एवं अच्युत है। वह निर्विकारी होते हुए भी कृपा करके जगद् रूप में परिणत होता है। इस प्रकार ब्रह्म सभी विरुद्ध धर्मों का आश्रय स्थान है और अपने अगाध माहात्म्य को प्रकट करता है। इसमें तर्क को कोई स्थान नहीं।

ब्रह्म का सर्वकर्तृत्व : निर्गुण ब्रह्म अपने अगाध माहात्म्य को प्रकट करने के लिए ही सृष्टि के रूप में परिणमित होता है। **'स एकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्'** ब्रह्म अकेला लीला नहीं कर सकता, अतः उसने दूसरे की कल्पना की और फिर **'एकोऽहं बहुस्याम्'** के रूप में वह स्वयं ही जीव, जगत् के रूपों में परिणमित होकर लीला करने लगा। इस प्रकार वह आविर्भाव-तिरोभाव के द्वारा अनेकविध लीलाएं करता ही रहता है। इस तरह जीव एवं जगत् के सभी कार्य ब्रह्म की ही लीला हैं।

ब्रह्म स्वयं पूर्ण है। वही कृष्ण है। सुवर्णकटक-कुंडलादिवत् वह जगत् रूप में विकार-रहित स्थिति में परिणत होता है। वह आनंद एवं रसरूप है, और **'परित्राणाय साधूनां'** के अनुसार वह प्रत्येक युग में अवतरित होता है।

उपनिषद्, 'गीता', 'भागवत', एवं अन्य कई पुराणों में ब्रह्म एवं कृष्ण में अभेद माना गया है। 'भागवत' में ऋषि गण, मनु, देवताओं, महातेजस्वी मनुपुत्रों और प्रजापतिगण को विष्णु का अंश बताकर कृष्ण को संपूर्ण कलाओं से युक्त भगवान् तथा भगवान्, परमात्मा एवं ब्रह्म को एकार्थवाची कहा है—

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महोजसः। कला सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ॥२७॥[1]
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्॥
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥[2]

आचार्य वल्लभ भी कृष्ण को ही ब्रह्म मानते हैं।

जीव : शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार अक्षर ब्रह्म के चिद् अंश से अग्नि से विस्फुलिंगों की भांति जीवों की ब्रह्म से परिणति होती है, अतः जीव, ब्रह्म के ही अंश कहे गए हैं—

विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि।[3]
आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामि रूपिणः। ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।[4]

---

१. भागवत १ ३-२७　　　२. भागवत १-२-११

३. सप्रकाशस्तत्त्वदीपनिबन्धः शास्त्रार्थप्रकरण, श्लोक-३३

४. गीता, अ. १५, श्लोक ७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीव ऐश्वर्य के अभाव में दीन एवं पराधीन, वीर्य के अभाव में दुःखी, यश के तिरोहित (अदृश्य) हो जाने के कारण हीन, श्री के अभाव में जन्ममरणादि जैसे अनेक दोषों से युक्त, ज्ञान के अभाव में अहंकारी, और सभी पदार्थों में विपरीत बुद्धिवाला तथा वैराग्य के तिरोभाव (लुप्त स्थिति) में संसार के विषयों में लिप्त रहता है—

अस्य जीवस्यैश्वर्यादि तिरोहितम्...तस्मात् ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्मतिरोभावः। ऐश्वर्यतिरोभावात् दीनत्वं, पराधीनत्वं, वीर्यतिरोभावात् सर्वदुःखसहनं, यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्वं, श्रीतिरोभावात् जन्मादि सर्वापद् विषयत्वं, ज्ञानतिरोभावात् देहादिष्वहं बुद्धिः सर्व-विपरीतज्ञानं चापस्मारसहितस्येव, वैराग्यतिरोभावात् देहादिष्वहं बुद्धिः सर्वविपरीतज्ञानं चापस्मारसहितस्येव, वैराग्यतिरोभावाद्विषयासक्तिः।[1]

इनमें से प्रथम चार—ऐश्वर्य, वीर्य, यश एवं श्री के अभाव में जीव का बन्धन तथा अंतिम दो—ज्ञान और वैराग्य के अभाव में विपर्यय (मिथ्याज्ञान) होता है। जीव में आनंदांश का तो पहले से ही अभाव था। इस प्रकार जीव बंधन की दशा में पराधीन, विपर्यय की दशा में मायालिप्त तथा आनंद के अभाव में दीनदुःखी होकर संसारचक्र में भ्रमित होता ही रहता है—

बन्धश्चतुर्णां कार्यो विपर्ययो द्वयोस्तिरोभावात् एवं नान्यथा, आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो, येन जीवभावः काममयः।[2]

भक्ति से जीव जब अविद्या से मुक्त हो जाता है, तब वह पुनः अपने मूल स्वरूप में आ जाता है और संसार के दुःखों से मुक्त होकर वह भगवद् कृपा से चार मुक्तियां प्राप्त करता है। यद्यपि भगवद् स्वरूप ज्ञान के लिए वल्लभाचार्य ने योगसिद्धि, दिव्यज्ञान एवं भगवद् कृपा—दृष्टि इन तीनों मार्गों को अनुसरणीय माना है तथापि इनमें से अन्तिम को उन्होंने सर्वाधिक महत्त्व दिया है। भक्तों ने इसी मार्ग को राजमार्ग कहा है क्योंकि इस पर कोई आंखें बंद करके भी दौड़ेगा तो वह न कहीं गिरेगा और न फिसलेगा ही। हरि तक पहुंचने का यही एकमात्र निष्कंटक मार्ग है—

धावन् निमील्य वा नेत्रे न पतेन् न स्खलेदिह। एषः निष्कंटकः पन्था यत्र संपूज्यते हरिः॥

आचार्य वल्लभ के अनुसार जीव अणु मात्र है। प्रकाश अथवा गंध की तरह ब्रह्म उसमें संपूर्ण रूप में व्याप्त है—

जीवस्तु अणुमात्रो हि गंधवद् व्यतिरेकवान्। व्यापकत्व श्रुतिस्तस्य भगवत्त्वेन युज्यते॥५७५[3]

आचार्य वल्लभ के अनुसार जीव सृष्टि दो प्रकार की है—देवी, आसुरी। दैवी सृष्टि भी दो प्रकार की है—पुष्टि, मर्यादा। पुष्टि के चार प्रकार के जीवों की उत्पत्ति पूर्ण—पुरुषोत्तम के श्री अंग से होती है। शुद्ध—पुष्ट जीव भगवद् रूप ही होते हैं। वे नित्य एवं मुक्त होते हैं। ऐश्वर्यादि षड्गुण उनमें सदा विद्यमान रहते हैं। वे भगवान् की नित्य सेवा का आनंद लाभ प्राप्त करते हैं।

आसुरी सृष्टि दो प्रकार की है—दुर्ज्ञ, अज्ञ। अज्ञ जीव भगवान् के प्रति द्वेषभाव रखने के कारण भगवान् के हाथों संहृत होकर उद्धार प्राप्त करते हैं। दुर्ज्ञ जीव अनंतकाल तक संसार—चक्र में भ्रमित होते ही रहते हैं।

---

१. अणुभाष्य, अध्याय—३, पाद २, सूत्र—५, २. अणुभाष्य, अध्याय—३, पाद—२, सू—५
३. तत्त्वदीपनिबंध, शा. प्र. ५, १५६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत् : जगत् का उपादान और निमित्त दोनों कारण ब्रह्म है । ब्रह्म के आधिभौतिक स्वरूप को ही जगत् कहा गया है। अतः जगत् भगवद् रूप है एवं भगवान् से अभिन्न है । जगत् सत् है, तभी तो **'भावे च उपलब्धेः'** ('ब्रह्मसूत्र'२-१-१५) के अनुसार उसकी उपलब्धि होती है । घट की सत्ता जैसे मिट्टी के रूप में विद्यमान है, तभी वह घटाकार में परिणत किया जाता है वैसे ही जगत् भी ब्रह्म का ही परिणत रूप है । घट की प्रथम मृत्तिका रूप अवस्था होती है, फिर घट रूप अवस्था–स्थिति में भी मृत्तिका रूप ही है और लय–अवस्था में भी मृत्तिका ही रह जाती है । इसी तरह ब्रह्म में से कार्य रूप जगत् उत्पन्न हुआ है, अतः कार्य ब्रह्म रूप ही है और लय होगा, उस समय भी ब्रह्म में ही—

पूर्वावस्था तु मृद्रूपा घटावस्था ततो भवेत् । घटोऽपि मृत्तिकारूपो लये पश्चाच्च मृत्तिका ॥४१॥

श्रुति में **'इदं सर्वं...'** कहा गया है । इसमें **'इदं'** से दृश्यमान संपूर्ण जगत् एवं **'सर्वम्'** से देखा गया तथा सुना गया समस्त जगत् आ जाता है । अतः सर्वदा विद्यमान रहनेवाला जगत् ब्रह्म रूप है । ब्रह्मरूप कार्य का कारण ब्रह्म ही है—

सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वमिदमाबोध्यते पुरः । सर्वशब्देन यावद्धि दृष्टि श्रुतमदो जगत् ॥५॥
बोध्यते तेन सर्वं हि ब्रह्मरूप सनातनम् । कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्यात्तु कारणम् ॥६॥[1]

'सत्याच्च अवरस्य' (ब्रह्मसूत्र २-१-१६) अवर (जगत्) तीनों कालों में विद्यमान रहता है, अतः वह सत्य एवं ब्रह्मरूप है । पूर्ण पुरुषोत्तम की इच्छानुसार अग्नि विस्फुलिंग की तरह अक्षर ब्रह्म के सत् अंश से जड़ जगत् की उत्पत्ति हुई है—**'विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि ॥'**[2] निर्गुण एवं अविकृत ब्रह्म में से जगत् आविर्भूत होता है, अर्थात् परिणमित होता है, तथापि वह अविकृत ही रहता है । अविकृत निर्गुण ब्रह्म ही जगत् का उपादान एवं निमित्त दोनों कारण है । वेदान्ती उपादान एवं निमित्त दो प्रकार के कारण मानते हैं । जैसे घड़े का मिट्टी उपादान कारण है एवं दण्ड, चक्र, कुम्हार आदि निमित्त कारण हैं । जगत् में सामान्यतः उपादान और निमित्त दोनों कारण अलग–अलग होते हैं, पर वेदान्त में जगत् का उपादान और निमित्त दोनों ही कारण ब्रह्म ही है । इस तरह उपादान एवं निमित्त दोनों कारण अभिन्न होने से यह सिद्धान्त अभिन्न निमित्तोपादान कारण नाम से भी अभिहित किया जाता है ।

शुद्धाद्वैत मत में जगत् की उत्पत्ति के संबंध में अविकृतपरिणामवाद के सिद्धांत का स्वीकार किया गया है । इसका तात्पर्य यह कि जगत् ब्रह्म का विकार–रहित परिणाम है । जिस प्रकार सर्प अपनी इच्छा से कुंडलाकृति हो जाता है और फिर भी वह निर्विकार रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी जगत् रूप में परिणत हो कर भी विकार रहित ही रहता है । सुवर्ण से कटक–कुंडलादि आभूषण निर्मित किये जाने पर भी सुवर्ण जिस प्रकार अविकारी रहता है और कामधेनु एवं चिन्तामणि से समस्त पदार्थों की उत्पत्ति होने पर भी ये दोनों जिस प्रकार अविकारी रहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म भी अविकारी है । इसी को अविकृतपरिणामवाद कहते हैं—

रमणार्थमिदं सर्वं ब्रह्मैव स्वेच्छयाभवत् । यथा सर्पः स्वेच्छया हि कुण्डलाकारतां गतः ॥
न विकारि तथा ब्रह्म व्यासैः सूत्रे निरूपितम् । सुवर्णस्याविकारित्वं कामधेनोर्मणेरपि ॥[3]

---

१. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, गो. गिरधरजी

२. सप्रकाशस्तत्त्वदीपनिबन्धः शास्त्रार्थ प्रकरण ॥३३॥ ३. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस प्रकार मकड़ी अपने ही शरीर में से निकाले हुए जाले से अपने आपको वेष्टित कर लेती है, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी ही माया से इस सृष्टि को परिणत करके उसके द्वारा स्वयं को आवृत कर लेता है—

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः। देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम् ।।[1]

ब्रह्म एकाकी क्रीड़ा नहीं करता है। वह दूसरे की इच्छा करता है। सर्प-कुण्डल, कामधेनु, कल्पवृक्षादि के रूप में आकार धारण करके तथा अनेकधा परिणमित होकर भी वह विकार रहित ही रहता है। इस तरह ब्रह्म जगत् रूप में चित्र-विचित्र एवं विविध क्रीड़ाएँ करता है। यह नामात्मक समस्त जगत् **'सर्वं खलु इदं ब्रह्मः'** के अनुसार ब्रह्म रूप है। नामात्मक ब्रह्म में अक्षर, पद, वाक्य रूप शब्द सृष्टि एवं रूपात्मक ब्रह्म में पृथ्वी, आकाश आदि समस्त भौतिक सृष्टि का समावेश हो जाता हैं।

वल्लभ के अनुसार सच्चिदानंद पूर्ण पुरुषोत्तम स्वेच्छा मात्र से सत्, चित् तथा गणितानन्द अक्षर ब्रह्म में परिणत होता है। अक्षर ब्रह्म ही पुरुष, कर्म और स्वभाव रूप धारण करता है। अक्षर ब्रह्म के चित् अंश से जीव रूप पुरुष एवं सत् अंश से प्रकृति (जगत्) का प्रादुर्भाव होता है। पुरुष और प्रकृति के साथ छब्बीस और तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार ब्रह्म सत्-चित् धर्म से अट्ठाईस तत्त्व होकर जगत् स्वरूप हुआ है—

अष्टाविंशति तत्त्वानां स्वरूपं यत्र वै हरिः। सिद्धान्तनिर्णय, पृ. १९५

जगत् और संसार : वल्लभाचार्य ने सर्वप्रथम जगत् और संसार के बीच तात्त्विक दृष्टि से भेद किया है। उनके अनुसार जगत् ब्रह्म का अंश एवं ब्रह्म का ही स्वरूप है। जगत् ब्रह्मकार्य है। अतः सत्य है। माया की अविद्या नामक शक्ति के द्वारा संसार निर्मित हुआ है। अतः जीव कृत संसार अहंता-ममतात्मक होने से झूठा है। जीव ने ही अपनी अविद्या कल्पना एवं भ्रम से इस संसार को बनाया है एवं ब्रह्म की अगाध शक्ति माया ही इसका निमित्त कारण है। किन्तु संसार उपादान कारण रहित है एवं इसका निमित्त कारण अविद्या है। ज्ञान से अविद्या का नाश होता है। फलतः 'यह मेरा है' यह तेरा है' आदि मोह नष्ट हो जाते हैं। इस तरह ज्ञान दशा के पूर्व तक ही संसार रहता है। मुक्ति मिलते ही संसार का लय हो जाता है किन्तु जगत् का लय तो भगवान् की इच्छा पर ही आधारित है—

प्रपंचो भगवत्कार्यः तद्रूपोमाययाभवत्। संसारस्यलयो मुक्तो न प्रपंचस्य कर्हिचित् ।।
कृष्णस्यात्मरतौ त्वस्य लयः सर्वसुखावहः ।।२८।। सप्रकाशस्तत्त्वदीपनिबन्धः, शास्त्रार्थप्रकरणम्

तात्पर्य यह कि जगत् ब्रह्म रूप है, किन्तु जीव का अविद्या-जन्य अभिमान अहंत्व, मेरे-तेरे का भाव संसार है। जगत् सत् एवं संसार असत् है। जगत् ब्रह्मकार्य है एवं संसार अविद्या-कर्म। जगत् ब्रह्मरूप है एवं संसार अहंता-ममतात्मक रूप। अहंता-ममतात्मक कल्पना का नाम ही संसार है। ज्ञानोपलब्धि से संसार का अहंता-ममतात्मक रूप नष्ट हो जाता है, किन्तु जगत् यथावत् बना रहता है। शंकर के मत में जगत् और संसार में कोई अन्तर नहीं है। जगत् (संसार) मायिक दृष्टि है एवं मिथ्या है—

अत्रैव शांकराः प्राहुर्मायिकं नश्वरं जगत्। शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, गो. गिरधर

माया : आचार्य शंकर ने माया को भ्रमरूपा कहा है जबकि वल्लभाचार्य ने माया को ब्रह्मवशा माना है। माया ब्रह्म की अगाध शक्ति रूपा है। उसके दो रूप हैं—विद्या तथा अविदया—

१. वेदान्त अंक, कल्याण, पृ. २

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते । ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखत्वं चाप्यनीशता ॥
सप्रकाशस्तत्त्वदीपनिबन्धः, पृ. २२

माया के विद्या एवं अविद्या ये दोनों स्वरूप ही ब्रह्म प्रेरित होकर क्रमशः जगत् एवं संसार का प्रसार करते हैं । अविद्या माया से जीव संसार में बन्धनदशा प्राप्त करता है तथा विद्या माया से मुक्ति । अविद्या माया के दो रूप हैं । प्रथम वह है जो व्यक्ति को भ्रमित करके विद्यमान का प्रकाश नहीं करता है तथा दूसरा अविद्यमान को प्रकाशित करनेवाला है—

माया च द्विधा भ्रमं जनयति, विद्यमानं न प्रकाशयति, अविद्यमानं च प्रकाशयति ।
सुबोधिनी, भागवत, २–१–६३

जीव को सांसारिक विषयों में फंसाये रखने का काम इसी अविद्या माया का है । यह जीव को ही भ्रमित करती रहती है, नहीं कि ब्रह्म को । क्योंकि माया ईश्वराधीन है—

'स ईशो यद्वशे माया स जीवो यस्तयार्दितः'[1]

विद्या द्वारा अविद्या के नष्ट होने पर ही व्यक्ति जीवन्मुक्त होता है—

विद्ययाऽविद्या नाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति ।[2]

आचार्य वल्लभ के अनुसार अविद्या माया को दूर करने का सरल उपाय 'पुष्टि' है । भगवत् कृपा (पुष्टि) प्राप्त होते ही व्यक्ति अविद्या के समस्त आवरणों से अपने आप मुक्त हो जाता है ।

मोक्षः विद्या द्वारा ही देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, अन्तःकरणाध्यास और स्वरूपाध्यास इन पाँचों अविद्या माया जन्य अध्यासों का विनाश हो जाता है एवं मोक्ष प्राप्त होता है । उपर्युक्त पांचों प्रकार के अध्यास दूर होते ही जीव हरि में लीन हो जाता है । विद्या पंचपर्वा मानी जाती है—

वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे । पंचपर्वेति विद्येयं यथा विद्वान् हरिं विशेत् ॥
सप्रकाशस्तत्त्वदीपनिबन्धः

वैराग्य, सांख्य, योग, तप एवं कृष्ण–भक्ति यही संयुक्त–रूपेण पंचपर्वा विद्या मानी गई है । इन्हीं से मोक्ष प्राप्ति होती है ।

आचार्य वल्लभ ने जीव तीन प्रकार के माने हैं—पुष्टिजीव, मर्यादाजीव और प्रवाहीजीव । पुष्टिमार्ग में जीव को मुक्ति का आनंद प्राप्त होना भगवद् इच्छाधीन है । वेद विहित साधनों से साधक सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य में से कोई एक मुक्ति प्राप्त करता है । शंकर का ज्ञान कष्ट साध्य है । इसके द्वारा साधक को अंत में मोक्ष प्राप्ति ही होती है । पुष्टिजीव के लिए लीला में लय होने की स्थिति को वल्लभाचार्य ने 'सायुज्यअनुरूपामुक्ति' अवस्था कहा हैं । शुद्धाद्वैत मत में यही श्रेष्ठ मुक्ति मानी गई है । इसी को स्वरूपानंद की मुक्ति भी कहते है । इसमें भक्त वैकुण्ठ से भी उत्कृष्ट गोलोकलीला की परमानन्दानुभूति प्राप्त करता है । इसमें भक्त पूर्ण पुरुषोत्तम की लीला में प्रविष्ट हो जाता है । सालोक्यादि चारों मुक्तियों की अपेक्षा न रखते हुए भक्त मात्र भगवान् की नित्य लीला में ही स्थान प्राप्त करने की इच्छा रखता है । पुष्टिभक्त चारों मुक्ति अवस्थाओं को छोड़कर भगवान् की गोलोक-लीला में ही आनंद प्राप्त करता है ।

---

१. श्रीमद्भागवत्, श्रीधरी टीका, ३-१-९६ २. सप्रकाशस्तत्त्वदीपनिबन्धः, शास्त्रार्थ प्रकरण ।

CC-0. Kangri Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृन्दावन-गोलोक : पूर्ण पुरुषोत्तम रसस्वरूप कृष्ण अपनी आनन्दमयी शक्तियों से जहां नित्य लीला-विहार करते हैं, वह गोलोक है। गोलोक ब्रह्म का ही स्वरूप है। भक्तों के परित्राण के लिए भगवान् जब भूतल पर अवतार लेते हैं, तब उनकी समस्त लीलाएं, अगाध शक्तियाँ तथा उनका नित्य-लीलाधाम गोलोक उनके साथ भूतल पर अवतरित होता है। व्रज-मण्डल गोलोक का ही रूप है। इसे वृन्दावन या गोकुल भी कहते हैं। गोलोक का महत्त्व वैकुण्ठ से भी अधिक माना गया है। पुष्टिभक्तों को गोलोक की प्राप्ति भगवत् कृपा से ही होती है।

रास : रस (आनंद) के तीन प्रकार हैं-लौकिक विषयानंद, अलौकिक ब्रह्मानंद तथा काव्यानंद।[1] काव्यानंद का आधार यह नाम-रूपात्मक रस (आनंद) संसार है। अत: इसमें आनंद की मात्रा स्वल्प रहती है। ब्रह्मानंद के आलंबन, उद्दीपनादि उपकरण भगवान् स्वयं होते हैं, अत: यह सर्वोत्तम माना गया है। इससे ऊपर केवल भगवान् कृष्ण को विभाव रूप मानकर उनके द्वारा जिस रस (आनंद) की उत्पत्ति होती है, वह ब्रह्मरस है। आचार्य वल्लभ ने इसी को भजनानंद कहा है—

ब्रह्मानन्दात् समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने। लीलाया युज्यते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते॥

—भागवत, सुबोधिनी टीका

इस प्रकार लौकिक विषयानंद तथा काव्यरस से इतर रसरूप श्रीकृष्ण के संसर्ग की लीलाओं में जो रस-समूह मिले, वही रास है और रस-समूह गोपी-कृष्ण की शरद् रात्रि की लीला में अपने पूर्ण रूप में वह स्थित बताया गया है। कृष्ण के साथ गोपियों की नित्य लीला ही वास्तव में 'रास' कहलाती है। रास के तीन प्रकार हैं—

(१) **नित्यरास** : गोलोक अथवा वृंदावन में अपनी आनंदमयी शक्तियों के प्रसार द्वारा भगवान् नित्य रसमग्न रहते हैं, यही नित्य-रास है।

(२) **अवतरितरास** : (नैमित्तिक रास) द्वापर में कृष्ण ने अवतार लेकर जो रास किया, वह अवतरित रास है। इसीको वल्लभ के मत में नैमित्तिक रास कहते हैं।

(३) **अनुकरणात्मकरास** : यह दो प्रकार का है—(अ) **मानसिक रास** : अपने भावना क्षेत्र में कृष्ण-भक्त जिस अखंड रास की अनुभूति करते हैं, वह मानसिक अनुकरणात्मक रास है। (आ) **दैहिक रास** : अभिनय मण्डली के रूप में भक्त कृष्ण लीला करते हैं-वह दैहिक अनुकरणात्मक रास है।

भक्ति के मुख्य चार भाव हैं-दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य। इनमें रासरसानुभूति मात्र माधुर्यभाव में ही होती है। वल्लभ के अनुसार मधुर भाव के उपासक पुष्टिभक्त को ही रास-लीला में प्रवेश रूप मोक्ष मिल सकता है। गोपी रूप में रास में रसेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से मिलन ही पुष्टिभक्त की चरम परिणति है।

अचिन्त्यभेदाभेदवाद (चैतन्य सम्प्रदाय) :

महाप्रभु चैतन्य (आविर्भाव संवत् १५४२, तिरोभाव संवत् १५९०) दार्शनिक नहीं, किन्तु कृष्ण-भक्त थे। वे कहा करते थे 'भागवत में रहते हुए ब्रह्मसूत्रों के भाष्य की क्या आवश्यकता है।'[2] महाप्रभु चैतन्य

---

१. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. भ्रमरलाल जोशी, पृ. ११४

२. हिन्दुत्व, पृ. ६८१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का जन्म बंगाल के नवदीप जिले में हुआ। बंगाल को गौड़ प्रदेश कहते हैं, अतः इस संप्रदाय को 'गौड़ीय-संप्रदाय' भी कहते हैं। महाप्रभु चैतन्य के शिष्यों में आचार्य रूप गोस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी एवं श्रीसनातन गोस्वामी प्रमुख हैं। श्रीजीव गोस्वामी ने ही वृन्दावन में सर्वप्रथम राधा-दामोदर के मंदिर की प्रतिष्ठा की थी। वृन्दावन में कृष्ण के साथ राधा को संयुक्त करने का तथा कृष्ण के साथ राधा की भक्ति को प्रारंभ करने का श्रेय चैतन्य संप्रदाय को दिया जाता है। जीव गोस्वामी वे ही सुप्रसिद्ध गोस्वामी हैं, जिन्होंने मीरां से कहा था-'मैं किसी भी स्त्री से नहीं मिलता' और इसके उत्तर में मीरां नें कहा था-'मुझे आज ज्ञात हुआ कि व्रज में दूसरा पुरुष भी है।' एक ब्राह्मण ने इन्हें शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया तो इन्होंने बिना शास्त्रार्थ किए ही उसे विजय-पत्र लिख दिया। फिर उस ब्राह्मण ने इन्हें संध्या न करते हुए देखकर पूछा, 'आप ब्राह्मण होकर संध्या नहीं करते हैं तो' उत्तर में इन्होंने कहा--

हृदाकाशे चिदानन्द मुदा भाति निरन्तरम्। उदयास्तं न पश्यामः कथं सन्ध्यामुपास्महे॥
सद्भक्तिर्दुहिता जाता माया भार्यामृताधुना। अशौचद्वयमाप्नोति कथं सन्ध्यामुपास्महे।[1]

अर्थात् मेरे हृदयाकाश में चिदानंद स्वरूप भगवान् निरंतर प्रकाशित हैं। उनका न उदय होता है, न अस्त। सूर्य का उदय-अस्त देखकर संध्या की जाती है परन्तु मेरे हृदयाकाश में भगवान् रूपी सूर्य का उदयास्त नहीं होता। अतः मैं किस तरह सन्ध्या करूं? मेरे सद्भक्ति रूपी कन्या उत्पन्न हुई है और माया रूपी भार्या की मृत्यु हुई है। जनन आशौच एवं मृत आशौच के समय में मैं किस प्रकार संध्या करूं?

चैतन्य के अनुसार भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही जीवों के एकमात्र आराध्य हैं। उनका धाम वृन्दावन है, जहां वे निरंतर वास करते हैं। उनकी आराधना का मार्ग एक मात्र अनिर्वचनीय उपासना है। जिसका आदर्श व्रज की गोपिकाएँ हैं। 'श्रीमद्भागवत' इसका प्रमाण है। प्रेम ही जीव का परम पुरुषार्थ है-

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो नापरः॥

वेदान्त अंक, कल्याण, १९३६

चैतन्य के अनुसार 'भागवत' ही वेदान्तसूत्र का भाष्य है। ऐसे भाष्य के रहते हुए चैतन्य ने अन्य किसी भी भाष्य की आवश्यकता नहीं समझी। फिर भी वे आचार्य मध्व के द्वैतवेदान्त से सम्बद्ध 'ब्रह्मसूत्र' के पूर्णप्रज्ञभाष्य को आदर की दृष्टि से स्वीकार करते थे। आचार्य मध्व के ही द्वैतवेदान्त का प्रतिपादन करते हुए चैतन्य महाप्रभु लिखते हैं—"मध्व के मतानुसार श्री विष्णु वेदैकवेद्य और परम तत्त्व हैं। विश्व सत्य है और जीव तथा जगत् का भेद भी सत्य है। समस्त जीव श्रीहरिचरणों के दास हैं, पर उनमें तारतम्य है। भगवान् विष्णु के चरणकमलों की प्राप्ति ही मोक्ष है और जीव को मोक्ष की प्राप्ति भगवान् के निर्मल भजन द्वारा ही प्राप्त होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण हैं। इन तीनों के द्वारा तत्त्वचिन्तन होता है—

श्रीमध्वः प्राह विष्णुं परतममखिलाम्नायवेद्यं च विश्वं
भेदं सत्यं च जीवान् हरिचरणजुषः तारतम्यं च तेषाम्।
मोक्षं विष्ण्वंघ्रिलाभं तदमलभजनं तस्य हेतुं प्रमाणम्
प्रत्यक्षादित्रयं चेत्युपदिशति हरिः कृष्णचैतन्यचन्द्रः॥ -श्रीमाध्वसिद्धान्त

---

१. हिन्दुत्व, पृ. ६८१, २. हिन्दुत्व, पृ. ६८१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्व का मत भी जहां कहीं 'भागवत' के विरुद्ध प्रतीत होता, चैतन्य महाप्रभु वास्तविक अर्थ की खोज करके समन्वय करने की चेष्टा करते थे। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर अठारहवीं शताब्दी में आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने सर्वप्रथम अचिन्त्यभेदाभेदवाद के अनुसार 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखा।[1]

अचिन्त्यभेदाभेद के मत में पांच तत्त्व हैं—ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म। निष्काम धर्म में निर्लिप्त चित्तवाला, सत्संगी, श्रद्धालु, शम-दमादि से संपन्न जीव ही ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी होता है। शिक्षादि षडंग, उपनिषद् के साथ समग्र वेद का अध्ययन करके, तत्त्वविद् आचार्य के साथ प्रसंग में अनित्य जगत् से नित्य ब्रह्म को जानकर, उसके विषय में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए 'ब्रह्मसूत्र' में चित्त लगाए। अधिकारी के लिए योगादि नहीं, किन्तु सत्संग आवश्यक है। इस मत में शास्त्र वाचक एवं ईश्वर वाच्य, निरवद्य (दोष रहित), विशुद्ध, अनंतगुणशाली, अचिन्त्य-अनंत-शक्ति, सच्चिदानंद पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही विषय एवं पुरुषोत्तम का साक्षात्कार करना ही प्रयोजन है।

ब्रह्म स्वतंत्र, कर्ता, सर्वज्ञ, मुक्तिदाता एवं विज्ञान स्वरूप है। वह पूर्ण चैतन्य, नित्य ज्ञानादि गुणों से युक्त है। वह प्रकृति आदि में प्रविष्ट होकर और उसका नियमन करता हुआ जगत् की सृष्टि करता है तथा जीव को भोग और मुक्ति देता है। ब्रह्म विभु एवं जीव अणु है। ब्रह्म अविचिन्त्य शक्ति संपन्न होने से जगत् के रूप में परिणत है। जगत् का कर्ता, निमित्त एवं उपादान दोनों कारण ब्रह्म ही है। जगत् सत् होने पर भी अनित्य है। जीव अणुचैतन्य है। वह नित्य है। ईश्वर के प्रति विमुखता ही उसके बन्धन का कारण है। ईश्वर, जीव प्रकृति और काल ये चार पदार्थ नित्य हैं। इनमें से जीव, प्रकृति तथा काल ये तीनों ईश्वर के आधीन हैं। जीव ईश्वर की शक्ति एवं ईश्वर शक्तिमान हैं। ईश्वर गुणी एवं जीव, गुण, ईश्वर देही एवं जीव देह है। जीवात्माएं अनेक हैं एवं नानावस्थापन्न हैं। मुक्ति साध्य है एवं भगवत् कृपा से प्राप्त होती है। मुक्त को भगवत्-सान्निध्य प्राप्त होता है। वह मुक्तस्थिति में ब्रह्म से पृथक् रहता है। भगवद्धाम को प्राप्त करने के बाद जीव पुनः जन्म नहीं लेता। प्रकृति ब्रह्म की आश्रिता, नित्या एवं अधीना है। वह ब्रह्म की शक्ति है एवं उसी से ब्रह्म शक्तिमान है। सत्, रज और तमोगुण की साम्यावस्था ही प्रकृति है। प्रकृति ही तम, माया आदि नामों से पुकारी जाती है और वह ईश्वर के ईक्षण से उद्बुद्ध होकर विचित्र जगत् का उत्पादन करती है। काल नित्य एवं ईश्वराधीन है। वह भूत, भविष्य, वर्तमान, चिर, क्षिप्र आदि नामों से अभिहित किया जाता है। वह चक्रवत् परिवर्तित होता रहता है एवं वह प्रलय एवं सृष्टि का निमित्त भूत जड़-द्रव्य विशेष है। कर्म जड़ पदार्थ है। कर्म अदृष्ट आदि नामों से अभिहित किए जाते हैं। कर्म अनादि एवं नश्वर हैं। कर्म ईश्वर की शक्ति एवं ईश्वर शक्तिमान है। **'तत्त्वमसि'** में **'तत्त्वम्'** पद का विग्रह **'तस्य त्वम्'** है। इस प्रकार **'तस्य त्वम् असि'** का अर्थ हुआ—तुम उनके हो। इससे ब्रह्म की जीव से भिन्नता सूचित होती है। भक्ति ही मुक्ति का मुख्य साधन है। ज्ञान एवं वैराग्य मुक्ति के सहकारी (गौण) साधन हैं। ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति से ही भगवत् प्राप्ति होती है। भगवान् शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, एवं मधुर इन पांचों भावों को स्वीकार करते हैं। ज्ञान का सार भक्ति है। भक्ति ह्लादिनी शक्ति एवं संवित् शक्ति की सारभूता है। इसी कारण वह आनंददायिनी एवं ज्ञान रूपिणी है।

भक्ति की साधन, भाव और प्रेम ये तीन अवस्थाएं हैं, जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। इन्द्रिय-प्रेरित सामान्य भक्ति साधन भक्ति जीव के हृदयस्थ प्रेम को जाग्रत करती है। चित्त में स्निग्धता उत्पन्न करनेवाली शुद्ध सत्त्वरूपा भक्ति भाव-भक्ति है। भाव प्रेम की प्रथमावस्था है। यह भाव ही जब घनीभूत हो जाता है तब प्रेम कहलाता है। प्रेम ही प्रयत्न का चरम फल, जीव का नित्य धर्म एवं परम पुरुषार्थ है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर वेदान्त एवं उसकी महत्त्वपूर्ण धाराओं पर प्रकाश डाला गया है। 'मुण्डकोपनिषद्' में वेदान्त को विज्ञान कहा गया है और जो जिज्ञासु संन्यस्त, शुद्धचित्त एवं ब्रह्मनिष्ठ योगी की भांति वेदान्त-विज्ञान के अमृत-तत्त्व को प्राप्त कर लेता है, वह ब्रह्ममय होकर मुक्त हो जाता है-

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः, संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले, परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

ऊपर हम सभी भारतीय दर्शनों पर विचार कर चुके हैं। महर्षि चार्वाक का 'लोकायत' दर्शन हमारी भारतीय चिन्तनधारा का एक ओर का समुज्ज्वल बिंदु है तो दूसरी ओर का भगवान् बादरायण व्यास का वेदान्त दर्शन ।

वीरगाथाकाल से अद्यावधि तक के 'हिन्दी कृष्ण-काव्य' में वेदान्त के जिन तत्त्वों का निरूपण हुआ है, वे हैं—ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्, आत्मा, जीवात्मा, जगत्, संसार, भक्ति, माया (विद्या-अविद्या) मोक्ष, गोलोक, रास इत्यादि ।

दर्शनों में श्रेष्ठ एवं चिरंजीवी चार्वाक दर्शनः

'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' मनुष्य से बढ़कर और कोई देव-देवी, गंधर्व-किन्नर इत्यादि भी नहीं हैं। अर्थात् मनुष्य जीवन ही सबसे मूल्यवान है। इस श्रुति-आज्ञा की याथार्थिक चरितार्थता आर्ष-अनार्ष दर्शनों में यदि किसी नें सर्वाधिकरूप में दृष्टिगत होती है तो वह मात्र महर्षि चार्वाक के 'लोकायत' दर्शन में ही। अन्य दर्शनों में मनुष्य-जीवन अपने परम आवश्यक जीवन-रसों की प्रेप्सा से दूर-सा हटता प्रतीत हो रहा है, पर इस चार्वाक दर्शन के केन्द्र में तो केवल वह सर्वसाधारण मानव है, जो अपनी अनेक अपूर्ण कामनाओं, सुख-दुःख की संवेदनाओं, अभावों एवं जिजीविषाओं को लेकर जीवन के कहीं कंटकाकीर्ण, कहीं बियाबान, कहीं पथरीली, कहीं मैदान तो कहीं शोले बरसते, जलते रेगिस्तान में से होकर गुजर रहा है। पर वेदान्त का ब्रह्मजिज्ञासु तो वह मानव है जो जीवन को लगभग भोग चुका है, तृप्त हो चुका है, निवृत्त हो चुका है, थक चुका है, संभव है तन-मन एवं आत्मबल के अभाव में पलायनोन्मुख है और यह भी बहुत कुछ संभव है कि वह अपने जीवन के उदय, मध्याह्न एवं प्रौढ़काल में 'लोकायत' में भी जी चुका हो, पर सर्वसाधारण मानव के लिए तो प्रवृत्ति ही वरेण्य है और इसकी ओर एक मात्र चार्वाक दर्शन ही व्यक्ति को अभिमुख करता है। लोक में आयत (व्याप्त) एवं चिरंजीवी होने के कारण ही महर्षि बृहस्पति एवं चार्वाक का दर्शन 'लोकायत' कहलाया। विश्व के लगभग निन्यानबे दशवलव निन्यानवे प्रतिशत (९९.९९) से भी अधिक लोग चार्वाक दर्शन में ही जी रहे हैं। दूसरे दर्शनों में इतनी संजीवनी शक्ति है ही कहां, जितनी कि इस लोकभोग्य महामहिम दर्शन में है। दूसरे दर्शन ब्रह्म, ईश्वर, भक्ति, माया, मोक्ष पर विचार करते-करते भले ही वे सागर से भी अधिक गहराइयों एवं हिमगिरि से भी अधिक ऊँचाइयों को पार कर जाएँ पर लोकव्यवहार की जड़ें तो सदा-सदा के लिए 'लोकायत' में ही सन्निहित रहनेवाली हैं। महर्षि चार्वाक के दर्शन का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। केवल लोक में व्याप्त विचार मिलते हैं, पर यह तो महर्षि चार्वाक के चिरंजीवी, लोकोपकारी क्रांतिकारी विचारों की परमोज्ज्वल विजय है। ब्रिटेन की प्रजा अपने लोकतंत्र के प्रति इतनी जाग्रत है एवं इतनी पठित है कि उसे लिखित संविधान की अपेक्षा ही नहीं है। इसी प्रकार स्वभावतः लोक जिसका आचरण करके ही जी रहे हैं, उस लोक-आयत (लोकायत) दर्शन के ग्रंथ की क्या आवश्यकता है ? लोकगीत, लोककथाएँ, लोक-किंवदन्तियाँ, लोकाचर, लोकोत्सव ये तो ऐसे शाश्वत सत्य हैं कि इनको लिपिबद्ध करने की आवश्यकता ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महसूस नहीं हुई है। नदी जैसे अपने अन्तःस्रोतों को सम्हाले रखती है, वैसे ही लोक-हृदय परापूर्व से ही इन्हें अपने आचरण में सुरक्षित रखता आ रहा है। शास्त्रों के रूढिचुस्त पंडितों एवं परंपरागत विभाजन के अनुसार हमने भी यों तो चार्वाक दर्शन को अनार्ष कहा है, पर इसका सही अर्थ में मूल्यांकन करने वाले तथा इसे परम आर्ष दर्शन कहनेवाले विद्वान् भी आज संख्या में कम नहीं हैं और जो व्यावहारिक भी है।[1]

महर्षि चार्वाक ने ईश्वर को निरी मानवीय कल्पना एवं शरीर को ही आत्मा कहा है और यों बारह में से आठ दर्शन ईश्वर को नहीं मानते हैं। जैन-दर्शन भी निरीश्वरवादी है पर वह यह मानता है कि प्रत्येक मानव सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र की साधना द्वारा स्वयं ईश्वर बन सकता है। अर्थात् एकदम निर्मल एवं विशुद्ध बन सकता है। यह भी एक सच्चाई है। हमारे प्राचीन युग में ऋषि, मुनि एवं विशेष प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति को 'भगवान्' एवं स्त्री होने पर 'भगवती' कहा ही जाता था। कालिदास, भवभूति इत्यादि के नाटकों में देखिए—'भगवान् वशिष्ठ पधार रहे हैं, 'भगवती अरुन्धती पधार रही हैं' इत्यादि प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलेंगे। हमने बादरायण व्यास के लिए 'भगवान्' विशेषण इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है। बौद्ध-दर्शन निरीश्वरवादी होने पर भी इसकी महायान शाखा के अनुयायियों ने स्वयं बुद्ध को 'भगवान्' कहा है। बौद्ध-मत में मन और देह का समुदाय ही आत्मा है।

विविध दर्शनों में ईश्वर एवं आत्मा :

आर्ष दर्शनों में सांख्य एवं पूर्वमीमांसा को छोड़कर शेष सभी ने ब्रह्म, ईश्वर एवं आत्मा पर विचार किया है। वैशेषिक एवं न्याय ने सृष्टि एवं लय ईश्वराधीन माने हैं। वैशेषिक ने आत्मा को ईश्वर नहीं, किन्तु सत्य एवं अनादि माना है। न्याय-दर्शन ने आत्मा के दो भेद माने हैं-जीवात्मा एवं परमात्मा। इस दर्शन के मतानुसार आत्मा ही संसार में आसक्ति-अनासक्ति का कारण है। सांसारिक विषयों से आत्मा को मुक्त करना ही न्याय-दर्शन का लक्ष्य है। सांख्यदर्शन ईश्वर को नहीं मानता पर पुरुष (आत्मा) एवं प्रकृति इन दो तत्त्वों को सृष्टि के अनादि तत्त्व मानता है।

निर्गुण ब्रह्म सत्य एवं सगुण ब्रह्म असत्य :

उत्तरमीमांसा (वेदान्त) का मुख्य प्रतिपाद्य ही ब्रह्म है। ब्रह्म का पारमार्थिक (सच्चा) रूप निर्गुण है तथा इसके मत में ब्रह्म एवं आत्मा अभिन्न हैं। शांकर वेदान्त ने ब्रह्म के निर्गुण रूप को पारमार्थिक (सच्चा) एवं सगुण को सोपाधि एवं मायावेष्टित अर्थात् ऊपर से थोपा गया, झूठा तथा सगुण वेदान्तियों द्वारा गढ़ा गया बनावटी रूप माना है। परवर्त्ती वेदान्ताचार्यों ने शंकर के निर्गुण मत का या तो कठोर शब्दों में खण्डन किया है या फिर उसे सगुण की अपेक्षा निम्नस्तरीय घोषित किया है। आचार्य रामानुज ने निर्गुण का निषेध करके ब्रह्म के सगुण रूप पुरुषोत्तम, नारायण की स्थापना की है। आचार्य निम्बार्क, आचार्य वल्लभ एवं महाप्रभु चैतन्य ने श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म एवं विश्वात्मा माना है। वल्लभ ने निर्गुण को सगुण की अपेक्षा निम्नस्तरीय माना है एवं उसे 'अक्षरब्रह्म' नाम दिया है। भगवान् बादरायण व्यास एवं शंकर ने आत्मा को ब्रह्म से अभिन्न माना है। जैसे वाक्य में प्रयुक्त शब्द 'पद'[2] बन जाता है, उसमें विशेष संदर्भ में अर्थ प्रकट करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही शंकर की दृष्टि में शरीरस्थ आत्मा ही जीव कहलाती है। रामानुज ने आत्मा को नित्य, अणु एवं ईश्वर का अंश माना है।

---

१. डॉ. मिस एस्तर सोलोमन, आचार्या एवं अध्यक्षा, संस्कृत विभाग, भाषा साहित्य-भवन, गुजरात विश्वविद्यालय के 'श्रीस्वामिनारायण आर्ट्स कॉलेज' के व्याख्यान से। श्रोताओं में डॉ. भ्रमरलाल जोशी प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग श्री स्वामिनारायण आर्ट्स कॉलेज, अहमदाबाद-२२

२. सुप्तिङन्तंपदम्, पाणिनि, अष्टाध्यायी १-४-१४ (सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञंस्यात्)

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार भारतीय दर्शनों में आत्मा विषयक विचारों का क्रमिक विकास हुआ है । चार्वाक आत्मा और शरीर को एक ही मानते हैं । बौद्ध आत्मा को विज्ञान-संतान मानता है । नैयायिकों ने आत्मा को एक नित्य द्रव्य माना है, जिसमें कई बाह्य कारणों के सामूहिक व्यापार के कारण चैतन्य का गुण समाविष्ट हो जाता है, पर वेदान्त तो आत्मा को स्वयं चैतन्य एवं ब्रह्म ही मानता है ।

निर्गुण-सगुण वेदान्तों में माया का निरूपण :

शंकर ने ही सर्वप्रथम विशेष दृष्टि से माया पर विचार किया है। उनका यह मत है कि यह जगत्, संपूर्ण विश्व-प्रपंच एवं नामरूपात्मक दृश्य सभी कुछ माया के कारण ही विभिन्न से प्रतीत हो रहे हैं, पर वस्तुतः ये एक, अखंड, शुद्ध, चिन्मात्र ब्रह्म ही है । शंकर ने बड़ी ही तर्कपूर्ण शैली में जगत् के मिथ्यात्व एवं ब्रह्म की सत्यता का प्रतिपादन किया है । रामानुज ने माया को ईश्वर की गुणमयी भावरूपा शक्ति माना है तथा इसे ईश्वराधीन कहा है । रामानुज प्रकृति को ही माया कहते हैं, जो ईश्वर द्वारा संचालित है । इनके मत में माया सत्य है, पर ईश्वर माया से मुक्त है । आचार्य वल्लभ ने माया को ब्रह्मवशा एवं ब्रह्म की अगाध शक्ति कहा है । वल्लभ ने माया के दो भेद माने हैं-विद्या माया तथा अविद्या माया । विद्यामाया से जगत् एवं अविद्या से संसार का प्रसार होता है । विद्या माया से परिणत होने के कारण जगत् ब्रह्म का ही स्वरूप है जब कि संसार अविद्याजन्य होने के कारण क्षणिक एवं मिथ्या है । शंकर के जगत् के मिथ्यात्व के विचारों का आचार्य वल्लभ ने जिन तर्कों द्वारा खंडन करके जगत् को ब्रह्म का स्वरूप एवं संसार को मिथ्या घोषित किया है, वह सगुण वेदान्त के क्षेत्र में उनका एक नवीन एवं मौलिक योगदान है ।

यह भी हम स्पष्ट कह देते हैं कि माया को सत्य माननेवाले सगुणवेदान्तियों ने ही साधु-संन्यासी, आचार्यों को मायालिप्त बनाया है । हिन्दूधर्म में जो सोलहवीं सदी से धर्म, भक्ति के नाम पर पाखण्ड चल रहा है वह सबकुछ इन्हीं सगुण वेदान्तियों की माया-पोषक राम-कृष्णादि की मनगढ़न्त कल्पित देव-पूजा की कुकृपा का फल है । हिन्दुत्व इनसे कब उबरेगा ? पौराणिक पाखण्ड-भक्ति के इन 'सूत-उवाच' जैसे पेटू सगुण कथावाचकों के दुर्गंधमय दल-दल से कब बाहर आएगा ? कह नहीं सकते ?

सृष्टि-निर्माण से सम्बद्धवाद :

सृष्टि निर्माण को लेकर आर्ष-अनार्ष दर्शनों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से अपने-अपने मतों की स्थापनाएँ कीं हैं जो 'वाद' के नाम से प्रसिद्ध हैं । बौद्धदर्शन ने **'प्रतीत्यसमुत्पादवाद'** की स्थापना करके यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि विश्व कार्य-कारण की शृंखला का ही परिणाम है । जिस प्रकार प्रत्येक ज्योति क्षणस्थायी होकर दूसरी ज्योति की उत्पत्ति का कारण बनती है उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का कारण अवश्य है और यही कारण-कार्य शृंखला जगत् के विकास की सच्ची व्याख्या है । जगत् क्षणस्थायी वस्तुओं का प्रवाह है, यही बौद्धदर्शन का **'प्रतीत्यसमुत्पादवाद'** है । सांख्य ने सृष्टि के विकास को समझाने के लिए **'सत्कार्यवाद'** की स्थापना की । इसके अनुसार न किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है, और न विनाश ही । **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** जो पदार्थ नहीं हैं, उनकी उत्पत्ति कभी नहीं होंगी एवं जो हैं, उनका कभी विनाश नहीं होगा । यही सांख्य का **'सत्कार्यवाद'** है । इसके अनुसार कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान रहती है । अर्थात् यह समस्त नाम-रूपात्मक जगत्रूपी कार्य 'मूल' प्रकृति रूपी कारण में अव्यक्तावस्था में विद्मान था । सत्कार्य के दो भेद हैं—परिणाम एवं विवर्त । वस्तु के स्वरूप में जो परिवर्तन होता है, उसे परिणाम तथा विवर्त कहा जाता है । इसी को सांख्य में **'परिणामवाद'** तथा वेदान्त में जगत् के मिथ्यात्व की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापना के संदर्भ में **'विवर्तवाद'** कहा गया है । बौद्धदर्शन असत् से सत्, न्याय दर्शन सत् से असत् की उत्पत्ति मानता है, किन्तु सांख्य का तर्क है कि किसी भी पदार्थ से विरोधी पदार्थ की उत्पत्ति संभव नहीं है । जो पदार्थ जिस पदार्थ से अन्वित (व्याप्त) है, उसका कारण भी वही (व्यापक) है । पदार्थ का नाश नहीं होता है । न्याय सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में **'आरंभवाद'** मानता है । इसका तात्पर्य यह कि ईश्वर सृष्टि उत्पन्न करता है । जब कि सांख्य **'परिणामवाद'** के सिद्धांत को प्रस्तुत करके कहता है कि सृष्टि का विकास अव्यक्त प्रकृति से उत्तरोत्तर विकार या परिणाम द्वारा अपने आप होता रहता है। वेदान्त ने परवर्ती सृष्टि–विषयक सिद्धांतों का खंडन करके **'विवर्तवाद'** की स्थापना की । इसके अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त अर्थात् कल्पित रूप है । वेदान्त ने इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए **'दृष्टि–सृष्टिवाद'** नामक एक और नवीन वाद प्रस्तुत किया । इसके अनुसार माया अथवा नाम–रूप हमारे मन की वृत्ति (कार्य) हैं । नाम–रूप की सृष्टि मन करता है और मन ही इन्हें देखता है । कुछ वेदान्तियों ने इस संदर्भ में **'बिम्बप्रतिबिम्बवाद'** को प्रस्तुत करके कहा कि ब्रह्म प्रकृति अथवा माया में अनेक रूपों में प्रतिबिंबित हो रहा है, जिसके कारण नामरूपात्मक दृश्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं । शुद्धाद्वैत वेदान्त ने इस संदर्भ में **'अविकृतपरिणामवाद'** प्रस्तुत किया है । जिसका तात्पर्य है कि जगत् ब्रह्म का ही विकार रहित परिणाम है ।

विविध दर्शनों में निरूपित मोक्ष :

मोक्ष को लेकर लगभग सभी आर्ष–अनार्ष दर्शनों ने अपने–अपने दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत किए हैं । चार्वाक दर्शन मृत्यु को ही मोक्ष मानता है । जैन–दर्शन सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र के आचरण द्वारा ही इसी जन्म में मोक्षोपलब्धि मानता है । बौद्धदर्शन विश्व को कार्य-कारण की शृंखला का परिणाम मानता है । **'निदान'** दुःख है और दुःख का मूल कारण अविद्या है । चार आर्य सत्य दुःख के मूल कारण हैं—(१) दुःख है, (२) दुःख का कारण है, (३) दुःख का अंत है, (४) दुःख निवारण का उपाय है । हम ज्ञान द्वारा समझ लें कि सांसारिक विषय क्षणिक हैं, दुःखद हैं तो दुखों का अंत हो जाए और पुनर्जन्म न हो । यही बौद्धदर्शन की दृष्टि में मोक्ष है । महास्थविर बुद्ध के वर्षों के चिन्तन, तप एवं स्वानुभूति का यह फल है । यह एक चिरंतन मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मन में उद्भूत किसी भी राग के कारण पर व्यक्ति तत्क्षण विचार करने लग जाए तो वह राग (दुःख–सुख का कोई भी भाव) अपने आप अपने व्यापार से पराङ्मुख हो जाएगा अर्थात् निवृत्त हो जाएगा, हट जाएगा । जैसे काम जाग्रत हुआ हो तो उसी क्षण व्यक्ति उसके मूलभूत कारण की ओर वैचारिक यात्रा करने लगे तो वह कुछ ही क्षणों में अकाम हो जाएगा—काम रहित हो जाएगा । फिर व्यक्ति जब–जब काम जाग्रत हो तब–तब इस प्रक्रिया में से स्वयं को गुजारता रहे तो शनैः शनैः एक दिन वह न केवल **'काम'** अपितु संसार के सभी **'रागों'** से मुक्त होकर बुद्ध की भाँति **'वीतराग'** हो जाएगा । यह वीतरागता ही बौद्धदर्शन में मुक्ति है । बौद्धदर्शनों में भिन्न–भिन्न रूपों में मुक्ति का वर्णन मिलता है, पर सभी में दुःख के ज्ञान को ही मुक्ति का आधार माना है । माध्यमिकदर्शन शून्यत्व, क्षणिक, दुःखरूपतादि की भावना करके शून्य में विलीन हो जाना ही **'निर्वाण'** मानता है । बौद्धदर्शन में निर्वाण का अर्थ जीवन की समाप्ति नहीं, अपितु जीवन की अनंत, शाश्वत शान्ति एवं परम सुखावस्था है । 'निर्वाण' का अर्थ है, मृत्यु के पश्चात् सर्वथा अस्तित्व रहित हो जाना । 'निर्वाण' से बुझने का अर्थ लिया जाता है, उसका आशय जीवन का अंत न होकर लोभ, घृणा, हिंसा, क्रोध इत्यादि राग–प्रवृत्तियों का बुझ जाना है । जब ज्ञान द्वारा वासनाएँ बुझ जाती हैं तब द्वादश भूत जीवन, भावी जीवन और वर्तमान जीवन के जो द्वादश भाव चक्र हैं, उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है । इसी कारण निर्वाण को **'सितिभाव'** की अवस्था कहा गया है । जीवन की यह पवित्रता, शांति, शिवत्व और प्रज्ञा अवस्था है । राग, द्वेष,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घृणा इत्यादि बन्धन के बीज हैं, इन्हीं से पूर्वजन्म का चक्र चलता रहता है। इनका निरोध कर देने से बन्धन के बीज अंकुरित एवं पल्लवित नहीं हो पाते हैं। जिस प्रकार भुने हुए बीजों को बोने पर वे अंकुरित नहीं होते, वैसे ही निरोध हो जाने पर कर्म बंधनों के बीज पुनः फलते-फूलते नहीं। निर्वाण वस्तुतः निःश्रेयस, मुक्ति, अमृत, परमानन्द, परमशांति की अवस्था है। यह वर्णनातीत है। यह तर्क और प्रमाण से रहित अलौकिक अवस्था है।

'शून्य' बौद्धदर्शन में एक ऐसा विचक्षण परमतत्त्व है कि इसके लिए बौद्ध दार्शनिकों को कोई भी नाम सार्थक नहीं लगा, अतः इसे उन्होंने 'शून्य' नाम दे दिया। जैसे अपने हाथ की एक अंगुली को **'तर्जनी'**, मध्यवाली को **'मध्यमा'** तथा सबसे छोटी को **'कनिष्ठिका'** कहा, पर एक शेष बची उसका कोई नाम नहीं मिला तो उसे **'अनामिका'**[1] कह दिया। वैसा ही आलम ना 'बौद्धदर्शन' में इस शून्य का है। इस शून्य का लोग अंडबंड अर्थ लगाते हैं। खुद तो भटके हैं ही और दूसरों को भी भटकाते हैं। अंधों से 'अंधे मिलें तो करे ठेलम् ठेल' वाली यह बात है। सगुण वेदान्ती एवं उनकी पौराणिक राम-कृष्णादि की पाखण्ड भक्ति भी अन्धों की ही ठेलम् ठेल है। योगाचार यह मानता है कि बाह्य पदार्थ शून्य है, ज्ञान ज्ञान है, इसके साक्षात्कार (अर्थात् बाह्य जगत् से निवृत्त होकर अन्तः करण में उसकी उपलब्धि) को ही वह मुक्ति मानता है।

सांख्य सृष्टि विश्लेषण का शास्त्र है। इसमें प्रकृति, पंचमहाभूत, पंचतन्मात्राएँ, बुद्धि, मन, अहंकार, पंचज्ञानेन्द्रियाँ एवं पंच कर्मेन्द्रियाँ यों सभी चौबीस तत्त्वों से मिश्रित ही संपूर्ण सृष्टि-वस्तु स्वीकार की गई है। इनके अतिरिक्त पुरुष नामक एक और सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है, जो चेतन और कूटस्थ है और जिसके संसर्ग से निश्चेतन प्रकृति गुणों की साम्यावस्था को छोड़कर त्रिगुणात्मिक सृष्टि के रूप में प्रकट होती है। यही पच्चीसवाँ तत्त्व है। सांख्य का इन्हीं से मिश्रित सृष्टि-निर्देश है। सांख्य की मुक्ति निवृत्तिमूलक है। जब मनुष्य सृष्टि के इस वास्तविक स्वरूप को जान लेता है, जब उसकी बुद्धि अपने सारे प्रस्तार को समेट लेती है। वह मुक्त हो जाता है। यही सांख्य की ज्ञानात्मिका मुक्ति है। ज्ञानावस्था में पुरुष (आत्मा) द्रष्टा मात्र रह जाता है। उसे (पुरुष-आत्मा को) अपना शरीर, इन्द्रियां, मन, अहंकार तथा बुद्धि के भेद समझ में आने लगते हैं और सुख-दुःख का अंत हो जाता है। यही सांख्य की कैवल्यावस्था है। अपनी जीवितावस्था में ही मानव यदि इस स्थिति तक पहुंच जाए तो वह जीवन्मुक्त तथा मृत्यु के पश्चात् देहमुक्त कहलाता है। सांख्य की मुक्ति ज्ञानात्मिका है तो योगदर्शन की मुक्ति क्रियात्मिका है। योगदर्शन चित्तवृत्ति के निरोध आदि के द्वारा आत्मा को परमात्मा में लीन कर देना ही मुक्ति मानता है। पूर्वमीमांसा दर्शन एक ओर चार्वाक की भांति निरीश्वरवादी एवं बाह्यसत्तावादी भौतिक दर्शन है तो दूसरी ओर यह वेदों पर सर्वाधिक आधार रखने के कारण आस्तिक दर्शनों में श्रेष्ठ है। इसमें दो विरोधी बिंदुओं का कैसा सुभग समन्वय हुआ है। एक ओर यह ईश्वर को नहीं मानता, पर दूसरी ओर यह वेदों को ही पूर्णरूपेण मानता है, एवं वेदमंत्र ही साक्षात् देवता हैं, इसका इसने बलपूर्वक प्रतिपादन किया है। यह परलोक एवं कर्म में विश्वास रखता है। यह दर्शन जगत् की वस्तुओं का निर्माण पूर्व संचित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्त्वों के ही संयोग से मानता है तथा यह मानता है कि इस लोक में किए गए कर्मों का फल परलोक में अवश्य मिलता है। इस दर्शन के अनुसार निष्काम कर्म करने से पूर्वजन्म के किए हुए कर्म नष्ट होते हैं तथा शरीरान्त होने पर मुक्ति प्राप्त होती है।

विविध वेदान्त मतों में मोक्ष

वेदान्त (उत्तरमीमांसा) ब्रह्म के साक्षात्कार को ही मोक्ष मानता है। इसके मत में जीव ब्रह्म का अभेद ज्ञान ही मोक्ष है। शांकर वेदान्त यह मानता है कि ज्ञान द्वारा जीव को अपने आप जब स्वरूप बोध हो

---

१. अनामिका-न नामिका, अनामिका अर्थात् जिसका कोई नाम न हो, बिना नामवाली।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है तब उसका मोक्ष हो जाता है। रामानुज के मत में नारायण की प्रपत्ति (शरणागति) ही मोक्ष है। आचार्य मध्व ने जीवन मुक्ति एवं निर्वाणमुक्ति की अपेक्षा वैकुण्ठ को श्रेष्ठ माना है। निम्बार्क ने भक्ति को ही मोक्ष का साधन माना है। भक्ति के द्वारा ही भक्त को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। आचार्य वल्लभ के अनुसार विद्या द्वारा ही देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, अन्तःकरणाध्यास और स्वरूपाध्यास ये पांचों अविद्याजन्य अध्यास (अज्ञान) नष्ट हो जाते हैं एवं मोक्ष प्राप्ति होती है। पुष्टि जीव के लिए वल्लभ ने लीला में लय होने को ही सायुज्य अनुरूपा मुक्ति अवस्था कहा है। शुद्धाद्वैत में यही श्रेष्ठ मुक्ति है। इसीको स्वरूपानन्द की मुक्ति भी कहा गया है। इसमें भक्त वैकुण्ठ से भी उत्कृष्ट गोलोक लीला की परमनन्दानुभूति प्राप्त करता है। इसमें भक्त पूर्ण पुरुषोत्तम की लीला में प्रविष्ट हो जाता है।

'हिन्दी कृष्ण-काव्य' में जिस कृष्ण का निरूपण हुआ है, वह महाभारतीय ऐतिहासिक महामानव कृष्ण नहीं किन्तु श्रीमद्भागवतीय, ब्रज-बिहारी, लीलावपुधारी कल्पित अर्थात् मनगढन्त भगवान् कृष्ण हैं। 'श्रीमद्भागवत' में कृष्ण को जगत् की उत्पत्ति का आदि कारण, आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःखों का अपहर्ता एवं सत्, चित् एवं आनंद स्वरूप कहा गया है, जो वाङ्मय एवं प्राणिमात्र में रस-रूप में अर्थात् प्राणरूप में विद्यमान है—

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्यादि हेतवे। तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः॥
वाङ्मये विग्रहे न्वस्मिन् राजते यो रसात्मना। तमानन्दमयं वन्दे नन्दनन्दनमीश्वरम्॥

—भागवत माहात्म्य

तथा 'भागवतमाहात्म्य' में 'श्रीमद्भागवत' को वेद रूपी कल्पवृक्ष का अमृतरसपूर्ण फल कहा है, जो शुकमुनि रूपी शुक के मुख से रस द्रवित होकर धरती पर गिरा है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं, शुकमुखादमृतद्रव संयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयम्, मुहुरहो रसिका भुविभावुकाः॥

इस प्रकार 'भागवत' वेदों का सार है तो 'कृष्ण' 'भागवत' का सार। इसीलिए तो महाप्रभु चैतन्य ने कहा है—'भागवत' में रहते हुए 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखने की क्या आवश्यकता है ?' जैसे माया रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर ब्रह्म, जीव-जगत् के रूप में विलसित हो रहा है, वैसे ही 'भागवत' का कृष्ण भी न केवल हिन्दी में अपितु वह भारतीय-अभारतीय, आर्य-अनार्य समस्त विश्व वाङ्मय में रूपायित हो रहा है।

'भागवत' को लेकर यहां एक बात और भी उल्लेखनीय है, और वह है—'भागवत' में कृष्ण के साथ गोपिकाएं हैं और यमुना-तट, वंशीवट, पनघट आदि लीला के सभी अंग हैं, पर वहां लीला का सार, जो राधा है, वही वहां नहीं है। राधा के अभाव में कृष्ण वहां सूखा-सूखा-सा, किसी मनचाही वस्तु के न पाने से बेचैन-सा, उदास-उदास-सा, बेचारा-सा, अधूरा-सा, किसी की खोज में भटकता-सा प्रतीत हो रहा है।

पर हमारा **'हिन्दी कृष्ण-काव्य'** कृष्ण एवं राधा दोनों का साहचर्य पाकर पूर्णकाम है। राधा-कृष्ण की गुप्त, निकुंज लीलाओं से समूचे कृष्ण-काव्य का 'पद-पद होत प्रयाग' प्रत्येक 'पद' प्रयाग[1] प्रिय-प्रिया

---

१. तजि तीरथ हरि राधिका तनदुति करि अनुराग। जिहि ब्रज केलिनिकुंजमग पगपग होतप्रयाग॥

बिहारीसतसई ॥४॥

तीर्थों को छोड़कर राधा-कृष्ण की तनद्युति से अनुराग करो क्योंकि व्रज के केलिनिकुंज के मार्ग में चलते समय उनका प्रत्येक पद प्रयाग हो रहा है। राधा का गौर वर्ण-गंगा, कृष्ण का श्यामवर्ण-यमुना तथा राधा-कृष्ण दोनों के वर्णों के मिलने से जो तीसरे हरित वर्ण की आभा हुई, वही सरस्वती है। इस प्रकार राधा कृष्ण का प्रत्येक पद त्रिवेणी संगम है। (हमने यहाँ 'पग-पग' के स्थान पर 'पद-पद' पाठ ग्रहण किया है।)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का मिलन–तीर्थ हो रहा हैं और राधा के तन की 'झांई'[1] पड़ने मात्र से ही कृष्ण का रोम–रोम प्रिया के पदतल में निछावर होने को तड़प रहा है। इन मधुर लीलाओं से विद्यापति से अद्यावधि तक का 'हिन्दी कृष्ण–काव्य' वसंत में महकती आम्रमंजरियों में स्व-प्रिया भ्रमरी का परम संतोष–सह मकरंद पान करते भ्रमर का जीवनोल्लास-सा प्रतीत हो रहा है। 'भागवत', वेद, उपनिषद् एवं वेदान्त का सार ही नहीं, किन्तु वेदादि से भी उत्तम एवं श्रेष्ठ फल है–

वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा। अत्युत्तमा ततो भाति पृथग्भूता फलाकृति ॥

भागवत–माहात्म्य २–६७

हमारा 'हिन्दी कृष्ण–काव्य' तो राधा की उपलब्धि से इस 'भागवत' रूपी विशेष फल के भीतर का अन्तःसत्त्व है। जिसे सूर, मीरां, रसखान, रत्नाकर जैसे परम भगवदीय शुकमुनियों ने जगत् के लिए सुलभ कर दिया है। राधा और श्याम तथा श्याम और राधा दोनों एक दूसरे के रंग में इतने अनुरक्त हो गए हैं कि वे अपना स्व का रंग (आपा) भी खो बैठे हैं। श्याम ने राधा को अपने हृदय में बसा लिया है तो राधा सदा छाया की भाँति श्याम–संग लगी ही रहती है। दोनों का बाह्य एवं आभ्यन्तर अद्वैत ही हमारे 'हिन्दी कृष्ण–काव्य' का प्रतिपाद्य है—

राधा स्याम स्याम–राधा–रंग।
प्रिय प्यारी को हिरदय राखत, प्यारी रहति सदा पिय के संग। —सूरसागर

राधा जैसे कृष्ण की स्वामिनी है, आत्मा है, वैसे ही 'हिन्दी कृष्ण–काव्य' की भी वह स्वामिनी एवं अन्तरात्मा है। मैथिली ने यदि अपनी करुणा के मोती नहीं दिए होते तो राम की 'लीला' की मांग बिना शृंगार के ही अनाथ रह जाती—

मांग भर पाती राम ? क्या तुम्हारी लीला की ?
मैथिली की करुणा, न देती उसे मोती जो।

–विष्णुप्रिया, मंगलाचरण, मैथिलीशरण गुप्त

इसी तरह राधा ने यदि कृष्णलीला की मांग को अपने समर्पण–रूपी मोती नहीं दिए होते तो वह भी कोरी ही रह जाती, कुंवारी ही रह जाती।

इस प्रकार उपरिकृत अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राधा भी हमारे 'हिन्दी कृष्ण–काव्य' का वेदान्त के तत्त्वों में से ही एक परम कमनीय तत्त्व है। अग्रिम अध्यायों में हम उपरि वर्णित इन्हीं वेदान्त विषयक तत्त्वों के आधार पर 'हिन्दी कृष्ण–काव्य' की समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

---

१. **मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।**
जा तन की झांहीं परै स्याम हरित दुति होय ॥१॥ बिहारी सतसई

जिस राधा के तन की स्वर्णिम आभा गिरने से कृष्ण का श्याम वर्ण हरा हो जाता है वह राधा मेरी भव बाधा हरे। हरित = अर्थात्–प्रसन्न होना।

* दोनों दोहे मैंने अपने गुरु डॉ. भ्रमरलाल जोशी की निजी हस्तलिखित प्रति से लिए हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ अध्याय

अष्टछाप के कवि : जीवन, काव्य, भक्ति एवं वेदान्त

१. सूरदास, २. कुंभनदास, ३. परमानन्ददास, ४. कृष्णदास,
५. नंददास, ६. गोविंदस्वामी, ७. छीतस्वामी, ८. चतुर्भुजदास

* अंकुरित होनेवाला चेतन-तत्त्व बीज में सर्वत्र व्याप्त होने पर भी निराकार होने से दिखाई नहीं देता, वैसे ही ब्रह्माण्ड में भी चेतन-तत्त्व निराकार रूप में व्याप्त है और यही तत्त्व ब्रह्म है। हमने इसी तत्त्व को कृष्ण नाम दिया है।

* इस तरह कृष्ण व्यक्तिवाचक नहीं, किन्तु समूहवाचक नाम हुआ, क्योंकि कृष्ण-कथन से समग्र चेतन अभिहित हो जाता है।

* यथार्थ में ब्रह्माण्ड ही ब्रज है। 'एकोऽहं बहुस्याम्' के आर्ष वचन के अनुसार पशु-पक्षी-कीट-पतंग एवं आप-हम सभी में राधा, गो, गोप, गोपियों के रूप में कृष्ण (ब्रह्म) ही लीला कर रहा है।

* जैसे कोई माता बालक को आकाश का चांद, पानी भरी कथरोट में दिखाकर फुसला दे, वैसे ही सगुण वेदान्तियों एवं पौराणिक कथा-वाचकों ने भी कृष्ण की गोकुल-ब्रजलीला अपने मन से गढ़कर बालबुद्धिवाले भक्तों को फुसला दिया है।

* वास्तव में कृष्ण तो सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त चेतन-तत्त्व है, जो निराकार है एवं नामरूपात्मक समग्र ब्रह्माण्ड ही उसका सगुण रूप है—

कृष्ण हि तैं यह जगत् प्रकट है, हरि में लय ह्वै जावै। —सूरदास

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ॥

चतुर्थ अध्याय

अष्टछाप कवि : जीवन, काव्य, भक्ति एवं वेदान्त

दर्शन एवं वेदान्त पर विचार कर चुकने के पश्चात् इस अध्याय में हम अष्टछाप के कवियों के जीवन, काव्य, भक्ति एवं वेदान्त–निरूपण पर विचार करेंगे ।

कृष्णभक्ति एवं कृष्णभक्ति से सम्बद्ध सम्प्रदाय : 'महाभारत', 'श्रीमद्‌भागवत', 'गीतगोविंद', इत्यादि संस्कृत के ग्रन्थों में वर्णित कृष्ण को लेकर हिन्दी में प्रचुर काव्य निर्मित हुआ है। व्यापकता की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का तीन चतुर्थांश कृष्णकाव्य है[1] और हिन्दी कृष्ण–कवियों की संख्या भी शताधिक है, पर सभी के काव्य में वेदान्त का निरूपण नहीं हुआ है। कृष्ण जहां शृंगार रस के आलंबन रहे हैं, वहां वे केवल रसिक नायक के रूप में चित्रित हुए हैं और जहां वे ब्रह्म, परमात्मा एवं ईश्वर के रूप में रूपायित हुए हैं, वहां किसी न किसी अंश में वेदान्त का निरूपण अवश्य हुआ है ।

हिन्दी में कृष्ण–काव्यधारा का प्रारंभ वीरगाथाकालीन कवि विद्यापति से ही माना जाता है और यह धारा वीरगाथाकाल से भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिककाल तक अक्षुण्ण रूप में प्रवाहित होती रही है । 'गीतगोविंद' के रचयिता कवि जयदेव के घोर अश्लील शृंगार का पूर्ण प्रभाव हमारे आदि हिन्दी–कृष्णकवि विद्यापति पर पड़ा है। अतः उनके पदों में कृष्ण का चित्रण रस–नायक के रूप में होने के कारण वेदान्त–निरूपण का अभाव है ।

मध्यकाल में एवं मुख्यतः पूर्वमध्यकाल अर्थात् भक्तिकाल (संवत् १३७५–१७००) में तो कृष्णभक्ति की बाढ़-सी आ गई । व्रज कृष्ण-भक्ति का केन्द्र बना और फलतः व्रज में कृष्णभक्ति से संबद्ध निम्नलिखित संप्रदाय अस्तित्व में आए :—

(१) **पुष्टि संप्रदाय** : प्रवर्तक, आचार्य वल्लभ, सिद्धान्तपक्ष–शुद्धाद्वैत वेदान्त ।

(२) **निम्बार्क संप्रदाय** : प्रवर्तक, आचार्य निम्बार्क, सिद्धांतपक्ष–द्वैताद्वैत वेदान्त ।

(३) **राधावल्लभ संप्रदाय** : प्रवर्तक, आचार्य हितहरिवंश, सिद्धांतपक्ष का सर्वथा अभाव । केवल शुद्ध राधाकृष्ण की प्रेमाभक्ति ही सम्मान्य ।

(४) **हरिदासी संप्रदाय** : (सखी संप्रदाय) प्रवर्तक, स्वामी हरिदास, सिद्धांतपक्ष का अभाव :

नाहीं द्वैताद्वैत हरि, नाहीं विशिष्टाद्वैत ।
बंधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छाद्वैत ।[2]

---

१. हिन्दी काव्य में कृष्णचरित के भावात्मक स्वरूप का विकास, पृ. ४०

२. हरिदासी–संप्रदाय के रीतिकालीन कवि श्री भगवत रसिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) चैतन्य संप्रदाय : (गौड़ीय संप्रदाय) प्रवर्तक, महाप्रभु चैतन्य, सिद्धांतपक्ष–अचिन्त्यभेदाभेद वेदान्त ।

व्रजमंडल के उपर्युक्त कृष्णभक्ति-संप्रदायों में (१) राधा–वल्लभ एवं (२) हरिदासी इन दोनों संप्रदायों ने स्वयं को वेदान्त से लगभग मुक्त रखा है । राधावल्लभ संप्रदाय में राधाकृष्ण की युगलोपासना होती है और इसमें भक्ति की ही प्रधानता है ।[1] पहले हितहरिवंशजी मध्वसंप्रदाय के अनुयायी थे, पर बाद में राधा ने इनको स्वप्न में दर्शन दिए । तभी से ये उनके उपासक हो गए । इस संप्रदाय में भक्त राधाजी को इष्टदेवी मानता है एवं अन्य दासी या दास भाव से भक्त उनकी सेवा करते हैं । इस संप्रदाय में कृष्ण की अपेक्षा राधा का अधिक महत्त्व है । राधा ही स्वामिनी एवं इस संप्रदाय की इष्टदेवी हैं । हरिदासी अथवा सखी संप्रदाय में भी राधाकृष्ण की भक्ति पर ही मुख्यतः बल दिया गया है । यों सिद्धांत पक्ष की दृष्टि से यह निम्बार्क संप्रदाय में आता है, पर इसमें भक्ति पर ही बल दिया गया है । चैतन्य संप्रदाय अथवा गौड़ीय संप्रदाय में भी कृष्णभक्ति को महत्त्व दिया गया है एवं वेदान्त की दृष्टि से यह अचिन्त्य-भेदाभेद वेदांत से संबद्ध है, पर इसमें भी कृष्ण–संकीर्तन को अधिक महत्त्व देने के कारण वेदान्त निरूपण अपेक्षित रूप में नहीं हो पाया है ।

पुष्टिसम्प्रदाय एवं हिन्दी कृष्ण–कवि : व्रजमंडल के उपर्युक्त सभी संप्रदायों में आचार्य वल्लभ द्वारा स्थापित पुष्टि–संप्रदाय भक्ति, दर्शन एवं काव्य–सर्जन इत्यादि सभी दृष्टियों से समृद्ध एवं महत्त्वपूर्ण है । हिन्दी कृष्णकवियों में वेदान्त निरूपण की दृष्टि से सर्व–प्रथम अष्टछाप के सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, नंददास, गोविंदस्वामी, छीतस्वामी एवं चतुर्भुजदास महत्त्वपूर्ण हैं । इनके अतिरिक्त हिन्दी भाषी क्षेत्र के जिन कवियों को हमने मुख्य रूप में अपने अध्ययन का विषय बनाया है, वे हैं–मीरां, रसखान, गवरीबाई भारतेन्दु हरिश्चंद्र, मैथिलीशरण गुप्त, जगन्नाथदास रत्नाकर एवं द्वारकाप्रसाद मिश्र । इनके अतिरिक्त हमने देव, बिहारी हरिऔध एवं रामधारीसिंह 'दिनकर' के काव्य में निरूपित वेदान्त विषय पर भी गौण रूप में विचार किया है ।

राजस्थान हिन्दीभाषी प्रदेश है । मीरां की ही भाँति मध्यकाल में राजस्थान के दक्षिण अंचल में डुंगरपुर नगर में वडनगरा (ब्राह्मण) गृहस्थ ज्ञाति में गवरीबाई नामक कृष्णभक्त कवयित्री हुई हैं ।[2] इनके कृष्णकाव्य में भी पर्याप्त मात्रा में वेदान्त निरूपण हुआ है । हिन्दीभाषी क्षेत्र की यह कवयित्री वेदान्त निरूपण की दृष्टि से हमें महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुई हैं । इसी कारण हमने इन्हें भी प्रस्तुत अध्ययन में सम्मिलित किया है ।

'स्थालीपुलाकन्याय'[3] के अनुसार आदिकाल के कवि विद्यापति से लेकर 'कनुप्रिया' के कवि डॉ. धर्मवीर भारती तक के शताधिक कृष्णकवियों में से हमने उपर्युक्त कवियों को ही अपने अध्ययन का विषय बनाया है । यों केवल हिन्दीभाषी क्षेत्र का प्रकाशित–अप्रकाशित हिन्दी कृष्णकाव्य ही इतना विशाल एवं समृद्ध है कि वेदान्त निरूपण की दृष्टि से उसका आमूल–चूड़ अध्ययन बड़ा दुस्तर है ।

इस अध्याय में हम उपर्युक्त हिन्दी कृष्णकवियों में से अष्टछाप के कवियों के जीवन, काव्य, भक्ति एवं वेदान्त पर प्रकाश डालते हैं एवं शेष कवियों पर अगले अध्याय में विचार किया गया है ।

---

१. राधावल्लभ-संप्रदाय सिद्धांत और अध्ययन–डॉ. विजयेन्द्र स्नातक
२. गवरीकीर्तनमाला, पृष्ठ–२७
३. तपेली में सीझते चावलों में से कुछ बाहर निकाल कर कितने सीझे हैं, इसकी परीक्षा करना ।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) सूरदास जीवन : माला में सुमेरु की भांति सूरदास हिन्दी कृष्ण–कवियों में मूर्धन्य हैं। भाव, कला, भक्ति एवं वेदान्त इत्यादि सभी दृष्टियों से इनका साहित्य कृष्ण–काव्य का प्रतिनिधित्व करता है। श्रीकृष्ण की बाल एवं शृंगारपरक लीलाओं का जिस व्यापकता से इन्होंने वर्णन किया है, हिन्दी ही नहीं, विश्व-साहित्य में वह अप्रतिम है।[1] सूर का जीवन–वृत्त विविध अनुश्रुतियों से समाच्छन्न है। अतः संशोधकों को इनका लौकिक–वृत्त स्वल्प–प्रमाण में ही उपलब्ध हो सका है। आज जब हम सूर के जीवन–वृत्त पर विचार करने के लिए प्रस्तुत होते हैं तब अनेक प्रकार की अनुश्रुतियों के आवरण को दूर करके ऐतिहासिक तथ्यों तक पहुंचना बड़ा दुष्कर प्रतीत होता है। सूर एक लोकप्रिय भक्तकवि एवं गायक थे। अतः एक कठिनाई और भी है। कई चक्षुहीन गायकों को लोगों ने सूरदास के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है। इस स्थिति में कई सूरदासों के चरित हमारे अष्टछाप के कवि सूरदास के साथ समन्वित हो गए हैं। इस प्रकार सूर के प्रामाणिक जीवन–वृत्त से अवगत होने के लिए पर्याप्त शोध–श्रम अपेक्षित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, ड़ॉ. दीनदयालु गुप्त, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. हरवंशलाल शर्मा, डॉ. व्रजेश्वर वर्मा. आदि विद्वानों की शोधपूर्ण लेख सामग्री के आधार पर हम यहां सूर के जीवन–वृत्त पर विचार करेंगे। साथ ही सूर ने भी यत्र–तत्र अपने पदों में अपने जीवन के संबंध में संकेत किए हैं। इसी प्रकार पुष्टि संप्रदाय से संबद्ध 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' 'वल्लभदिग्विजय' जैसे सम्प्रदाय के ग्रंथों में भी सूर के संबंध में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। उपलब्ध उपर्युक्त सभी तथ्यों के आधार पर हम यहां सूर के जीवन–वृत्त पर विचार करेंगे।

जन्म–काल : पुष्टि संप्रदाय में यह मान्यता चली आ रही है कि सूर आचार्य वल्लभ से आयु में दस दिन छोटे थे। आचार्य वल्लभ का जन्म संवत् १५३५ वैशाख कृष्ण १० उपरांत ११ निश्चित है। अतः इस दृष्टि से गणना करने पर सूर की जन्मतिथि संवत् १५३५ वैशाख कृष्ण पंचमी मंगलवार निश्चित होती है। सूर के जन्मकाल को लेकर एक और मत है। वड़ौदा कॉलेज के संस्कृत के प्राध्यापक श्री भट्ट के आधार पर आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने सूर का जन्मकाल संवत् १५३९ मानना अधिक समीचीन बताया है। पर इस मत को ड़ॉ. हरवंशलाल शर्मा जैसे सूर के विशेष अध्येताओं ने पूर्णतः प्रामाणिक नहीं माना है। डॉ. हरवंशलाल शर्मा लिखते हैं—'अभी तक भट्टजी का मत भी मान्य नहीं है, क्योंकि इनकी युक्तियां तब तक अकाट्य नहीं मानी जा सकतीं जब तक कि वे श्री वल्लभाचार्य के जीवन से संवद्ध घटनाओं को इस हेरफेर के साथ सिद्ध न कर दें। श्री वल्लभाचार्य जी के विषय में अभी तक 'वल्लभदिग्विजय' ही प्रामाणिक ग्रन्थ है और उसमें उनका जन्म संवत् १५३५ हीं माना है। इसलिए सूर की जन्मतिथि वैशाख शुक्ल ५ मंगलवार संवत् १५३५ ही निश्चित है।'[2] सूर के परवर्ती संशोधकों ने भी सूर का यही जन्मकाल माना है।[3]

जन्म–स्थान : सूर के जन्मस्थान के संबंध में गोपाचल, मथुरा प्रांत का कोई एक गांव, रुनकता तथा सीही ये चार स्थान प्रसिद्ध हैं। ग्वालियर का ही प्राचीन नाम गोपाचल था, ऐसी डॉ. पीताम्बरदत्त बडथ्वाल की मान्यता है। डॉ. बडथ्वाल ग्वालियर को ही सूर का जन्मस्थान मानते हैं।[4] डॉ. श्यामसुन्दरदास सूर का जन्मस्थान रुनकता मानते हैं।[5] श्री हरिरायजी ने सूर का जन्मस्थान सीही बताया है, जो दिल्ली से चार कोस दूर है। ड़ॉ. हरवंशलाल शर्मा भी इसी मत के समर्थक हैं।[6]

१. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, ड़ॉ. भ्रमरलाल जोशी, पृ. ३०४
२. सूर और उनका साहित्य, हरवंशलाल शर्मा, पृ. २४
३. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. भ्रमरलाल जोशी, पृ.–३
४. सूरदास, डॉ. बडथ्वाल, पृ. २५, ५. हिन्दी भाषा और साहित्य, डॉ. श्यामसुंदरदास, पृष्ठ–३२२
६. सूर और उनका साहित्य, डॉ. हरवंशलाल शर्मा पृष्ठ २५,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम-जाति : सूर के पदों में 'सूर', 'सूरदास', 'सूरश्याम', 'सूरस्वामी', 'सूरप्रभु' नामों का प्रयोग मिलता है। सूर ने प्रत्येक पद की अंतिम पंक्ति में उपर्युक्त नामों में से कोई एक नाम दिया है। कई पद तो ऐसे भी हैं, जिनमें 'सूरज' तथा 'सूरदास के प्रयोग भी मिलते हैं। डॉ. व्रजेश्वर वर्मा ने यह स्पष्ट लिखा है कि 'सूरज' और 'सूरदास' की भणितिवाले पद हमारे अष्टछाप के कवि सूरदास के नहीं हैं।[1] सूर के संशोधकों ने सूर सूरदास, सूरश्याम, सूरजस्वामी, सूरप्रभु नामों को भिन्न नाम नहीं माना है। इस तरह हमारे कवि का नाम सूरदास ही था। यों सूरदास को सूर के संक्षिप्त नाम से भी अभिहित किया जाता है।[2]

'ततो व्रजसमागमने सारस्वत सूरदासोऽनुगृहीतः'[3] आचार्य वल्लभ ने अपनी व्रजयात्रा में सारस्वत ब्राह्मण सूरदास को अनुगृहीत किया, दीक्षा देकर उन्हें अपना शिष्य बनाया। सूर के ब्राह्मण होने के संबंध में 'वल्लभदिग्विजय' में इस प्रकार का उल्लेख है। इसके विपरीत डॉ. व्रजेश्वर वर्मा का कथन है कि सूर ने अपने पदों में ब्राह्मण के लिए 'बामन' जैसा हीनतावाचक अपभ्रष्ट शब्द का प्रयोग किया है। सूर यदि ब्राह्मण होते तो कदापि इस प्रकार का प्रयोग नहीं करते। इस तर्क को प्रस्तुत करके डॉ. वर्मा सूर का ब्राह्मण होना स्वीकार नहीं करते हैं।[4] वे सूर को ढाढी, जगा अथवा ब्रह्मभट्ट मानना अधिक समीचीन समझते हैं।[5] इस संबंध में डॉ. वर्मा लिखते हैं—'ब्रह्मभट्ट होने के कारण परंपरागत कवि वंशज सूर सरस्वती पुत्र और और सारस्वत नाम से विख्यात हो गए हों, जो आगे चलकर भक्तों द्वारा सहज रूप में सारस्वत ब्राह्मण कर लिया गया हो।'[6] आचार्य नंददुलारे वाजपेयी इस संबंध में 'वल्लभ-दिग्विजय' को अधिक प्रामाणिक एवं विश्वस्त मानते हैं, क्योंकि यह ग्रंथ वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विठ्ठलनाथजी के षष्ठ पुत्र यदुनाथजी का लिखा हुआ है। इस ग्रंथ में सूर के सारस्वत ब्राह्मण होने का उल्लेख है।[7] डॉ. भ्रमरलाल जोशी ने भी अपने शोध-प्रबंध में सूर के सारस्वत ब्राह्मण होने के कथन का उल्लेख किया है।[8]

पारिवारिक जीवन : 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से यह ज्ञात होता है कि सूर जन्मांध थे। इस कारण उनके माता-पिता उनके प्रति उदासीन रहते थे। घर की निर्धन स्थिति एवं माता-पिता की उनके प्रति उदासीनता ने सूर को संसार से विरक्त बना दिया। सूर विरक्त-स्थिति में घर से निकलकर चार कोस की दूरी पर एक तालाब के किनारे चले गए और वहीं वे रहने लगे।

सूर का अन्धत्व : सूर जन्मांध थे या अमुक उम्र के पश्चात् अंधे हुए थे। इस पर विद्वानों में मतभेद है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी सूर की सूक्ष्म भाव-योजना एवं विपुल साहित्य को देखकर उनका जन्मांध होना स्वीकार नहीं करते।[9] 'संस्कृतवार्तामणिमाला' में श्रीनाथ भट्ट ने सूर को जन्मांध घोषित किया है।[10] डॉ. मुंशीराम शर्मा भी श्रीनाथ भट्ट के मत के समर्थक हैं। सूर को भगवद्

---

१. सूरदास, डॉ. व्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ ४, ५
२. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन—डॉ. भ्रमरलाल जोशी, पृ. ४
३. वल्लभदिग्विजय, पृ. ५०
४. सूरदास, व्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ ७, ५. सूरदास, व्रजेश्वर वर्मा, पृ. ७
६. सूरदास, व्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ ९, ७. महाकवि सूरदास, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पृ. ६७
८. सूरदास और नरसिंह महेताः तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. भ्रमरलाल जोशी, पृ. ४
९. हिन्दी साहित्य, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. १७५, १०. संस्कृतवार्तामणिमाला 'जन्मान्धो सूरदासोऽभूत्'।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृपा से दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई थी । दिव्यदृष्टि से उनका नवनीतप्रिय जी के दर्शन करने का उल्लेख मिलता है । कहा जाता है कि एकवार सूर की परीक्षा के लिए नवनीतप्रिय जी के शृंगार में मोतियों की माला धारण करवाकर सूर को उनके शृंगार-वर्णन करने के लिए कहा गया । नवनीतप्रियजी श्रीनाथजी के गोद के ठाकुरजी हैं । श्रीनाथजी का स्वरूप अचल है । शयन, शोभा-यात्रा, इत्यादि का चलित-सेवा-विधान गोद के ठाकुरजी द्वारा ही करवाया जाता है। सूर ने अपनी दिव्यदृष्टि से नवनीतप्रियजी के दर्शन करके पद गाया **'देखे री हरि नंगम नंगा ।'**[1] इसके अतिरिक्त 'सूरसागर' में भी ऐसे कई पद मिलते हैं, जिनमें सूर ने स्वयं को अंधा कहा है । इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर सूर को जन्मान्ध मानना ही अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है ।

शिक्षा : सूर की शिक्षा के संवंध में कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है । 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार यह कहा जा सकता है कि सूर अपने गाँव से चार कोस दूर के स्थान पर रहकर पद वनाया करते थे । संगीतशास्त्र के वे परम ज्ञाता थे । डॉ. दीनदयालु गुप्त का इस विषय में यह मत है कि सूर ने साधु-संगति से ही काव्य एवं गान-विद्या में नैपुण्य प्राप्त किया था। इस संबंध में डॉ. गुप्त लिखते हैं—'सूर ने किस प्रकार काव्य में नैपुण्य प्राप्त किया और गान विद्या सीखी । इसका कोई उल्लेख किसी ग्रंथ में नहीं मिलता । कदाचित् उनमें स्वाभाविक प्रतिभा थी और साधु-संगति से उन्होंने ज्ञान पाया और किसी गुणी भक्त से उन्होंने गान-विद्या सीखी' ।[2] 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि सूर वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व गान-विद्या में पूर्णतः निपुण हो चुके थे और यह भी सुप्रसिद्ध है कि आचार्य वल्लभ सूर के मुख से पद सुनकर ही उनसे प्रभावित हुए थे ।

श्री हरिरायजी ने 'भावप्रकाश' में यह लिखा है कि सूर छः वर्ष की अल्पायु में ही विरक्त होकर घर से निकल गए और चार कोस की दूरी पर एक तालाब के किनारे रहने लगे । बारह वर्ष की आयु तक वे वहीं रहे । इसके पश्चात् वे मथुरा-आगरा के बीच 'गऊघाट' पर रहने चले गए ।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार एक समय वल्लभाचार्य को अडेल से व्रज जाना था । मार्ग में वे विश्राम के लिए 'गऊघाट' पर ठहरे । आचार्यजी ने वहां सूर की प्रसिद्धि सुनकर उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की । सूर आचार्यजी के प्रखर पांडित्य से अवगत थे ही । वे उनसे मिलने के लिए चल पड़े । वल्लभाचार्य ने सूर को गाने का आदेश दिया । आज्ञा पाकर सूर ने **'हौं हरि सब पतितन कौ नायक'** पद गाया । सूर के दैन्य को देखकर आचार्यजी ने कहा **'जो सूर ह्वै कै ऐसा घिघियात काहे को है । कछु भगवल्लीला वर्णन करि ।**[3] सूर ने कहा **'जी महाराज हौं तो समझत नाहीं'**[4] तब आचार्यजी ने संप्रदाय विधि से उन्हें दीक्षा दी । अष्टाक्षर मंत्र **'श्रीकृष्णः शरणं मम'** सुनाया और समर्पण करवाया । इसके पश्चात् आचार्यजी ने उनको 'श्रीमद्भागवत' पर लिखी अपनी 'श्रीसुवोधिनीजी' टीका सुनाई । आचार्यजी कें कृपा-प्रसाद से सूर को नवधा-भक्ति प्राप्त हुई । तव सूर ने भगवल्लीला गान-करते हुए एक पद गाया **'चकई री चलि चरण सरोवर, जहां न प्रेमवियोग'** 'सूरसारावली' के आधार पर यह ज्ञात होता है कि सूर वल्लभाचार्य से दीक्षित होने से पूर्व कर्म, योग, ज्ञान, उपासना आदि में विश्वास

१. सूरसागर, पद ५०१
२. 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय', डॉ. दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ-२४
३. अष्टछाप, श्री गोकुलनाथकृत, संकलनकर्ता धीरेन्द्र वर्मा, पृ. ४ चतुर्थ संस्करण, १९५०
२. अष्टछाप श्री गोकुलनाथकृत, संकलनकर्ता, धीरेन्द्र वर्मा, पृ. ४ चतुर्थ संस्करण, १९५०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते थे, किन्तु संप्रदाय–प्रवेश के बाद आचार्य वल्लभ ने उनको तत्त्व सुनाकर लीला–भेद बताया। फलतः उनको अब अपने कर्म, योग, ज्ञान और उपासना के विश्वास भ्रमोत्पादक प्रतीत होने लगे।

सूर के संप्रदाय–प्रवेश के संबंध में ऐसा अनुमान किया जाता है कि आचार्यजी ने अपने काशी (सं. १५६३) और दक्षिण के राज्यसभावाले (सं. १५६५) शास्त्रार्थों के बाद ही उन्हें दीक्षित किया था। अतः यह समय सं. १५६५ के बाद का ही होना चाहिए।[1] 'वार्ता' से भी यह स्पष्ट होता है कि सूर को शरण में लेने से पूर्व आचार्य वल्लभ काशी एवं दक्षिण के शास्त्रार्थों में विजयी होकर 'आचार्य महाप्रभु की पदवी से विभूषित हो चुके थे।

आचार्य वल्लभ सूर को अपने साथ गोकुल ले गए और वहां नवनीतप्रियजी के दर्शन कराए। सूर ने दर्शन के समय **'सोभित कर नवनीत लिए'** पद गया। आचार्य वल्लभ ने प्रसन्न होकर 'श्रीमद्भागवत' की संपूर्ण लीलाएँ सूर के हृदय में प्रस्थापित कर दीं। संप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व सूर प्रायः विनय के पद गाया करते थे, जिनमें भगवल्लीला का कोई स्थान नहीं था। सूर को लीलागान का प्रसाद आचार्य वल्लभ की कृपा से ही प्राप्त हुआ था। गोकुल में कुछ दिन ठहरकर वल्लभाचार्य व्रज में गए। वहां उन्होंने सूर को श्रीनाथजी के दर्शन कराए। सूर ने वहां **'अब हौं नाच्यो बहुत गोपाल।'** पद गाया। आचार्य वल्लभ ने सूर को भगवद् यश वर्णन करने की आज्ञा दी। तब सूर ने **'कौन सुकृत इन व्रजवासिन को'** पद का गान किया। वल्लभाचार्य ने प्रसन्न होकर सूर को श्रीनाथजी की कीर्तन–सेवा सौंपी।

अष्टछाप की स्थापना : श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तन–सेवा का मंडान होने पर सूर उसके प्रथम नियमित कीर्तनिये नियुक्त किए गए। इसके पश्चात् दूसरे कीर्तनिये परमानन्ददास नियुक्त किए गए। कुंभनदास सूर से भी प्राचीन कीर्तनकार थे, पर गृहस्थ होने से अनियमित रहा करते थे। इस प्रकार आचार्य वल्लभ के समय में सूर एवं परमानंददास नियमित कीर्तनिये थे। वल्लभाचार्य के पश्चात् गोपीनाथजी के समय में भी यही क्रम चलता रहा, पर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने इस कीर्तन–प्रणाली को और भी व्यापक तथा व्यवस्थित रूप दिया। उन्होंने श्रीनाथजी की आठों समय की झांकियों के अलग–अलग कीर्तनकार नियुक्त किए। उनमें से सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास, कृष्णदास ये चार महाप्रभु वल्लभाचार्य के सेवक थे तथा छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास ये चार विट्ठलनाथ जी के सेवक थे। ये आठों मिलकर 'अष्टछाप' कहलाए। विट्ठलनाथजी ने संवत् १६०१ से १६०२ के मध्य 'अष्टछाप' की स्थापना की थी। इनमें सूर प्रमुख थे। 'वार्ता' में लिखा है कि परमप्रभु श्रीनाथजी स्वयं सखाभाव से अष्टछाप के कवियों के साथ खेलते थे। इसलिए वे 'अष्टसखा' भी कहे जाते हैं।

सूर से अकबर का साक्षात्कार : कुछ विद्वानों के मतानुसार बादशाह अकबर सूर से मिलने आये थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि तानसेन ने अकबर के समक्ष सूर का एक पद गाया। पद के भाव से मुग्ध होकर सम्राट् अकबर मथुरा जाकर सूर से मिले। सूर ने बादशाह को **'मना रे माधव सौं करु प्रीति'** पद सुनाया। बादशाह ने प्रसन्न होकर सूर से अपना यश–वर्णन करने का आग्रह किया। तब निर्लिप्त सूर ने **'नाहिन रह्यो मन में ठौर'** पद गाया। पद के अंतिम चरण **'सूर ऐसे दरस को ए मरत लोचन प्यास'** को लेकर बादशाह ने पूछा, **'सूरदासजी तुम तो अन्धे हो, फिर तुम्हारे नेत्र दरस को कैसे प्यासे मरते हैं?'** सूर ने कहा **'ये नेत्र भगवान् को देखते हैं और उस स्वरूपानंद का रसपान प्रतिक्षण करने पर भी अतृप्त बने रहते हैं।'** अकबर ने सूर को द्रव्य भेंट स्वीकार करने

---

१. सूरनिर्णय, मीतल, पृष्ठ–८३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अनुरोध किया । इस पर निडरतापूर्वक अपनी अस्वीकृति प्रकट करते हुए सूर ने कहा : **'आज पाछे हमको कबहूं फेरी मत बुलाइयो और मोको कबहूं मिलियो मती ।'**[1]

सूर त्यागी, विरक्त एवं भक्त थे । उन्हें सम्राट् अकबर की कृपा की कोई अपेक्षा नहीं थी । पुष्टि-मार्ग में निर्दिष्ट तनुजा, वित्तजा और मानसी सेवाओं में से कीर्तनकार होने के कारण सूर मानसी सेवा के परमभक्त थे ।[2]

सूर-तुलसी मिलन : बाबा वेनी माधव के मूल गोसाईं चरित के आधार पर कुछ विद्वान् सूर का तुलसी से भेंट करना प्रामाणिक मानते हैं, पर अधिकांश विद्वान् इस तथ्य को इतिहास-सम्मत न मानकर अप्रामाणिक बताते हैं ।[3]

सूर का गोलोकवास : 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार वल्लभाचार्य के लीलाधाम में पधारने के पश्चात् उनके पुत्र गो. विट्ठलनाथजी की उपस्थिति में श्रीकृष्ण की रासभूमि पारसौली में सूर का गोलोकवास हुआ । सूर अपना अन्त समय आया जानकर गोवर्द्धन पर्वत से सीधे पारसौली पहुँचे । वहां श्रीनाथजी की ध्वजा के संमुख शिथिलपांव होकर लेट गए । श्रृंगार के दर्शन में सूर की अनुपस्थिति से गो. विट्ठलनाथजी को सूर की स्थिति का अनुमान हो गया । उन्होंने उपस्थित वैष्णवों से कहा—**'जो पुष्टिमार्ग को जिहाज जाता है, जाकों कछू लेनो होय तो लेउ '**[4] सेवा-कार्य समाप्त करके कुंभनदास, गोविंदस्वामी, चतुर्भुजदास तथा अन्य वैष्णवों के साथ गोस्वामी विट्ठलनाथजी पारसौली पहुँचे । विट्ठल-नाथजी को सामने देखकर दण्डवत करके सूर ने पद गाया—**'देखो देखो हरिजू का एक प्रभाव ।'** तब चतुर्भुजदासजी ने कहा—**'सूरदासजी, भगवल्लीला गान तो आजन्म किया पर महाप्रभून का यश बर्णन नहीं किया ।'** यह सुनकर सूर ने कहा—**'मैंने तो महाप्रभु और भगवान् को कभी अलग करके देखा ही नहीं है ।'** इसके बाद **'भरोसो इन दृढ चरणन केरो'** पद गाया । इसके पश्चात् सूर अचेत हो गए । पुनः सचेत होने पर गोसाईंजी ने पूछा कि सूर तुम्हारे नेत्र की वृत्ति कहाँ है ? सूर ने उत्तर में अपना अंतिम पद सुनाया—

खंजन नैन रूप रसमाते ।
अति से चारु चपल अनियारे. पल पिंजरा न समाते ।
चलि-चलि जात स्रवनन के उलट फिरत ताटंक फंदाते ।
'सूरदास' अंजन गुन अटके, नातर अब उड़ि जाते ।[5]

सूर ने इस प्रकार परम शांति के साथ भगवान् की लीला में प्रवेश किया । उपस्थित वैष्णव समाज ने पारसौली में उनके शरीर की अंतिम विधि पूरी की ।

सूर के गोलोकवास के समय के संबंध में विद्वान् एक मत नहीं हैं । मिश्रबन्धु तथा आचार्य शुक्लजी संवत् १६२० सूर का निधन समय मानते हैं । 'सूरनिर्णय' में श्री मीतल तथा पारीख ने इस समस्या पर

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, दीनदयालु गुप्त, पृ. २०८, २. अष्टछाप, कांकरोली, पृ. ५६
३. सूरनिर्णय, मीतल, पृ. ९३, ४. अष्टछाप, गो. गोकुलनाथ, पृ. १५
५. अष्टछाप गो, गोकुलनाथ, पृ. १८

 CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्याप्त प्रकाश डालते हुए सं. १६४० तक सूर की अवस्थिति मानी है । डॉ. दीनदयालु गुप्त भी इसी द्वितीय मत से पूर्णतः सहमत हैं और यही मत अधिक प्रामाणिक भी प्रतीत होता हैं ।[1]

काव्य : 'वार्ता' साहित्य में सूर के सहस्रावधि पदों का उल्लेख मिलता है । जिससे कई विद्वान् उनके लिए सवा लाख पदों की संभावना प्रकट करते हैं । खोजरिपोर्ट के अनुसार सूर के अधिकाधिक २५ ग्रन्थ माने गए हैं—[2]

(१) सूरसारावली	(७) सूररामायण	(१३) नागलीला	(१९) सूरपचीसी
(२) साहित्यलहरी	(८) मानलीला	(१४) ब्याहलो	(२०) सेवाफल
(३) सूरसागर	(९) राधारसकेलिकौतूहल	(१५) प्राणप्यारी	(२१) सूर के विनय के स्फूट पद
(४) भागवतभाषा	(१०) गोवर्धनलीला	(१६) दृष्टिकूट के पद	(२२) हरिवंश टीका
(५) दशमस्कन्धभाषा	(११) दानलीला	(१७) सूरशतक	(२३) एकादशी माहात्म्य
(६) सूरसागर-सार	(१२) भंवरगीत	(१८) सूरसाठी	(२४) नलदमयन्ती
			(२५) रामजन्म

डॉ. दीनदयालु गुप्त ने 'सूरसागर', 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' इन तीनों ग्रंथों को ही सूरकृत माना है ।[3] 'प्राणप्यारी' को संदिग्ध तथा 'नलदमयंती' 'हरिवंश टीका', 'रामजन्म' और 'एकादशी माहात्म्य' इन चार कृतियों को उन्होंने अप्रामाणिक माना है । शेष कृतियों को उन्होंने 'सूरसागर' तथा 'साहित्य-लहरी' का ही अंश माना है एवं उन्हें प्रामाणिक बताया है ।[4] 'दृष्टिकूटपद' ग्रंथ का डॉ. गुप्त ने उल्लेख नहीं किया है । 'सूरनिर्णय' में श्री मीतल एवं परीख महोदय ने सूर की सात कृतियाँ प्रामाणिक मानी हैं—'सूरसारावली', 'साहित्यलहरी', 'सूरसागर', 'सूरसाठी', 'सूरपचीसी', 'सेवाफल' और 'विनय आदि के स्फुट पद' । आधुनिक आलोचक तो 'सूरसागर', 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' इन तीन ग्रंथों को ही सूर की मुख्य कृतियाँ मानते है ।[5]

'सूरसागर' वर्ण्यविषय : 'सूरसागर' सूर का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रंथ है । इसमें सूर के 'श्रीमद्भागवत' के आधार पर द्वादश स्कन्धों की रचना करने का उल्लेख मिलता है । 'सूरसागर' के प्रथम स्कन्ध के विनय के प्रथम पद में मंगलस्तवन, दूसरे पद में ब्रह्म का **'रूपरेख गुन ..बिनु'** रूप भ्रमात्मक होने से उसे **'सब विधि अगम'** घोषित करके **'सगुनपद'** गाने का उपक्रम किया है । तीसरे पद में जगत्–पिता, जगदीश, वासुदेव के भक्तवात्सल्य का स्मरण किया गया है । शेष पदों में मनुष्यों के कर्मों की व्यर्थता, दीनता, साधन–हीनता और संसार कर्दम में लिप्तता का वर्णन किया गया है । इन पदों में आत्मदैन्य के भाव प्रकट हुए हैं । ये ही भाव जीवन–संध्या के निकट आते–आते पुनः सूर के चेतनस्तर पर आकर मुखर हो गए हैं । 'श्रीभागवत–प्रसंग' इसके १२० पदों में 'भागवत' प्रथम स्कंध के १९ अध्यायों की कथा अतीव संक्षिप्त रूप से कही गई है । द्वितीय स्कन्ध के प्रारंभ के अधिकांश पद भक्ति–माहात्म्य, नाम–माहात्म्य, नाममहिमा, हरिविमुख निंदा, सत्संग महिमा आदि विषयों पर हैं । आगे विराट् रूप, ब्रह्म की **'एकोऽहं बहुस्याम्'** की इच्छानुरूप त्रिगुणात्मिका सृष्टि तथा चौबीस अवतारों का संक्षेप में वर्णन है । तृतीय स्कन्ध में 'भागवत' में ३३ अध्याय हैं पर सूरसागर में केवल १३ पद हैं । चतुर्थ में

१. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. भ्रमरलाल जोशी, पृ. ८
२. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. भ्रमरलाल जोशी, पृ. ८
३. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ. २९२ ४. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय पृ. २९८
५. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. भ्रमरलाल जोशी, पृ. २६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी १३ पद हैं। 'भागवत' के चतुर्थ स्कन्ध में ३१ अध्याय हैं। इस स्कन्ध का आरंभ दत्तात्रेय अवतार से किया गया है और पुरंजनोपाख्यान के पश्चात् ज्ञान एवं गुरु–महिमा के साथ यह स्कन्ध समाप्त होता है। पंचम स्कन्ध में केवल चार पद हैं, जिनमें ऋषभदेव और जड़भरत की कथाओं का वर्णन हैं। षष्ठ स्कन्ध में आठ पद हैं। सप्तम स्कन्ध में ८ पद हैं, जिनमें नृसिंह अवतार, त्रिपुर–वध और नारद उत्पत्ति की कथाएं वर्णित हैं। अष्टम स्कन्ध में १७ पद हैं। नवम स्कन्ध में १७४ पद हैं। दशम स्कन्ध के (पूर्वार्ध) में ४१६० पद हैं, जिनमें कृष्ण–जन्म, बाल–लीला, कंसवध तथा अक्रूर को पांडवों के पास भेजने तक का वर्णन है। सूर को हिन्दी कृष्ण कवियों में जो श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है, उसका श्रेय इसी स्कन्ध को है। एकादश स्कन्ध में ४ पद हैं। द्वादश स्कन्ध में बुद्धावतार, कल्कि–अवतार परीक्षित की हरिपद–प्राप्ति जनमेजय के नागयज्ञ की कथाओं का उल्लेख है।

सूरसारावली : 'सूरसारावली' ११०७ पदों का स्वतंत्र ग्रंथ है। सूर के प्रायः सभी अध्येताओं ने 'सारावली' की प्रामाणिकता पर विचार किया है। इनमें कुछ को छोड़कर अन्य सभी इस ग्रंथ को सूरकृत मानने के पक्ष में हैं।

डॉ. दीनदयालु गुप्त ने 'सूरसारावली' को सूर की रचना मानने के पक्ष में कई प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) इस ग्रंथ में व्यक्त–विचार वल्लभ–संप्रदायी विचारों से साम्य रखते हैं।
(२) वल्लभाचार्य ने सृष्टिविकास में २८ तत्त्व माने हैं। 'सूरसारावली' में २८ तत्त्वों का उल्लेख मिलता है।
(३) 'सूरसागर' एवं 'सूरसारावली' में भावसाम्य के साथ–साथ आत्म–विषयक कथनों में भी साम्य है।
(४) सूर के जैसा ही लालित्यपूर्ण व्रजभाषा का रूप 'सूरसारावली' में भी है।
(५) 'सूरसागर' के अनुरूप भावों के दृष्टिकूट पद 'सूरसारावली' में भी हैं।
(६) सूर के नाम की जो छापें 'सूरसागर' में हैं, वैसी ही 'सूरसारावली' में भी हैं।

वर्ण्यविषय :

संकर्षन के बदन अनल ते, उपर्जी अग्नि अपार।
सकल ब्रह्माण्ड तुरत तेज सों, मानो होरी दई पजार॥

इस तरह यहीं 'सारावली' का सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और प्रलय के आश्रय स्वरूप ब्रह्मवर्णन समाप्त होता है। जगत् के सर्जन और लय को 'होरी की लीला' के रूप में रखने का तात्पर्य 'सूरनिर्णय' में स्पष्ट करते हुए कहा गया है —'होरी में जैसे ऊँच–नीच का भेद तथा किसी प्रकार की संकुचित भावना नहीं रहती है, वैसे ही इस सृष्टि के खेल में सभी से सभी प्रकार के खेल ईश्वर करवाता है। इसमें सभी एकरस खेल होता है। इसलिए यह सारा जगत् ईश्वर के 'होरी खेल' के रूप में है।[1]

साहित्यलहरी : 'साहित्यलहरी' की प्रामाणिकता के संबंध में भी दो मत हैं। डॉ. व्रजेश्वर वर्मा इस ग्रंथ के मुख्य वर्ण्य–विषय शृंगार को लेकर यह मानते हैं कि सूर जैसा भक्त कवि इस प्रकार की शृंगारपरक रचना नहीं कर सकता है। 'सूरनिर्णय' में डॉ. व्रजेश्वर वर्मा के तर्कों पर पूरा विचार किया गया है। **'रसो वै सः'** श्रुति वाक्य के अनुसार भगवान् को रसरूप मानकर 'साहित्यलहरी' के शृंगार–वर्णन को भी इस ग्रंथ में भगवान् के आनंदरस की अभिव्यक्ति का कारण बताकर इस ग्रंथ को भी विद्वानों ने सूर–कृत

१. सूरनिर्णय, मीतल एवं परीख, पृ. १४३, २. सूरनिर्णय, मीतल एवं परीख, पृ. १४४, १४५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही माना है । डॉ. हरवंशलाल शर्मा 'साहित्यलहरी' के वर्तमान स्वरूप में कुछ प्रक्षिप्त पदों की संभावना स्वीकार करने पर भी इसे सूर-कृत मानते हुए **'नंदनंदनदासहित साहित्यलहरी कीन'** के आधार पर इसका निर्माण सूर ने नंददास के लिए किया था, ऐसा मानते हैं ।[1] डॉ. गोवर्धननाथ शुक्ल 'सारावली' की तरह इसे भी 'सूरसागर' का ही अंग मानते हैं ।[2] शुक्लजी का कथन है कि 'साहित्यलहरी' पर 'शृंगार-रस मण्डन', 'विद्वन्-मण्डन', 'गुप्तरस' तथा चैतन्य की परकीया भावना का ही अत्यधिक प्रभाव है । अतः अधिकांश विद्वान् इस ग्रंथ को भी 'सूरकृत ही मानते हैं ।

वर्ण्यविषय : सूर ने 'साहित्यलहरी' में भगवान् श्रीकृष्ण की किशोर लीलाओं को ही अपने काव्य का विषय बनाया है । इस ग्रंथ में पुष्टिसंप्रदाय की भावनानुसार जिन दृष्टिकूट पदों का संग्रह मिलता है, उनमें परकीया भाव का ही स्वर सबसे ऊंचा है । नायिका भेद के अनुसार इनमें अवस्था भेद के आधार पर १०८ नायिकाओं के भेदों का वर्णन किया गया है । इसमें अप्रत्यक्ष रूप से दृष्टिकूट शैली में भगवान् रसेश्वर कृष्ण की ही मधुर लीलाओं का गान किया गया है । इसमें कृष्ण की निकुंज लीलाओं को कूट के आवरण में रखने का यत्न किया गया है । जिसका प्रयोजन यह है कि कूट जैसे दुर्लंघ्य होता है, उसी तरह इन दृष्टिकूटों में निहित मधुर शृंगारभाव भी दुर्लंघ्य हैं, दुर्ज्ञेय है ।

'सूरसागर' सूर का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है । इसके दशमस्कन्ध में 'श्रीमद्भागवत' के आधार पर श्रीकृष्ण की बाल एवं यौवन लीलाओं का सूर ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है ।

सूर पुष्टिसंप्रदाय में दीक्षित थे । अतः उनकी भक्ति पुष्टिभक्ति थी । पुष्टिभक्ति का प्राण है, भगवान् का अनुग्रह । यों 'सूरसागर' में नवधाभक्ति-श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवा, अर्चना, वन्दना, दास्य, सख्य, आत्म-विवेदन-के सभी उदाहरण मिल जाते हैं । नवधा भक्ति के प्रथम छः भेद साधना भक्ति के अंतर्गत हैं एवं शेष तीन रागानुगा भक्ति के अंतर्गत आते हैं । भक्ति के मूल आधार भाव हैं । मानव प्रेम-संबंधी प्रधान-भाव चार हैं--दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य । इन्हीं सांसारिक भावों का संबंध लौकिकता से हटकर जब भगवान् के अलौकिक भावों में केन्द्रित हो जाता है, तब ये भक्तिभाव के रूप में परिणत हो जाते हैं । अर्थात् दास्य, सख्य आदि भावों का आलंबन सांसारिक व्यक्ति न रहकर जब भगवान् बन जाते हैं तब वे भक्तिभाव हो जाते हैं ।

सूर की भक्ति : कृष्ण की लीलाओं में सूर ने उपर्युक्त चारों भावों का वर्णन किया है । सूर ने पुष्टिसंप्रदाय की मान्यता के अनुसार भगवान् कृष्ण के बालरूप की चेष्टाओं का वर्णन करते हुए नंद-यशोदा आदि के द्वारा वात्सल्यभक्ति के भाव अभिव्यक्त करवाए हैं, कृष्ण के प्रति राधा एवं गोपियों के द्वारा माधुर्यभाव की अभिव्यंजना करवाई है, कृष्ण के सखा सुदामा, सुवल आदि के माध्यम से सख्यभाव की भक्ति की अभिव्यक्ति करवाई है एवं 'सूरसागर' के प्रथम स्कंध के सूर के विनय के आत्मपरक पदों में दास्यभक्ति प्रकट की है ।

सूर की भक्ति के प्रमुख भाव :

भक्ति के इन चारों प्रमुख भावों में सूर की भक्ति का मुख्य भाव सख्य माना जाता है क्योंकि संप्रदाय की मान्यता के अनुसार अष्टछाप के आठों कवि श्रीकृष्ण के अष्टसखा माने जाते हैं और सूर अष्ट सखाओं में प्रमुख थे । यों भक्तिभाव की तीव्रता की दृष्टि से विचार किया जाए तो दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य में से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं । सूर के पदों में सख्य भक्ति के साथ-साथ वात्सल्य एवं माधुर्य भक्ति

१. सूर और उनका साहित्य, डॉ. हरवंशलाल शर्मा पृ. ४५, २. सूर की साहित्य-साधना, पृ. ५४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भाव भी अपने चरम-बिन्दु तक पहुँचे हैं ।[1] गोपी भाव की एकांगी या ऐकान्तिक भक्ति भावना को ही माधुर्य भक्ति अथवा प्रेमलक्षणा भक्ति कहते हैं । 'सूरसागर' में कृष्ण, राधा एवं गोपियों के द्वारा रास, पनघट, दान, हिंडोला, वसंत, मान, इत्यादि लीलाओं में सूर ने माधुर्य भक्ति का ही निरूपण किया है ।

भाव प्रत्येक व्यक्ति के अंतःकरण के धर्म हैं । अतः वर्णनातीत एवं अनुभवैकगम्य हैं । मानव-हृदय ही भावों का सागर है, जो बाह्य सुख-दुःख के अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण से तरंगायित होते रहते हैं । भाव काव्य की आत्मा माने जाते हैं । काव्य के भावपक्ष में कवि निरूपित भावों का ही समीक्षण होता है ।

सूर भावनिरूपण की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में अप्रतिम हैं । कृष्ण की बाल एवं यौवन लीलाओं को लेकर 'सूरसागर' में सूर ने जो सूक्ष्म से सूक्ष्म चेष्टाओं एवं भावों की संयोजना की है, वह स्वयं में असाधारण है । श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं में वात्सल्य की अभिव्यक्ति हुई है । कृष्ण की बाल-सुलभ चेष्टाओं एवं व्यापारों का विविध रूपों में वर्णन करने में सूर अनुपम हैं । सूर को इसी कारण वात्सल्याभिव्यक्ति में विश्व में अप्रतिम कहा गया है । अपत्य-स्नेह के संयोग एवं वियोग दोनों के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति सूर ने मुख्यतः यशोदा के द्वारा ही करवाई है । सूर को यशोदा को लेकर डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—'यशोदा के वात्सल्य में वह सब कुछ है, जो 'माता' शब्द को इतना महिमाशाली बनाए है ।'[2] इस संबंध में डॉ. भ्रमरलाल जोशी लिखते हैं—'वास्तव में सूर ने यशोदा के द्वारा अपत्य भावों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति तथा उसके द्वारा मातृत्व का जो भाव-लेखन करवाया है, वह अखिल विश्व के मातृत्व का प्रतिनिधित्व करनेवाला है ।'[3] 'सूरसागर' में माखन-चोरी, चन्द्र-प्रस्ताव, गो-चारण आदि कृष्ण की व्रज की लीलाओं में वात्सल्य के संयोग पक्ष का वर्णन है तो कृष्ण के मथुरा-गमन के बाद वियोग वात्सल्य का ।

सूर का श्रृंगार-निरूपण : सूर के श्रृंगार के संबंध में कहा जाता है कि उन्होंने श्रृंगार को रस-राजत्व प्रदान किया है ।[4] उनके श्रृंगार के भाव अपने एक स्वाभाविक क्रम में पुष्ट होकर विकास की पूर्ण दशा तक पहुंचे हैं । राधा एवं गोपियों के साथ कृष्ण का मधुर प्रेम-भाव जीवन के प्रभात से ही विकसित होकर संभोग की विविध लीलाओं में शनैः शनैः पुष्ट होकर अंत में विप्रलंभ की आँच में निखर कर परमोज्ज्वलता प्राप्त करता है । गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटे ।[5]

वास्तव में गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रगाढ प्रेमाकर्षण घन-विद्युत् की भाँति सहसा चमक कर विलीन होनेवाला नहीं, किन्तु शुक्लपक्ष की कला की भाँति क्रमशः अभिवर्द्धित होनेवाला है ।[6] आचार्य शुक्लजी लिखते हैं—'इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं, सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं ।'[7] 'सूरसागर' में श्रृंगार के संभोग एवं विप्रलभ दोनों पक्षों के भाव निरूपित हुए हैं । व्रज की श्रीकृष्ण की राधा गोपियों के साथ की रास, पनघट, दान, मान, हिंड़ोला, वसंत इत्यादि लीलाओं में श्रृंगार के संभोग के तो अक्रूर के साथ श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन के पश्चात् राधा एवं गोपियों के विरह में विप्रलंभ के भाव प्रकट हुए हैं । संभोग श्रृंगार के वर्णन में सूर इतने खुल

---

१. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन—डॉ. भ्रमरलाल जोशी, पृष्ठ १३४-१३५.
२. सूरसाहित्य, पृ. १२०, १२१, ३. सूरदास और नरसिंह महेताः तुलनात्मक अध्ययन—डॉ. भ्रमरलाल जोशी
४. सूरदास और नरसिंह महेताः तुलनात्मक अध्ययन डॉ. भ्रमरलाल जोशी पृ. १८६, ५. भ्रमरगीतसार, पृ. १२
६. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन—डॉ. भ्रमरलाल जोशी, पृ. १८६
७. सूरदास, पृष्ठ. १६१,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गए हैं कि उन्हें हिन्दी साहित्य का एकमेव अद्वितीय घोर अश्लील शृंगारी कवि कहा जाए तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं। 'सूरसागर' के दान, मान, हिंड़ोला, एवं मुख्यतः खण्डिताओं के प्रकरण में संभोग वर्णन अपनी चरमदशा तक पहुँच गया है। जार प्रेम, विपरीत रति तक का वर्णन सूर ने किया है। 'सूरसागर' में खण्डिता नायिकाओं के प्रकरण में अन्यासक्त एवं बहुनायकत्व का कृष्ण में आरोप करके जो अश्लील शृंगार सूर ने गाया है, रस निरूपण की दृष्टि से तो अस्तुत्य नहीं कहा जा सकता—

काहू सौं कहि आवन सांझ। रहत और नागरि घर मांझ।[1]

अर्थात् कृष्ण ने एक गोपी से कहा कि मैं तेरे यहां रात्रि व्यतीत करूंगा और फिर वे किसी अन्य गोपी के यहां जाकर रात्रि व्यतीत कर आए। इस प्रकार नायक ने जिसका मन तोड़ दिया है, वह नायिका खंडिता नायिका हुई। रति-चिह्नों से मंडित श्रीकृष्ण प्रातःकाल के समय पूर्व वचन-दत्ता गोपी के पास पहुंचते हैं, उस समय की श्रीकृष्ण की मनोदशा का चित्रण एवं खंडिता गोपिका श्रीकृष्ण के साथ किस प्रकार का व्यवहार करती है, सूर का इस प्रकार का चित्रण अतीव मनोवैज्ञानिक है।[2] सूर ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ सुरत समय का एवं सुरतान्त का भी वर्णन किया है।

'भ्रमरगीत-प्रसंग' में उद्धव-गोपी संवाद में सूर ने विप्रलंभ के भाव अभिव्यक्त किए हैं। विप्रलंभ के भावों की अभिव्यक्ति में भी सूर असाधारण हैं।

नाभाजी ने अपने 'भक्तमाल' में सूर की कृष्णभक्ति एवं काव्यशक्ति को लेकर कहा है—

उक्ति, चोज, अनुप्रास, वरन, अस्थिति अति भारी।
वचन, प्रीति, निर्वाह, अर्थ, अद्भुत तुकधारी।
प्रतिबिंबित दिवि दृष्टि, हृदय में लीला भासी।
जनम करम गुन रूप, सबै रसना परकासी।
विमल बुद्धि गुन और की, जो वह गुन श्रवननि धरै।
सूर कवित्त सुनि कौन, जो नहिं सिर चालन करै।।[3] भक्तमाल, नाभाजी, सृ. ५३९

हमारा मुख्य प्रतिपाद्य है—सूर काव्य में भक्ति एवं वेदान्त निरूपण। सूर के 'सूरसागर' एवं 'सूर-सारावली' इन दोनों में ग्रंथों में भक्ति एवं शुद्धाद्वैत वेदान्त के तत्त्व निरूपित हुए हैं। आगे हम इसी विषय पर विस्तार पूर्वक विचार कर रहे हैं।

वेदान्त : अहोरात्र श्वास का अनुष्ठान चल रहा है। रहंट की भाँति श्वास महाप्राण के विराट् ब्रह्माण्ड-कूप से प्राणों का अर्घ्य भर-भरकर हृदयदेव को अर्पित कर रहा है। श्वास की ही भाँति 'हिन्दी कृष्णकाव्य' भी अपनी प्रत्येक मात्रा, यति, अक्षर, शब्द, चरण एवं छन्द की 'वाङ्‌मयी' पूजा का आध्यात्मिक मधुपर्क लीला पुरुषोत्तम विश्वात्मा श्रीकृष्णचन्द्र को अर्पित कर रहा है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं—

'इस (तत्त्वचिंतन) से न केवल 'भागवत' और 'सूरसागर' उपनिषद्, 'गीता', पुराण, भक्ति की सगुण-निर्गुण आदि शाखाओं के प्रवर्तक कवि, आचार्य रामानुज, मध्व, वल्लभ, चैतन्य, रामानंद, कबीर, सूर तुलसी सभी के बाहरी रंगों में अंतर होते हुए भी भीतर से ये एक ही रंग में रंगे हुए हैं। ये सभी एक ही महान् सत्ता या सार सत्ता (वह निर्गुण हो या सगुण) के प्रति अनन्य भाव से आकर्षित हुए हैं और उसी केन्द्र की ओर उनकी सारी भावना खिंची हुई है। उसी केन्द्र पर उनका संपूर्ण काव्यप्रासाद

---

१. सूरसागर, पद-३०९३

२. सूरसागर, पद, ३१०२, ३१०५, ३. सूरसागर, पद, १३१५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खड़ा हुआ है । उपनिषदों में वह केन्द्र ब्रह्म, गीता और 'भागवत' में भगवान् श्रीकृष्ण, रामायण में राम तथा कबीर आदि संतों की वाणी में निर्गुण है। इन केन्द्रों में विद्वानों को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर संभव है, बहुत कुछ अंतर भी दिखाई दे, पर इनका ऐक्य किसी भी प्रकार भुलाया नहीं जा सकता कि ये सभी आध्यात्मिक आधार पर स्थित हैं।'[1]

इस प्रकार हिन्दी कृष्णकाव्य का वास्तविक आधार अध्यात्म है । उपनिषदों में क्षर एवं अक्षर दो रूपों में आत्मा का निरूपण हुआ है । दो पक्षियों में से एक का फल खाना और दूसरे का फल खानेवाले पक्षी की ओर मौन होकर देखना, आत्मा के द्विविध रूप-आत्मा एवं जीवात्मा का रूपक है । फल भोक्ता आत्मा शरीरस्थ जीव है एवं द्रष्टा शरीरस्थ आत्मा (ईश्वर) है । एक संसारी है तो दूसरा असंसारी । असंसारी आत्मा ही यथासमय अपने साथी संसारी को संसार से निवृत्त करता है । उसका फल खाना बंद कर देता है ।[2] यही वीतराग की स्थिति है। जिसमें जीव संसार से टूटकर परमात्मा से जुड़ जाता है । 'गीता' में क्षर-अक्षर के ऊपर अंतिम समन्वय स्वरूप पुरूषोत्तम की सत्ता प्रतिष्ठित की गई है और यही सत्ता हमारे वेदान्त का प्रतिपाद्य है । हमारा समस्त हिन्दी कृष्णकाव्य बाह्यदृष्टि से वह कुछ भी प्रतीत हो, पर उसका आभ्यंतर इसी चरम सत्ता का ही संकीर्तक है ।

वेदान्त ने सांख्य की ज्ञानात्मिका, योग की क्रियात्मिका एवं भक्ति की भावात्मिका निवृत्ति स्वीकार की है। इसके अनुसार भगवान् कृष्ण को ज्ञान, कर्म एवं भक्तिभाव अर्पित करके जीव का भगवन्मय हो जाना ही उसकी शुद्धावस्था है और इसी अवस्था में वह अपने स्वामी कृष्ण के सुख के लिए ही समस्त चेष्टाएँ करता है । भगवान् भी जीव पर अनुग्रह करके उसे स्वीकार करते हैं । यही वेदान्त की निर्हेतुकी भक्ति का फल है । इस अवस्था में भक्त का संसार लुप्त हो जाता है । उसे प्रकृति में सर्वत्र श्रीकृष्ण (आत्मा) ही व्याप्त दृष्टिगत होते हैं । प्रकृति (माया) श्रीकृष्ण की ही अगाध शक्ति है, जो राधा है । समस्त गोपिकाएँ (प्रकृति के उपांग) राधा की ही अंतरंग स्फुर्तियां हैं। वृन्दावन (ब्रह्माण्ड) श्रीकृष्ण (ब्रह्म) का हृदय है और श्रीकृष्ण की समस्त लीलाएँ नित्य हैं । देखा जाए तो श्रीकृष्ण की समूची लीलाओं का केन्द्र यही अध्यात्म बिन्दु हैं । समस्त कृष्ण काव्य का प्रस्फुटन एवं पल्लवन इसी बिन्दु का विस्तार है । बाह्यदृष्टि से लौकिक कथानुवर्ती प्रतीत होने पर भी हिन्दी कृष्णकाव्य इसी बिन्दु को केन्द्रस्थ करके उसके चारों ओर घूम रहा है ।

आचार्यत्व एवं कवित्व दोनों भिन्न दिशाएँ हैं । वेदान्ताचार्यों ने 'ब्रह्मसूत्र' की व्याख्या करके विभिन्न संप्रदायों की स्थापना की । आचार्य शंकर के अतिरिक्त शेष सभी वेदान्ताचार्य सगुण को ही प्रमुख मानते हैं । इनमें से आचार्य रामानुज नारायण एवं लक्ष्मी की उपासना को महत्त्व देते हैं जब कि शेष मध्व,

---

१. वेदान्त अंक, कल्याण, अगस्त १९३६, पृष्ठ ५८६-५८७

२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादूवत्यनश्नन्यो अभिचाकशीति ।। -मुण्डकोपनिषद् ३-१-१

मनुष्य शरीर मानो एक वृक्ष है। ईश्वर और जीव ये सदा साथ रहनेवाले दो मित्र पक्षी हैं । ये शरीररूपी वृक्ष पर एक साथ ही हृदयरूपी घोंसले में निवास करते हैं । इन दोनों ने एक जीवात्मा तो उस वृक्ष के फल रूप अपने कर्मफल को अर्थात् प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए सुख-दुःखों को आसक्ति एवं द्वेषपूर्वक भोगता है और दूसरा ईश्वर (आत्मा) उन कर्मफलों से किसी भी प्रकार का संबंध न स्थापित कर केवल देखता ही रहता है और यही वेदान्त का ब्रह्म है, आत्मा है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निम्बार्क, वल्लभ, इत्यादि सभी आचार्य श्रीकृष्ण को ही किसी न किसी रूप में परब्रह्म स्वीकार करते हैं। वेदान्ताचार्यों में शुद्धाद्वैत वेदान्त एवं पुष्टि भक्ति के प्रस्थापक आचार्य वल्लभ का सर्वाधिक महत्त्व है। इन्होंने ब्रज को कृष्णभक्ति का केन्द्र बनाया तथा इनके पुत्र गोसाई विट्ठलनाथजी ने श्रीनाथजी के भोग-राग के विस्तार के संदर्भ में अष्टछाप की स्थापना की। देखा जाए तो सूर काव्य का बाह्य दृष्टि से सगुण कथानुवर्ती होने पर भी उनके काव्य का अन्तःकरण तो शुद्धाद्वैत वेदान्त ही है।

सूर-साहित्य भाव, भक्ति एवं वेदान्त का अगाध 'सागर' है। जिसके भाव-भक्ति-शुक्ति-सम्पुट में वेदान्त के तत्त्व सन्निहित हैं। बाह्यदृष्टि से साधारण पाठकों के लिए सूर का पौराणिक कृष्ण-साहित्य कैसा भी हो, पर उसका मूल, अन्तःतत्त्व मुख्यतः शुद्धाद्वैत वेदान्त से सम्बद्ध है।

ब्रह्म : वल्लभ के शुद्धाद्वैत वेदान्त में भी श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म माना गया है। सूर ने अपने साहित्य में भी कई स्थानों पर कृष्ण को साक्षात् परब्रह्म निरूपित किया है। ब्रह्मा, शंकर जिस ब्रह्म के अगाध माहात्म्य को नहीं समझ पाए हैं। 'अगम' और 'निगम' जिसके गुणों का पार नहीं पा सकते। उस सच्चिदानंद परब्रह्म श्रीकृष्ण को माता यशोदा गोद में खिला रही हैं—

> **पूरन ब्रह्म पुरान बखानै। चतुरानन सिव अन्त न जानै।**
> **गुनगन अगम-निगम नहिं पावै। ताहिं जसोदा गोद खिलावै।** —सूरसागर, पद-६२१

शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मान्य हैं। ब्रह्म जागतिक गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण है एवं आनन्दादि दिव्य गुणों से विभूषित होने के कारण सगुण है। सूर ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही 'ब्रह्म' के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का वर्णन किया है। निर्गुण के रूप में सूर ने ब्रह्म को गुणातीत, अविगत, अगम, अगोचर कहा है एवं सगुण के रूप में ब्रह्म को लीलाधारी राधावर, कुंजविहारी, दामोदर कहा है। सगुण रूप धारण करके उसने व्रज में अवतार लिया है, पर उसकी माया ऐसी अद्भुत है कि जिसे श्रुति भी पार नहीं पा सकी है—

> **(अ) गुन अतीत अविगत न जनावै, जस अपार श्रुति पार न पावै।**
> **जाकी माया लखै न कोई, निर्गुन-सगुन धरै वपु सोई॥**
> **अगम अगोचर लीलाधारी, सो राधा बस कुंज बिहारी।** सूरसागर, पद-६२१

> **(आ) सरन गए जो होइ जु होइ।**
> **करता वेई हैं, हरता अब न रह्यो मुख गोइ।**
> **ब्रज अवतार कह्यो है श्री मुख, तेई करत विहार॥**
> **पूरन ब्रह्म सनातन तेई, मैं भूल्यौ संसार॥** —सूरसागर, पद-१५६२

शुद्धाद्वैत वेदान्त में श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म, विश्व का कारण, अनादि, अनूप, सर्वान्तर्यामी कहा गया है। वे आनंद क्रीडा के लिए अर्थात् अपनी लीला विस्तार के लिए अपने में से ही जड़-चेतन को परिणत करते हैं तथा स्वयं भी अवतरित होते हैं। श्रीकृष्ण हीं प्रकट पुरुषोत्तम हैं। वे ही सनातन हरि अविनाशी हैं। वे ही सभी प्राणियों की आत्मा हैं। **'सदा निरंतर घट-घट बासी'** हैं। श्रीकृष्ण ही अंश एवं कला-रूप में **'नित-नित लोक विलासी'** के रूप में असंख्य रूप धारण करते हैं। वे ही जीव, जगत्, मानव एवं देवसृष्टि के रूप में परिणत होते हैं। जगत् में जो कुछ भी विद्यमान है, दृष्टिगोचर है, नामरूपात्मक है, वह सब उन्हीं का अंश है। वे ही अक्षरब्रह्म रूप हैं तथा वे ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव भी हैं। समस्त रूप उन्हीं से रूपायित हुए हैं—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(अ) अविगत आदि अनंत अनूपम, अलख पुरुष अविनासी।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम, नितनित लोकविलासी ।। –सूरसागर

(आ) आदि सनातन परब्रह्म प्रभु, घट-घट अन्तरयामी।
सो तुम्हरै अवतरै आनि कैं, सूरदास के स्वामी ।। –सूरसागर

(इ) आदि सनातन हरि अविनासी, सदा निरंतर घट-घट वासी।
पूरन ब्रह्म पुरान बखानै। चतुरानन सिव अंत न जानै ।। –सूरसागर

'रसो वै सः' इस श्रुति वचन के अनुसार अखंड रस रूप श्रीकृष्ण को ही शुद्धाद्वैत वेदान्त में परब्रह्म कहा गया है। 'मधुराष्टक' में आचार्य वल्लभ ने कहा है कि मिश्री की डली की भाँति उसका अणु-अणु मधुर है। 'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्' मधुर रस के अधिपति भगवान् श्रीकृष्ण का सब-कुछ मधुर है। जगत्, जीव उसीके अंश हैं, अतः ये भी मधुर हैं। माधुर्य के आवास एवं अधिपति कृष्ण ने अपनी मधुर लीलाओं के विस्तार के लिए ही जीव, जगत् का परिणमन किया है। सगुण रूप में मृत्युलोक का व्रज तो अवतरित लोक है। नित्य व्रज से अपनी लीला विस्तार के लिए श्रीकृष्ण अवतरित होते हैं। उसका सौन्दर्य अमित है, रूप अनेक हैं। सूर ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही ब्रह्म, प्रकृति, पुरुष आदि की अद्वैतता स्वीकार करते हुए लीला वपुधारी पुरुषोतम श्रीकृष्ण एवं परब्रह्म का ऐकीकरण किया है। गोपाल ही वास्तव में विभिन्न रूपों में अंश रूप से यहां भूलोक पर अवतरित होते हैं—

सदा एक रस एक अखंडित, आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत, विहरत युगल स्वरूप।
सकल तत्त्व ब्रह्माण्डदेव पुनि, माया सब विधिकाल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण, सब हैं अंश गुपाल। –सूरसारावली, वेंकटेश्वर प्रेस, पृ. ३८

शुद्धाद्वैतवाद वेदान्त के अनुसार आत्माराम ब्रह्म ने ही अपनी इच्छा से अपनी अंश रूपा सृष्टि का प्रसार किया है। ब्रह्म ने ही क्रीडा करने की इच्छा से वृन्दावन, कुंजलता, गोवर्धन पर्वत, गोपिकाएं इत्यादि का परिणमन किया है और वह ब्रह्म ही श्रीकृष्ण है। सूर ने भी वल्लभ वेदान्त के अनुसार ही सृष्टि का विस्तार एवं कृष्ण एवं राधा दोनों का प्रिय तथा प्रिया के रूप में विहार वर्णित किया है—

जहं वृन्दावन आदि अजिर, जहां कुंज लता बिस्तार।
तहं विहरत प्रिय प्रीतम दोऊ, निगम भृंग गुंजार।।
जहां गोवर्धन पर्वत मनिमय, सघन कन्दरा सार।
गोपिन मंडल मध्य बिराजत, निसिदिन करत विहार।।
खेलत-खेलत चित्त में आई, सृष्टि करन बिस्तार। –सूरसारावली, वैंकटेश्वर प्रेस, पृ. २६३

'खेलत-खेलत......' इस अंतिम चरण में सूर ने ब्रह्म को आत्माराम के रूप में व्यंजित करके यह निरूपित किया है कि 'सः एकाकी न रमते, द्वितीयमैच्छत्' वह अकेला खेल नहीं पा रहा था। अतः उसने दूसरे की इच्छा की और आत्माराम ब्रह्म की उस इच्छा का ही परिणाम नानारूपात्मक यह सृष्टि-परिणमन है और यही ब्रह्माण्ड है।

यशोदोत्संग-लालित गोपाल ही लीलाधर श्रीकृष्ण हैं। नंद उन्हें साधारण पुत्र ही मानते रहे। वे उनके स्वरूप को न जान सके, पर श्रीकृष्ण ही वास्तव में लीला करने के लिए निर्गुण से सगुण हुए हैं। उनकी गति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अविगत' थी । मीठे फल के रस का स्वाद गूंगे का अन्तःकरण ही जान सकता है, वैसे ही निर्गुण अनिर्वचनीय है । निर्गुण की स्थिति में वह नैन, बानी दोनों से अगम-अगोचर रहता है । रूप-रेख, गुण-जाति से रहित ऐसे निर्गुण ब्रह्म से प्रेम कैसे किया जा सकता है । मन निरालंब रहता है । निर्गुण ध्यान समाधि का विषय है । भक्त के आलंबन चाहिए । इसी कारण भक्तों के लिए ही निर्गुण ब्रह्म सगुण कृष्ण के रूप में यहाँ अवतरित हुए हैं । सूर ने वल्लभ-वेदान्त के अनुसार ही निर्गुण ब्रह्म का सगुण रूप में अवतरित होना बताया है—

(अ) अविगत-गति कछु कहत न आवै ।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस, अन्तरगत ही भावै ।
नैन बानी गुण-जाति-जुगति बिनु, निरालंब कित धावै ।
सब विधि अगम विचारहिं तातै, सूर सगुन पद गावै । सूरसागर

(आ) हंसत गोपाल नन्द के आगै, नन्द सरूप न जान्यौ ।
निर्गुण ब्रह्म सगुण लीलाधर, सोई सुत करि मान्यौ ॥ सूरसागर

सूर भक्त हैं । उन्होंने निर्गुण को सभी तरह से भक्त के लिए 'अगम' समझा है । अतः उन्होंने सगुण के पद गाए हैं ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आचार्य शंकर के अतिरिक्त शेष सभी वेदान्ताचार्यों ने निर्गुण की अपेक्षा सगुण को अधिक महत्त्व दिया है और उनमें भी विशिष्टाद्वैत वेदान्त के आचार्य रामानुज के अतिरिक्त शेष आचार्य मध्व, आचार्य निम्बार्क, आचार्य वल्लभ एवं आचार्य बलदेव ने सगुण में भी केवल श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म स्वीकार किया है । इस दृष्टि से कई समीक्षकों ने भक्ति को वेदान्त का ही अभिन्न अंग माना है ।[1] कई अंश में सूर के सगुण-लीला पद गाने के संदर्भ में यह असंगत नहीं कहा जा सकता ।

हमने भी इसी लिए भक्ति का अलग से विश्लेषण न करके इसे वेदान्त में ही समाहित कर लिया है । जैसे व्यक्ति के साथ उसकी परछाई चलती है, वैसे ही भक्ति भी वेदान्त की सदा अनुगामिनी रहती है ।

शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार कृष्ण ही पूर्णावतार हैं । असुरों के संहार के लिए वे जब-तब अवतार लेते हैं । सूर ने शुद्धाद्वैत के अनुसार ही श्रीकृष्ण को पूर्णावतार माना है । निर्गुणावस्था में जो 'अच्युत', 'अविनासी', 'परमानन्द-सुखराशि' है, वही भूमि-भार, हरने के लिए तनु धारण करता है, सगुणरूप में यहां अवतरित होता है—

(अ) जब-जब हरि माया ते दानव, प्रकट भए हैं आय ।
तब-तब धरि अवतार कृष्ण ने, कीन्हों असुर संहार ॥ –सूरसारावली, पृष्ठ–२

(आ) तुम अच्युत अविगत अविनासी, परमानंद सदा सुखराशी ।
तुम तनु धरि हर्यो भुव भार, नमो-नमो तुम्हें बारंबार ॥ –सूरसारावली पृष्ठ–३

सूर ने अपनी भव्य कल्पना के आधार पर ब्रह्म के विराट् रूप का संस्तुवन किया है । ब्रह्म के इस अलौकिक रूप की कल्पना का आधार 'यजुर्वेद' के 'पुरुषसूक्त' के **'सहस्रशीर्षः पुरुषः सहस्राक्षः...'** मंत्र हैं । यहां **'सहस्र'** शब्द हजार नहीं किन्तु अनंतवाची है । निरुक्तकार महामुनि यास्क ने शब्दार्थ के विवेक के संदर्भ में लिखा है कि शब्द का वास्तविक अर्थ संदर्भ से ही जानना चाहिए । इस प्रकार

१. डॉ. याज्ञिक, प्रोफेसर एवं आचार्य, दर्शन विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहीं–कहीं 'संवत्सर' एवं 'वर्ष' शब्द का अर्थ दिन भी होता है । जैसे 'राम ने दस सहस्त्र वर्ष राज्य किया'। यहां वर्ष दिन वाचक है । अर्थात् राम ने दस हजार दिन तक राज्य किया ।

सूर कहते हैं कि सगुण स्थिति में जो 'श्याम–स्वरूप' नेत्रों का विषय है, वही 'घट–घट' में भी व्याप्त है । वह अनंत प्रकाश स्वरूप है । पाताल उसके चरण, आकाश उसका सिर है तथा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पावक सभी उसी से प्रकाशित हो रहे हैं । ऐसे विराट् 'हरि' की आरती भी कैसी विराट् है ! समुद्र मंथन के समय भगवान् ने स्वयं कच्छप अवतार लिया था और जिसकी पीठ पर मंदराचल पर्वत रखा गया था, वही विराट् की आरती का आसन है । सहस्र फनोंवाला शेष नाग उस आरती की डांडी है। पृथ्वी शराव है । सातों सागर घृत और सभी पर्वत बत्तियां हैं । रवि–शशी ज्योतियां हैं । नक्षत्र फूल हैं । प्रभु इच्छा से परिणत काल, कर्म, गुण अनंत हैं । समस्त लोक–कार्य उस विराट् ब्रह्म का संकीर्तन हैं । सूर कहते है, ऐसा ब्रह्म का विराट् वैभव केवल ध्यान गम्य है—

(अ) नैननि निरखि स्याम–स्वरूप ।
रह्यो घट–घट व्यापि सोइ, जोति रूप अनूप ।
चरन सरन पाताल जाके, सीस है आकास ।
'सूर' चंद्र नक्षत्र पावक, सर्व तासु प्रकास । –सूरसागर, पद–३७७

(आ) हरि जू की आरती बनी ।
अति विचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी ।
कच्छप अध आसन अनूप अति, डांडी सहस फनी ।
मही सराव, सप्तसागर घृत, बाती सैल घनी ।
रवि–ससि–ज्योति जगत परिपूरन, हरति तिमिर रजनी ।
उडत फूल उड़गन नभ अंतर, अंजन घटा घनी ।
काल कर्म गुन और अंत नहिं, प्रभु इच्छा रचनी
यह प्रताप दीपक सुनिरंतर, लोक सफल भजनी ।
'सूरदास' सब प्रगट ध्यान में, अति विचित्र सजनी । –सूरसागर, पद–३७१

सूर ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही ब्रह्म के विराट् रूप का वर्णन किया है । निर्गुण ब्रह्म ही सगुण में परिणत हुआ है । प्रथम महत् तत्त्व, उससे अहंकार, अहंकार से तीन गुण सत्त्व, रज, और तमो गुण, सत्त्व गुण से मन, रजोगुण से इन्द्रियां तथा तमोगुण से तन्मात्राओं का विस्तार हुआ है । चौदहों लोक इन्हीं से व्याप्त हैं । ज्ञानी इसीको विराट् कहते है—

तिन प्रथमहिं महतत्त्व उपायौ । तातै अहंकार प्रगटायौ ।
अहंकार कियौ तीन प्रकार । सत तै मन सुर सातऽरुवार ।
रजगुन तै इन्द्रिय बिस्तारी । तमगुण तै तन्मात्रा सारी ।
चौदह लोक भए ता मोहि । ज्ञानि ताहि विराट्र कहाहिं । –सूरसारावली, ३–१३

'हरि' के हृदय में हुआ कि मेरा 'अलख' रूप तो क्या देव और क्या मानव, सभी के लिए अगोचर रहा है । वह वेदों में वर्णित है एवं देवता इसे जानते हैं । ऐसा कुछ का भ्रम है तो क्यों न मैं अपने इस स्वरूप का सगुण के रूप में विस्तार करूं ! ऐसा विचार करके जैसे कोई गृहस्थ नारी दीपक सुलगाकर उजाला करती है वैसे हरि ने स्वज्योति से ही तीनों लोक के रूप में विस्तार प्राप्त किया । ये

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीनों लोक निर्गुण हरि के ही सगुण रूप हैं तथा ज्योतिस्वरूप ब्रह्म की ही आत्मा के रूप इन्हें समझना चाहिए । 'शुद्धाद्वैत' वेदान्त को 'ब्रह्मवाद' भी कहते हैं । 'सर्वं खलु इदं ब्रह्मः' सब कुछ ब्रह्म है, ऐसा जो मत है वह 'ब्रह्मवाद' है । सूर ने इसी का निरूपण इस प्रकार किया है--

अलखरूप कछु कह्यो न जाई । देवनि कछु वेदोक्त बताई ।
हरि जू कै हिरदै यह आई । देऊं सबनि यह रूप दिखाई ।
तीन लोक हरि करि बिस्तार । अपनी जोति कियौ उजियार ।
जैसे कोऊ गेह संवारि । दीपक बारि करै उजियार ।
त्यौं हरि जोति अपनी प्रकटाई । घट-घट में सोई दरसाई ।
तीन हु लोक सगुण तन जानौ । जोति सरूप आतमा मानो । सूरसागर, पद-४३००

यह ब्रह्म की स्वगतोक्ति है । हरि ने तीनों लोकों में जीवन रूपी ज्योति प्रकटाई है । वही आत्मा के के रूप में 'घट-घट' में विद्यमान है । शरीर में आत्मा ब्रह्म का ही प्रकाश है, ऐसा सूर यहां निरूपित कर रहे हैं ।

'श्री स्याम हरि' ही मनसा, वाचा एवं कर्मणा से अगोचर हैं । नेत्र उन्हें देख नहीं सकते । वे निर्गुण होने पर भी सगुण तथा अरूप होने पर भी स्वरूपवाले हैं । उनका प्रभाव 'अगम' एवं 'अनंत' है । इस प्रकार सूर ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही ब्रह्म के अगाध माहात्म्य को प्रकट किया है--

(अ) मनसा-वाचा-कर्म अगोचर, सो मूरति नहिं नैन धरि ।
गुण बिन गुनी, सरूप-रूप बिन, नाम बिना श्रीस्याम हरि । -सूरसारावली, २-२४
(आ) ब्रह्म अगोचर मन बानी तें, अगम अनंत प्रभाव । सूरसारावली, १-११५

'परित्राणाय साधूनाम्' साधुओं के परित्राण के लिए, भू-भार हरण करने के लिए ब्रह्म अवतार लेता है । ब्रह्म के इस अद्भुत सगुण-चरित्र को समझ पाना भी जब कठिन है तब उनके निर्गुण रूप को कौन समझ सकेगा ? 'सूरसागर' में ब्रह्म की स्तुति करते हुए नारद कहते हैं : 'हे परमात्मा ! तुम ही अज हो, अनंत हो और तुम्हारे जैसा 'ईश' अन्य कोई नहीं है, अतः तुम अनुपम हो और तुम ही हरि हो--

तब नारद कर जोरि कह्यो, तुम अज अनंत हरि ।
तुमसे तुम्हईं ईस नहीं, द्वितीय कोउ तुम सरि ॥ सूरसागर, पद-४२१०

हे हरि ! तुमने 'भक्त-हेत' अवतार लिया है । किसी भी कर्म और किसी भी धर्म से तुम बंधे हुए नहीं हो, तुम कर्म-धर्म, योग-यज्ञ से परे हो । केवल 'दीनों' की 'गुहार' तुम तक पहुँचती है और 'अहं' से, अहंकार से तुम्हारा हृदय जलने लगता है । तुम केवल भाव के ही अधीन हो और निडर हो । तुम ब्रह्मा से लेकर 'कीट' आदि सभी में व्याप्त हो । तुम सभी को सुख देकर उनका दुःख हरते हो । इस संदर्भ में सूर का 'दानलीला' प्रसंग का पद इस प्रकार है--

भक्त हेत अवतार धरौं ।
कर्म धर्म कै बस में नाहीं, जोग-जज्ञ मन में न करौं ।
दीन गुहारि सुनौ स्रवननि भरि, गर्व बचन सुनि हृदय जरौं ।
भाव अधीन रहौं सब हीं कैं, और न काहू नैक डरौं ।
ब्रह्मा कीट आदि लौं व्यापक, सब कौं सुख दै दुखहिं हरौं । सूरसागर, पद-१५२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही 'सूरसागर' में कृष्ण को परब्रह्म कहा गया है। 'सूरसागर' में ब्रह्म स्वयं अपने अगाध माहात्म्य को घोषित करता हुआ कहता है कि मैं ही जगत् में सर्वत्र व्याप्त हूं। चारों वेदों ने मेरा ही माहात्म्य गाया है। मैं ही कर्ता और मैं ही भोक्ता हूं। जो कुछ नामरूपात्मक चर-अचर प्रतीत हो रहा है। वह सब में ही हूं। 'मों बिनु और न कोई' मेरे बिना और कोई नहीं है। जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह मैं ही हूं। मैं ही विष्णु हूं। रुद्र हूं। ब्रह्मा हूं। सब-कुछ मैं ही हूं--

(अ) मैं व्यापक सब जगत्, वेद चारों मोहि गायौ।
मैं कर्ता मैं भोगता, मों बिनु और न कोई ॥ सूरसागर, पद-४२१०

× × ×

(आ) विष्णु विधि रुद्र मम रूप में तोन हूं। दच्छ सों वचन यह कह सुनायो।
—सूरसागर, पद-४६

अपने रसात्मक स्वरूप से रसेश्वर श्रीकृष्ण ने अनेक लोक रंजनकारी लीलाएँ कीं। पुष्टिसंप्रदाय में श्रीकृष्ण के अवतार के दो रूप मान्य हैं-एक लोक-वेद पुरुषोत्तम और दूसरा लोक वेदातीत पुरुषोत्तम। श्रीकृष्ण ने मथुरा, द्वारका कुरुक्षेत्र इत्यादि स्थानों पर धर्म की रक्षा के लिए जो कंस, शिशुपाल, जरासंध दुर्योधनादि का संहार किया और करवाया तथा धर्म पर आरूढ पाण्डवों की रक्षा की। श्रीकृष्ण का यह धर्मवीर-युद्धवीर रूप लोक-वेद पुरुषोत्तम रूप है। इसमें उनका 'पुरुषोत्तम' स्वरूप प्रकट हुआ है। धर्म एवं समाजरक्षक रूप प्रकट हुआ है। कृष्ण ने वृन्दावन में नंद-यशोदा के यहाँ रहकर ग्वाल-बाल, राधा गोपियां इत्यादि के साथ रास, दान इत्यादि लीलाएं कीं। कृष्ण का यह रूप लोकवेदातीत पुरुषोत्तम है, जिसे रसात्मक भी कहते हैं। श्रीकृष्ण का यह रसात्मक रूप ही प्रमुख है। जो हमारे साहित्य एवं वेदान्त का विषय है। हमारे सूर का प्रमुख प्रतिपाद्य भी यही रूप है।

श्रीकृष्ण तो आत्माराम हैं, योगेश्वर हैं, पर गोपियों की विह्वलतापूर्ण बातें सुनकर वे दयापूर्वक मुसकाने लगते हैं और निष्काम होने पर भी सकाम होकर उनके साथ रमण करने लगते हैं-

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरः पुनः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामो ऽप्यरीरमत् ॥ -भागवत, १०-२९-४२

यह परब्रह्म का विरुद्धधर्माश्रयी रूप है। आचार्य वल्लभ ने अपने शुद्धाद्वैत वेदान्त के निरूपण में ब्रह्म को विरुद्धधर्माश्रयी कहा है और यह उचित भी है। जीव-जगत् ब्रह्म का ही परिणमन है तो उनकी सभी लीलाएँ भी ब्रह्म की ही लीलाएं हुईं। इस तरह संसार का मित्र-अमित्र, प्रिय-अप्रिय, कटु-मधुर सभी कुछ तो ब्रह्म ही हुआ। गोपिकाओं के साथ ही मधुर लीलाएँ तथा कंस-शिशुपाल के साथ का विग्रह दोनों का आश्रय भी ब्रह्म ही हुआ। सूर ने भी अपने पदों में परब्रह्म को वल्लभ वेदान्त के अनुसार ही विरुद्धधर्माश्रयी निरूपित किया है। वह करुणा सिंधु है। उसकी 'करनी' को कौन समझ सकता है। वह बक जैसे कपटियों का संहार करता है। कपट करनेवाली पूतना को भी वह मातृत्व की गति प्रदान करता है। जो निर्गुण है, पर नंद के घर सगुण रूप में अवतरित हुआ है और मुक्त होने पर भी 'दांवरी' द्वारा स्वेच्छा से आबद्ध होता है—

करनी करुना सिंधु की, कछु कहत न आवै।
कपट हेतु परसै बकी, जननी गति पावै।
वेद उपनिषद् जस कहै, निर्गुण हि बतावै।
सोइ 'सगुण' होय नंद के दांवरी बंधावै। —सूरसागर, पद-४

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य वल्लभ ने जीव, जगत् एवं ब्रह्म की अद्वैतता तो स्वीकार की ही है, पर जीव–जगत् को माया अथवा मिथ्या नहीं माना है। इन्हें ब्रह्म स्वरूप मानकर शुद्ध माना है। इसी कारण आचार्य वल्लभ का ब्रह्मवाद शुद्धाद्वैत वेदान्त के नाम से अभिहित किया जाता है। सूर ने भी वल्लभ के अनुसार ही ब्रह्म का शुद्धाद्वैत के रूप में निरूपण किया है। जीव ब्रह्म में ही निवास कर रहा है। उसके भीतर बाहर सब कुछ ब्रह्म है, पर वह शुद्धस्वरूप को, ब्रह्ममय स्वरूप को अविद्या माया में लिप्त होने के कारण भूल चुका है। प्रकृति और पुरुष दोनों एक हैं। आनंद–क्रीडा के लिए ब्रह्म ने जीव–जगत् का परिणमन किया है। यह सब कुछ एक रस रूप, अखंड ब्रह्म ही है––

ब्रह्म ही में बसौ आपुन ही बिसरायौ।
प्रकृति–पुरुष 'एक' करि जानहु, बातन भेद करायौ।
द्वैत न जीव एक हम तुम दोऊ, सुख कारन उपजावौ।
सदा एक रस एक अखंडित, आदि अनूप। –सूरसागर

शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार निर्गुण ब्रह्म आत्माराम है और जब बाह्य प्रकार से उसकी रमणेच्छा होती है तब वह स्वान्तः स्थित दिव्य, अपने आधिदैविक रूप से बाहर प्रकट होकर अनेकविध लीलाएँ करता है और उसका यह लीला स्वरूप ही जीव–जगत् की सृष्टि एवं स्थिति है। यही उसका पुरुषोत्तम स्वरूप है। पुरुषोत्तम नित्य होने से उसकी धर्मरूपा लीलाएँ भी नित्य हैं। वेद की श्रुतियों ने परब्रह्म से प्रार्थना की तब परब्रह्म श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर उनको गोपिकाओं के रूप में व्रज में अवतरित किया एवं साक्षात् नित्य गोलोक, नित्य वृन्दावन, नित्य गोवर्धन, नित्य यमुना को भी भूलोक पर अवतरित कर अनेक लीलाएँ कीं। सूर ने परब्रह्म द्वारा ही उनके श्रीमुख से अपनी नित्यलीला का भूतल पर प्राकट्य–वर्णन करवाया है। श्रीकृष्ण कहते हैं : 'ये व्रज–सुंदरियाँ साधारण नारियाँ नहीं हैं अपितु ये 'श्रुति' की ऋचाएँ हैं। मैं स्वयं और शिव, शेष लक्ष्मी भी इनकी तुलना में साधारण हैं। प्रकृति, पुरुष, जगत् सभी को अपने आप में समाकर मैं वैकुण्ठ में भुवनमोहिनी राधा के साथ रहता हूं। वहां मैं अक्षर, अच्युत, निराकार, अनादि, अनन्त के रूप में नित्य रहता हूं––

गोपी पद–रज–महिमा, विधि सौ कहीं।
व्रज सुन्दरि नहिं नारि, रिचा श्रुति की आहीं॥
मैं अरु सिव पुनि शेष, लक्ष्मी तिहिं सम नाहीं।
याहि सुनै जो प्रीति करि, सो हरि पदहिं समाहीं॥
प्रकृति पुरुष लैं भई, जगत् सब प्रकृति समाया।
रह्यौ एक वैंकुंठ लोक, जहां त्रिभुवन राधा॥
अक्षर, अच्युत, निराकार, अविगति है जोई।
आदि अन्त नहीं जाहि, आदि अंतहिं प्रभु सोई॥ –सूरसारावली

नित्यलीलाधाम में नित्यलीलारत परब्रह्म श्रीकृष्ण आगे कहते हैं : 'ऐसे मुझ निराकार की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ बोलीं : 'देव, हम सदा तुम्हारी सेविकाएँ होने पर भी दूर रही हैं। आप हमें कृपा करके नैकट्य प्रदान करें–

श्रुतन विनय करि कह्यो, सब तुमहि देवा।
दूरि निरंतर तुमहिं, जानत निज सेवा। –सूरसारावली

Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस समय आकाशवाणी हुई : 'हे ऋचाओ, तुम वरदान माँगो । मैं तुम्हारी सभी इच्छाएँ पूर्ण करूंगा । इसके पश्चात् ऋचाओं ने स्तुति करते हुए कहा : 'हे नारायण ! हमने आपके आदि रूप निर्गुण-नारायण-सच्चिदानंद को तो देखा है, पर जो आपका मन, वाणी से भी अगम-अगोचर और सर्वोत्तम निजस्वरूप सगुण है, उसे आप हमें दिखाइए—

या विधि बहुरि अस्तुति करी, भई गिरा अकास ।
मांगो वर मन-भावतौ, पूरौं, सो तुव आस ॥
श्रुतिन कह्यो कर जोरि, सच्चिदानंद देव तुम ।
जो नारायण आदि रूप, तुमरौ सु लख्यौ हम ॥
निरगुन रहत जुनिज स्वरूप, लख्यौ न ताको सर्व ।
मन-बानी तें अगम-अगोचर, दिखरावहु सो देव । —सूरसारावली

ऋचाओं की स्तुति से परम प्रसन्न होकर परब्रह्म श्रीकृष्ण ने उनको अपना नित्य लीलाधाम वृन्दावन दिखाया । जहां नित्य वसंत है । जो नित्य कल्पवृक्षों से आच्छादित रहता है । जहां सुभग रमणीय केलि-कुंज हैं । जहां रत्नमंडित गोवर्धन गिरि है। सुंदर झरने हैं । जिनमें कमल प्रफुल्लित हो रहे हैं । जहां नित्य अमृतस्रवा कालिंदी है । जिसके दोनों किनारे रत्न-जटित हैं एवं हंस-सारस जहाँ किल्लोल कर रहे हैं । वहां राधा एवं गोपिकाओं के साथ किशोर श्याम नित्य क्रीड़ा कर रहे हैं । नित्यधाम वैकुण्ठ की ऐसी अनुपम छवि देखकर ऋचाएँ ठगी-सी रह गईं—

वृन्दावन निज धाम, कृपा करि तहां दिखरायौ ।
सब दिन तहां बसंत, कल्पवृक्ष सौं छायौ ॥
कुंज सुभग रमनीक, जहां केलि सुभग रहे छाय ।
गिरि गोवर्धन धातुमय, झरना झरत सुभाय ॥
कालिन्दी जल अमृत, प्रफुल्लित कमल सुहायो ।
नगन जटित दोऊ कूल, हंस सारस तहं छायौं ॥
क्रीडत स्याम किसोर तहां, लिए गोपिका साथ ।
निरखि सु छवि सब थकि रहे...... ॥ —सूरसारावली

तब अपने निजधाम के अनुपम सौंदर्य एवं नित्य रसलीलाओं के रसस्वरूप को देखकर चकित हुई ऋचाओं से श्रीकृष्ण ने कहा : 'हे ऋचाओ ! जैसी तुम्हारी मनोकामना हो, कृपा करके मुझ से कहो । मैं तुम्हें वरदान देता हूं कि तुम्हारी सभी मनोकामनाएँ मैं पूर्ण करूंगा । तब ऋचाओं ने कहा : 'हम गोपिकाएं बनकर आपके साथ केलि करना चाहती हैं ।' तब श्रीकृष्ण ने निज श्रीमुख से कहा : **'एवमस्तु'** और फिर आगे ऋचाओं को वरदान देते हुए कहा : 'सारस्वत कल्प में ब्रह्मा जब सृष्टि करेंगे । वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था से समाज चलने लगेगा । उस समय अधर्मी राजाओं के कारण जगत् अधर्म के कीचड़ में फँस जाएगा । तब देवता मेरी स्तुति करेंगे और मैं भरतखंड का मथुरा-मंडल जो मेरा निजधाम है। वहां गोप भेष में अवतार लूंगा । उस समय तुम गोपिकाओं के रूप में मुझसे स्नेह करना । मैं तुम्हारे साथ अनेकविध केलि-क्रीडाएँ करूंगा । यह मेरा अटल सत्य वचन है'—

कल्प सारस्वत ब्रह्मा, जब सृष्टिहिं उपावै ।
अरु तिहिं लोक निवर्ण, आश्रम धर्म चलावै ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुरि अधर्मी होय नृप, जग अधर्म बढ़ि जाय ।
तब विधि पृथ्वी सुर सकल, विनय करत मोहि आय ॥
मथुरा मंडल भरतखंड, निजधाम हमारौ ।
धारौं मैं तहां गोप भेष, सो तिन्हैं निहारौ ॥
तब तुम ह्वैकर गोपिका, करो ही मोसों नेह ।
करौ केलि तुम सों सदा, सत्य वचन मम एह ॥ -सूरसारावली

इसके पश्चात् भूमि को दुष्टों से आक्रान्त देखकर क्षीरसमुद्र में से श्रीहरि ने कहा : 'मैं असुर-कुल को नष्ट कर धरती के उद्धार के लिए 'नर-तन' धारण करता हूं । सूर, नर-नाग, पशु-पक्षी सभी को मै आज्ञा देता हूं कि मेरे साथ यदि तुम लीला करना चाहते हो तो गोकुल में जाकर जन्म लो'--

छीर-समुद्र मध्य तै, यों हरि दीरघ बचन उचारा ।
उधरौं धरनि असुर-कुल मारौं, धरि नर-तन अवतारा ॥
सुर-नर नाग तथा पशु-पच्छी, सब कौं आयसु दीन्हौ ।
गोकुल जन्म लेहु संग मेरैं, जो चाहत सुख कीन्हौ ॥
× × ×
सकल लोक नायक सुखदायक, अजन जन्म धरि आयौ ॥ -सूरसारावली

ऋचाएँ श्रीकृष्ण के साथ विहार करने के लिए गोकुल में गोपिकाओं के रूप में अवतरित हुईं । आत्माराम परब्रह्म श्रीकृष्ण निष्काम होने पर भी गोपिकाओं की काम-संतृप्ति के लिए दयापूर्वक सकाम हुए और उन्हें पूर्णकाम किया---

वे रिचा ह्वै गोपिका, हरि सो कियौ विहार। -सूरसारावली

शुद्धाद्वैत वेदान्त को इच्छाद्वैत भी कहते हैं, क्योंकि श्रुति के अनुसार **'सः एकाकी न रमते, द्वितीय-मैच्छत्'** के अनुसार क्रीडा करने के लिए ब्रह्म ने द्वितीय की कामना की, जिसके फलस्वरूप ब्रह्म की इच्छा (संकल्प) मात्र से ही उसमें से जीव एवं जगत् परिणमित हुए । उपर्युक्त पद-पंक्ति में शुद्धाद्वैत वेदान्त के सकलविरुद्धधर्माश्रयी ब्रह्म के धर्म का भी निरूपण हुआ है । ब्रह्म निष्काम होने पर भी ऋचाओं की कामना पूर्ति के लिए सकाम हुआ ।

वल्लभ वेदान्त के अनुसार परब्रह्म का आध्यात्मिक स्वरूप ही अक्षर ब्रह्म है । यह सच्चिदानंद रूप है । आनंद की यत्किंचित् न्यूनता के कारण इसे गणितानंद भी कहते हैं । प्रथम यह काल, कर्म, स्वभाव और अक्षर रूप होता है तथा प्रकृति, जीव और अनेक देवादि रूप होकर सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहार-कर्ता होता है । प्रकृति, पुरुष, नारायण आदि इसी के अंश हैं । प्रकृति के राजस, तामस और सात्त्विक गुणों के अधिष्ठाता ब्रह्मा, शिव एवं विष्णु भी इसी अक्षरब्रह्म के अंतर्गत रूप हैं । शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही सूर ने भी अक्षरब्रह्म के सत् धर्म से जगत्, चित् से जीव और आनंद से अंतर्यामी का आविर्भाव बताया है---

हरि-पद प्रीति करै सुख पावै ।
उत्पति पालन प्रलय देव हरि, तीन रूप धरि आवै ॥
विष्णु रुद्र ब्रह्मा करि सब प्रेरक, अंतरयजामी सोई । -सूरसागर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्धाद्वैत वेदान्त में स्वीकृत अविकृतपरिणामवाद के अनुसार ही सूर ने सृष्टि के परिणमन के संबंध में 'जल एवं 'बुदबुद' के उदाहरण द्वारा अपने विचार व्यक्त किए हैं। चराचर सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त ब्रह्म को सूर ने जल के रूप में तथा जीव एवं जगत् को उसमें उद्भूत बुद बुदा कहा है—

ज्यों पानी में होत बुदबुदा, पुनि ता मांहि समाहिं।
त्यों ही सब जग कुटुम्ब तुमहिं ते, पुनि तुम मांहि बिलाहिं॥ —सूरसागर

जीव : सूर साहित्य में आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही जीव-विषयक निरूपण मिलता है। जीव चैतन्य स्वरूप है। वह प्राणिमात्र के शरीर में व्याप्त है[1] एवं वह ब्रह्म से ही परिणमित उसका सनातन अंश है।[2] वल्लभ-वेदान्त की जीव-संबंधी स्थापना का यही प्रतिपाद्य है। अक्षरब्रह्म के चिद् अंश से **'विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु'** अग्नि से चिनगारियों की भाँति जीव का परिणमन हुआ है :

(अ) चेतन घट-घट है या भाई, ज्यौं घट-घट रवि प्रभा लखाई।
घट उपजै बहुरौ नसि जाई, रवि नित रहै एक ही भाई। —सूरसागर, पद-३९४

कवि ने 'घट' में वीप्सा की है। प्रथम चरण में 'घट-घट' प्रयोग शरीरवाची एवं द्वितीय चरण में मिट्टी का घड़ा वाची अर्थ अभीप्सित है। रवि-प्रभा जिस भाँति प्रत्येक घट में परिलक्षित होती है वैसे ही अक्षरब्रह्म भी चेतन के रूप में प्रत्येक शरीरी में विद्यमान है। मृत्तिका में से घट रूपायित किया जाता है एवं नष्ट होने पर वह पुनः मृत्तिका रूप बन जाता है। वैसे ही अक्षरब्रह्म में से शरीरी परिणत होते हैं एवं पुनः अक्षरब्रह्म रूप हो जाते हैं। मृत्तिका जैसे नित्य है वैसे ही अक्षर ब्रह्म भी नित्य है। घट मिट्टी का विकार नहीं है किन्तु अविकृतपरिणमन है वैसे ही जीव भी ब्रह्म का विकार नहीं किन्तु अविकृत-परिणमन है। उपर्युक्त पंक्तियों में सूर ने जीव की सृष्टि के संबंध में शुद्धाद्वैत वेदान्त में स्वीकृत अविकृत-परिणामवाद का निरूपण किया है। 'रवि-प्रभा' से सूर ने जो 'घट-घट' में व्याप्त चेतन स्वरूप ब्रह्म को उपमित किया है, वह कितना उपयुक्त है? 'यजुर्वेद' के पुरुषसूक्त में **'सूर्यआत्मा जगतः'** सूर्य को ही जगत् का आत्मा कहा गया है। उसकी ऊष्मा ही जीवन का आधार है। जीवन के लिए सूर्य का नित्य होना अपेक्षित है, वैसे ही शरीरी के लिए ब्रह्म का।

वल्लभ वेदान्त के अनुसार जीव ऐश्वर्याभाव में दीन एवं पराधीन, वीर्याभाव में दुःखी, यशाभाव में दीन, श्री-अभाव में जन्म-मरणादि अनेकविध दुखों से युक्त, ज्ञानाभाव में अहंकारी, एवं वैराग्याभाव में विषयासक्त रहता है। इस प्रकार जीव अविद्या, अध्यास एवं अज्ञानदशा में जन्म-जन्मान्तरों तक अनेक नीच योनियों में भटकता रहता है। वह कर्म-लिप्त है और कर्मों के अनुसार ही भ्रमित होकर अनेक जन्म लेता है। वह जन्म-मृत्यु के चक्र में फंस जाता है। जीव जब अविद्या से मुक्त होकर परमात्मा को पहचान लेता है, अपने भीतर ही विद्यमान चेतन स्वरूप ब्रह्म को शुद्धस्वरूप में जान लेता है तब उसे 'तनु' मिथ्या और 'क्षणभंगुर' प्रतीत होने लगता है फिर वह 'तन' के साथ नहीं किन्तु भीतर जो 'चेतन' स्वरूप में ब्रह्म (आत्मा) विलसित हो रहा है, उसीमें लीन हो जाता है। तब उसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है। उसका ब्रह्म के साथ शाश्वत संबंध स्थापित हो जाता है। ब्रह्म की माया (विद्या-माया) के अनुग्रह से

---

१. जीवस्य हि चैतन्यं गुणः सः सर्वशरीरव्यापी। अणुभाष्य टीका सूत्र २५, २६, अध्याय २६, पाद-३
२. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गीता १५-७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह सभी को 'एकरस'-ब्रह्मरूप देखने लगता है। उसे आत्मज्ञान हो जाता है एवं 'अविनासी' ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है। सूर के निम्नलिखित पद में शुद्धाद्वैत के अनुसार ही अविद्यामायावेष्टित एवं विद्या मायावेष्टित दोनों प्रकार की जीव की स्थितियों का निरूपण हुआ है—

जिय करि कर्म जन्म बहु पावै। फिरत फिरत बहुतै भ्रम आवै।
अरु अजहुं न कर्मपरिहरै। जातैं ताकौ फिरिबो टरै।
तन स्थूल अरु दूबर होई। परमातम कौं ये नहिं दोई।
तनु मिथ्या छन-भंगुर जानौ। चेतन जीव सदा थिर मानौ॥
जिय कौ सुख-दुःख तन संग होई। जो विचरै तनके संग सोई।
देह अभिमानी जीवहिं जानै। ज्ञानी तनु अलिप्त करि मानै॥

× × ×

जीव कर्म करि बहुतन पावै। अज्ञानी तिहिं देखि भुलावै।
ज्ञानी सदा एक रस जानै। तन के भेद भेद नहिं मानै॥
आत्म अजन्म सदा अविनासी। ताकों देह-मोह पड़ फांसी। —सूरसागर

शरीरस्थ आत्मा ही जीव कहलाती है। जीव को जब अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, उसका 'देहाभिमान' नष्ट हो जाता है और वह 'सदा एक-रस जानै' अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म को ही व्याप्त देखता है। फिर जीव को 'तन' का भेद 'भेद' नहीं प्रतीत होता है। उसके अज्ञान का आवरण नष्ट हो गया होता है। उसे अपनी देहस्थित आत्मा 'अविनासी' एवं 'अजन्मा' ब्रह्म ही प्रतीत होने लगती है।

सूर ने अपने पदों में बार-बार शुद्धाद्वैत वेदान्त के इस सिद्धांत की ओर संकेत किया है कि 'ब्रह्माण्ड के सकल तत्त्व' देवता मानवादि, प्रकृति, पुरुष इत्यादि सभी 'गुपाल' के ही अंश हैं। परब्रह्म 'गुपाल' है। ब्रह्माण्ड एवं उसमें व्याप्त सभी पदार्थ 'विस्फुलिंग' अग्नि के अंश होते हैं, वैसे ही 'गुपाल' के ही अंश हैं—

सकल तत्त्व ब्रह्मण्ड देव पुनि, माया सब विधि काल,
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण, सब है अंश गुपाल। —सूरसारावली, वै. पृ. ३८

राजर्षि भर्तृहरि भी अपने 'वैराग्यशतक' के मंगलाचरण में ब्रह्म के इसी स्वरूप का वर्णन करते हैं। उन्होंने ब्रह्म को दिक्, काल से परे 'चिन्मात्र' एवं स्वानुभूति का 'सार' कहा है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये। स्वानुभूत्येकसाराय नमः शान्ताय तेजसे॥

तात्पर्य यह कि सृष्टि के समस्त पदार्थों का ब्रह्म के साथ अंशांशी संबंध है। ब्रह्म अंशी है एवं सृष्टि के पदार्थ उसके अंश हैं।

आत्मा ही ब्रह्म है। जीव शरीर में आत्मा के रूप में ब्रह्म के अतीव निकट है, पर आत्मा पर अविद्या माया का आवरण होने से वह अदृश्य रहता है। तभी कबीर ने कहा है—**घूंघट के पट खोल रे, तोकु पीव मिलेंगे** यह 'घूंघट का पट' ही अज्ञानावरण अथवा अध्यास है एवं 'पीव' आत्मा है, परमात्मा है, ब्रह्म है।

सूर ने भी शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव का ब्रह्म के साथ अभिन्न एवं अंशांशी संबंध बताया है। जीव पर अविद्या-माया का आवरण पड़ा हुआ है, इस कारण वह अपने अंतःकरण में विद्यमान ब्रह्म को देख नहीं पा रहा है। जीव का देह से क्षणिक एवं ब्रह्म (आत्मा) के साथ अखंड, चिरंतन एवं शाश्वत संबंध है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह भ्रमित दशा में है। इसी कारण मदारी जैसे बंदर को नचाता है, वैसे वह अविद्यामायावेष्टित होकर नाच रहा है। कुत्ता जैसे 'कांच-मंदिर' में अपने प्रतिबिंब को अन्य कुत्ता समझकर भौंकता रहता है और अंत में भौंक-भौंककर मर जाता है वैसी ही भ्रांति संसारस्थ जीव को होती है। वह संसार के पदार्थों को ही सब-कुछ मानकर उनमें सदा लिप्त रहता है और अंत में उनमें फंसकर मर जाता है। मृग की नाभि में जैसे कस्तूरी विद्यमान है, पर उसे पाने के लिए वह वन के 'द्रुम-तृन' को सूँघता फिरता है, वैसे ही जीव भी देह में ब्रह्म विद्यमान है। उसे संसार के पदार्थों में ढूँढकर उन्हें पाने का व्यर्थ प्रयत्न करता है। जैसे सिंह कूप में अपना ही प्रतिबिंब देखकर उसे अन्य सिंह की भ्रांति होती है और वह कूप में गिरकर मर जाता है, वैसे ही जीव को भी संसार के विषयों में भ्रांति होती है। जिसका परिणाम मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। जैसे हाथी स्फटिक में अन्य हाथी को देखकर उससे भिड़ जाता है और अपने दांत तुड़वाता है, वैसी दशा जीव की भी है। मर्कट ने मटकी में पड़े पदार्थ को लेने के लिए हाथ भीतर डाला और पदार्थ को पकड़कर मुट्ठी बंद कर ली। फिर उसने कई प्रयत्न किए, पर बंद मुट्ठी का हाथ मटकी से बाहर नहीं निकला। इसी प्रकार जीव जब तक संसार के विषयों को अपनी पकड़ से छोड़ नहीं देगा तब तक बंदर की भाँति उसे भी बंधन दशा में ही रहना होगा। शिकारी जैसे तोते को बंधन में डाल देता है, वैसे संसार रूपी व्याध ने जीव को शरीर रूपी पिंजरे में आबद्ध कर रखा है। सूर कहते हैं कि जीव को भ्रांति से, संसार की अविद्या से मुक्त होना ही पड़ेगा। तभी उसे अपने भीतर ही ब्रह्म के दर्शन होंगे—

> अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ।
> जैसे स्वान कांच-मंदिर में भ्रमि-भ्रमि भूकि पर्यौ॥
> ज्यौं सौरभ मृग नाभि बसत है, द्रुम-तृन सूंघि फिर्यौ।
> ज्यौं केहरि प्रतिबिम्ब देखि कैं, आपुन कूप मर्यौ॥
> जैसे गज लखि फटिक सिला मैं, दसननि जाइ अर्यौ।
> मर्कट मूंठि छांडि नहिं दीनी, घट-घट द्वार फिर्यौ॥
> 'सूरदास' नलिनी के सुवटा, कहि कौने पकर्यौ। —सूरसागर, पद—३६९

न केवल वेदान्त सूत्रकार बादरायण व्यास अपितु आचार्य शंकर, रामानुज, निंबार्क, मध्व एवं वल्लभ इन सभी के वेदान्त-विषयक विचारों की चरमोपलब्धि है : 'स्वस्वरूपोपलब्धि', 'आत्मोपलब्धि'। जीव ब्रह्म का ही अंश है एवं उसमें ब्रह्म विद्यमान है, इसे वह भूल चुका है। सूर ने 'अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ' टेक द्वारा यही स्पष्ट किया है।

जीव को सांसारिक दुःखों से मुक्त होने के लिए भगवद् स्वरूप का ज्ञान अपेक्षित है। आचार्य वल्लभ ने भगवान् के स्वरूप-ज्ञान के लिए योग-सिद्धि भी एक साधन बताया है। शरीर-शोधन के उपाय हैं, यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि। इनके बिना चित्त स्थिर एवं मन पवित्र नहीं होता पर सूरदास ने जीव के भगवद् ज्ञान अथवा भगवत् स्वरूप की प्राप्ति के लिए भगवद् कृपा को ही प्रमुख हेतु माना है। पुष्टि-सृष्टि के चार प्रकार के जीवों की उत्पत्ति पुरुषोत्तम के श्री-अंग से ही होती है। इनमें शुद्ध-पुष्ट जीव भगवद् अंश ही होते हैं। अतः पुष्टिसंप्रदाय में दीक्षित होने के कारण सूर में एतद् विषयक सिद्धांतों का निरूपण होना स्वभाविक भी है।

सूर ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म और जीव के अंशी-अंश संबंध का प्रतिपादन किया है। परब्रह्म श्रीकृष्ण का अंश जीव इस संसार की माया में पड़कर अपने सत्य स्वरूप को भूल जाता है। वह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्रम और अविद्यावश अपने ईश्वरीय अंश–रूप सत्य–रूप को भूलकर इन्द्रिय धर्म को अपनी आत्मा का धर्म समझने लगता है। यही भ्रम उसके समस्त दुःखों का एवं राग–द्वेषों का कारण है। वल्लभ वेदान्त के अनुसार ही सूर का कथन है कि ईश्वर के अंश रूप जीव का स्वरूप पंच–भौतिक शरीर नहीं है। ईश्वर के समान ही जीव भी नित्य है। जीव की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं। शुद्ध जीव की प्रथमावस्था है, संसार लिप्त द्वितीयावस्था है एवं मुक्त यह तृतीयावस्था है। **'चोपदेश सतां भजेत्'** इस श्रुति वचन के अनुसार तीनों अवस्थाओं में जीव के लिए अपने अंशी परमात्मा का भजन अवश्यमेव करणीय है। सूर ने तीनों अवस्थावाले जीवों का वर्णन यथास्थान किया है।

जहाँ नित्य वृन्दावन, नित्य कुंज–लता–विस्तार एवं सारस, हंस, चकोर, मोर जहाँ 'निस–दिन' गान करते रहते हैं और जहाँ श्रीकृष्ण विविध रूपों में गोपिकाओं के मध्य अहर्निश विहार करते हैं, वहां शुद्ध अवस्थावाले जीव निवास करते हैं—

जहां वृन्दावन आदि अजर, जहं कुंज लता विस्तार।
सारस-हंस-चकोर-मोर-खग, कुंजत कोकिल कीर॥
गोपिन मंडल मध्य बिराजत, निस–दिन करत विहार।
सहस रूप वहु रूप रूप पुनि, एक रूप पुनि दोय। –सूरसागर, पद–४०७

जीव जब तक अपने सत्य स्वरूप को नहीं समझ लेता है तब तक वह उस मृग की भाँति संसार में भटकता रहता है, जिसकी नाभि में ही 'मद' विद्यमान है। ऐसे जीवों को सूर ने 'मंदमति' कहा है–

जब लौ सत्य स्वरूप न सूझत।
तब लौ मृगमद नाभि बिसारै, फिरत सकल बन बूझत।
अपुनौ ही मुखमलिन मंदमति, देखत दर्पन मांहि।
ता कालिमा मेटिबे कारन, पचत पखारत छाहि॥ –सूरसागर, पद–४१०

जीव को ज्ञान हुआ तो उसने अपने भीतर ही भगवान् को पा लिया। सद्गुरु ने ही उसे भगवान् के अंतःकरण में बिराजने का रहस्य बताया था। वह अब अखंड अनहद नाद को सुन रहा है। जैसे परमात्मा 'स्वराट्' हैं[1], स्वयं प्रकाश रूप हैं, वैसे ही वह भी प्रकाश से भर गया है। जैसे कस्तूरी मृग को ज्ञान होते ही उसे अपनी ही नाभि में कस्तूरी मिल जाती है, अपने ही गले में पड़ी मणिमाला को भ्रम में पड़कर न देख पानेवाले राजकुमार को जब कोई मणिमाला बता दे, स्वप्न में जैसे किसी स्त्री का बालक खो जाए और जागने पर उसे मिल जाए, वैसे ही सद्गुरु की कृपा से जीव को ज्ञान हो गया है और उसे अपने अंतःकरण में ही परमात्मा मिल गए हैं। जीव इस अखंड उपलब्धि से मन ही मन मुसकरा रहा है। जैसे गूँगा गुड़ के स्वाद को जानकर भी नहीं कह सकता, मुक्तावस्थापन्न ज्ञानी जीव की वैसी आत्माराममय आनंदस्थिति हो गई है—

अपुनपौ आपुन ही में पायौ।
सब्द ही सब्द भयौ उजियारौ, सत् गुरु भेद बतायौ।
ज्यों कुरंग नाभी कस्तूरी, ढूंढत फिरत भुलायौ।
फिर चेत्यौ जबं चेतन ह्वै करि, आपुन ही तनु छायौ॥

---

१. जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञस्वराट्। श्रीमद्भागवत, १–१–१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजकुमार कंठमनि भूषण, भ्रम भयौ कहुं गवायौ ।
दियौ बताइ और सतजन तवं, तनु कौ ताप नसायौ ।।
सपने मांहि नारि कौ भ्रम भयौ, बालक कहं हिरायौ ।
जागि लख्यौ ज्यौं कौ त्यौं ही है, ना कछु गयौ न आयौ ॥
'सूरदास' समुझे की यह गति, मन हि मन मुसिकायौ ।
कहि न जाइ या सुख की, महिमा ज्यों गूंगौं गुड खायौ ।। –सूरदास, ३६९

सूर-साहित्य में जिस मात्रा में ब्रह्मनिरूपण मिलता है उस रूप में जीव का वर्णन नहीं हो पाया है। फिर भी इस संबंध में जितने पद मिलते हैं, उनसे ईश्वर एवं जीव पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । आचार्य वल्लभ के मतानुसार ही सूर ने अपने साहित्य में यह निरूपित किया है कि ब्रह्म ही अपने चिद् अंश से अनेकानेक जीव रूपों में स्थित है तथा सर्वत्र ब्रह्म की ही सत्ता विद्यमान है और लयावस्था में वे सभी जीव पुनः ब्रह्मलीन हो जाएँगे । सूर ने एक पद में कहा है कि जो बद्ध जीव कर्म बन्धन में फँसकर अनेक योनियों के कर्मचक्र में भ्रमित होता रहता है, वह कर्म तो करता ही है परन्तु अल्पज्ञानी और अल्पशक्तिमान होने के कारण अपने पुरुपार्थ पर नियंत्रण करना उसकी शक्ति से बाहर है । कर्मफल जीव के अधीन नहीं है । भगवान् ही कर्मफल दाता है। जो मनुष्य स्वयं को पुरुपार्थी मानता है, वह माया में पड़कर अहंकारी बन जाता है—

धर्मपुत्र तू देखि विचार ।
कारन-करन है करतार ।।
नर के लिए कछू नहि होई, करता हरता आपुहिं सोई ।
ताको सुमिरि राज्य तुम करौं, अहंकार चित ते परिहरौ ।
अहंकार किए लागत पाप 'सूर' स्याम, भजि मिटै संताप ।। सूरसागर, पद–२५

जगत् : शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार **'सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वम्'** संपूर्ण जगत् ब्रह्म का ही स्वरूप है एवं ब्रह्म ही जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है । जगत् भगवद् रूप है एवं भगवान् से अभिन्न है । जगत् सत् है तभी तो **'भावे च उपलब्धेः'** के अनुसार उसकी उपलब्धि संभव है । घट की सत्ता विद्यमान है, तभी उसकी उपलब्धि होती है । धट जैसे मिट्टी का ही प्रकार है, वैसे ही जगत् भी ब्रह्म का ही रूप है । **'प्रपंचो भगवत्कार्यः'** यह प्रपंच अर्थात् जगत् भगवत् कार्य है । सूर ने आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही जगत् को ब्रह्मरूप एवं संसार को नश्वर तथा मायिक बताया है । सूर ने जगत् एवं जीव सभी को एक पद में 'गुपाल' का ही अंश बताया है । शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म सत्य है अतः जगत् भी उसका अंश होने से सत्य है । सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में वल्लभ वेदान्त के अनुसार सूर ने अविकृतपरिणामवाद को स्वीकार किया है । सूर ने जगत् को जल में उठे बुदबुदे के रूप में बताया है । बुदाबुदा जैसे जल का ही अविकृतपरिणाम होता है और फूटने पर पुनः जलमय हो जाता है वैसे ही जगत् भी पूर्ण पुरुषोत्तम की इच्छानुसार अक्षर ब्रह्म के सत् अंश से जगत्-रूप में परिणत हुआ है और अंत में वह पुनः ब्रह्म की इच्छा से ही उन्हीं में मिल जाएगा । सूर ने संपूर्ण जगत् का आविर्भाव एवं तिरोभाव शुद्धाद्वैत के अनुसार ही निरूपित किया है—

ज्यौं पानी में होत बुदबुदा, पुनि ता माहि समाहीं ।
त्यौं ही सब जग कुटुम्ब तुमहिं ते, पुनि तुम माहिं बिलाहीं ।। –सूरसागर, पद–३२७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर ने आचार्य वल्लभ के अनुसार जहाँ जगत् के ब्रह्म का अंश कहा है, वहाँ संसार के मिथ्या कहा है। सूर ने देह, संसार एवं माया के नश्वर कहा है। माया का अर्थ है संसार के प्रति मोह एवं ममत्व की भावना। संसार के प्रति ममत्व रखनेवाले जीव के सूर ने कठोर शब्दों में इस प्रकार फटकारा है—

> मिथ्या यह संसार, और मिथ्या यह माया।
> मिथ्या हैं यह देह, क्यों हरि बिसराया ॥–सूरसागर, पद–१०

सूर ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही अट्ठाईस तत्त्वों से सृष्टि उत्पन्न होने का वर्णन किया है। रमण करने की इच्छा से ही ब्रह्म ने एक से अनंत होने की इच्छा की, जिसके फलस्वरूप त्रिगुणात्मक समस्त पदार्थ ब्रह्म से ही परिणमित हुए। सर्वप्रथम ब्रह्म निरंजन–निराकार के रूप में ही था। वह अकेला था। उसने अपनी इच्छा से ही एक दिन सृष्टि का विस्तार किया। त्रिगुणात्मिका प्रकृति से महत् तत्त्व, महत् तत्त्व से अहंकार फिर मन, इन्द्रियों के शब्दादि विषय, पंचमहाभूत इत्यादि का विस्तार किया। इस प्रकार स्वयं ही 'अंड' बनकर स्वयं ही उसमें समा गए और इस तरह 'निज देह' से ही ब्रह्म ने तीनों लोकों का विस्तार किया—

> आदि निरंजन निराकार, कोऊ हुतौ न दूसर।
> रचौ सृष्टि–विस्तार, भई इच्छा इक औसर।
> त्रिगुन प्रकृति तै महत्तत्त्व, महत्तत्त्व तै अहंकार।
> मन इन्द्रीसब्दादि पंच, तातैं कियौ विस्तार।
> सब्दादिक तै पंचभूत, सुन्दर प्रगटाए।
> पुनि सबको रचि अंड, आप मैं आपु समाए।
> तीनं लोक निज देह मैं, राखे करि विस्तार।
> आदि पुरुष सोई भयौ, जो प्रभु अगम अपार। –सूरसागर, पद–३७९

'आप मैं आपु समाए' कथन से स्पष्ट है कि जगत् ब्रह्म का ही स्वरूप है। वेदान्त में बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद के स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार भी जीव, जगत् इत्यादि सृष्टि ब्रह्म का ही 'प्रतिबिम्ब' है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब गिरता है वैसे ही माया रूपी दर्पण में ब्रह्म ने स्वयं के देखकर सृष्टि की है। 'सूरसागर' में चौबीस अवतारों का वर्णन करते हुए प्रारंभ में सूर लिखते हैं—

> जो हरि करे सो होइ, करता राम हरी।
> ज्यौं दरपन–प्रतिबिंब, त्यौं सब सृष्टि करी। सूरसागर–पद–३७९

सूर इसी तथ्य के बार–बार प्रकट करते हैं कि कृष्ण ही परब्रह्म हैं और क्रीडा करने की इच्छा मात्र से ही उन्होंने स्वयं में से ही सृष्टि का विस्तार किया है—

> 'कृष्ण हिं ते यह जगत् प्रगट् है, हरि में लय ह्वै जावै'
>
> × × ×
>
> खेलत–खेलत चित्त में आई, सृष्टि करन विस्तार।
> आपुन आपु हरि प्रगट कियो है, हरि पुरुष अवतार ॥–सूरसागर, पद–५२७

सूर ने शुद्धाद्वैत के अनुसार ही जगत् के सत्य मानकर ब्रह्म के उदर में ही उसकी अवस्थिति मानी है। उनकी सम्मति में जगत् के भिन्न–भिन्न रूपों में ब्रह्म उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार कंकण,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किंकणी, कुंडल आदि विभिन्न सुवर्ण के आभूषणों में सुवर्ण व्याप्त है। फिर भी कई पदों में सूर ने 'जगत्' शब्द का प्रयोग सामान्य संसार के अर्थ में भी किया है। सूर लिखते हैं कि मन-मोहन जिसे अपना बना लेता हैं, उसका जगत् बाल भी बाँका नहीं कर सकता—

जाकौं मन-मोहन अंग करै।
ताकौ केस खसै नहिं सिर तैं, जो-जग बैर परै।-सूरसागर, पद-३७

यहां 'जगत्' शब्द संसार का पर्याय है, इसी तरह अन्य भी कई स्थानों पर सूर ने 'जगत्' का सामान्य संसार के अर्थ में प्रयोग किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर ने आचार्य वल्लभ से दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व जो दैन्य भाव के पद लिखे थे, उन्हीं में से संभव है, ये पद भी हों—

(अ) कलिमल दूर करन के काजै, तुम लीन्हौ 'जग' में अवतार। सूरसागर पद ४१
(आ) अपने सुख कौं सब जग बांध्यौ, कोऊ काहू को नाहीं। सूरसागर, पद-७०
(इ) जो मरि हौं तो सुरपुर जैं हौं, जीते 'जगत' मांहि जस लैं हौं। सूरसागर, पद-४१६
(ई) इहाँ कोऊ काहू को नाहीं, रिन-संबंध-मिलन 'जग' मांही। सूरसागर, पद-४२१

उपर्युक्त सभी पदांशों में 'जगत्' शब्द का प्रयोग शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार न होकर सामान्य माया-मोह में फँसे हुए संसार के लिए हुआ है।

सूर ने यह स्पष्ट कहा है कि एक ही परम तत्त्व अनेक रूपों में प्रकट होकर विलसित हो रहा है और जीव-जगत् भी उसी शोभाधाम परम तत्त्व के कमनीय अंश हैं—

'पहले हौं ही हो तब एक।
अमल अकल अज भेद-विवर्जित, सुनि विधि बिमल विवेक।
सो हौं एक अनेक भाँति करि, सोभित नाना भेष।
ता पाछै इन गुननि गए तैं, हौं रहि हौं अवसेष।
सत मिथ्या, मिथ्या सत लागत, मम माया सो जानि।

× × ×

ज्यों जल मसक जीव-घट अंतर, मम माया इमि जानि।-सूरसागर, पद-३८१

ये 'श्रीमुख' वचन हैं। परब्रह्म श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने श्रीमुख से इस प्रपंचात्मक जगत् का विकास उन्हीं के द्वारा कैसे हुआ है, इसका वर्णन किया है। जगत् में मिथ्या सत्य एवं सत्य मिथ्या प्रतीत होता है, वह भी परमेश्वर की ही माया है। जैसे मशक में जल है वैसे ही ब्रह्म भी 'घट' (शरीर) में बिराजमान है। जगत् में ज़ीव है और जीव-जगत् दोनों ब्रह्म के उदर में हैं। यही शुद्धाद्वैत वेदान्त का मुख्य प्रतिपाद्य है।

सूर ने परब्रह्म श्रीकृष्ण को भगवान् नारायण भी कहा है जो अपनी सहस्रों सुख स्वरूपा अत्यंत पवित्र लक्ष्मियों के साथ क्षीरसागर में शयन कर रहे हैं। खेल ही खेल में उन्होंने अपने नाभि-कमल पर बिराजमान ब्रह्मा को सृष्टि रचने की आज्ञा दी। फिर ब्रह्मा ने विविध रूपों में इस सृष्टि की रचना की—

नाभिकमल नारायण की सो, बेद गर्भ अवतार।
नाभिकमल में बहुत ही भटक्यो, तऊ न पायो पार।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब आज्ञा भई यह हरि की, अब करो परम तप आप ।

× × ×

जहां आदि निज लोक महानिधि, रमा सहस संयूता ।
आंदोलित झूलत करुणानिधि रमा सुखद अति पूता । सूरसागर, पद–१५७

नारायण एवं लक्ष्मी की उपासना रामानुजाचार्य द्वारा संस्थापित 'श्रीसंप्रदाय' में होती है । सूर के साहित्य में नारायण श्रीकृष्ण का ही पर्याय समझना चाहिए ।

परब्रह्म के रोम–रोम में कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड स्थित हैं । ब्रह्म ही जगत् का पिता है, जगदीश है । वह ज्योति स्वरूप है । जिस ब्रह्म के उदर में तीनों लोक, जल-थल सभी कुछ विद्यमान हैं, वही यशोदोत्संग ललित श्रीकृष्ण हैं । वे यशोदा के भवन में शिशु के रूप में पालने में झूल रहे हैं । ब्रह्माजी ब्रजवासियों के पुण्य का वर्णन कर रहे हैं । सूर ने इस पद में भी जगत् को ब्रह्म का ही अंश कहा है—

बदत बिरंचि विशेष, सुकृति ब्रजवासिन के ।
ज्योति रूप जगन्नाथ, जगत् गुरु जगत् पिता जगदीश ।
योग–यज्ञ–जप–तप दुर्लभ, सो हरि गोकुल ईश ।
इक–इक रोम विराट्, कोटि तन, कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड ।
सो लींन्हौ अवछंग यशोदा, अपने भरि भुज दंड ।।
जाकैं उदर लोक–त्रय जलथल, पंच तत्त्व चौखानि ।
सो बालक ह्वै झूलत पलना, यशुमति भवनहि आनि ।। –सूरसागर पद–११०५

संसार नश्वर है । जब तक जीवन है तब तक संसार के संबंध हैं । मन बिछुड़ जाएगा और 'तन' राख हो जाएगा फिर कोई बात भी नहीं पूछेगा । इसलिए 'मैं–मेरी' की बात कभी नहीं करनी चाहिए । सत्य–असत्य बोलकर 'माया' जोड़ने से कोई लाभ नहीं है । सूर कहते हैं कि यहां कोई स्थिर नहीं है । जो आया है सो निश्चित जाएगा ही—

जग मैं जीवत ही कौ नातौ ।
मन बिछुरैं तन छार होइगो, कोउ न बात पुछातौ ।
मैं–मेरी कबहूं नहिं कीजै, कींजै पंचसुहातौ ।
विषयासक्त रहत निसि बासर, सुख सियरौ, दुःख तातौ ॥
सांच झूठ करि माया जोरी, आपुन रूखौ खातौ ।
'सूरदास' कछु थिर न रहैगौ, जो आयौ सो जातौ ।। –सूरसागर, पद–३०२

इस प्रकार सूर ने 'जगत्' शब्द का प्रयोग शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार तो किया ही है, पर इसके अतिरिक्त उन्होंने कहीं–कहीं संसार के पर्याय के रूप में भी प्रयोग किया है । 'जगत्' क्षणिक है ऐसा नहीं किन्तु जगत् का जीवन अर्थात् सांसारिक जीवन क्षणिक है, ऐसा सूर यहाँ कहना चाहते हैं ।

मायाः संस्कृत में **'मा'** अव्यय शब्द है, जिसका अर्थ है **'नहीं'** और **'या' 'यत्'** सर्वनाम शब्द के स्त्रीलिंग प्रथमा विभक्ति का एकवचन का रूप है, जिसका अर्थ है **'जो'** । इस प्रकार **'माया'** शब्द का अर्थ हुआ–**'जो नहीं है'** अर्थात् नहीं होने पर भ्रांति से दिखाई देती है, वह माया है । माया से दो प्रकार के भ्रम होते हैं, एक जो विद्यमान है उसे प्रकाशित नहीं करती है तथा जो अविद्यमान है उसे प्रकाशित

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करती हैं। जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम। रस्सी विद्यमान है। माया उसे प्रकाशित करती है। यों माया का एक दूसरा रूप है, जिसे विद्या-माया कहते हैं। भगवान् स्वयं मायापति हैं। वे अपनी विद्या-माया के तेज से अविद्या-माया के अंधकार को विनष्ट करते हैं। व्यक्ति को प्रकाश में जल का, जल में थल का और थल में जल का जो मिथ्याभास होता है, उसे परम सत्य स्वरूप परमेश्वर की विद्या-माया ही विनष्ट कर सकती है—

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥ —श्रीमद्भागवत, मंगलाचरण

तात्पर्य यह कि 'कुहक' (माया) को बाधित करने की शक्ति केवल परम सत्य परमेश्वर के तेज में ही निहित है। इसीलिए तो भारतीय आर्य परमेश्वर के तेज का लौकिक प्रतिनिधित्व करने वाले भगवान् सविता के तेज का गायत्रीमंत्र द्वारा ध्यान करते हैं।

सूर ने शुद्धाद्वैत के अनुसार माया के विद्या तथा अविद्या दोनों रूपों का वर्णन किया है। रमणेच्छु ब्रह्म अपनी अगाध शक्ति माया द्वारा ही सृष्टि का विस्तार करता है। उस मायापति की शक्ति 'अविगत' है, 'अगाध' है, 'अगोचर' है। उसे समझ पाना बुद्धि के लिए सभव नहीं है। उसकी माया ऐसी अद्भुत है कि प्रचंड शक्तिशाली सिंह भी भूख के मारे तड़पता रहता है, जब कि अजगर अनायास ही, बिना उद्यम किए ही आहार पा लेता है। उसकी माया कैसी विचित्र है। जो रिक्त है, उसे भर देती है तथा भरे को रिक्त कर देती है। कभी तिनका भी जल में डूब जाता है तो कभी शिला भी पानी पर तैरने लगती है। सूखे में भी सागर लहराने लगता है। पत्थरों के बीच कमल खिल उठते हैं। जल में आग सुलगने लगती है। राजा रंक और रंक राजा बन जाता है। इस प्रकार परमेश्वर कृपा करें तो माया द्वारा क्षण में ही वे पतित का उद्धार कर देते हैं—

अविगत-गति जानी न परै।
मन-वच-कर्म अगाध, अगोचर किहिं बिधि बुधि संचरै ॥
अति प्रचंड पौरुष बल पाएं, केहरि भूख मरै।
अनायास बिन उद्यम कीन्हैं, अजगर उदर भरै ॥
रीतै भरै, भरैं पुनि डारै, चाहै फेरि भरै।
कबहुंक तृन बूड़ै पानी में, कबहुंक सिला तरै ॥
बागर तैं सागर करि डारै, चहुं दिसि नीर भरै ॥
पाहन बीच कमल बिकसावै, जल में अगिनि जरै ॥
राजा रंक, रंक ते राजा, लैं सिर छत्र धरै।
'सूर' पतित तरि जाइ छिनक में, जो प्रभु नैकु ढरै ॥ —सूरसागर, पद-१०५

सूर ने उपर्युक्त एक ही पद में माया के दोनों रूपों का निरूपण कर दिया है। आचार्यों ने अविद्या-माया को कई नामों से अभिहित किया है जैसे—अध्यास, अज्ञान, भ्रम, स्वप्न, मोह इत्यादि। आचार्य वल्लभ ने शुद्धाद्वैत वेदान्त का निरूपण करते हुए अविद्या-माया को 'पंचपर्वा' कहा है। जिसमें बंधकर जीव संसृति (संसार) के दुःख एवं बंधन प्राप्त करता है तथा परमेश्वर की कृपा से अविद्या के नाश होने पर, विद्या (ज्ञान) का प्रकाश होने पर, जीव संसार के दुःखों से एवं बंधनों से मुक्त हो जाता है। पहला

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्यास (अविद्या) अन्तःकरण का, दूसरा प्राणाध्यास, तीसरा इन्द्रियाध्यास, चौथा देहाध्यास एवं पांचवा स्वरूपाध्यास है। इस प्रकार, अविद्या के ये पाँच पर्व हैं। 'पर्व' का अर्थ है गांठ अथवा अंग। जीव को अपने शुद्धस्वरूप के ज्ञान के लिए अपने अन्तःकरण पर पड़ी इन पाँचों गाँठों को विद्या के द्वारा छुड़वाना होता है। 'पर्व' संधि भाग को भी कहते हैं। जैसे बाँस या गन्ने में 'पर्व' होते हैं। आसुरी संपद् का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने 'गीता' में कहा है : 'अज्ञानी अहंकारवश होकर यह सोचता है कि मैंने आज इसे प्राप्त कर लिया है। उसे भी बलपूर्वक प्राप्त कर लूँगा। मैं धनाढ्य हो जाऊँगा। इसे आज मैंने मार गिराया है। कल दूसरे को भी समाप्त कर दूंगा। मैं ईश्वर हूं। मैं भोगी हूं। मैं बलवान हूं। मैं सुखी हूं। मैं कुलीन हूं। मेरे जैसा कोई नहीं है। मैं जिस पर प्रसन्न हो जाऊँगा, उसे दूँगा। इस प्रकार अज्ञानी मोहजाल में आवृत्त होकर, काम-भोग में लिप्त होकर नरक में गिरते हैं। ऐसे लोग धन, मान, मद-गर्वित होकर स्वयं को ही महान् समझते हैं एवं स्तब्ध-संवेदनहीन, निर्दय होते हैं। ऐसे लोग यज्ञ आदि करते हैं। उनमें भी दंभ, पाखंड होते हैं। अपने यश एवं स्वार्थ के लिए ही ये लोग यज्ञादि किया करते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥४॥
अढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥६॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥७॥ गीता, अध्याय-१६

इस प्रकार के अज्ञान को ही आचार्य वल्लभ ने अध्यास कहा है।

अन्य वस्तु में अन्य का भ्रम अथवा आरोप, अध्यास अथवा मिथ्यारोप कहलाता है। 'मैं भोक्ता हूं', 'मैं कर्ता हूं' इस प्रकार का जो भी अहंकार है, वह अन्तःकरण का अध्यास है। जब जीव प्राणधर्म को अपना धर्म मानने लगता है और कहता है—'मैं भूखा हूं' 'मैं तृप्त हूं' 'मैं प्यासा हूं' तब उसे प्राणाध्यास होता है। जब जीव अपनी इन्द्रियों के धर्मों को ही अपना धर्म समझता है तब उसे इन्द्रियाध्यास होता है। इसी भांति जीव देह एवं स्वरूप में ही प्रीति करता हुआ बंधा रहता है वहाँ जीव को देहाध्यास एवं स्वरूपाध्यास होता है।

सूर ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार अपने साहित्य में अविद्या-माया का विस्तृत वर्णन किया है। प्राणियों को परमेश्वर की ओर से विमुख करके सांसारिकता में फँसाए रखना अविद्या-माया का कार्य है। अविद्या-माया काम, क्रोध, लोभ, मोह, अज्ञान आदि अनेक मानसिक दुर्बलताओं के सहयोग से जीव को सत्पथ से दूर भटकाए रखती है। इसके हाथ में पड़ा प्राणी 'नटी' के बंधन में पड़े 'कपि' की भाँति पराधीन हो जाता है। माया नटी जीव को अनेक तरह के नाच नचाती है। माया से आबद्ध जीव लोभवश होकर अनेक 'स्वांग' बनाकर भिखारी की तरह 'दर-दर' भटकता फिरता है। माया 'प्रभु' के प्रति भी कपट व्यवहार करवाती है। वह जीव के मन में अनेक प्रकार की अभिलाषाएँ उत्पन्न करती हैं और रात-दिन उसे बेचैन किए रहती है। जैसे सोते समय स्वप्न में कोई सम्पत्ति पाकर हर्षित होता है, वैसे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही इस माया के द्वारा जीव संसार को पाकर पागल हो जाता है। यह माया जीव को मोहित करके 'अपमार्ग' की ओर ले जाती है। जैसे कोई दूती पर स्त्री को फँसाकर पर-पुरुष के पास ले जाती है, वैसे ही यह माया जीव को इन्द्रियों के वश में कर देती है। इन्द्रियों को 'गीता' में 'पर' कहा है और 'आत्मा' को 'स्व' कहा है—'इन्द्रियाणि पराण्याहुः'। इस प्रकार संसार के समस्त दुःख, परवशता, विवशता के बंधन अविद्या-माया के बंधन हैं। सूर ने निम्नलिखित पद में इसके घृणित एवं बीभत्स रूप का वर्णन इस प्रकार किया है—

माया नटी लकुटि कर लीन्हे, कोटिक नाच नचावै।
दर-दर लोभ लागि लिए डोलति, नाना स्वांग बनावै।
तुम सौं कपट करावति प्रभुजू, मेरी बुद्धि भरमावै।
मन अभिलाष-तरंगनि करि करि, मिथ्या निसा जगावै।
सोवत सपने मैं ज्यौं संपति, त्यौं दिखाइ बौरावै।
महामोहिनी मोहि आतमा, अपमारगहिं लगावै।
ज्यौं दूती पर-बधू भोरि कै, लै पर-पुरुष दिखावै।
मेरे तो तुम पति, तुम हिं गति, तुम समान को पावै ?
'सूरदास' प्रभु तुमरी कृपा बिनु, को मो दुःख बिसरावै॥ —सूरसागर, पद-४२

सूर ने वल्लभ वेदान्त के अनुसार अविद्या-माया का कई रूपों में वर्णन किया है। ऐसा करके सूर जीव को सांसारिक माया से मुक्त करके परम सत्य परमेश्वर की ओर अभिमुख करना चाहते हैं। एक अन्य पद में सूर ने माया को उस कामुक स्त्री के रूप में निरूपित किया है जो मनोहर वेश धारण करके अनेक चेष्टाओं द्वारा पुरुष (जीव) को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न कर रही है। उसने 'राती चुनरी', सफेद उपवस्त्र (दुपट्टा), कटि में नीले रंग का लंहगा और चतुरानन को भी वश में कर ले, वैसी 'चोली' पहन रखी है। उसे देखते ही बड़े-बड़े योगी भी 'जोग-जुगति' भूलकर काम-क्रोध-मद के वश हो जाते हैं। एक को वह चूमती है तो दूसरे के साथ शयन करती है। वह 'छैलों' (रसिकजनों) के साथ परछाई की तरह लगी रहती है। इस प्रकार इस माया ने 'जल-थल-नभ' में जितने जीव हैं, उन सभी को अपने वश में कर रखा है—

हैं गोपाल तुम्हरी माया, महाप्रबल, जिहिं सब जग बस कीन्हौ।
नैंकु चिते मुसक्याइ कै, सब कौ मन हरि लीन्हौ।
पहिरे राति चूनरी, सेत उपरनौ सोहै।
कटि लंहगा नीलौ बन्यौ, को जो देखि न मोहै।
चोली चतुरानन ठग्यौ, अमर उपरना राते।
× × ×
जोग-जुगति बिसरी सबै, काम-क्रोध-मद जागे।
लोक-लाज-सब छुटि गई, उड़ि धाए संग लागे।
× × ×
एकनि को रदसन ठगै, एकनि के संग सोवै।
× × ×

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छैलनि के संग यौं फिरै, जैसे तनु संग छाइ ।
इह विधि इहिं डहकै सबै, जल-थल-नभ-जिय जेते । -सूरसागर, पद-४४

सूर ने इस मोहित करनेवाली अविद्या को भी 'गोपाल' की ही माया बताया है । तात्पर्य यह कि यदि 'गोपाल' कृपा करें तो इस सांसारिक अविद्या-माया से जीव को मुक्ति प्राप्त हो सकती है । वही अपने ज्ञान तेज से इसे नष्ट कर सकता है—

'धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं सत्यं परं धीमहिं' —श्रीमद्भागवत, मंगलाचरण

इसी पद में सूर ने अविद्या-माया का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि इसने ब्रह्मा, शंकर, देव, दनुज, ऋषि-मुनि जैसों को भी मोहित कर रखा है तो सामान्य मनुष्य उसके सपाटे से कैसे बच सकता है । उसके साथ तो वह और भी तरह-तरह के कौतुक करती है । किसी को वह सुख की नींद से जगाती है, तो किसी को लेकर वह घर में बैठ जाती है तो किसी का बीच में ही हाथ छोड़कर खिसक जाती है । इस प्रकार मनुष्य माया के वश में होकर अपने कुल-धर्म को भी भूल जाता है—

सुनि या के उतपात कौं, सुक सनकादिक भागे ।
बहुत कहां लौं बरनिए, पुरुष न उबरन पावै ।
भरि सोवै सुख-नींद मैं, तहां सु गाइ जगावै ।
× × ×
एकनि लै मंदिर चढै, एकनि बिरचि बिगोवै ।
× × ×
कछु कुल-धर्म न जानई, रूप सकल जग रांच्यौ ।
बिनु देखैं, बिनु हीं सुनैं, ठगत न कोऊ बांच्यौ । -सूरसागर, पद-४४

जिसने संसार को अपनी मुसकराहट मात्र से वश में कर रखा है। वह गोपाल की ही माया है । उसके कारण 'भजन' में भी विघ्न होते हैं । मन भ्रम में पड़ जाता है । पशु जैसे बंधन में पड़कर परवश हो जाता है, वैसे सूर कहते हैं कि मैं भी माया के हाथ बिक गया हूं—

अब हौं माया हाथ बिकानौ ।
परवश भयौ पसु ज्यौं रजु ब्रस, भज्यौ न श्रीपति रानौ ।
हिंसा, मद, ममता रस भूल्यौ, आसा ही लपटानौ ।
वाही करत अधीन भयौ हौं, निद्रा अनि न अघानौ ।
अपने ही अज्ञान-तिमिर मैं, बिसर्यौ परम ठिकानौ ।
'सूरदास' की एक आंखि है, ताहू मैं कछु कानौ । सूरसागर, पंद-५६

सूर स्पष्ट कर रहे हैं कि यह अविद्या का अज्ञान-तिमिर उसका ही अपना स्वयं का मोह है । जिसमें पड़कर वह अपने शुद्ध परामात्म स्वरूप को भूल चुका है । सूर ने माया को झूठी एवं प्रपंची कहा है। मनुष्य जीवनभर श्रम करके 'कंचन-कलस' सुशोभितं अनेक भवन बनाता है, पर जब वह मर जाता है, तब उसी बंधन में से उसे तत्काल बाहर निकाल दिया जाता है । स्त्री उसे यह कहकर जीवन भर ठगती रहती हैं कि मैं तेरे साथ जलूंगी, पर मरने के बाद वह एक पैर भी घर के बाहर उसके साथ नहीं आती ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माता ने भी अनेक तरह से लाड़-लड़ाये हैं पर मृत्यु के बाद उसकी कमर का धागा तक निकाल लिया जाता है। ऐसा यह स्वार्थी संसार है। केवल यहाँ 'हरि' ही काम आते हैं। अतः संसार की माया को छोड़कर हरि को ही भजना चाहिए—

हरि बिन कोऊ काम न आयौ।
इहिं माया झूठी प्रपंच लगि, रतन सौ जनम गंवायौ।
कंचन-कलस विचित्र चित्र करि, रचि पचि भवन बनायौ।
तामैं तैं ततछन ही काढ्यौ, पल भर रहन न पायौ।
हौं तव संग जरौंगी, यौं कहि, तिया धूति धन खायौ।

× × ×

आसा करि करि जननी जायौ, कोटिक लाड़ लड़ायौ।
तोरि लियौ कटिहू कौ डोरा, तापर बदन जरायौ। —सूरसागर, पद-३०

सूर ने मायालिप्त व्यक्ति को बार-बार सावधान करते हुए कहा है कि 'हे मनुष्य! इस माया रूपी विषम भुजंगिनी के विष से तू अभी तक मुक्त नहीं हुआ है? गुरु रूपी गारुडी ने कृष्ण के मंत्र द्वारा तेरे विष को उतारने के कई प्रयत्न किए हैं। साधु-संगति से भी तू इस माया-भुजंगिनी के विष से मुक्त हो सकता है। हे मनुष्य! तू यदि ज्ञान की औषधि खाएगा तो भी इसके विष से मुक्त हो जाएगा। इस प्रकार इस माया रूपी नागिन के विष से मुक्त होने के सूर ने तीन उपाय बताए हैं—(१) कृष्ण-मंत्र का जप, (२) साधु-सत्संगति, (३) ज्ञान-प्राप्ति—

अजहू सावधान किन होहि।
माया विषम भुजंगिनि कौ विष, उतर्यौ नाहिं न तोहि।
कृष्ण सुमंत्र जियावन मूरी, जिन जन मरत जिवायौ।
बारंबार निकट स्रवननि ह्वै, गुरु गारुडी सुनायौ।
बहुतक जीव देह अभिमानी, देखत ही इन खायौ।
कोउ-कोउ उबर्यौ साधु-संग, जिन स्याम सजीवन पायौ।

× × ×

'सूर' मिटै अज्ञान-मूरछा, ज्ञान-सुभेषज खाऐं। सूरसागर, पद-३७५

सूर ने एक पद में भगवान् से यह प्रार्थना की है कि हे परमेश्वर! इस बार तो आप मेरा उद्धार कर दीजिए। मैं भव-रूपी सागर के माया-रूपी गंभीर जल में डूबा जा रहा हूं। इस भव-सागर में लोभ की विशाल तरंगे उठ रही हैं। काम रूपी ग्राह मुझे अगाध जल में खींचे जा रहा है। इस भव-सागर में इन्द्रिय रूपी मछलियाँ मेरे तन को काट रही हैं और मेरे सिर पर पाप का बड़ा-सा गट्ठर लदा हुआ है। मेरे पैर 'सिवार' में उलझे जा रहे हैं। क्रोध, दंभ, 'गुमान', 'तृष्णा' रूपी पवन मुझे झकझोर रहा है। मेरे 'सुत-तिय' ऐसे स्वार्थी हैं कि आपकी नाम रूपी नौका की तरफ मुझे देखने तक नहीं दे रहे हैं। हे करुणामूल! मैं बीच सागर में ही थक चुका हूं और व्याकुल हो रहा हूं। आप शीघ्र पधारकर व्रज के किसी किनारे पर मुझे लगा दीजिए—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब के नाथ, मोहिं उधारि।
मगन हौं भव अंबुनिधि मैं, कृपासिंधु मुरारि।
नीर अति गंभीर माया, लोभ-लहरि तरंग।
लिए जात अगाध जल कौं, गहे ग्राह अनंग।
मीन इन्द्री तनहिं काटत, मोट अघ सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सिवार।
क्रोध-दंभ-गुमान-तृष्णा पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत सुत-तिय, नाम-नौका ओर।
थक्यौ बीच बिहाल, बिह्वल, सुनौ करुना-मूल।
स्याम भुज गहि, काढि लीजैं, 'सूर' ब्रज कैं कूल॥ सूरसागर, पद-९९

इस पद में सांगरूपक द्वारा सूर ने भव-सागर की भयंकरता का एवं माया की प्रचंडता का निरूपण किया हैं। अंतिम पंक्ति में सूर ने 'ब्रज के कूल' उतरने की श्रीकृष्ण से प्रार्थना की है, जिसका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण उसे सदा अपनी नित्य व्रजधाम की लीलाओं में साथ रखें।

एक पद में सूर ने महाराजा परीक्षित को 'मोह-निसा' से मुक्त बताया है। महामुनि शुकदेव की कृपा से परीक्षित का अज्ञान का अंधकार विनष्ट हो गया। वे शुकदेवजी के प्रति आभार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि हे कृपानिधान! आपकी कृपा से मेरा 'तम-अज्ञान' मिट गया है। मोह-निशा से मुक्त होकर मेरे जीवन में 'विवेक-विहान' का प्रकाश छा गया है। आत्मा के रूप में परमेश्वर सभी के 'घटों' में विलसित हो रहा है। ज्ञान रूपी सूर्य का मेरे जीवन में उदय हो चुका है। संसार के प्रति 'मेरापन-तेरापन' अर्थात् ममत्व तथा देहाभिमान से मैं सर्वथा मुक्त हो चुका हूं। अब मेरी यही एक अभिलाषा शेष रही है कि मैं आपकी लीलाओं का रात-दिन श्रवण किया करूँ। आपकी लीलाओं के अतिरिक्त मैं इन कानों से और कुछ सुनूं तो मुझे आप ही की सौगंद है—

नमो नमो हे कृपानिधान।
चितवत कृपा-कटाच्छ तुम्हारैं, मिटि गयौ तम-अज्ञान।
मोह-निसा को लेस रह्यो नहिं, भयौ विवेक-विहान।
आतम रूप सकल घट दरस्यौ, उदय कियौ रवि-ज्ञान।
मैं-मेरी अब रही न मेर, छुट्यौ देह-अभिमान।
भावै परौ आजु हीं यह तन, भावै रहौ अमान।
मेरैं जिय अब यहै लालसा, लीला श्रीभगवान्।
स्रवन करौं निसि-बासर हित, सौं 'सूर' तुम्हारी आन। —सूरसागर, पद-३७६

इस प्रकार न केवल अविद्या-माया किन्तु विद्या-माया का भी सूर ने स्थान-स्थान पर वर्णन किया है। भगवान् की इच्छा एवं उनकी कृपा से ही मनुष्य अविद्या-माया से मुक्त हो सकता है।

मोक्ष : देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, अन्तःकरणाध्यास और स्वरूपाध्यास इन पाँचों अविद्या-जन्य अध्यासों को विद्या ही विनष्ट करती है। अविद्या को भाँति वल्लभवेदान्त के अनुसार विद्या भी 'पंचपर्वा' है। यहां 'पर्वा' का अर्थ अंग है। अर्थात् विद्या के पाँच अंग हैं—वैराग्य, सांख्य, योग, तप एवं केशव के प्रति भक्ति—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैराग्यं सांख्ययोगे च तपो भक्तिश्च केशवे ।।४।।
पंचपर्वेति विद्येयं यथा विद्वान् हरिं विशेत् ।सप्रकाशस्वत्त्वदीपनिबन्धः

वल्लभ ने जीव तीन प्रकार के माने हैं—पुष्टि-जीव, मर्यादा-जीव और प्रवाही जीव । शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव को मुक्ति का आनंद प्राप्त होना भगवदिच्छाधीन है । वेदों से सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य में से कोई एक मुक्ति प्राप्त होती है । ज्ञान कष्ट साध्य है ! इसके द्वारा साधक को अंत में मोक्ष ही प्राप्त होता है । शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार आचार्य वल्लभ ने पुष्टिजीव के लिए लीला में लय होना ही 'सायुज्य अनुरूपा मुक्ति' अवस्था माना है । यही श्रेष्ठ मुक्ति है । इसी को स्वरूपानंद की मुक्ति भी कहा गया है । इसमें भक्त वैकुण्ठ से भी उत्कृष्ट गोलोकलीला की परमानंदानुभूति प्राप्त करता है । इसमें भक्त पूर्णपुरुषोत्तम की लीला में प्रविष्ट हो जाता है ।

सूर साहित्य में शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही जीवन–मुक्ति एवं मुक्तिजन्य परमानंदानुभूति का निरूपण हुआ है । भगवद्–अनुग्रह से ही जीव को सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य मुक्तियों में से कोई एक मुक्ति प्राप्त होती है । गोपिकाओं को भगवान् कृष्ण के परम अनुग्रह से सालोक्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तियां सहज ही लभ्य थीं । जब उद्धव गोपिकाओं को ज्ञान, योग, निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हैं तब वे कहती हैं कि 'हे उद्धव ! यह बड़े खेद की बात है कि तुम हम अबलाओं को निर्गुण–ब्रह्म के ज्ञान की बात सिखाने के लिए आए हो । तुम्हारा 'निरगुन' हमारे लिए भारी है । जैसे किसी सुकोमल के लिए गरिष्ठ भोजन कष्टद होता है, वैसे ही हमारे लिए निर्गुण ब्रह्म भी गरिष्ठ आहार की ही तरह भारी होने से दुःसाध्य है । तात्पर्य यह कि अबलाओं के लिए ज्ञान भारी है एवं सगुण भक्ति हलकी–फुलकी है अर्थात् सुपाच्य है । गोपिकाएं आगे कहती हैं कि हम तो केवल श्यामसुन्दर से प्रेम करती हैं, इसलिए चारों मुक्तियां भी हमारे सम्मुख कुछ भी नहीं हैं । वे तो सहचरियों की भांति सदा हमारे आगे–पीछे घूमती रहती हैं—

उधौ सुधौं नैंकु निहारौ ।
हम अबलनि कौ सिखवन आए, सुन्यौ सयान तिहारौ ।
निरगुन कहौ कहियत है, तुम निरगुन अति भारी ।
सेवत सुलभ स्यामसुंदर कौं, मुक्ति कही हम चारी ॥
हम सालोक्य, सारूप्य, सायुज्यौ, रहति समीप सदाई ।
सो तजि कहत और की औरै, तुम अलि बड़े अदाई ।
हम मूरख तुम बड़े चतुर हो, बहुत कहा अब कहिऐ ।
वे ही काज भटकत कत, अब मागर निज गहियै ॥
तुम अज्ञान कतहिं उपदेसत, ज्ञान रूप हमहीं–हमहीं ।
निसि दिन ध्यान 'सूर' प्रभु कौ अलि, देखत जित तितहिं ।।सूरसागर, पद–४५१८

शुद्धाद्वैत वेदान्त एवं पुष्टि भक्ति के अनुसार जीव के मोक्ष की परमोत्तम स्थिति उसका लीला में प्रवेश है । रासरसेश्वर परब्रह्म परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण जहां नित्यधाम वृन्दावन में नित्य लीलाएं करते हैं, गोपिकाएं वहीं उनके साथ नित्यलीलास्थ रहना चाहती हैं । उनके लिए यही परम मोक्ष की स्थिति है । 'सेवत सुलभ स्यामसुन्दर कौं' से गोपिकाएं अपनी नित्य लीलाविहार की परमोच्चस्थिति को प्रकट कर रही हैं । यह ध्यान रहे कि ये गोपिकाएं वे ही ऋचाएं हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम लीलावपु श्रीकृष्णचन्द्र की लीलाओं के दर्शन की कामना व्यक्त की थीं । परम दयालु परमेश्वर श्रीकृष्ण ने उन्हें लीलाओं का दर्शन ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं दिया किन्तु गोपिकाओं के स्वरूप में उन्हें भूतल की अवतारो व्रजभूमि पर उनके संग लीलाएं भी कीं और निष्काम होने पर भी उनके लिए सकाम होकर उन्हें पूर्णकाम किया। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि लाभ से लोभ बढ़ता है। ऋचाओं को जब श्रीकृष्ण के द्वारा लीला सुख प्राप्त हुआ है, तब वे इस परमास्वाद्य चरम सुख को कैसे छोड़ सकती हैं ? इसीलिए वे अब कृष्ण के साथ नित्य व्रज में लीलारत रहना चाहती हैं।

हमारे भारतीय शास्त्रों में दोनों प्रकार से मोक्ष प्राप्त करने की व्यवस्था है---प्रथम योग द्वारा, निवृत्तिपरक संन्यस्त जीवन द्वारा, संसारत्याग द्वारा, आत्माराम होकर परम एकांत जीवन द्वारा साधक जहाँ मोक्ष प्राप्त कर सकता है, स्वयं को परमात्मा में लीन कर सकता है, वहाँ वह दूसरी ओर भोग द्वारा प्रवृत्ति--मूलक--जीवन द्वारा, संसार में गले--डूब रहकर तथा अतीव हलचल--मय व्यस्त जीवन व्यतीत करता हुआ भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। हमारी औपनिषद्कालीन ऋषियों की दोनों प्रकार की परंपराएँ मिलती हैं। उनमें से कई गृहस्थ भी थे तो कई अगृहस्थ भी। हमारे यहां के तंत्रागमों में भी जिनके उपदेष्टा भगवान् शंकर हैं---यही सत्य पुनरावर्तित किया गया है कि व्यक्ति संसार में रहकर या उससे दूर रहकर दोनों में से किसी भी मार्ग द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। तंत्रात्मक 'श्रीविद्या' के उपासकों को लेकर इस प्रकार की फलश्रुति सुप्रसिद्ध है--

'श्रीसुंदरी साधकतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।'

इसी भाँति भक्ति के भी दो मार्ग हैं निर्गुण एवं सगुण। निर्गुण भक्ति ज्ञान, योग से सम्बद्ध होने के कारण निवृत्ति मूला एवं सगुण भक्ति भावमूला होने के कारण प्रवृत्ति--मूला है। प्रवृत्ति ही एकमेव इस भक्ति की जबरदस्त शर्त है। भगवान् के चरणों को सुदृढ भाव से पकड़ लो, फिर तुम निश्चिन्त होकर सुखपूर्वक जीओ--

अपि चेत सदुरुचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवहितो हि सः।। गीता

'संसारी कैसा भी क्यों न हो, सुदुरुचारी हो तो भी यदि मेरा आश्रित है तो वह साधु है, सम्यक् है, ऐसा सभी को समझना चाहिए। ऐसी मेरी आज्ञा है।' कृष्ण 'गीता' में अर्जुन से इस प्रकार भार-पूर्वक कहते हैं।

सूरसाहित्य में गोपिकाएँ प्रवृत्तिमूलक जीवन व्यतीत करती हुईं कृष्ण की आराधिकाएँ हैं। वे केवल सदा सर्वदा के लिए श्रीकृष्ण की ही हैं, बस इतना ही वे जानती हैं। लाख उद्धव प्रयत्न कर लें, पर जैसे काली कंबल पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता, वैसे गोपिकाओं पर भी 'कृष्णानुराग' के अतिरिक्त अन्य कोई रंग नहीं चढ़ सकता---

सूरदास जे रंगों स्याम रंग, फिर न चढ़ै रंग यातैं । सूरसागर, पद--४१६५

'स्याम रंग' में डूबना, परमात्मा में लीन होना ही वल्लभ वेदान्त एवं पुष्टिभक्ति के अनुसार उत्तमो-त्तम मोक्षमार्ग का साधन है। सूर ने अपने 'उद्धव--गोपी संवाद' प्रसंग में कृष्ण की इसी सगुणभक्ति को 'मोती' एवं निर्गुण साधना को 'ज्वार की उपलब्धि', सगुण को परम सुखदाई 'सुबस्ति' एवं निर्गुण को 'खोह', सगुण को 'सार--तत्त्व' एवं निर्गुण को 'भुस', सगुण को 'केले का वृक्ष' एवं निर्गुण को कण्टकाकीर्ण 'बेरि', सगुण को 'माणिक्य' एवं निर्गुण को 'छार' कहा है---

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सूरदास' मुक्ताहल भोगी, हंस ज्वारि क्यौं चुनि है । सूरसागर,पद–४१४७
'सूर' सुवस्ति छाड़ि परम सुख, हमैं बतावत खोइ । सूरसागर, पद–४१५७
'सूरस्याम' तजि को भुस फटकै, मधुप तुम्हारे हेति । सूरसागर, पद–४४७९
'सूरदास' प्रभु सौं यौं कहियौ, केरा पास ज्यौं बेरि । सूरसागर, पद–४४८१
'सूरदास' मानिक परिहरि कै, छार गांठि को बांधौ । सूरसागर, पद–४५१३

कृष्ण में अनन्यभाव से अनुरक्ति हो जाने पर भक्त अन्य किसी भोग की कामना नहीं करता है । गोपिकाएं जैसे सदा अपने मुख से कृष्ण का ही गुण–गान करना चाहती हैं । कृष्ण के दर्शनों के बिना वे जीना तक नही चाहतीं । जैसे तृषित चकोरी की आंखें चन्द्र की ओर लगी रहती हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र की ओर ही उनकी आँखें लगी रहती हैं। जैसे चातक स्वाति की बून्द के लिए तरसता है वैसे ही उनकी 'रसना' भी श्याम के रसास्वाद के लिए तड़पती रहती हैं । चित्त–चोर कृष्ण के लिए गोपिकाएं चातकी हो गई हैं। गोपिकाएं लताएं हैं एवं कृष्ण 'सलिल' हैं। विना सलिल के जैसे लताएं सूख जाती हैं, वैसे ही वे भी विना कृष्ण दर्शन के सूख जाएँगी । गोपिकाओं का शरीर तो सांप द्वारा त्यक्त कंचुकी की भाँति है। मन रूपी सांप तो 'गारुडी' कृष्ण की बंसुरी के राग से विह्वल होकर उनके साथ चला गया है। इस प्रकार सूर ने गोपिकाओं के माध्यम से मोक्ष के सुखद मार्ग कृष्ण की सगुण भक्ति की ओर सभी का ध्यान आकर्षित किया है । कृष्ण ऐसे स्वामी हैं, जो सुख–सागर हैं, 'भोगी–भंवर' हैं एवं भूपाल हैं—

'सूरदास' स्वामी विनु मुख तैं, कहौ काके गुन गाऊं । –सूरसागर, पद–४१५६
चाहतिं 'सूर' स्याम मुख चंदहिं, अखियां तृषित चकोरी । –सूरसागर, पद–४१७१
रसना 'सूर' स्याम के रसबस, चातक ह्वै ते प्यासी । –सूरसागर, पद–४१७३
'सूरदास' चातक भई गोपी, कहां गए चित चोर । –सूरसागर पद–३१६२
'सूरदास' वल्लभ–बेली, विनु दरस सलिल उन्मूलति । –सूरसागर, पद–४३२३
'सूरदास' स्वामी सुखसागर, भोगी भंवर भुवाल । –सूरसागर, पद–४३५४
'सूरदास' के संग गयो मन, अहि कंचुकी उतारि । सूरसागर, पद–४५१९

सूर के पदों में जप–तप–तीर्थ, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष एवं तीनों लोक के साम्राज्य से भी बढ़कर गोपाल के नाम संकीर्तन एवं वंशीवट–वृन्दावन–यमुना–निवास को अधिक महत्त्व दिया गया है । इन्हें छोड़कर कृष्णभक्त वैकुण्ठ भी नहीं जाना चाहता है । कृष्णभक्त जगत् को ब्रह्म का ही स्वरूप मानता है एवं स्वयं को उन्हीं का अंश मानता है । ऐसी स्थिति में वह कृष्ण–धाम वृन्दावन एवं कृष्ण–लीलाओं के अतिरिक्त और किसी की कामना कैसे कर सकता है—

जो सुख होत गुपालहिं गाऐं ।
सो सुख होत न जप–तप कीन्हैं, कोटिक तीरथ न्हाऐं ।
दिए लेत नहिं चार पदारथ, चरन–कमल चित लाऐं ।
तीनि लोक तृन सम करि लेखत, नंद–नंदन उर आऐं ।
वंशीवट वृन्दावन जमुना, तजि वैकुंठ न जावैं ।
'सूरदास' हरि कौ सुमिरन करि, बहुरि न भव-जल आवैं । –सूरसागर, पद–३४९

'हरि–स्मरण' ही मोक्ष का एकमेव सरल साधन है, ऐसा सूर वार–बार कह रहे हैं ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर ने जीव की लीला में प्रवेशात्मक स्थिति को मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ आदर्श माना है। वत्सहरण-लीला में ब्रह्मा कृष्ण से प्रार्थना करते हैं – 'हे कृष्ण, आप ऐसा अनुग्रह करें कि जिससे वह वृन्दावन की रेणु बने। इससे उसे परम लाभ होगा। आपके चरणों की सेवा उसे अनायास ही प्राप्त हो जाएगी। आप उस पर चरणकमल रखकर इधर-उधर डोलेंगे, गायें चराने जाएँगे एवं नित्य प्रति विविध लीलाएँ करेंगे'–

माधौ मोहि करौ वृन्दाबन-रेनु।
जिहिं चरननि डोलत नंद-नंदन, दिन-प्रति बन-बन चारत धेनु।
कहा भयो यह देव देह धरि, अरु ऊँचै पद पायें पेनु॥
हम ते धन्य सदा वै तृन-द्रुम, बालक-बँच्छ-बिषानऽरु बेनु।
'सूर श्याम' जिनकैं संग डोलत, हंसि बोलत, मथि पीवतु फेनु। सूरसागर, पद-११०७

अविद्या-माया के कारण ही जीव संसार के विषयों में आसक्त रहता है। यदि इससे मुक्ति मिल जाए तो जीव को अनायास ही भगवान् की प्राप्ति हो सकती है। सूर अपनी अविद्या रूपी गाय 'माधव' को सौंपते हुए कहते हैं कि यदि इसे 'माधव' अपने गोधन में मिला लेंगे तो वह सुखपूर्वक सो सकेगा और जन्म-मरण से मुक्ति पा जाएगा—

माधौ जू, यह मेरी इक गाइ।
अब आज तैं आप-आगैं दई, लै आइये चराइ।
यह अति हरहाई, हरकत हूं बहुत अमारग जाति।
फिरति वेद-बन ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राति।
हित करि मिलै लेहु गोकुलपति, अपने गोधन मांह।
सुख सोऊं सुनि वचन तुम्हारे, देहु कृपा करि बांह
निधरक रहौं सूर के स्वामी, जनि मन जानौ फेरि।
मन-ममता रुचि सौं रखवारी, पहिलै लेहु निबेरी। –सूरसागर, पद–५

सूर ने अपने अज्ञान, अध्यास, ममत्व एवं सांसारिक मोह को गाय से रूपायित किया है। सूर कैसा मनोवैज्ञानिक है? कृष्ण 'गोपाल' हैं। उन्हें गायें प्यारी हैं। अतः उसने अपनी अविद्या को भी एक गाय के रूप में प्रस्तुत किया है। जिसको कोई प्यारा होता है, यदि उसके नाम पर कोई जहर भी दे देता है तो वह उसके लिए अमृत से भी अधिक सुस्वादु होता है क्योंकि उसके साथ किसी न किसी रूप में उसका प्रिय जो संलग्न है। दूसरी बात यहाँ एक और विचारणीय है और वह है 'गो' शब्द। 'गो' अनेकार्थी शब्द है। इसका एक अर्थ इन्द्रिय भी होता है। 'गोपाल' अर्थात् इन्द्रियों का पालक अथवा स्वामी। भक्त अपनी इन्द्रियों का स्वामी परमात्मा को स्वीकार कर लेता है फिर इन्द्रियों का चांचल्य दूर हो जाता है, क्योंकि उस पर 'गोपाल' का अंकुश आ जाता है। यहां श्लेष द्वारा हम 'गो' से इन्द्रिय अर्थ भी ले सकते हैं और इसी दृष्टि से हम सूर को एक श्रेष्ठ शब्दसिद्ध परम सारस्वत के नाम से भी अभिहित कर सकते हैं। सूर अपनी इन्द्रिय रूपी स्वच्छन्द चरनेवाली सांसारिक विषय रूपी विष्ठा का भक्षण करने वाली गाय को अपमार्ग-गामिनी, 'हरहाई' दूसरों लोगों के खेतों में घुसकर नुकसान करने वाली तथा भटकने वाली, ज्ञान-रूपी गन्ने के खेत को उजाड़ने वाली कहा है। उसे केवल कृष्ण ही वश में करके सन्मार्ग पर ला सकते हैं। सूर ने बडे ही काव्यात्मक रूप से सांग रूपक द्वारा अपने अविद्याच्छन्न अन्तःकरण को भगवान् श्रीकृष्ण के सम्मुख प्रस्तुत किया है। कई दार्शनिकों ने अविद्या-माया से मुक्ति को भी मोक्ष माना है। मोक्ष साध्य है तो अविद्या-माया से मुक्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधन है । भगवच्चरणों में इन्द्रियों का समर्पण भी एक प्रकार की मुक्ति है । जैसे हाथ पर सांप लिपट गया हो तब जैसे उस साँप से मुक्त होने में सुखानुभूति होती है, वैसी ही सुखानुभूति भक्त को भी इस स्थिति में होती है ।

मुक्ति का एक अन्य रूप है ईश्वर-दर्शन । भक्त भजन-कीर्तन, तनुजा, वित्तजा एवं मानसी सेवा में रत होकर इस ईश्वर-दर्शनाभूति के सुख का अनुभव कर सकता है । इन्द्रियों से एवं चर्मचक्षुओं से ईश्वर दर्शन कदापि संभव नहीं । यदि ऐसा कोई कहे भी तो वह पाखंड है । केवल अन्तःकरण में ईश्वरानुभूति होती है, उसे ही भक्त अतिशयोक्ति में ईश्वर-दर्शन कहते हैं । सूर ने भजनानंद को ब्रह्मानंद के सुख से भी श्रेष्ठ एवं गुण-लीला-गान को परम-आस्वाद्य तथा अमित तोषदायी कहा है । सूर की दृष्टि में यह भी सदेह मुक्तावस्था ही है—

भजनानंद हमैं अति प्यारौ, ब्रह्मानन्द-सुख कौन बिचारौ ।
परमस्वाद सब ही जु निरंतर, अमित तोष उपजावै । -सूरसागर, पद-४०५४

सूर ने मोक्ष की परमोच्चस्थिति में जीव एवं ब्रह्म का सविशेष तारतम्य संबंध रखा है, क्योंकि अभेद होने से आनंदानुभव संभव नहीं है। इसलिए ब्रह्मभाव प्राप्त करके भी ब्रह्म से भेद रहे, यही परमोच्च अवस्था है । पुष्टि-भक्त को उसकी सेवा के अनुरूप तीन प्रकार से फलोपलब्धि होती है—(१) रसरूप पुरुषोत्तम के स्वरूपानंद की शक्ति प्राप्त कर, उसकी लीला में प्रविष्ट होना, (२) पूर्णपुरुषोत्तम के श्रीअंग अथवा आभूषणादि रूप बनना तथा (३) प्राकृत देहेन्द्रियादि से रहित होकर अप्राकृत शरीर से वैकुंठादि भगवान् के लोकों में आनंद भोग की अवस्था पाना । सद्योन्मुक्ति में भगवान् अपने भक्त के प्रारब्ध कर्मों का अपनी इच्छा मात्र से ही नाश कर देते हैं । भगवान् इतने सकरुण हैं कि अपने वियोग-दुःख से विह्वल होते भक्त को दुःख से बचाने के लिए उसे जीवन-मुक्त अवस्था में प्रारब्ध कर्म भोगने के लिए संसार में नहीं रहने देते । वे भक्त को तुरंत ही आनंद-विग्रह प्रदान कर अपनी नित्य रसात्मक लीला में उसे प्रविष्ट कर लेते हैं । सूर ने अपने साहित्य में लीला-प्रवेशात्मक सायुज्य-मुक्ति का निरूपण किया है । तमोगुणी रजोगुणी, सात्त्विकी एवं निर्गुणा भक्ति इनमें से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है । तमोगुणी भक्त परमेश्वर के हाथों से मरना चाहता है । रजोगुणी भक्त धन-कुटुम्ब आदि के साथ रहता हुआ भक्ति करता हैं । सात्त्विकी भक्ति संत करते हैं । वे जगत् को ब्रह्ममय देखते हैं । इन सभी को मुक्ति प्राप्त होती है, पर इन सभी में निर्गुणाभक्ति श्रेष्ठ है । ऐसा भक्त मुक्ति की भी कामना नहीं करता है । वह केवल परमेश्वर के ही दर्शन करते रहना चाहता है । ऐसा भक्त सुमुक्त कहलाता है । वह कभी इस 'भव-जंल' में जन्म नहीं लेता है । इस प्रकार यह अंतिम मुक्ति लीला-प्रवेशात्मक सायुज्य मुक्ति है । सूर ने इसीको स्वीकार किया है—

मेरी भक्ति चतुर्विध करै । सनै-सनै तैं सब निस्तरै ।

× × ×

तमोगुनी रिपु मरिबौ चाहै । रजोगुनी धन कुटुंब अवगाहै ।
भक्त सात्विकी सेवै संत । लखैं तिन्हैं मूरति भगवंत ।
मुक्ति मनोरथ मन मैं ल्यावैं । मम प्रसाद तैं वह पावैं ।
निर्गुन मुक्तिहुं कौं नहिं चहै । मम दरसन ही तैं सुख लहै ।
ऐसौ भक्त सुमुक्त कहावै । सो बहुर्यौ भव-जल नहिं आवै ।
क्रम-क्रम करि सबकी गति होइ । मेरौ भक्त नसै नहिं कोइ । -सूरसागर, पद-३९४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लीला प्रवेशात्मक सायुज्यमुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् भक्त भगवान् की कृपा के बल पर सालोक्य, सामीप्य तथा विशिष्ट प्रवेशात्मक सायुज्य मुक्ति भी प्राप्त करता है।

सूर के अनुसार आत्मज्ञान भी मुक्ति की एक अवस्था है। इस अवस्था में भक्त को जो सुख मिलता है, उसे जैसे गूंगा गुड़ की मिठास को कह नहीं सकता है, वैसे ही वह सुख भी अनिर्वचनीय होता है। सूर ने साधनामूलक एवं रागानुगा भक्ति-भावों को जैसे प्रयाग में त्रिवेणी संगम होता है, वैसे ही भगवच्चरणों में समन्वित करके उसे एक रस कर दिया है। सूर अपने मन को भ्रमरी के रूप में संबोधित करके कहते हैं कि 'हे भ्रमरी तू भगवान् के चरण-कमल की भक्ति में लीन हो जा, जहां नवधा भक्ति, कर्म और ज्ञान सभी मिलकर परम संतोषदायक एक प्रेम रस के आनंदास्वाद में मिल जाते हैं। अनेक ऋषि-मुनियों ने इस प्रेम-मकरंद को अपने संतोष के लिए भ्रमर बनकर पिया है--

भृंगीरी भजि स्याम-कमल-पद, जह्वां न निसि को त्रास।
जहां विधु-भानु समान, एक रस, सो बारिज सुख रास।
जहं किंजल्क भक्ति नव-लच्छन, काम-ज्ञान रस एक।
निगम, सनक, सुक, नारद, सारद, मुनि जन भृंग अनेक।
सिव-विरंचि खंजन, मनरंजन, छिन-छिन करत प्रवेस।
अखिल कोष तहं भर्यौ सुकृत-जल, प्रगटित स्याम-दिनेस।
सुनि मधुकरि, भ्रम तजि कुमुदनि कौ, राजिव वर की आस।
'सूरज' प्रेमासधु में प्रफुलित, तहं चलि करै निवास। सूरसागर, पद-३३९

सूर का कथन है कि इस प्रकार की जीवन् मुक्ति का आनंद सत् संगति में प्राप्त होता है। वे अपने मन रूपी शुक से कहते हैं—'हे शुक, तू उस मुक्ति के क्षेत्र-रूपी वन में चल, जहाँ कृष्ण-नाम का अमृत-रस तुझे पीने को मिलेगा। यहाँ कोई तेरा नहीं है। पिता, पुत्र, पत्नी, घर सभी कौए और शृंगाल के भोजन हैं। इन्हें तू क्यों अपना कहता है। वनरूपी काशी मुक्ति क्षेत्र है। वही तू जा। वहीं तुझे साधुओं की संगति प्राप्त होगी'—

सुवा चलि ता वन कौ रस पीजै।
जा वन राम नाम अम्रित-रस स्रवन-पात्र भरि लीजै।
को तेरो पुत्र, पिता तू काकौ, घरनी घर कौ तेरौ?
काग-सृगाल-स्वान कौ भोजन, तू कहै मेरा-मेरो।
बन वारानसि मुक्ति-क्षेत्र है, चलि तोकौं दिखराऊं।
'सूरदास' साधुन की संगति, बड़े भाग्य जो पाऊं। सूरसागर, पद ३४०

ऐसा प्रसिद्ध है कि चकवा-चकई दिन को साथ रहते हैं एवं रात्रि को अलग हो जाते हैं। जीव का ब्रह्म से अलग होना रात्रि है एवं पुनः ब्रह्म-लीन हो जाना दिन है। सूर ने अपने मन को 'चकई' संबोधित करके उसे भगवच्चरण-सरोवर पर जाने को कहा है। जहाँ कभी भ्रम की निशा नहीं होती है। यह जगत् भ्रम की निशा है। वहां केवल मिलन का सुख ही प्राप्त होनेवाला है। सनक, शिव उस सागर के हंस एवं सभी मुनिगण मीन हैं। भगवान् के चरण-नखों की प्रभा से ही जहाँ सदा सूर्य प्रकाश रहता है। उस सागर में मुक्ति-मुक्ताफल है तथा पुण्यात्मा वहां अमृत-रस पान करते हैं। ऐसे सरोवर को छोड़कर हे कुबुद्धि-रूपी पक्षी, तू यहां रहकर क्या करेगा? वहां लक्ष्मी के साथ भगवान् सदा क्रीड़ा किया करते हैं। संसार के विषय-रस तो गंदे पानी से भरा खड्डा है, अतः हे मन, तू उसी भगवच्चरण सरोवर की तरफ उड़ चल—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चकई री, चलि-चरन सरोवर, जां न प्रेम-वियोग ।
जहं भ्रम-निसा होति नहिं कबहूं, सोई सायर सुख जोग ।
जहां सनक-सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि-प्रभा प्रकास ।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं, ससि-डर, गुंजत निगम सुवास ।
जिहिं सर सुभग मुक्तिमुक्ताफल, सुकृत-अमृत-रस पीजै ।
सो सर छांड़ि कुबुद्धि विहंगम, इहां कहा रहि कीजै ।
लक्ष्मी सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित 'सूरजदास' ।
अब न सुहात विषय-रस-छीलर, वा समुद्र की आस । –सूरसागर, पद–३३७

स पद में भी सूर ने जीव को भगवान् के चरणों का नैकट्य प्राप्त करने को कहा है । लीला में स्थित होने की जीव की यह स्थिति भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य के अंतर्गत ही आएगी । सूर ने भगवान् के चरणों को सरोवर, सनक-शिव को सरोवर के किनारे निवास करनेवाले हंस तथा मुनियों को सरोवर में रहनेवाली मीन से उपमित किया है । संसार को भ्रम-निशा तथा विषय-रस से भरा गंदा खड्डा कहा है । सांग रूपक द्वारा सूर ने संसार के प्रति वैराग्य एवं प्रभु के प्रति अनुरक्ति प्रकट की है । यों यह 'सामीप्य' मुक्ति के अंतर्गत आएगी ।

भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि **'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'** वही मेरा श्रेष्ठ धाम हैं, जहां पहुचकर जीव पुनः कभी संसार में लौटकर नहीं आता । सूर ने भी इसी का अनुकरण किया है । सूर ने पूर्ण-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के लीलाधाम में पहुंचने को सालोक्य मुक्ति, श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों की प्राप्ति को सामीप्य-मुक्ति, ग्वालवत् बनकर कृष्ण के अनुकूल व्यापार करने को सारूप्य-मुक्ति एवं गोपीभाव से कृष्ण के नित्यरास में अवस्थित रहने को लीला-प्रवेशात्मक सायुज्य-मुक्ति नाम दिया है । इसी वृन्दावन के रास-रंग के सुख को सूर ने धन्य कहा है । जिसे देखकर सुर-नर-मुनि मोहित हो गए हैं एवं शिव की भी समाधि टूट गई है । सूर के नेत्र केवल उसी लीला को निर्निमेष दृष्टि से देखना चाहते हैं–

धनि सुक मुनि भागवत बखान्यौ ।
गुरु की कृपा भई जब पूरन, तब रसना कहि गान्यौ ।
धन्य स्याम वृन्दावन कौ सुख, संत मया तैं जान्यौ ।
जौ रस रास रंग हरि, कीन्हौ, वेद नहिं ठहरान्यौ ।
सुर-नर-मुनि मोहित भए सब ही, सिवहि समाधि भुलान्यौ ।
'सूरदास' तहं नैन बसाये, और न कहू पत्यान्यौ । सूरसागर, पद–१७९१

सायुज्य-मुक्ति के दो लयात्मक रूप ये भी हैं कि एक में भक्त रस-रूप श्रीकृष्ण की वेशभूषा का अंग है तो दूसरे में वह रस-रूप अक्षरधाम वृन्दावन का अंग बनना चाहता है । सूर ने एक पद में स्वयं 'व्रज-रेणु' बने, ऐसी कामना की है । उन्होंने यह भी प्रार्थना की है कि वे उसे व्रज की लता, यमुना-जल, व्रज में वृक्ष, व्रजवासियों के घर, ग्वाला, गाय एवं सेवक में से कुछ भी बना दें पर किसी भी स्थिति में वे उसे व्रज-वास प्रदान करें । वे चाहें तो चेतन बनाएं, उनके लिए दोनों स्थितियां समान हैं, पर वे सदा श्रीकृष्ण के साथ सायुज्य अवश्य चाहते हैं–

करहु मोहि व्रज रेणु, देहु वृन्दावन बासा । मांगो यहै प्रसाद और नहिं मेरे आसा ।।
जोई भावै सो करहु लता-सलिल-द्रुम-गेहु । ग्वाल-गाइ को भृतु करौ, मनो सत्यव्रत एहु ।[1]

---

1. सूरसागर, पद–१५८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मविस्मृति की स्थिति में न केवल भक्त भगवान् में लीन होता है, अपितु भगवान् भी स्वयं भक्त के रोम-रोम में व्याप्त हो जाते हैं। भक्त एवं भगवान् का यह ऐक्य जल-तरंगवत् अभिन्न होता है। भक्त को जब चराचर संपूर्ण जगत् में ब्रह्मभाव उत्पन्न हो जाता है तब स्वयं में भी भक्त भगवान् के ही दर्शन करता है। उसे अपनी आँखों में, प्राणों में, हृदय में, मन में, तन में, रसना में, धर में सभी जगह प्रिय कृष्ण जल में तरंग की भाँति दिखाई पड़ते हैं। इसी स्थिति को ब्रह्मोपलब्धि की परमोच्चस्थिति कहा गया है—

> आंखिन में बसै जियरे में बसौ, हियरे में बसत निसिदिन प्यारो।
> मन में बसौ, तन में बसौ, रसना में बसौ, अंग-अंग में बसत नंद बारो।
> सुधि में बसौ, बुद्धि हूं में बसौ, उरजन में बसत, पिय, प्रेम दुलारो।
> 'सूरश्याम' बन हूं में बसत, घर हूं में बसत संग ज्यों जल तरंगन होत प्यारो। सूरसागर

'जल-तरंग' में जैसे अभिन्नत्व रहता है, वैसे ही शुद्धाद्वैत वेदान्त में जीव-जगत् एवं ब्रह्म में भी अभिन्नत्व हैं। सूर ने 'जल-तरंगन' होत प्यारी। 'कथन द्वारा शुद्धाद्वैत वेदान्त के अविकृतपरिणाम वाद अर्थात् ब्रह्मवाद का निरूपण किया है। तरंग जल का अविकृतरूप है वैसे ही जगत् एवं जीव भी ब्रह्म के अविकृत रूप हैं।

परमप्रेमस्वरूप गोपिकाओं की ऐकान्तिक भक्ति का चरमभाव वहां प्रकट हुआ है, जहां गोपिका गोरस बेचने निकली हैं पर उनके नेत्र, श्रवण, मन, बुद्धि, चित्त सभी श्रीकृष्ण में लीन हैं। वे केवल तन से ही डोल रही हैं। जीभ गो-रस के स्थान पर 'हरि-रस लेहु' का उच्चारण कर रही है। कोई तल्लीनावस्था में 'गोरस-लेहु' के स्थान पर 'गोपालहिं' कह रही हैं। एक तो वे जोबन-मद से छलकी तरुनियां हैं और फिर उनके अंग-अंग में, रोम-रोम में 'स्याम-महारस' का मद व्याप्त हो गया है। अब वे 'स्याम' के बिना पलभर भी कैसे जी सकती हैं। 'ग्वालिनी प्रगट्यौ पूरन नेहु।' कृष्ण के प्रति ग्वालिनियों में पूर्ण प्रेम प्रकट हो चुका है। अब उन्हें बिना कृष्ण के चैन नहीं है। यह भी एक मुक्ति अवस्था है। सूर ने इस प्रसंग के अनेक पद लिखे हैं[1]—

> गोरस कौ निज नाम भुलायौ।
> लेहु-लेहु कोऊ गोपालहिं, गलिनि-गलिनि यह सोर लगायौ।
> कोउ कहै स्याम, कृष्ण कहै कोउ, आजु दरस नाहीं हम पायौ।
> जाकैं सुधि तन की कछु आवति, लेहु दही कहि तिनहिं सुनायौ।
> इक कहि उठति दान मांगत हरि, कहूं भई कै तुमहिं बलायौ।
> सुनहु 'सूर' तरुनी जोबन-मद, तापर स्याम-महारस पायौ। —सूरसागर, पद-२२५५

सूर ने योग द्वारा, ज्ञान द्वारा प्राप्त सायुज्य मुक्ति का वर्णन किया है, पर उसे स्वीकार नहीं किया है। आचार्य शंकर ने इसी मुक्ति को उत्तम कहा है।

रास : शुद्धाद्वैत वेदान्त में 'रास' को भी आध्यात्मिक एवं अलौकिक रसावस्था से संबद्ध माना है। डॉ. दीनदयालु गुप्त ने 'रस' के तीन प्रकार बताए हैं—(१) लौकिक विषयानंद (२) अलौकिक ब्रह्मानंद एवं (३) काव्यानंद।[2]

---

१. सूरसागर, पद-२२६२ से २२५५ तक,
२. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डॉ. दीनदयालु गुप्त, पृ. ७७६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह नामरूपात्मक संसार काव्यानंद का आलंबन है, अतः आध्यात्मिक दृष्टि से इसमें आनंदांश स्वल्प मात्रा में रहता है। लौकिक विषयानंद का आलंबन क्षणिक होने के कारण यह नश्वर है। 'श्रीमद्भागवत' में लौकिक काव्य को काकतीर्थ से उपमित किया है। जिसमें हरि-यश वर्णन नहीं है, ऐसे साहित्य को भागवतकार ने विषय-रस से पूर्ण ऐसा स्थान कहा है, जहाँ कोई गंदा चूंथ रहा होता है। भागवतकार ने हरियश-वर्णिन-काव्य को ही हंसों-संतों-के लिए परमास्पद कहा है—

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः। श्रीमद्भागवत १-५-१०

इनमें से ब्रह्मानंद-रस के आलंबन भगवान् स्वयं होने के कारण वह सर्वोत्तम एवं अखंड है। इससे ऊपर भगवान् कृष्ण को आलंबन मानकर उनके द्वारा जिस रस की अनुभूति होती है वह ब्रह्म रस है। आचार्य वल्लभ ने इसी को भजनानंद नाम दिया है—[2]

ब्रह्मानन्दात्समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने। लीलाया युज्यते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते।[1]

इस प्रकार 'रसोवैसः' रस रूप श्रीकृष्ण की लीलाओं में जो रस निष्पन्न होता है और जो शरद् पूर्णिमा की रात्रि की लीला में जो अपने में पूर्ण रूप में उद्भूत बताया गया है, वही 'रास' नाम से अभिहित किया गया है। रास के भी तीन प्रकार हैं–

(१) नित्यरास–नित्य गोलोक का रास।

(२) अवतरित रास–(नैमित्तिक रास) कृष्णावतार का रास।

(३) अनुकरणात्मक रास–अभिनयात्मक रास–जो मानसिक एवं दैहिक रूपों में दो प्रकार का है।

दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भक्ति के इन चार मुख्य भावों में माधुर्य भाव श्रेष्ठ है और माधुर्य भाव की चरमानंदानुभूति रासरसानुभूति में ही होती है।[2]

पुष्टि संप्रदाय के अनुसार मर्यादा भक्त नहीं, किन्तु पुष्टि भक्त ही इस रास-लीला में प्रवेश रूप मोक्ष प्राप्त कर सकता है। गोपी रूप से रासलीला में जीव का रसेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से मिलन ही पुष्टि-भक्त की चरम इच्छा होती है। सूर ने रास के आनंद को ब्रह्मानंद से भी विलक्षण रसानंद बताया है। उसे देखकर के सुर-नर सभी मोहित हो गए हैं और शिव की भी समाधि टूट गई है।[3] सूर ने केवल अवतरित रास का ही अपने पदों में वर्णन किया है। नित्य लीलाधाम से भगवान् श्रीकृष्ण भू-भार हरण करने के लिए भूतल पर अवतरित हुए तब उनके साथ वैकुण्ठ स्वयं गोकुल के रूप में तथा द्वादश शक्तियाँ श्री स्वामिनीजी राधा, यमुना, चंद्रावली आदि भी यहाँ अवतीर्ण हुईं। वैदिक ऋचाएँ भी भगवान् के साथ लीलाएँ करने के लिए गोकुल में गोपिकाओं के रूप में अवर्तीण हुईं। रास-रस की रीति को सूर ने अनिर्वचनीय एवं अद्भुत कहा है। रासवर्णन के लिए जैसी बुद्धि एवं मन चाहिए वैसे सूर के पास नहीं हैं। जिस पर भगवान् की कृपा होती है, वही इस रास-रसानंद को प्राप्त कर सकता है। भावपूर्वक भजने पर ही रास-रसानंद की प्राप्ति संभव है—

(अ) **रास-रस-रीति बरनि न आवै। कहां तैसी बुद्धि, कहां वह मन लहौं।**
कहां वह चित्त जिय भ्रम भुलावै। जो कहौं कौन मानै, जो निगम-अगम।
कृपा बिनु नहीं या रसहिं पावै। भाव सौं भजौं, बिनु भाव पैये नहीं।
भाव ही मांहि ध्यान हिं बसावै। –सूरसागर, पद-१००६

---

१. भागवत १-५-१० २. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ. ४९२, ३. सूरसागर, पद-१७९१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(आ) यह अपार रस-रास उपायौ, सुन्यौ न देख्यौ नैन ।
नारायन धुनि सुनि ललचाने, स्याम अधर रंस बेनु ।।
कहत रमा सौं सुनि-सुनि प्यारी, बिहरत हैं बन स्याम ।
'सूर' कहां हमकौं वैसो सुख, जो विलसति व्रज-बाम । -सूरसागर, पद-१६८७

रास-रसानंद के दर्शन करके सूर ललनाओं को भी व्रजवधू न होने के कारण पश्चात्ताप होने लगा--

हमकौं विधि व्रजवधू न किन्हीं, कहा अमरपुर बास भएं ।
बार-बार पछिताती यहै कहि, सुख होतौ हरि संग रहैं । सूरसागर, पद-१६६४

सभी देवता अपनी-अपनी देवियों के साथ विमान में बैठकर गोकुल आए । उन्होंने रास-रसानंद के दर्शन करके न केवल स्वयं को अपितु व्रज में जन्म लेने वालों को भी धन्य कहा । व्रज-वासी, व्रज-बाला, व्रज के लता-वितान, वृन्दावन, वंशीवट, यमुना-तट सभी को देवताओं ने धन्य कहकर उनपर पुष्प वर्षा की--

सुरगन चढि विमान नभ देखत ।
ललना सहित सुमन गन बरषत धन्य जन्म ब्रज लेखत ।
धनि ब्रज लोग, धन्य ब्रज बाला, विहरत रास गुपाल ।
धनि बंशीवट, धनि जमुना तट, धनि-धनि लता-तमाल ।
सब तैं धन्य-धन्य वृन्दाबन, जहां कृष्ण कौ बास ।
धनि-धनि 'सूरदास' के स्वामी, अद्भुत राच्यौ रास । -सूरसागर, पद-१६६२

रास-रसानंद के लिए वैकुण्ठ-विहारी कमलापति नारायण भी लालायित हैं । गोकुल के शारदीय रात्रि-रास की मुरली-धुनी वैकुण्ठ तक पहुँची । नारायण कमला के साथ वैकुण्ठ से गोकुल पधारे । उन्होंने निर्निमेष दृष्टि से भगवान् कृष्ण की रास-क्रीड़ा देखी और कहा कि हरि के साथ रास-क्रीड़ा में एक पल के लिएं जो सुख मिलता है, वैसा सुख तीनों लोकों में कहीं नहीं है । यह व्रज, व्रज-नारियां सभी धन्य हैं--

मुरली धुनि वैकुण्ठ गई ।
नारायण-कमला सुनि दंपति, अति रुचि हृदय भई ।
सुनौ प्रिया, यह बानीं अद्भुत वृन्दावन हरि देखी ।
धन्य-धन्य श्रीपति मुख कहि-कहि, जीवन ब्रज कौ लेखौ ।
रास-विलास करत नंद-नंदन सौं, हम तैं अति दूर ।
धनि वन-धाम, धन्य ब्रज धरनी, उड़ि लागै जो धूरि ।
यह सुख तिहूं भुवन में नाही, जो हरि संग पल एक ।
'सूर' निरखि नारायण एक टक, भूले नैन निमेष ॥ -सूरसागर, पद-१०६४

रास के अपार, अखंड, अनुपम रसानंद के दर्शन करके समस्त देव, किन्नर, मुनि, शिव, नारद आदि 'रास लीलाधाम' वृन्दावन तथा अद्भुत रास रसेश्वर नटनागर श्रीकृष्ण को धन्य कह रहे हैं--

रास-रस मुरली ही जान्यौ ।
स्याम अधर-पर बैठि नाद कियौ, मारग चंद्र हिरान्यौं ।
धरनि जीव जल-थल के मोहे, नभ मंडल सुर थाके ।
तन-द्रुम-सलिल-पवन गति भूले, स्रवन शब्द पर्यौ जाके ।
बच्यौ नहीं पाताल रसातल, कितिक उदै लौं भान ।
नारद सारद शिव यह भाषत, कछु तनु रह्यो न स्यान । -सूरसागर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर के समस्त साहित्य की उपलब्धि यही है कि उन्होंने भगवान् कृष्ण के आनंद स्वरूप एवं उसकी प्राप्ति के साधन प्रेम पर ही सर्वाधिक बल दिया है। उनके अनुसार भगवान् ने क्रीड़ा के लिए ही सृष्टि का परिणमन किया है एवं उस आनंद-क्रीड़ा की चरम परिणति रासक्रीडा में है। भूलोक की रास-क्रीडा नित्य वैकुण्ठ व्रजधाम के नित्य-रास का अवतीर्ण रूप है। द्वापर में भगवान् ने अपनी आनन्दमयी समस्त शक्तियों के साथ भूतल पर अवतीर्ण होकर जो रास किया था, वह सूर द्वारा निरूपित नैमित्तिक-रास है।

राधा-गोपी : भगवान् ने जब रमणेच्छा से एक से अनेक होने की इच्छा की तब उनके अक्षर-ब्रह्म रूप से सत् रूप जगत् और चिद् रूप जीव, मानव-देव आदि एवं स्वयं आनंद-स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम से गोप-गोपिकाएं आदि गोलोक की आनंदमयी शक्तियाँ आविर्भूत हुईं। इस प्रकार कृष्ण के ही आनंदांश के रूप में गोपिकाएँ हैं। कृष्ण धर्मी हैं एवं गोपिकाएँ उनका धर्म हैं। इस प्रकार धर्मी एवं धर्म अभिन्न हैं। राधा कृष्ण की सिद्ध-शक्ति है। कृष्ण का एवं राधिका का संबंध चंद्र और चन्द्रिका का है। गोपिकाएँ उस कृष्णचन्द्र की चन्द्रिका का प्रसार करनेवाली किरणें हैं। राधा भगवान् श्रीकृष्ण की आद्य-रस-शक्ति है और गोपिकाएँ उस रस-शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। भगवान् अपनी समस्त रस-शक्तियों के मध्य रसशक्ति स्वरूपा राधा के वश में रहते हैं।[1]

सूर ने वल्लभ-वेदान्त के अनुसार ही गोपिकाओं को परब्रह्म श्रीकृष्ण की 'परमानन्दमयी-शक्ति' के रूप में निरूपित किया है एवं राधा को पुरुष कृष्ण की प्रकृति कहकर दोनों की एकता का निरूपण किया है।[2] राधा को सूर ने नीलांबर-धारिणी शक्ति कहकर उन्हें शेष, महेश, गणेश, शुकादिक एवं नारदादि मुनियों की स्वामिनी कहा है। उसी ने अपने सौंदर्य से भुवन को मोहित कर रखा है। सभी लोक, लोकेश उसके कृपा-कटाक्ष के लिए लालायित हैं—

> **नीलांबर पहिरे तनुभामिनि, जनु घन दमकति दामिनी।**
> **सेस, महेस, गनेस, सुकादिक, नारदादि की स्वामिनी।**
> **सहस माधुरी अंग-अंग प्रति, सुबस किए धनी।**
> **अखिल लोक लोकेस बिलोकत सब लोकनि के गनि।** —सूरसागर, पद-१६७३

जगत्-जननी, जगदीश-प्यारी, गोपाल के साथ वृन्दावन राजधानी में नित्य विहार करनेवाली, 'अगतिन की गति', भक्तों की स्वामिनी, मंगलदायिनी, अशरण-शरण, 'भव-भयहरनी' एवं वेद तथा पुराणों ने जिसकी अघा-अघाकर संस्तुति की है, वह परमेश्वर श्रीकृष्ण की आद्य-शक्ति एवं स्वामिनी राधा ही है—

> **जग नायक जगदीश-पियारी, जगत-जननी, जगरानी।**
> **नित विहार गोपाल-लाल संग, वृन्दावन रजधानी।**
> **'अगतिन की गति' भक्तन की पति, राधा मंगलदानी।**
> **'असरन-सरनी', भव-भय हरनी' वेद-पुरान बखानी।** —सूरसागर, पद-१६७२

कृष्ण की कृपा एवं भक्ति राधा के द्वारा सद्यः प्राप्त हो सकती है। अतः कृष्णभक्तों ने "कृष्णभक्ति दी जै श्री राधे, 'सूरदास' बलिहार" के रूप में राधा से कृष्ण-भक्ति की याचना की है। सूर ने वल्लभ-वेदान्त के अनुसार राधा को परब्रह्म की परमानंद स्वरूपा-शक्ति मानकर कृष्ण के साथ उनका गान्धर्व विवाह

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डॉ. दीनदयालु गुप्त, पृ. ५०६ २. सूरसागर, पद--२३०५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी करवाया है। गुरु-रास में कृष्ण के साथ राधा का पाणिग्रहणोत्सव संपन्न हुआ है। वह शरद् रात्रि की पूर्णिमा का दिन था। श्रीकृष्ण ने मोर-मुकुट धारण कर रखा था।[1] श्रीकृष्ण नवल-दूलह हैं एवं दुलहिन श्री राधिका हैं।[2]

पुष्टिभक्ति संप्रदाय के अनुसार गोपिकाओं में कई भाव सन्निहित हैं। गोपिकाएँ नित्य गोलोक में होनेवाले नित्यरास की भगवान् श्रीकृष्ण की आनंद-प्रसारिणी शक्तियाँ हैं। साथ ही पुष्टि-संप्रदाय में गोपियों का स्वरूप उन भक्तों का भी है जो या तो सिद्ध होकर भगवान् की कृपा से रास-रस के पूर्ण अधिकारी हुए पुष्टिजीव हैं अथवा गोप-गोपी रूप में आनंद प्राप्ति की इच्छा से जो भगवदनुग्रह के लिए प्रयत्नशील हैं। कृष्णावतार में व्रज की गोपियों के अनेक रूप हैं। एक वह है जिसे अन्यपूर्वा अथवा परकीया कहा जाता है। इन गोपिकाओं का विवाह तो अन्य से हुआ था, पर ये सदा अनन्य भाव से 'भ्रमर-कमल-संतोष'[3] की भाँति कृष्ण में आसक्त रही हैं। दूसरी वे गोपिकाएँ हैं जो अनन्यपूर्वा अथवा स्वकाया हैं। इनके भी दो प्रकार हैं— एक वे जो कृष्ण की पत्नियाँ हैं एवं दूसरी वे कुमारिकाएँ हैं जो कृष्ण की पत्नियां बनने को इच्छुक हैं। सामान्या के अंतर्गत वे गोपियाँ आती हैं जिन्होंने यशोदा की भाँति मातृभाव से कृष्ण को बाल रूप में वात्सल्य भाव से देखा है। रास-रसानंद की सच्ची अधिकारिणी गोपिकाएं अन्यपूर्वा (परकीया) एवं अनन्यपूर्वा (स्वकीया) ही मानी गई हैं। इनमें परकीया उच्चतम एवं स्वकीया उच्चतर मानी गई हैं। वल्लभ-संप्रदाय के हिन्दी साहित्य के अध्येताओं के लिए यह भी ध्यान-पात्र विषय है कि **श्रीकृष्ण के साथ राधा** का नामोल्लेख वल्लभाचार्य के पश्चात् उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथजी ने किया है।

गोपीभाव के अन्तर्गत सूर ने दो रूप स्वीकार किए हैं—एक ईश्वर की आनंद और सृष्टिकारिणी परमात्म-शक्ति का रूप एवं दूसरा कान्ताभाव से भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करनेवाले अनन्य भक्तों का रूप। रस-रूप ईश्वर की आदि शक्ति और भक्ति में सिद्ध भक्त ये दोनों रूप राधा नामक गोपिका के हैं। कृष्ण सर्वदा राधा वेश में रहते हैं और राधा के साथ ही नित्य-लीला रूप आत्मानंद में मग्न रहते हैं। सूर ने राधा का कृष्ण के साथ गांधर्व विवाह करवा कर स्वकीया रूप में रास में उसका वर्णन किया है।[4]

वृन्दावन-गोलोक : गोलोक ब्रह्म का ही रूप माना गया है। पूर्ण पुरुषोत्तम कृष्ण अपनी आनंदमयी शक्तियों से नित्य-व्रजधाम में नित्य-लीलाएँ करते हैं। भक्तों को आनंद देने के लिए श्रीकृष्ण भूतल पर अवतार लेते हैं तब उनकी समस्त लीलाएँ, अगाध शक्तियाँ तथा उनका नित्य-लीला-धाम गोलोक भी यहाँ अवतरित होता है। इसी अवतरित गोलोक को वृन्दावन एवं गोकुल भी कहते हैं।

सूर ने पुष्टि-संप्रदाय की मान्यता के अनुसार व्रज को गोलोक का ही अवतीर्णरूप माना है। सूर नें ब्रह्मा के मुख से अवतीर्ण व्रज का जो वर्णन करवाया है, वह सांप्रदायिक दृष्टि से अप्रतिम है।[5] सूर ने व्रज की शोभा का अतीव भावपूर्ण वर्णन किया है। व्रज की शोभा अमित-अपार है क्योंकि वह पूर्ण ब्रह्म, आत्माराम पुरुषोत्तम के श्रीअंग का अंश है तथा लीलाधाम है—

> **शोभा अमित-अपार-अखंडित आप आत्माराम।**
> **पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम, सब विधि पूरन काम।**
> **वृन्दावन निजधाम परम रुचि, वर्णन कियौ बढ़ाय।** सूरसागर, स्कंध-१, पद-१०

परब्रह्म श्रीकृष्ण को भी वृन्दावन अतीव प्रिय है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझे वृन्दावन बहुत अच्छा लगता है। इस वृन्दावन में मुझे इतना सुख मिलता है कि इसके सामने कामधेनु, सुरतरु और रमा सहित वैकुण्ठ का सुख भी कुछ नहीं है—

---

१. सूरसागर, पद-१०७१, २. सूरसागर, पद-१०७२, (३) सूताश्र १२, ८, १९७५
४. सूरसागर, दशमस्कंध-२५३, ५. सूरसागर, पद-१११०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृन्दावन मोकौं अति भावत ।
सुनहु सखा तुम सबल, श्रीदामा, व्रज तैं बन गोचारन आवत ।
कामधेनु सुरतरु सुख जितने रमा सहित बैकुण्ठ भुलावत । सूरसागर, पद–१०६७

सूर-साहित्य में निरूपित अन्य दर्शन एवं वेदान्त के तत्त्व : शुद्धाद्वैत वेदान्त का संबंध बादरायण व्यास के उत्तरमीमांसा–दर्शन से है । बादरायण व्यास ने वेदान्त पर 'ब्रह्मसूत्र' ग्रंथ लिखा । उन पर विविध आचार्यों ने अपनी–अपनी दृष्टि से भाष्य करके विभिन्न संप्रदायों की स्थापनाएँ कीं । शुद्धाद्वैत वेदान्त भी इसी प्रकार उत्तरमीमांसा दर्शन की एक शाखा है ।

यद्यपि सूर साहित्य का प्रमुख प्रतिपाद्य शुद्धाद्वैत–वेदान्त दर्शन ही रहा, पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उनके काव्य में मात्र शुद्धाद्वैत–वेदान्त के ही तत्त्वों का निरूपण हुआ है । कवियों की सार–ग्राहणी क्रांत दृष्टि साम्प्रदायिक सिद्धांतों से मुक्त रहती हैं । सूर के साहित्य में शुद्धाद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त आचार्य शंकर के केवलाद्वैत वेदान्त का भी यथेष्ट निरूपण हुआ है । शंकर के केवलाद्वैत को मायावाद भी कहते हैं, जिसका मुख्य आधार निर्गुण ब्रह्म है । शंकर सगुण ब्रह्म को **'जगन्मिथ्या'** की भांति ही मायिक मानते हैं । सूर ने समर्थक के रूप में नहीं किन्तु इसके विरोध में 'उद्धवगोपी–संवाद' में केवलाद्वैत का निरूपण किया हैं । आचार्य वल्लभ को **'मायावादनिराकर्ता ब्रह्मवादप्रवर्त्तकः'** कहा गया है । इसी से स्पष्ट हो जाता है कि सूर अपने संपूर्ण उद्धव–गोपी–संवाद (भ्रमरगीत) प्रसंग में आचार्य शंकर के केवलाद्वैत वेदान्त के खण्डनकर्ता एवं आचार्य वल्लभ के ब्रह्मवाद अर्थात् शुद्धाद्वैत वेदान्त के समर्थक रहे हैं ।

इस प्रकार संपूर्ण 'भ्रमरगीत' प्रसंग की कल्पना के पीछे एकमेव यही केन्द्रीय भाव रहा है कि आचार्य शंकर के निर्गुणपरक केवलाद्वैत का खण्डन एवं सगुणपरक शुद्धाद्वैत वेदान्त का मण्डन ।

साधारण सांसारिकों के लिए एवं गोपिकाओं के जैसी सुकुमारी नारियों के लिए शंकर का निर्गुण परक मायावाद ग्राह्य नहीं है । निर्गुण सत्य होने पर भी व्यवहार में यह ग्राह्य नहीं है । इसी का प्रतिपादन गोपियों के द्वारा सूर ने 'भ्रमरगीत' में करवाया है । सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण का सदा ध्यान करनेवाली गोपिकाओं के लिए निर्गुण का उपदेश हितकारी नहीं है । उसे गोपिकाओं ने राजपथ (सगुण–भक्ति) का कंटक कहा है । निर्गुण रूप, रेख, गुण, जाति, युक्ति (उपाय) रहित होने से अग्राह्य है । वह निरालंब है । मन उसे प्राप्त करते–करते चकरा जाता है । इस प्रकार शंकर का केवलाद्वैत सभी प्रकार से गोपिकाओं तथा सामान्य सांसारिकों के लिक्ष अग्राह्य है—

(१) अहो अजान ! ज्ञान उपदेसत, ज्ञानरूप हम हीं ।
निसदिन ध्यान 'सूर–प्रभु' को अलि ! देखत जित तितहिं । –सूरसागर, पद–३२१

(२) काहे को रोकत मारग सूधो ।
सुनहु मधुप ! निर्गुन कंटक तैं राजपंथ क्यों रूंधौ ।

× × ×

राजपंथ तैं टारि बतावत उरझ कुबील कुपेंडो ।
'सूरदास' समाय कहा लौं अज के बदन कुम्हेंडो । सूरसागर, पद–३२२

(३) रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालंब मन चक्रत धावै ।
सब विधि अगम बिचारहिं तातें, 'सूर' सगुन–लीला–पद गावै । –सूरसागर, पद–३२६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) धोखे ही धोखे डहकायौ ।

× × ×

ज्यौं कुरंग जल देखि अवनि कौ, प्यास न गई चहु' दिसि धायौ ।

× × ×

'सूरदास' भगवन्त भजन बिनु, काल-ब्याल पै आपु डसायौ । -सूरसागर, ३२५

ब्रह्म अखंड रूप में प्रत्येक घट में विद्यमान है । अध्यास के आवरण के कारण जीव उसे समझ नहीं पा रहा है । जीव को जब सत्य की प्रतीति हो जाएगी तब वह अपने शुद्ध ब्रह्म रूप को समझ जाएगा-

जो लौं सत सरूप नहिं सूझत ।

तो लौं मृग नाभि बिसारे, फिरत सकल बन बूझत । -सूरसागर ३६८

इस प्रकार सूर के और भी अनेक पदों में शंकर के केवलाद्वैत का खण्डनात्मक रूप में निरूपण मिलता है ।[1]

इसके अतिरिक्त सूर ने 'चकई री चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग' इस सुप्रसिद्ध पद में द्वैताद्वैत विलक्षण परम पद का वर्णन किया है । जिसके आधार पर कुछ विद्वान् सूर पर कबीर के सन्त मत का भी प्रभाव मानते हैं ।[2]

सूर के 'उद्धव-गोपी-संवाद' प्रसंग में योग-दर्शन का निरूपण हुआ है । योग षड् आस्तिक दर्शनों में से एक महत्त्वपूर्ण दर्शन है एवं यह दर्शन सांख्यदर्शन से सम्बद्ध है । इसमें एवं सांख्य में अंतर केवल इतना ही है कि यह ईश्वरवादी दर्शन है तो सांख्य निरीश्वरवादी । सभी दार्शनिकों एवं वेदान्ताचार्यों ने शरीर एवं चित्त शुद्धि के लिए योगदर्शन के महत्त्व को एक स्वर से स्वीकार किया है । सूर ने अपने 'उद्धव-गोपी संवाद' में रागानुरागा प्रेम लक्षणा भक्ति के संदर्भ में योग को अग्राह्य माना है—

ए अलि ! कहा जोग में नीको ।

तजि रस रीति नंद नंदन की सिखवत निर्गुन फीको ।

× × ×

'सूर' कहौ गुरु कौन करै अलि । कौन सुने मत फीको । -सूरसागर, पद-१६८७

योग में गुरु बनाना और फिर कष्ट साध्य आसन, प्राणायाम इत्यादि की साधना करना गोपिकाओं एवं सामान्यजनों के लिए दुष्कर है ।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में नारायण एवं श्री की उपासना होती है तथा उसके उपासना पक्ष में स्वामी-सेवक भाव प्रमुख रूप में रहता है । सूर के अनेक पदों में शेषशायी नारायण एवं लक्ष्मी का निरूपण हुआ है, तथा दास्यभाव के भी भाव निरूपित हुए हैं । इस प्रकार योग्य संशोधक को और भी कई दर्शन एवं अन्य वेदान्तों के तत्त्व सूर-साहित्य में उपलब्ध हो सकते हैं ।

२. कुम्भनदास : जीवन : अष्टछाप के कवियों में कुंभनदास सबसे अधिक वयोवृद्ध एवं प्राचीनतम थे । सूर से भी पूर्व इन्होंने श्री गोवर्धननाथजी (श्रीनाथजी) की कीर्तन-सेवा प्रारंभ कर दी थी । अष्टछाप के एक और कीर्तनकार चतुर्भुजदास इनके ही पुत्र थे। इस दृष्टि से श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा में और अष्टछाप में इनका महत्त्व बढ़ जाता है । 'श्रीमद्भागवत' में ज्ञान, कर्म एवं भक्ति इन योगत्रय में से भक्तियोग को

१. सूरसागर, पद-४०७, ३६९

२. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. भ्रमरलाल जोशी, पृष्ठ-११८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेष्ठ माना है और ईश्वर में परम अनुराग ही भक्ति है, इस दृष्टि से कुंभनदास का जीवन भक्तियोगमय रहा। कुंभनदास का जन्म संवत् १५२५ की कार्तिक कृष्ण ११ को गोवर्धन के निकट जमनावतौ गाँव में हुआ। 'जमनावतौ' शब्द 'यमुनातटवर्ती' का अपभ्रंश रूप है। यमुना आज तो इस गाँव से दूर बहती है पर संभव है किसी युग में वह इससे सटकर बहती हो। कुंभनदास गौरवा क्षत्रिय थे। इनके पास साधारण जमीन थी। उसी में खेती करके ये अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे। कुंभनदास की आरंभ से ही काव्य-रचना और संगीत में रुचि थी। ये संप्रदाय में दीक्षित होने से पहले भी अवकाश के समय भक्ति के पद बनाकर गाया करते थे। संवत् १५५० में ये आचार्य वल्लभ के संपर्क में आए और उनसे दीक्षा ले ली। संवत् १५३५ में गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथजी का प्राकट्य हुआ। आचार्य वल्लभ ने वहीं छोटा-सा मंदिर बनवाकर साधारण सेवा-पूजा का मंडान किया। श्रीनाथजी के मंदिर के प्रथम कीर्तनकार के रूप में आचार्य वल्लभ ने कुंभनदास को नियुक्त किया। ये नित्य नये पद गाकर श्रीनाथजी की कीर्तन सेवा करने लगे। आगे चलकर जब गो. विट्ठलनाथजी ने 'अष्टछाप' की स्थापना की तब इन्होंने इनको तथा इनके पुत्र चतुर्भुजदास दोनों को 'अष्टछाप' में ले लिया।

ऐसा कहा जाता है कि एक बार बादशाह अकबर ने कुंभनदास के दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की। उन दिनों कुंभनदास की उम्र ११३ वर्ष की थी। ये पैदल ही फतहपुर सीकरी जाकर बादशाह से मिले और विरक्तभाव से बादशाह को पद सुनाया—

भक्तन को कहा सीकरी सौं काम।
आवत-जात पन्हैया टूटी, बिसरि गयो हरिनाम॥
जाको देखे दुख लागै, ताको करन परी परनाम।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर बिन, यह सब झूठी बात॥

अकबर ने इनसे कुछ मांगने को कहा तब इन्होंने यही मांगा कि फिर दुबारा मुझे कभी फतहपुर सीकरी मत बुलाना। एक बार गो. विट्ठलनाथजी कुम्भनदास को ब्रज से बाहर यात्रा में ले गए पर मार्ग में श्रीनाथजी कें दर्शन के बिना इन्हें बेचैन देखकर वापस इन्हें श्रीनाथजी की सेवा में गोवर्धन पर्वत पर भेज दिया। आचार्य वल्लभ की संगति में रहकर ही कुंभनदास को साम्प्रदायिक पुष्टि-भक्ति के सिद्धांतों का एवं शुद्धाद्वैत वेदान्त का ज्ञान प्राप्त हुआ था।

काव्य : कुंभनदास द्वारा रचित किसी स्वतंत्र ग्रंथ का पता नहीं चला है। इनके कुछ पद 'रागकल्पद्रुम', 'रागरत्नाकर', 'वर्षोत्सवकीर्तन', 'वसन्तधमारकीर्तन' आदि में संकलित हैं। कांकरोली विद्या विभाग द्वारा 'कुंभनदास-जीवनी, पद-संग्रह' पुस्तक संवत् २०१० में प्रकाशित हुई है। इस ग्रंथ में 'वर्षोत्सव' शीर्षक के अन्तर्गत कुंभनदास के ४०१ पद संग्रहीत हैं। डॉ. नगेन्द्र संपादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इनके १८६ पद संकलित होने का जो उल्लेख मिलता है, वह उल्लेख प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता[1] क्योंकि इस समय कांकरोली, विद्याविभाग की एक प्रति हमारे सामने है। उसी के आधार पर उपर्युक्त पद संख्या से सम्बद्ध तथ्य प्रस्तुत किया गया है। ४०१ वें पद पर जब पद संग्रह समाप्त हो रहा है, तब लिखा गया है—'इति प्रकीर्ण पद, कुंभनदासकृतपदसंग्रहसमाप्त।' कुंभनदास के पदों के संबंध डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं—'कुंभनदास की पद रचना में साहित्यिक सौष्ठव उतना नहीं है, जितना संगीत और लय का सौन्दर्य है।'[2] यह कथन कुंभनदास की प्रासादिक पद रचना की ओर संकेत कर रहा है, जो भक्त के लिए सहज

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृ. २२२
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृ. २२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य-गुण है। कुंभनदास ने कृष्ण की बाललीला को अपेक्षा कृष्ण की युगललीला के पदों का ही गायन उचित समझा। इन्होंने सभी पद युगललीला के ही गाए हैं। इस संबंध में यह उल्लेख पठनीय है—'सो कुंभनदास सगरे कीर्तन युगल-स्वरूप संबंधी कीये। सो बधाई, पलना, बाल-लीला गाई नहीं।'[2] कुंभनदासजी आचार्य वल्लभ की शरण में आए, उस समय भी सर्वप्रथम इन्होंने कृष्ण की किशोरलीला के पदों का ही गायन किया था। जिसे सुनकर आचार्यजी ने प्रसन्न होकर कहा था—'कुंभनदास! निकुंजलीला संबंधी रस को अनुभव भयो। तिहारे बड़े भाग्य हैं। जो प्रथम तुमको प्रमेय बलको अनुभव बताये तासों तुम सदा हरिरस में मगन रहोगे।[3] कुंभनदासजी ने किशोरलीला के पद ही गाए, इसी कारण इनके पदों में माधुर्य-भक्ति के दान-मान आदि शृंगार लीलाओं के पद ही मिलते हैं। इनके संबंध में संप्रदाय में सुप्रसिद्ध है—

कुंभन, कृष्ण (दास) गिरिधर (न) सों कीनी सांची प्रीति।
कर्म, धर्म पथ छांडि कैं, गाई निज रस रीति।

वेदान्त : अष्टछाप के कीर्तनकारों में वृद्धतम कवि कुंभनदास भी परब्रह्म, परमात्मा श्रीकृष्ण की रूप-राशि एवं उनके युगल प्रेमस्वरूप के निरूपक रहे। उनके इष्टदेव रस-स्वरूप, लीला पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्ण ही रहे, जिनकी रूप-रस माधुरी का वे अघा-अघाकर पान करने पर भी तृप्त नहीं हुए। कुंभनदास के वेदान्त-विषयक विचारों का निरूपण उनके साहित्य में सूर एवं नंददास की भांति विशद रूप में नहीं हो पाया है, फिर भी उनके साहित्य का समीक्षण करने पर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि ये शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार परब्रह्म श्रीकृष्ण के आधिदैविक पूर्ण रसस्वरूप के अन्यतम उपासक थे। श्रीकृष्ण के विराट् सौंदर्य का उन्होंने बड़ा ही अद्भुत वर्णन किया है। उत्तम एवं वरेण्य सौन्दर्य आंखों से देखा नहीं, वरन् पीया जाता है-**'लोचनैः पीयमानः'**[4] कृष्ण-राधा के अनन्य उपासक कुंभनदास भी गोपाल के बदन की शोभा को नयनों के पात्रों से भर-भर कर पी रहा है। श्रीकृष्ण के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग से सुषमा का ऐसा आलोक निःसृत हो रहा है, मानो कोटि-कोटि रवि न उदित हो रहे हों। उनके सौन्दर्य पर कवि समस्त लोक को निछावर करने को प्रस्तुत है। कवि परम हर्षित होकर उनके सौन्दर्य का संस्तुवन इस प्रकार कर रहा है-

गोपाल के वदन पर आरती वारों।
एकचित मन करों साजि नीकी जुगति। वाती अगनित घृत कपूर सों वारों॥

× × ×

गाऊं सांवल-सुजसु-रस नेकु सुस्वाद रस। परम हरषित नित चंवर कर ढारों॥
कोटि रवि उदित मानों कांति अंग-अग प्रति। करि सकल लोक केतिक वारि डारों॥
'दास कुंभन' कहे लाल गिरिधरन कों। रूप नयन भरि-भरि निहारों॥ कुंभनदास, पद-१९१

कुंभनदास ने 'दानलीला' प्रसंग पर ३१ छंद लिखे हैं। जिनमें गोपी-राधा-कृष्ण का काव्यात्मक संवाद प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण दान मांगते हैं पर राधा तथा गोपिकाएं उन्हें साधारण मानव समझकर दान देने को प्रस्तुत नहीं हैं। कृष्ण स्वयं को परब्रह्म, त्रिभुवनपति घोषित करते हैं। अंत में राधा एवं गोपिकाओं को अपनी जन्म-जन्मान्तर की कृष्ण की पुरातन प्रीति का स्मरण हो आता है और फिर वे प्रेम-विवश होकर श्रीकृष्ण को दही ही नहीं, किन्तु अपना तन-मन-सर्वस्व समर्पित कर देती हैं-

---

२. चौरासी वैष्णव की वार्ता में अष्टसखान की वार्ता, पृ. ६२
३. चौरासी वैष्णव की वार्ता में अष्टसखान की वार्ता, ५६२
४. 'हे मेघ, तू ग्रामवालाओं की आंखों से पिया जाएगा' कालिदास-मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक-४,।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुदित भई ब्रज-नारि दह्यो लै आगे राख्यौ ।
ग्वालिनी दीन्हों बांरि, रह्यौ प्रभु आप हि चाख्यौ ॥
प्रीति पुरातन जानि मिली, वृषभान-कुमारी ।
तन-मन अरप्यौ स्याम कों, सो बस कीन्हें गिरिधारी ।
कहती व्रज-नागरी ॥ -कुंभनदास, दानलीला-२९

प्रत्येक छंद के अंत में जब गोपिकाएं कहती हैं तब 'कहती ब्रज-नागरी' एवं उत्तर में कृष्ण कहते हैं तब 'कहत नंद लाडिलौ' काव्य की लघुपंक्ति आती है । यह ध्यान रहे कि अष्टछाप के आयु में सबसे छोटे कवि नंददास ने भी 'भंवरगीत' प्रसंग लिखा है। उसके भी प्रत्येक छद के अंत में इसी प्रकार की काव्यात्मक लघुपंक्ति मिलती है-

'सुनौ ब्रज नागरी', 'सखा सुन स्याम के', 'फाटि हियरो चल्यो', 'जोग चटसार में",

हमारा यह मत है कि नंददास को इस प्रकार के गोपी-कृष्ण के संवाद लेखन की एवं छंद के अंत में इस प्रकार की काव्यात्मक लघुपंक्ति के प्रयोग की प्रेरणा कुंभनदास से ही मिली थी ।

दूसरा एक और तथ्य हम यहां प्रस्तुत करना चाहते हैं, वह यह कि कुंभनदास अष्टछाप के कवियों में वृद्धतम होने के कारण उनके 'दानलीला' के इस 'राधा-कृष्ण 'वाद' से प्रेरणा प्राप्त करके ही सूरदास, नंददास इत्यादि कवियों ने 'उद्धव-गोपी सवाद' के रूप में सगुण श्रीकृष्ण की श्रेष्ठता एवं निर्गुण-ज्ञान की भक्ति के क्षेत्र में कनिष्ठता तथा अनावश्यकतामूलक काव्य लिखे, जो हिन्दी साहित्य में 'भ्रमर-गीत-काव्य' परंपरा के नाम से सुप्रसिद्ध हैं । हमारे कथन का निष्कर्ष यह कि हिन्दी साहित्य में 'भ्रमरगीत' प्रसंग का आदि प्रेरणा-स्रोत कवि कुंभनदास का 'दानलीला' प्रसंग ही होना चाहिए । विषय की दृष्टि से भी इसमें गोपिकाएँ कृष्ण को पहले साधारण युवक के रूप में समझती हैं । जो इधर-उधर भटकता है । माखन चोरी करता है । व्रजनारियों के साथ स्त्रैण भाव से छिछला, निर्लज्ज एवं भद्दा व्यवहार करता है । फिर गोपिकाओं के उत्तर में कृष्ण स्वयं को सतर्क परब्रह्म सिद्ध करते हैं और कहते हैं कि भक्तों की रक्षा के लिए, दुष्टों के विनाश के लिए, 'धरनी' का भार उतारने के लिए, कंस को मारने के लिए ही मैंने धरती पर अवतार लिया है । हे गोपिकाओ ! तुम तो 'गंवार' ग्वालिनियां हो । मेरे माहात्म्य को क्या जानो ? शिव, विरंचि, सनकादि एवं निगम भी मेरे अगाध माहात्म्य को नहीं समझ पाते हैं, फिर तुम मुझे क्या समझ पाओगी-

तुम हो ग्वालि ! गंवारि कहा मोकों समुझावै ?
सिव, विरंचि, सनकादि निगम मेरौ अंत न पावै ।
भक्तनि की रच्छा करौं दुष्टनि को संहार ।
कंस-केस धारि मारि हों, सो धरनी उतारों भार ॥
कहत नंद लाडिलौ । -कुंभनदास, दानलीला-८

गोपिकाओं ने कहा-'हे कृष्ण ! तुम ब्रह्म हो तो फिर माता से साधारण बालक की तरह क्यों कर बंधे ? आधी रात को मथुरा के कारावास में से गोकुल की शरण में क्यों आए ? भूखे पेट वन में यों क्यों भटक-भटककर हम से भीख मांग रहे हो' ?-

बंधन पाए मात, तबै क्यों न ऐसी कीन्हीं ?
मथुरा छांडी राति, सरन गोकुल में लीन्हीं ।
बहुत बड़ाई करत हो, सोचो मन हिं विचार ।
खाए आधे बेर हो, सो वन में होत कुमार ।
कहति ब्रज-नागरी । -कुंभनदास, दानलीला-९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्ण कहते हैं, 'हे गोपिकाओं ! तपस्या करके नंद-पत्नी ने मुझ से वरदान लिया था। इसलिए अपने वेद (ब्रह्म)-वचन का पालन करने के लिए मैंने गोकुल में आकर नंदरानी को सुख दिया है । हे बावरी गोपिकाओं ! तुम क्या जानो । हम तो त्रिभुवनपति हैं । हम तो जल-स्थल एवं घट-घट में बसनेवाले हैं-

तप करि के नंद-नारि, मांगि मो पे वर लीन्हो ।
वचन वेद वपु धारि, आय गोकुल सुख दीन्हो ।
तुम कहा जानो बावरी, हम त्रिभुवन-पति राइ ।
जीव जल-स्थल में बंधै, सो घट-घट रह्यो समाइ ।
कहत नंद लाडिलौ । -कुंभनदास, दानलीला-१०

'वेद' पद यहां ब्रह्म का वाचक है । कुंभनदास शब्दब्रह्म के कैसे मर्मज्ञ थे ? इस प्रयोग से ही स्पष्ट हो जाता है । उपर्युक्त पदों में शुद्धाद्वैत-वेदान्त के ही विचार निरूपित हुए हैं 'शुद्धाद्वैत' का दूसरा नाम 'ब्रह्मवाद' है । सर्वत्र ब्रह्म व्याप्त है, इस सिद्धान्त को माननेवाला संप्रदाय 'ब्रह्मवाद' है । उपर्युक्त पद की अंतिम पंक्ति 'जीव जल-स्थल में बसे, सो घट-घट रह्यो समाइ' द्वारा कवि ने 'ब्रह्मवाद' का ही निरूपण किया है एवं वल्लभ वेदान्त के अनुसार निर्गुण की अपेक्षा सगुण को अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास, नंददास इत्यादि कवियों को 'उद्धवगोपी-संवाद' में निर्गुण की अपेक्षा सगुण को अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने की प्रेरणा कुंभनदास के इस 'दानलीला' लघुप्रबंध से ही मिली होनी चाहिए, क्योंकि सूर आदि सभी अष्टछापी कवियों का साहित्य कुंभनदास की अपेक्षा परवर्ती है एवं सभी अष्टछाप के कवि यावज्जीवन एक ही केन्द्र (गोवर्द्धननाथजी-श्रीनाथजी) को लक्ष्य करके अपनी वाङ्मयी पूजा अर्पित करते रहे थे । अतः उनका एक दूसरे की काव्य-गति से परिचित होना स्वाभाविक भी है । तात्पर्य यह कि हमारे मत से नंददास के 'भंवरगीत' के प्रत्येक छंद की लघुपंक्ति एवं उद्धव-गोपी-संवाद' (भ्रमरगीत) के आदि प्रेरणास्रोत कवि कुंभनदास ही हैं । दूसरी एक और बात हम यहां स्पष्ट कर देना चाहते हैं, वह यह कि कुंभनदास के इस काव्य गुणयुक्त उत्तमोत्तम 'दानलीला' नामक लघु-प्रबंध-काव्य से हिन्दी जगत् अपरिचित्-सा प्रतीत होता है । पाठ्यपुस्तकों में ले-देकर सूर और अधिक से अधिक नंददास का 'भंवरगीत' ही मुद्रित दृष्टिगत होते हैं ।[1] कुंभनदास का यह प्रसाद गुणयुक्त लघुकाव्य, दर्शन, काव्य, अलंकार इत्यादि कई दृष्टियों से वरेण्य है ।[2] विश्वविद्यालयों एवं उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिए यह काव्य सुपठ्य है पर अज्ञात कोने में पड़ा रहने के कारण आज दिन तक यह अपठ्य एवं उपेक्षित रह गया है । समीक्षक स्वयं इसे पढ़कर इसकी प्रतीति कर सकते हैं ।

इस काव्य में श्रीकृष्ण स्वयं अपने अवतार का कारण बताते हैं । यह भी कहते हैं कि जितने ग्वाल हैं सभी देव हैं—

'जे ते संगी ग्वाल हैं, ते ते सब है देव । -कुंभनदास, दानलीला-१४

और सभी चतुर्दश भुवन मेरे ही अतुल प्रताप का गुणगान किया करते हैं ।

'भुवन चतुर्दश गाव ही अहनिसि अतुल प्रताप । -कुंभनदास, दानलीला-१६

मैं ही ब्रह्मा के रूप में जगत् को उत्पन्न करता हूं । विष्णु के रूप में जगत् का पालन करता हूं तथा रुद्र के रूप में संहार करता हूं—

---

१. व्रजमाधुरीसार, वियोगी हरि
२. कुंभनदास, प्रकाशक विद्याविभाग, कांकरोली, उदयपुर, (मेवाड़) प्रा. कण्ठमणि शास्त्री, १५ फरवरी, १९५४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म-रूप उतपति करों, रुद्र-रूप संहार ।
कहत नंद-लाडिलौ । -कुंभनदास, दानलीला-२२

स्वर्गलोक, मृत्युलोक और पाताल में मेरी ही 'ठकुराई' है। मैं 'वृन्दावन-चंद' ही सभी में व्याप्त हूं । हे बावरी गोपिका ! तू पूछती है—'तेरा नाम क्या है ?' तो सुन, गज, पिपीलिका आदि सभी नाम-रूपात्मक तो मैं ही हूं-

स्वर्ग, मर्त्य, पाताल सब मेरी ठकुराई ।
हौं वृन्दावन-चंद रह्यौ सब मांझ समाई ।
तू जो वदति है बावरी ! मेरो कहा है नांउ ।
गज-पिपीलिका आदि दै हो, सब ही मेरौ ठाऊं ।
कहत नंद-लाडिलौ । कुंभनदास, दानलीला-२४

देखा जाए तो कुंभनदास ने 'दानलीला' प्रसंग में शुद्धाद्वैत वेदान्त विषयक ब्रह्म, जीव, जगत् से सम्बद्ध विचारों को सार-रूप में, काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत कर दिया है। बीज रूप में ब्रह्मवाद के सभी सिद्धांत इस प्रसंग में निरूपित हुए हैं ।

इसके पश्चात् कृष्ण ने राधा से कहा कि 'हे नवनारी, राधे ! अब मुझे मथुरा जाना है और बहुतेरे काम-काज सलटाने हैं । तुम मेरा कौतुक (माया) देखना चाहती हो तो अभी दिखाने को तैयार हूं । इस बार मैं मथुरा जाऊंगा तो याद रखो, फिर कभी लौटकर गोकुल की ओर नहीं देखूंगा-

सुनु राधे नव नारि ! जबै हौं मथुरा जैहों ।
करनो हैं बहु काज, फेरी गोकुल नहिं ऐह्रौं ।
कौतुक देख्यौ चाहही, अबहिं दिखाऊं तोहिं ।
अब कौ गयो नहिं आइ हों, फिरि देखौ नहिं मोहिं ।
कहत नंद-लाडिलौ । -कुंभनदास, दानलीला-२६

कृष्ण के इस वचन को सुनकर गोपिकाएं शिथिल हो गईं । उन्होंने कहा-'क्यों जाते हो मथुरा ? रहो यहीं और खेलो हमारे संग । दूध-दही की तो बात ही क्या, नित्य प्रति हमसे दान (तन-मन-प्रेम समर्पण) मांगो । हम खुशी-खुशी देंगी । मथुरा जाने की बात कहते तुम्हें शर्म नहीं आती । इतना प्रेम बढ़ाकर अब मथुरा जाने की बात करते हो । कैसे कठोर और अनाडी हो'-

काहे को मथुरा जाहु, वैन ऐसे नहिं बोलो ।
हम तुम रहें समीप सदा, गोकुल में खेलो ।
दही, दूध की को गनै, नित प्रति मांगो दान ।
तुम्हें लाज या बात की, सो हमें होत अति मान ।
कहति व्रज नागरी । -कुंभनदास, दानलीला-२७

फिर राधा एवं गोपिकाओं को कृष्ण के पुरातन-प्रेम का, जन्म-जन्मांतर के प्रेम का स्मरण हो आया और फिर दही ही नहीं, किन्तु कृष्ण को उन्होंने अपना तन-मन सब कुछ समर्पित कर दिया ।[1]

यह स्पष्ट है कि सूर के 'दानलीला' प्रसंग पर भी कुंभनदास के 'दानलीला' का प्रभाव अति स्पष्ट है । अंतर इतना ही है कि सूर 'दानलीला' में अश्लील हो गए हैं ।

१. कुंभनदास, पद-२१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार कुंभनदास के पदों में शुद्धाद्वैत वेदांत के अनुसार ही श्रीकृष्ण के परब्रह्म होने तथा जगत्-जीव के परिणमन, पालन एवं लय के विचार निरूपित हुए हैं। अपने एक अंतिम पद में कुंभनदास कृष्ण के अनुग्रह की कामना करते हुए कहते हैं : 'हे कृष्ण! तत्क्षण शरण में लेकर त्रिविध तापों का हरण करनेवाला तुझ जैसा कृपालु और कौन हो सकता है? महाप्रभु वल्लभाचार्य ने मुझे आप तक पहुँचाकर मेरा जन्म सफल कर दिया है। आपकी 'प्रभुता' का मैं क्या वर्णन करूँ? आप पूर्ण ब्रह्म हैं। आपके एक ही कृपा-कटाक्ष मात्र से यह कुंभनदास 'भव' तर जाएगा'—

तुम-बिनु को ऐसी कृपा करै ?
लेत सरन ततछिन करुणानिधि, त्रिविध संताप हरै।
सुफल कियो मेरौं जनमु महाप्रभु !, प्रभुता कहि न परै।
पूरन ब्रह्म कृपा-कटाच्छ तें, भव कौं 'कुंभन' तरै। —कुंभनदास, दानलीला—२९

कुंभनदास ने 'दानलीला' के पदों में कृष्ण के समीप उनकी लीलाओं में सदा रहने की कामना की है तथा उनके अभाव में जग को 'झूठौ धाम' कहा है—

कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु, यह सब झूठो धाम। —कुंभनदास, दानलीला—

इस प्रकार कुंभनदास ने अपने पदों में कृष्ण की चरण सेवा में ही स्वयं की मुक्ति मानी है।

३. परमानंददास : जीवन : अष्टछाप एवं पुष्टिभक्त कवियों में साहित्यिक गरिमा की दृष्टि से परमानंददास की गणना सूर के पश्चात् होती है। तुलनात्मक समीक्षण से यह प्रतीत होता है कि सूर ने कृष्ण की बाल, सख्य, शृंगार, वीर इत्यादि सभी लीलाओं का गान किया है, जब कि परमानंददास ने स्वयं को बाल एवं गोपीभाव से सम्बद्ध लीलाओं तक ही सीमित रखा है। परमानंददास के संबंध में 'अष्टसखान' ग्रन्थ का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—'ता सों वैष्णव तो अनेक श्रीआचार्यजी के कृपापात्र हैं, परन्तु सूरदास और परमानंददास ये दोऊ 'सागर' भये।। इन दोऊन के कीर्तन की संख्या नाहीं, सो दोऊ 'सागर' कहवाए।'

इसी ग्रंथ में इस संदर्भ में दूसरा एक और कथन पठनीय है—"पुष्टिमार्ग में दोऊ सागर भए, एक तो सूरदास और दूसरे परमानंददासजी। सो तिनको हृदय अगाध रस भगवल्लीला रूप जहां रत्न भरे हैं।'

परमानंददास इस कारण 'सागर' नाम से अपने जीवनकाल में ही सुप्रसिद्ध हुए कि इनके पदों को संख्या असंख्य थीं और इनके अंतःकरण में भगवल्लीला का अगाध रस भरा पड़ा था।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने 'भागवत' को 'सागर' कहा है—

हर्या वेशित चित्तेन श्रीभागवतसागरात्।
समुद्धृतानि नामानि चिन्तामणि निभानि हि॥ —श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनाम, वल्लभाचार्य

महाप्रभु वल्लभाचार्य एवं गो. विट्ठलनाथजी ने सूरदास और परमानंददास दोनों को भागवत स्वरूप कहा है। इस प्रकार दोनों की रचनाओं को भी 'सागर' के विरुद से विभूषित करने का तात्पर्य यही है कि वे भागवती भक्ति के ही अनुसरण रूप हैं।

प्रियदासजी ने भी 'भक्तनामावली' में परमानंददासजी की संस्तुति करते हुए लिखा है—

परमानंद अरु सूर मिलि, गाई सब ब्रज रीति।
भूलि जात विधि भजन की, सुनि गोपिन की प्रीति।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोपी भाव की परम ऐकांतिक भक्ति ही 'व्रजरीति' है, जिसमें जगत् के समस्त बाह्याचार सर्पकेंचुंकीवत् छूट जाते हैं एवं साधक एकमेव गोपीभाव में ही तल्लीन रहता है। गोपीभाव का अभिप्राय गोपी की वेश-भूषा धारण करना नहीं है, अपितु परमपुरुष कृष्ण के प्रति अपनी समस्त क्रियाओं एवं संवेदनाओं का समर्पण करके उनके विरह में हर क्षण पूर्ण व्याकुलता की अनुभूति करना है—

तदर्पिताखिलाचारिता तद्विरहे परमव्याकुलता च। —नारदभक्तिसूत्र

जिस किसी के प्रति प्रेम के महाभाव की ऐसी चरम दशा रहे, वह मनुष्य तो क्या परमात्मा हो तो भी प्रेम का बदला नहीं चुका सकता—

न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां, स्वसाधुकृत्यं विबुधायुजापि वः।
या माभजन्दुर्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥ —भागवत, १०-३२-२२

रासलीला में गोपिकाओं के एहसान में डूबे कृष्ण को भी उऋण होने के लिए कहीं किनारा नहीं मिल रहा है। गोपिकाओं के प्रेम का बदला चुकाना उनके लिए भी दुस्तर हो रहा है। वे कहते हैं—'हे गोपिकाओं तुमने दुस्तर गृह-शृंखला को तोड़कर मुझे प्रेम दिया है। तुम्हारा यह मिलन सर्वथा निर्दोष है। मैं देवताओं के समान आयु पाकर निरंतर, अहर्निश तुम्हारी सेवा किया करूं तो भी तुम्हारे इस उपकार का बदला नहीं चुका सकता। तुम लोगों की ही सुशीलता से तुम्हारे उपकार का बदला पूरा हो सकता है, मेरे पुरुषार्थ से नहीं।'

भागवतकार ने कृष्ण के माध्यम से शाश्वत मानव की उपकार में निछावर होने की शाश्वत संवेदना को ठीक छुआ है। वास्तव में ऐसी प्रीति का सौभाग्य जिसे उपलब्ध हो, वह देवता की उम्र पाकर भी उऋण नहीं हो सकता और ऐसी संवेदना की अनुभूति न दानव को, न देव को किन्तु मानव को ही संभव है। इसीलिए देव भी इस भाव की अनुभूति के लिए मानव योनि में उत्पन्न होने के लिए तरसते हैं। प्रस्तुत छंद में देवाधिदेव कृष्ण भी साधारण मानव के धरातल पर आकर ही गोपिकाओं के हृदय की प्रेमोष्मा से मोम का तरह घुले जा रहे हैं। महानुभाव परमानंददास के साहित्य में भी इसी प्रेम में मोम की भांति घुलन के महाभाव की प्रधानता है। परमानंददासजी ने गोपीभाव की भक्ति के संभोग एवं विप्रलंभ दोनों के पद अपने आराध्य गोवर्धननाथजी के सम्मुख गाए हैं।

परमानंददास का जन्म कनौज के एक कान्य-कुब्ज ब्राह्मण परिवार में संवत् १५५० की मार्गशीर्ष शुक्ल ७ सोमवार को हुआ। परमानंददास आजीवन अविवाहित ही रहे। इन्होंने अपने पिता से विवाह के लिए स्पष्ट शब्दों में मना कर दिया था। ये द्रव्य-संचय को भी व्यर्थ मानते थे। इनका यह मानना था कि साधारण आय से भगवद् भजन, अतिथिसत्कार एवं साधु-संगति करते हुए शांति के साथ जीवन यापन करना चाहिए। परमानंददास बचपन से ही काव्य एवं संगीत में निपुण थे। युवावस्था में ये एक कुशल कीर्तनकार एवं प्रतिभासंपन्न कवि के रूप में सुप्रसिद्ध हो गए थे। स्वनिर्मित पदों को ये ऐसी सुमधुर भावपूर्ण शैली में गाते थे कि श्रोतागण मुग्ध हो जाते थे। अनेक गुणीजन एवं श्रोतागण इनके पास बने ही रहते थे। ये अपने आसपास एवं सुदूर तक स्वसद्गुणों से 'स्वामी' नाम से प्रसिद्ध हो गए थे। इन्होंने कई व्यक्तियों को अपना शिष्य बनाया था। ये २६ वर्ष की आयु तक कन्नौज में रहे। इसके अनंतर ये एक बार प्रयाग गए। वहां इनका मन ऐसा रमा कि संक्रान्ति-स्नान के बाद ये वहीं रहने लगे। जिन दिनों परमानंद 'स्वामी' प्रयाग में थे, उन्हीं दिनों जमुना के दूसरी ओर अडैल गाँव में आचार्य वल्लभ बिराजते थे। परमानंदस्वामी का नियम था कि प्रति एकादशी रात्रिभर जागरण करते हुए कीर्तन करना। एक समय रात्रि जागरण के श्रम से जब परमानंद 'स्वामी' की आँखें कुछ समय के लिए झंप गई तो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वप्न में इनको वल्लभाचार्य के पास जाने की प्रेरणा हुई। जब ये आचार्य वल्लभ के पास पहुँचे तब आचार्यजी ने इनको भगवद्-यश् वर्णन करने की आज्ञा दी। जिस पर इन्होंने अपना पहला पद गाया—

जिय की साध, जिय ही रही री।

बहुरि गुपाल देखन नहीं पाए, बिलपत कुंज अहीरी।
एक दिन सो जु सखी इहि मारग, बेचन जात दही री।
प्रीति के लिए दान मिस मोहन, मेरी बांह गही री।
बिन देखे छिनु जात कलप सम, बिरहा अनल दही री।
परमानंद 'स्वामी' बिन दरसन, नैन न नींद बहीरी॥ परमानंदसागर

परमानंद 'स्वामी' पर वल्लभाचार्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे उसी दिन से उनके शिष्य होकर अड़ैल में ही रहने लगे। इस प्रकार संवत् १५७७ की ज्येष्ठ शुक्ल ११ को परमानंद 'स्वामी' आचार्य वल्लभ के शिष्य हो गए और परमानंद 'स्वामी' से परमानंददास बन गए। फिर परमानंददास गोवर्धन पर्वत पर आए और सुरभी कुंड पर रहने लगे। संवत् १६०२ में जब गो. विट्ठलनाथजी ने अष्टछाप की स्थापना की तब परमानंददास को भी उसमें स्थान दिया गया। इसके पश्चात् आजीवन एकनिष्ठ भाव से इन्होंने श्रीगोवर्धननाथजी की कीर्तन सेवा की। इनका देहावसान ९१ वर्ष की आयु में संवत् १६४१ की की जन्माष्टमी के दूसरे दिन अर्थात् नंदमहोत्सव के दिन हुआ।

काव्य : यह तो पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि परमानंददास आचार्य वल्लभ से दीक्षित होने के पूर्व कवि-गायक थे। दीक्षित होने के पश्चात् इन्होंने गुरु-आज्ञा से 'श्रीमद्भागवत' के दशमस्कन्ध की कृष्ण-लीलाओं के आधार पर आजीवन गोवर्धननाथजी एवं नवनीतप्रियजी के सम्मुख नित्यप्रति नव-नवीन कीर्तन-पद बना-बनाकर गाना प्रारंभ किया। इनके पदों में 'परमानंदप्रभु' 'परमानंदस्वामी', 'परमानंददास' और 'दास परमानंद' की भणिति मिलती है।

सूर के पदों में लीलाक्रम है, पर परमानन्ददास के पदों में क्रमिकता का अभाव है। अतः समीक्षण की दृष्टि इनके पद मुक्तक के अन्तर्गत ही आएँगे। बाललीला एवं वात्सल्य निरूपण में अष्टछाप के कवियों में सूर के पश्चात् द्वितीय स्थान परमानंददास का ही है। इनके पदों में शृंगार भक्ति के संभोग एवं विप्रलंभ दोनों पक्षों के भाव निरूपित हुए हैं। इनके विरह के पद अत्यंत उत्कृष्ट एवं प्रभावोत्पादक हैं। उनमें भक्त-हृदय की तड़प अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई है। आचार्य वल्लभ जैसे प्रखर दार्शनिक भी इनके विरह के पद सुनकर विह्वल हो जाते थे। परमानन्ददास के लिखे हुए ग्रंथ निम्नलिखित हैं—

(१) परमानन्दसागर, (२) परमानन्ददासजी के पद, (३) दानलीला, (४) उद्धवलीला, (५) ध्रुवचरित्र (६) संस्कृतरत्नमाला।[1]

उपर्युक्त ग्रंथों में 'परमानंदसागर' ही परमानंददास की महत्त्वपूर्ण, स्वतंत्र एवं प्रामाणिक रचना है। अन्य ग्रन्थ या तो किसी अन्य परमानंददास रचित हैं या फिर उनके तत्संबंधी पदों के संकलन हैं। 'परमानंदसागर' की कई हस्तलिखित प्रतियाँ कांकरोली (मेवाड़) के विद्याविभाग में सुरक्षित हैं। उनमें दो हजार से भी अधिक पद संग्रहीत हैं।[2] कांकरोली (मेवाड़) विद्या-विभाग से संवत् २०१६ में प्रकाशित 'परमानंद-सागर' में 'श्रीमद्भागवत' के दशमस्कंध के जन्मलीला-क्रम से पद संकलित हैं। इसमें 'भ्रमरगीत' के पश्चात् जरासन्ध-युद्ध, द्वारकालीला एवं परिशिष्ट में उत्सव-त्यौहार के पद भी संग्रहीत हैं। अंत में आश्रय और विनय के पद भी दिए गए हैं तथा ५ पद प्रकीर्ण भी हैं। यों कुल १३९२ पद इस ग्रंथ में

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय २. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संग्रहीत है । डॉ. दीनदयालु गुप्त, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय-भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ की प्रारंभ में सारगर्भित प्रस्तावना भी दी गई है । ग्रन्थ विशालकाय है ।

भक्ति : परमानन्ददास के काव्य में आलंकारिक बाह्य चमत्कृतियों की अद्भुत संयोजना के साथ-साथ उसमें अन्तरात्मा की दिव्य दैदीप्यमान अनुभूतियों के जैसा रसास्वादन भी मिलता है । यह रसास्वादन वैदिक मंत्र के विधि–विधानों एवं बाह्य उपासना से विलक्षण केवल हृदय की साहसिक परम प्रेम स्वरूपा भक्ति भाव पर आधारित है ।

कृष्ण के सौन्दर्य एवं शक्ति इन दो गुणों में से अष्टछापी भक्तों ने कृष्ण के सौन्दर्य के आकर्षण को अधिक महत्त्व दिया है । कृष्ण के प्रेम–वर्णन में पूर्वराग अवस्था की वियोग वेदना एवं मिलन की उत्कट–कामना के भावों की व्यंजना परमानंददास के पदों की एक प्रमुख विशेषता है । इस अवस्था में प्रेमी को जो दशाएं होती हैं, जैसे मिलन की अभिलाषा, हृदय की लालसा भरी तड़पन, प्रिय का ध्यान एवं स्मृति, प्रेम की कसक की उमंग, इन सभी का परमानंददास ने अपने पदों में सहज चित्रण किया है । एक गोपिका कहती है—

जब ते प्रीति श्याम सों कीनी ।
ता दिन ते मेरे इन नैननि, नैक हूं नींद न लीनी ।
सदा रहत चित चाक-चढयों जो, और कछु न सुहाय ।
मन में रहे उपाय मिलन को, इहै विचारत जाय ।
'परमानंद' पीर प्रेम की काहू सों न कहिए । -परमानंदसागर

'परमानंदसागर' में कृष्ण की भाव–भक्ति के साथ–साथ यत्र–तत्र शुद्धाद्वैत वेदान्त से सम्बद्ध तत्त्व–चिंतन का निरूपण भी सहज रूप में हुआ है । कवि का मुख्य प्रतिपाद्य तो भगवद् संकीर्तन ही रहा है, पर शुद्धाद्वैत वेदान्त के परम दार्शनिक आचार्य वल्लभ से दीक्षित होने के कारण उन पर शुद्धाद्वैत वेदान्त का प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक है । इस प्रकार इनके पदों का विश्लेषण करने पर हमें जहाँ कहीं वेदान्त–संबंधी विचार उपलब्ध हुए हैं, उन पर हम आगे विचार करने वाले हैं ।

वेदान्त : परमानंददास के कृष्णकाव्य का मुख्य प्रतिपाद्य भाव एवं भक्ति रहा । अतः उनके काव्य में दर्शन एवं वेदान्त के तत्त्वों का निरूपण अपेक्षाकृत स्वल्प हुआ है ।

ब्रह्म : परमानंददास रसरूप परब्रह्म के उपासक थे । शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार उन्होंने श्रीकृष्ण को ही साक्षात् परब्रह्म माना है । 'नंदराय' के कुमार मोहन ही प्रकट–ब्रह्म हैं । अपने नित्यधाम, नित्य वृन्दावन से लीला करने के लिए, भक्तों के कल्याण के लिए एवं शंकर इत्यादि देवताओं के हित के लिए ही उन्होंने यहां भूतल पर अवतार लिया है । अपनी लीलाओं में उन्होंने बलराम को भी साथ रखा है, जो शेष के अवतार हैं—

मोहन नंदराइ–कुमार ।
प्रगट ब्रह्म निकुंज-नाइक, भक्त-हित अवतार ।
प्रथम चरन–सरोज बंदों, स्यामघन गोपाल ।
मकर–कुंडल गंड-मंडित, चारु नैन विसाल ।
बलराम सहित विनोद–लीला, सेस संकर-हेत ।
'दास परमानंद' प्रभु हरि, वेद बोलत नेत ।। परमानंदसागर, पद–५५३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद के अंतिम चरण में कवि ने श्रुतिवाक्य 'प्रभु हरि वेद बोलत नेत' द्वारा परब्रह्म श्रीकृष्ण को 'अगम्य', 'अनिर्वचनीय' कहा है । वेद तक जिसे 'नेति-नेति' कहते हैं, वही यह परब्रह्म श्रीकृष्ण है । ऐसा कवि का कथन है ।

घनश्याम 'चतुर्भुज' हैं, 'दनुज-कुल-कालक' हैं, 'कमलापति', 'त्रिभुवनपति' हैं । वे ही सृष्टि के 'उत्पत्ति', 'पालक' एवं 'प्रलयकर्त्ता' हैं । उनके करने पर ही सब कुछ होता है । वही 'क्षीर-समुद्रवासी' एवं 'वैकुण्ठ-वासी' परब्रह्म हैं । ब्रह्मा, इन्द्र, महादेव के विनति करने पर ही वसुधा का भार हरण करने के लिए उन्होंने यहाँ अवतार लिया है—

सो गोविंद तुम्हारे ब्रज बालक ।
प्रगट भए घनस्याम चतुर्भुज, धरे दनुज-कुल-कालक ।
कमलापति त्रिभुवनपति नाइक, भुवन चतुर्दस नाइक सोई ।
उत्पति प्रलय पालकौ कर्त्ता, जाके कियें सबै कछु होई ।
सुनहु नन्द उपनंद कथा इह, ईस क्षीर-समुद्र कौ बासी ।
वसुधा भार-उतारन आयो, परब्रह्म वैकुंठ-निवासी ।
ब्रह्मा महादेव इन्द्रादिक, विनती कै इहाँ लै आए ।
'परमानन्ददास' कौ ठाकुर, बहुत पुन्य तप कै तुम पाए । परमानंदसागर, ९८

'उत्पत्ति प्रलय पालकौ कर्त्ता' छन्दांश बादरायण व्यास के **'जन्माद्यस्य यतः'** १-१-२, वेदान्तसूत्र का अनुवाद है । इस सूत्र में वेदान्त सूत्रकार व्यास ने ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या की है । **'अस्यजगतः, जन्म आदि**-जन्म, पालन, मृत्यु, **यतः** जिसके द्वारा होते हैं, वह ब्रह्म है । यहां **'ब्रह्म'** शब्द का इसके पहले के **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** १/१/१ सूत्र से अध्याहार हो रहा है । इस प्रकार कवि परमानन्ददास ने अतीव संक्षेप में ब्रह्मसूत्र के उल्लेख द्वारा श्रीकृष्ण के परब्रह्मत्व एवं उनके सृष्टि के सर्जक, पालक एवं प्रलयकारी सामर्थ्य को प्रकट कर दिया है ।

परमानंददास यह भी भली-भाँति जानते हैं कि नंद के आंगन में हंसने-खेलनेवाले कृष्ण के यथार्थ स्वरूप को नंद भी नहीं पहचान पाए हैं । नंद ने जिनको 'सुत' मान रखा है, वे तो यथार्थ में निर्गुण ब्रह्म हैं, जो **रिरंसा** (रन्तुं इच्छा) के लिए, लीला करने के लिए ब्रज में अवतरित हुए हैं-

हंसत गोपाल नंद के आगें, नंद स्वरूप न जानें ।
निर्गुन ब्रह्म सगुन जे लीला, ताहि अब सुत करि मानें । परमानंदसागर, पद-१०१

ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीन देवता मुख्य हैं । सभी इनको मनोवांछित फल पाने के लिए भजते हैं, पर परमानंददास तो शंख, चक्र, धनुष, गदाधर, चतुर्भुज गोपीनाथ, राधिकावल्लभ के ही अनन्य भाव से उपासक हैं-

मोहि भावै देवाधिदेव ।
सुंदर-स्याम कमल-दल लोचन गोकुलनाथ एकमेवा ।
तीन देवता मुख्य देवता, ब्रह्मा विष्णु अरु महादेवा ।
जें जानिये सकल वरदायक, गुन विचित्र कीजिये सेवा ।
संख चक्र सारंग गदाधर, रूप चतुर्भुज आनंदकंदा ।
गोपीनाथ राधिकवल्लभ, ताहि उपासत 'परमानंदा' ॥ परमानंदसागर, पद-१३२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्धाद्वैत वेदान्त में जगत् के परिणमन के संबंध में वेदान्त का अविकृतपरिणामवाद स्वीकृत है एवं ब्रह्म एवं जीव में अन्ततः अद्वैत माना गया है। परमानंददास शुद्धाद्वैत वेदान्त के इन दोनों सिद्धांतों से भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने गोविंद का संस्तुवन करते हुए कहा है—'हे गोविंद ! मैं आपमें ऐसे ही मिल गया हूँ, जैसे प्रलय-कालीन मेघ आपमें समा जाते हैं। कंचन और मणि में, जल एवं तरंग में, प्रतिमा एवं शिला में जैसे कोई अंतर नहीं है, वैसे ही जीव एवं ब्रह्म में भी कोई अंतर नहीं है'—

जो हौं तुम में मिलि रहौं, कछु भेद न पाऊँ।
प्रलै-काल के मेघ ज्यों, तुम माँझ समाऊं ॥
जीव-ब्रह्म अंतर नहीं, कंचन-मनि जैसे।
जल-तरंग प्रतिमा-सिला, कहिवे कों ऐसे।
जिनि सेवा सचु पाइये, पद-अंबुज-आसा।
सो मूरति मेरे हृदै, बसौ 'परमानंददासा' ॥ परमानंदसागर, पद-१३६६

'कहिवे कों ऐसे' द्वारा कवि यह स्पष्ट करना चाहता है कि नाम रूपात्मक जगत् केवल कहने मात्र से अलग है, नहीं तो 'कछु भेद न पाऊँ' ब्रह्म में और उसमें कुछ भी अंतर नहीं है।

जीव : वेदान्त ने सांख्य की ज्ञानात्मिका, योग की क्रियात्मिका एवं भक्ति की भावात्मिका निवृत्ति (मोक्ष) स्वीकार करने के साथ-साथ भोगपरक निवृत्ति भी स्वीकार की है। जीव संसार में रहे, पर वह ईश्वराभिमुख होकर जीए तो उसे भी मुक्ति मिलती है। जीव स्वयं को परमातमा का अंश माने, फिर भले ही ज्ञानी ज्ञान का विचार करें, 'जोगी' योग-साधना करे, भभूत लगाए, कर्मठ व्यक्ति कर्म करे, भोगी भोगलिप्त रहे, पर सभी को परमात्मा के 'पद-अंवुज' का ध्यान रहना चाहिए। परमानंददास ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव को ब्रह्म का ही अंश बताकर उसका संसार में लिप्त रहना भी असार्थक नहीं बताया है। जीव संसार में रहते हुए भी यदि वह गोकुल-मथुरा में रहे तो वह मुक्त ही है—

माई ! हौं अपने गोपालहि गाऊं।
सुंदर-स्याम कमल-दल-लोचन, देखि-देखि सुख पाऊँ।
ज्ञानी ते ज्ञान विचारौ, जे जोगी ते जोग।
कर्मठ होइ सुकर्म विचारहु, जे भोगी ते भोग।

× × ×

अपने अंस की मुगति सजी है, मांगि लियौ संसार।
'परमानंद' गोकुल मथुरा मंहि उपज्यो इहै विचार। परमानंदसागर पद-४५९

इस प्रकार परमानंददास ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही ब्रह्म एवं जीव को अंशी-अंश माना है तथा दोनों की अद्वैतता स्वीकार की है।

जगत् : परमानंददास ने जीव एवं जगत् के परिणमन के संबंध में अविकृतपरिणामवाद को स्वीकार किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे इन्हें ब्रह्म का ही स्वरूप मानते हैं।

संसार : संसार के संबन्ध में भी परमानन्ददास ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार उसे अविद्या-माया-जन्य होने के कारण क्षणिक एवं हेय कहा है। जैसे धर्मशाला में अल्प समय के लिए कोई यात्री टिकता है, वैसे ही परमानंददास ने इस संसार को भी क्षणिक कहा है। वास्तव में परमानंददास का मन तो 'जागते-सोते' व्रजनाथ के 'चरन-कमल' में ही लगा हुआ है। 'कृष्ण-विरह' में संतप्त गोपिकाओं ने जैसे घर

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को ही 'वन' बना लिया था, घर उनके लिए उजाड़ 'वन' था, वैसे ही परमानंददास ने भी संसार को क्षणिक माना है और आहार-विहार देह-सुख सभी के मोह को छोड़ दिया है—

मेरो मन गोविंद सौं मान्यौ, ता तें और न जिय भावै ।
जागत सोवत इहै उत्कंठा, कोउ व्रजनाथ मिलावै ॥
बाढ़ी प्रीति आनि उर अंतर, चरन-कमल चितु दीनों ।
कृष्ण-विरह गोकुल की गोपी, घर ही में वन कीनों ॥
छोडे आहार-विहार देह-सुख, और न चाली काऊ ।
'परमानन्द' बसत हैं घर में, जैसे रहत बटाऊ ॥—परमानन्दसागर पद-१०३८

परमानंददास ने परब्रह्म श्रीकृष्ण नाम को 'कलि-मल हरन' तथा 'हरन-भव-सागर' के लिए प्रमुख आधार माना है । 'संसार-सागर' को पार करने के लिए श्रीकृष्ण का नाम ही परम आधार है—

'कलि-मल-हरन तरन-भव-सागर, भक्तचिंतामनि कामधेनु । —परमानन्दसागर, पद-१३५६

माया : परमानन्ददास ने अपने पदों में जीव को संसार के राग-द्वेष में फंसाए रखनेवाली अविद्या-माया का ही विशेष रूप में उल्लेख किया है । व्यक्ति यदि अविद्या, अज्ञान, अध्यास अथवा मोह से मुक्त हो जाता है तो उसे अपने आप ही विद्या, ज्ञान, भक्ति इत्यादि की सात्त्विक उपलब्धि हो जाती है । भक्ति का अभाव, भूखों को दान न देना, काम, क्रोध, लोभ, परनिंदा, अपराध करके पेट भरना इत्यादि अविद्या के ही परिणाम हैं । परमानन्ददास का कहना है कि पुराणों के सुनने के बाद भी 'अनपाइनी' भक्ति उत्पन्न न होकर अविद्या-जन्य काम, क्रोधादि उपर्युक्त विकार जन्म लें तो उसका जन्म कथा-श्रवण इत्यादि ही व्यर्थ हैं । विद्या के प्रकाश से व्यक्ति में भूत (प्राणी) दया, भगवान् के चरण-कमलों में अनुराग एवं साधु-संगति के प्रति उत्कण्ठा बढ़ती है—

रे मन ! सुनि पुरान कहा कीनों ।
अनपाइनी भक्ति न उपजी, भूखे दान न दीनों ।
काम न बिसर्यौ, क्रोध न बिसर्यौ, लोभ न बिसर्यौ देवा ।
परनिंदा मुख तौ नहिं बिसरी, निफल भई सब सेवा ।
बाट-परी घर मूसि परायौ, पेट भर्यौ अपराधी ।
पर लोक जाइगौ जातें, सोई अविद्या साधी ।
चरण-कमल-अनुराग न उपज्यो, भूतदया नहिं पाली ।
'परमानन्द' साधु-संगति बिनु, कथा पुनीत न चाली । —परमानन्दसागर, पद-१३४२

परमानन्ददास के इस पद में उस सेवा, कथा-श्रवण, भक्ति को निष्फल बताया है, जिसके द्वारा व्यक्ति अविद्या से मुक्त नहीं होता है । भक्त के लिए काम, क्रोध, लोभ, निंदा इत्यादि अविद्या-जन्य विकारों से मुक्त होना आवश्यक है । इसके अभाव में भक्ति केवल दिखावा है ।

मोक्ष : परमानन्ददास ने ईश्वर-प्रेम के चरमानन्द की अनुभूति के अनेक पद लिखे हैं । इस अवस्था को जीवनमुक्त अवस्था कहा गया है । भक्त सांसारिक आसक्ति को त्यागकर भजनानंद में निमग्न हो जाता है । जैसे सरिता सिंधु में मिलकर एकरस हो जाती है, वैसे ही भक्त भी परमात्मा के भक्ति-सागर में मिलकर तद्रूप हो जाता है । भक्त को लोग सांसारिक यातनाएं देते हैं, निंदा करते हैं पर वह कदापि विचलित नहीं होता—

मेरे भाई ! हरि नागर सौं नेह ।
एक बेर कैसें छूटत हैं, पूरब बढ़्यो सनेह ।

CC-0. Gurukul Kangri Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग-अंग निपुन बन्यो, जदुनन्दन स्याम बरन तन देह ।
जब तें दृष्टि परे नन्द नन्दन, तब तें बिसर्यौ गेह ।
कोउ निंदौ कोउ वंदौ, मन को गयो संदेह ।
सरिता सिंधु मिली 'परमानन्द' भयो एक रस नेह । —परमानंदसागर, पद ४०९

'भयो एक रस नेह' में अद्वैतावस्था का निरूपण हुआ है । पर यह स्थिति शंकराचार्य की नहीं, किन्तु शुद्धाद्वैत वेदान्त की सारूप्यावस्था की मुक्ति-स्थिति है एवं सदेह इसकी अनुभूति हो रही है, अतः इसे जीवन-मुक्तावस्था भी कहते हैं । 'कोऊ निंदौ कोऊ वंदौ' कथन मीरांबाई से तुलनीय है ।

परमानंददास ने 'मदन-गोपाल' की तुलना एवं मानसी सेवा-भक्ति को मुक्ति से भी श्रेष्ठ माना है । कृष्ण की प्रेमभक्ति एवं सेवा में जो आनंद है, वह मुक्ति में दुलर्भ है । भगवान् श्रीकृष्ण की लीला में सामीप्य लाभ मिलता है, जो रस की उत्तमोत्तम अवस्था है । पुष्टिभक्ति की दृष्टि से मुक्ति की भी यह चरम-स्थिति है । श्रीकृष्ण के प्रेम-रसिकजन ही इस प्रकार की लीला-सामीप्य लाभ की मुक्ति-अवस्था का आनंद जान सकते हैं । यहां मुक्ति-अवस्था से तात्पर्य है, वह आनंदावस्था जिसमें भक्त संसार को सर्प-कंचुकिवत् पीछे छोड़ देता है । भक्त कृष्ण के चरण-कमलों की रज पाकर संसार के सभी धर्मों को तुच्छ समझने लगता है । वह फिर श्रीकृष्ण के ही पावन गुणों का श्रवण एवं कीर्तन करता है । भक्त ने यह आनंद वेद-पुराणों के रस के रूप में ही, सार तत्त्व के रूप में ही प्राप्त किया है । इस प्रकार श्रीकृष्ण का सर्वथा भजन ही तथा उनकी लीलाओं में अनुरक्ति ही भक्त के लिए परमार्थ संपोसिका है—

सेवा मदन गोपाल की मुगति हू तें मीठी । जानें रसिक उपासिका सुक-मुख जिनि दीठी ।।
चरन-कमल-रज मन बसी सब धर्म बहाए । स्रवन कथन चिन्तन बढ्यो पावन गुन गाए ।।
वेद-पुरान निरूपि कें रस लियो निचोइ । पान करत आनन्द भयौ डार्यो सब छोइ ।।
'परमानन्द' बिचारि कें परमारथ साध्यो । रामकृष्ण-पद-प्रेम बढ्यो लीला-रस बाँध्यो ।।
परमानंदसागर, पद-१३३८

गोपीभाव की ऐकांतिक भक्ति में भक्त तन-मन से श्याम-रंग में अनुरक्त हो जाता है । मुरली का नाद ही परमात्मा का आत्मा को आह्वान है । श्रुति कथन है 'तत्त्वमसि' 'तू मेरा है', यही मुरली-नाद का वास्तविक मर्म है । मुरलीनाद सुनते ही गोपिकाएँ अर्ध-रात्रि में भगवान् कृष्ण से मिलने के लिए यमुना-तट की ओर निकल पड़ीं । उन्होंने संसार के सभी संबंध, सभी मर्यादाएँ तोड़ डालीं । एक गोपिका का मुरली नाद ने इस तरह मन मोहित कर लिया है कि वह अब योग, धर्म सभी को छोड़कर श्रीकृष्ण के चरण-कमल को प्राप्त करने के लिए तड़पने लगती है । वह हरि से प्रार्थना करती है- 'हे हरि ! आप संन्यासी को मुक्ति, कामी को कामिनी, धर्मी को धर्म का मार्ग दिखाएँ, पर मैं तो आपके 'पद-अंबुज' प्राप्त करना चाहती हूँ । मैं आपसे अभिन्न हूँ । मेरा मन 'स्यामरंग-रातौ' है । उस पर कभी दूसरा रंग नहीं चढ़ेगा—

मेरो मन गह्यो भाई ! मुरली कौ नाद ।
आसँन पवन ध्यान इहै जानों, कौन करै अब वाद-बिवाद ।
मुक्ति देहु संन्यासिनि कों हरि ! कामिनि देहु काम कीं रासि ।।
धर्मीकुं देहु धर्म कौ मारगु, मेरौ मनु रह्यो पद-अंबुज-पासि ।
जो कोऊ कैहें ज्योति सब या मंहि, सपने न छुहें तिहारौ जोग ।।
'परमानन्द' स्याम रंग-रातौ सबै सहौं, मिलि एक अंग लोग । परमानंदसागर-१०७१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस छंद में कवि परमानंददास ने सांख्य की ज्ञानात्मिका एवं योग की आसन, प्राणायाम इत्यादि क्रियात्मिका निवृत्ति (मोक्ष) का प्रत्याख्यान (निषेध) करके सगुण परमेश्वर लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचंद्र की लीला में लय होने की याचना की हैं।

कवि परमानंददास ने सूरदास, नंददास इत्यादि कृष्णभक्त कवियों की भाँति व्रज-प्रेम एवं वृन्दावन के सुख के समक्ष वैकुण्ठ के सुख को भी तुच्छ मानकर उसकी उपेक्षा की है। कवि वैकुण्ठ इसलिए नहीं जाना चाहता कि वहाँ न नंद है, न यशोदा, न गोप-गोपिकाएँ हैं, न कदंब की छाया है, न यमुना का निर्मल जल है। ऐसी स्थिति में गोपिका व्रजरस को छोड़कर वैकुण्ठ में नहीं जाना चाहती। चतुर ग्वालिनी कहती है कि ऐसी परम आह्लादकारी व्रज-रज को छोड़कर मैं तो कहीं भी नहीं जा सकती-'मेरी जाय वलाय', मेरी बला जाए—

कहा करों वैकुंठहि जाइ ।
जहां नहिं नन्द जसोदा गोपी, जहां-नहिं बच्छ ग्वाल और गाइ ।
जहां नहिं निर्मल जल जमुना कौ, जहां नहिं बृच्छ कदम की छांइ ।
'परमानन्द' प्रभु चतुर ग्वालिनी, व्रज-रज तजि मेरी जाइ बलाइ । परमानंदसागर, पद-१३७१

इस प्रकार कविवर परमानंददास ने व्रज, व्रज-लीला, यमुना-तट इत्यादि को ही परम-सेव्य, परम-आराध्य, परम-आस्वाद्य, परम-वरेण्य मानकर इन्हीं में अनुरक्ति को मोक्ष से भी बढ़कर माना है और पुष्टि भक्ति संप्रदाय में परम वैष्णव के लिए यही उत्तमोत्तम मोक्षावस्था है।

संसार के संबंध स्वार्थी हैं। केवल श्रीकृष्ण ही ऐसे हैं जो उनसे प्रेम करने पर वे सदा एक-रस होकर निर्वाह करते हैं। संबंध बाँधना आसान है, पर उसका निभाना कठिन है। सदा कमल भ्रमर को संतोष देता है, सर्वदा वह उसे एक रस में रखता है। ठीक इसी तरह श्रीकृष्ण के चरण-रज की प्रीति भी इसी भाँति प्रपत्ति में आए भक्त को सदा ईश्वरीय प्रेम में डुबाए रखती है। ऐसा प्रेम और उसका निश्छल निर्वाह संसार में न माता-पिता का स्नेह होता है और न सहोदर-बन्धु का स्नेह ही। इसलिए भक्त गोपीभाव से मदन-गोपाल की चरण-रज से ही प्रीति करता है क्योंकि वह व्रजपति है। वह वृन्दावन-वास देगा। वह सबसे बड़ा 'ठाकुर' है। नारदादि मुनि उसी का यश गाते हैं—

तुम तजि कौन सनेही कीजै ।
सदा एक-रस कौ निवहतु है, जाकी चरन-रज लीजै ।
इहि न होइ अपनी जननी तें, पिता करत नहिं ऐसी ।
बंधु-सहोदर तेउ न करत हैं, मदन-गोपाल करत हैं जैसी ।
सुख अरु लोक देत है व्रजपति, अरु वृन्दावन बास बसत ।
'परमानन्ददास' कौ ठाकुर नारदादि पावन जसु गावत । परमानन्दसागर, १३७१

आचार्य वल्लभ ने एकमेव श्रीकृष्ण की ही शरणेच्छा करते हुए 'शिक्षापत्री' में लिखा है—

नीचाश्रयो न कर्तव्यः कर्तव्योमहदाश्रयः ।

अर्थात् आश्रय महान् का स्वीकार करो, नहीं कि नीच का। परमानंददास के उपर्युक्त छंद में कृष्णाश्रय जैसे महत्तम आश्रय को ग्रहण करने की कामना व्यक्त की गई है क्योंकि वह ठाकुर है। ठाकुर खुद ठगा जाता है, पर दूसरों को ठगता नहीं है, इसीलिए तो वह ठाकुर है। वह सब कुछ देगा, एवं निभाएगा। एक बार शरण में लेने के बाद कभी तलाक नहीं देगा, त्याग नहीं करेगा! संसारी प्रायः नीच होते हैं। वे स्वार्थी होते हैं। वे स्वार्थ के लिए स्वीकार करेंगे और फिर गंडेरी की तरह चूसकर घूरे पर फेंक देंगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोपी : रस-स्वरूप परब्रह्म लीला पुरुषोत्तम की आद्य रस-शक्ति एवं सिद्ध भक्त राधा तथा गोपिकाएँ हैं। पुष्टि संप्रदाय में अनन्य गोपीभाव की भक्ति ही ग्राह्य है। राधा एवं गोपिकाएं भी श्रीकृष्ण की अनन्य भक्त होने से तद्रूपा ही हैं। कवि परमानंददास ने राधिका के चरणों की संस्तुति की है। राधिका के सुभग-शीतल-सुकोमल चरण रसिकलाल 'श्याम' के मन-मोहकारी एवं विरह-सागर को पार करानेवाले हैं। वे चरण ऐसे हैं कि श्याम भी विवश होकर उनकी सदा शरण में रहते हैं—

धनि ए राधिका-वर-चरन।
सुभग-सीतल अति सुकोमल कमल के से बरन।
× × ×
रसिकलाल मन-मोद-कारी बिरह-सागर-तरन।
बिबस 'परमानन्द' छिनु-छिनु, स्याम जिनि के सरन। परमानंदसागर, पद-५८१

श्याम की आध्यात्मिक शक्ति राधा है, तभी तो श्याम विवश होकर सदा उसके अधीन रहते हैं।

गोपिकाएँ प्रेम की ध्वजा हैं। शिव, ब्रह्मा, संत, उद्धव ने उनके प्रेम की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। ऐसी अति पुनीत गोकुल की गोपिकाओं के भाग्य धन्य हैं। विप्र हो और हरि-सेवा विमुख हो तो उसका जीवन व्यर्थ है। उसकी अपेक्षा अहीर की जाति में जन्मी ये गोपिकाएं हरि भक्त होने के कारण परम पुनीता हैं। **'पावयन्ति कुलानि पृथ्वीं च'** जिन्होंने हरि-भक्ति करके न केवल अपने कुल को अपितु पृथ्वी को भी पावनत्व अर्पित किया है—

गोपी प्रेम की ध्वजा।
जिनि जगदीस किए बस, अपने उर धरि स्याम-भुजा।
सिब बिरंचि प्रसंसा कीनी, उद्धव संत सराहीं।
धन्य भाग्य गोकुल की बनिता, अति पुनीत भव मांही।
कहां विप्र घर जनमहि पाये, हरि सेवा विधि नाहीं।
तेई पुनीत 'दास परमानन्द' जे हरि सनमुख जाही। परमानन्दसागर, पद-८०३

४. कृष्णदास : जीवन : कृष्णदास आचार्य वल्लभ के शिष्य एवं अष्टछाप के कवि थे। ये श्रीनाथजी के मंदिर के अधिकारी थे। प्रारंभ में श्रीनाथजी की सेवा बंगाली ब्राह्मण किया करते थे किंतु वे सभी शाक्त थे, अतः उन सभी को सेवा से हटाने का श्रेय कृष्णदास को ही है।

कृष्णदास का जन्म संवत् १५५३ में हुआ। ये गुजरात में खेड़ा जिले के चरोतर प्रदेश के कडवा पाटीदार (पटेल) थे।[1] इन्होंने बादशाह के सामने अपने पिता के चोर होने की साक्षी देकर एक बनजारे को वापस उसका धन दिलवाया था। इस अप्रिय घटना के कारण पिता-पुत्र में वैमनस्य हो गया। कृष्णदास विरक्त होकर तीर्थाटन करते हुए व्रज पहुँचे। वहीं आचार्य वल्लभ से इनका साक्षात्कार हुआ। ऐसा उल्लेख मिलता है कि गोवर्धन पर्वत पर आचार्य वल्लभ ने कृष्णदास को अपना शिष्य बनाया।[2] कृष्णदास को साधारण गुजराती का ज्ञान तो था ही किन्तु व्रजभाषा में काव्य एवं संगीत का ज्ञान उनको गोवर्धन पर्वत पर पुष्टिसंप्रदाय के सत्संगियों के द्वारा प्राप्त हुआ। प्रारंभ में आचार्य वल्लभ ने उन्हें श्रीनाथजी की भेंट लेने का कार्य सौंपा और तत्पश्चात् इनकी कार्यक्षमता देखकर इन्हें श्रीनाथजी के मंदिर का अधिकारी बना दिया। इन्होंने एक बार मीरां की भेंट भी वापस कर दी थी। ये आजीवन अविवाहित ही रहे थे। 'वार्ता' साहित्य से ज्ञात होता है कि ये साम्प्रदायिक सिद्धांत एवं सेवा-विधि से पूर्णतः परिचित थे। यहाँ तक कि अन्य कई व्यक्ति इस संबंध में मार्गदर्शन लेने के लिए उत्सुक रहा करते थे। कृष्णदास काव्य एवं संगीतशास्त्र के ज्ञाता, मर्मज्ञ तथा सुकवि थे। ये नववीन उत्तम पद बनाकर श्रीनाथजी की कीर्तन

---

१. पाटीदार = पटेल। कडवा को कणबीं अथवा कुनबी कहते हैं। गुजरात में पटेल दो प्रकार के हैं— (१) कडवा (२) लेउआ। २. भावप्रकाश, हरिरायकृत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेवा किया करते थे । संवत् १६०२ में जब गो. विट्ठनाथजी ने अष्टछाप की स्थापना की तब उन्होंने कृष्णदास को भी उसमें संमिलित कर लिया ।

काव्य : खोज रिपोर्ट में कृष्णदास द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रंथों का उल्लेख मिलता है— (१) जुगलभान चरित, (२) भ्रमरगीत, (३) प्रेमतत्त्व निरूपण, (४) भक्तमाल टीका, (५) वैष्णव वंदन, (६) बानी प्रेमरस राजि, (७) हिंडोला लीला, (८) दानलीला । कृष्ण की रासलीला का वर्णन भी इन्होंने बड़ा ही भावपूर्ण किया है । इसी कारण इनकी लीला आसक्ति रासलीला कही गई है । नाभाजी ने अपने 'भक्तमाल' ग्रन्थ में इनकी संस्तुति करते हुए लिखा है—

श्री वल्लभ गुरुदत्त, भजन सागर, गुन आगर ।
कवित्त नोख निरदोष, नाथ सेवा में नागर ॥

× × ×

व्रज रज अति आराध्य, वहै धारा सर्वस चित्त ।
सानिध्य सदा हरिदास वर्ष, गौर-स्याम दृढ़ व्रज लियौ ॥

भक्ति : कृष्णदास ने श्रृंगार-भक्तिपूर्ण अनेक पद लिखे हैं । 'वार्ता' से ज्ञात होता है कि ये सूर की प्रतियोगिता में पद रचा करते थे । उनकी आसक्ति रासलीला में थी, अतः इनके पदों में प्रिया-प्रियतम के विहार के पदों की अधिकता है। कृष्णदास ने घोर अश्लील श्रृंगार से सम्बद्ध खंडिता नायिका के पद प्रचुर संख्या में लिखे हैं । ये पुष्टिसम्प्रदाय और शुद्धाद्वैत वेदान्त के भी गूढ़ ज्ञाता थे । इन्होंने श्रीकृष्ण के बाल रूप, सखा रूप, किशोर रूप, स्वामी रूप, मधुर रूप और युगल रूप की उपासना की है । इनका मुख्य कार्य सेवा करना था, पर इनके पदों में कहीं-कहीं दर्शन के तत्त्व भी निरूपित हुए हैं । इस संबंध में हम यहां विचार कर रहे हैं ।

वेदान्त : गुर्जर-धरा का यह कवि अष्टछाप के अन्य कवियों की भांति ब्रह्म के रस रूप का ही उपासक रहा है । श्रीकृष्ण रस रूप ब्रह्म हैं एवं राधा उनकी रस रूपा परम आद्या-शक्ति है । कृष्णदास ने राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप का ही वर्णन किया है । शक्ति एवं शक्तिमान् नाम-रूपात्मक दृष्टि से भिन्न हो सकते हैं पर पारमार्थिक दृष्टि से वे सर्वथा अभिन्न एवं एक हैं । इसी कारण वल्लभ वेदान्त के अनुयायियों के पुष्टिमार्गीय मंदिरों में केवल श्रीकृष्ण का स्वरूप ही बिराजमान होता है क्योंकि राधा तो उनकी अभिन्न शक्ति है, उसके भिन्न स्वरूप की सम्यदाय में कोई सत्ता नहीं है । नाथद्वारा (मेंवाड़) में पुष्टि सम्प्रदाय के सात स्वरूपों में से प्रमुख स्वरूप श्रीनाथजी[1] बिराजते हैं तो उनके साथ अलग से राधा का

---

१. श्रीनाथजी व्रज में गोवर्धन पर्वत पर बिराजते थे । औरंगजेब ने गोसाई लोगों के पास आदमी भेजकर कहलाया कि तुम लोग मथुरा के फकीर हो तो करामात दिखलाओ, वर्ना निकाले जाओगे । इससे डरकर विठ्ठलनाथजी के पुत्र गिरधारीजी के बेटे दामोदरजी श्रीनाथजी की मूर्ति को रथ में बिठाकर अपने काका गोविंदजी, बाल कृष्णजी, बल्लभजी और गंगाबाई के साथ १० अक्टूबर १६६९ के दिन निकले और आगरे पहुँचे । १६ दिन तक वहीं छिपे रहे । फिर कार्तिक शुक्ल २ को आगरे से चलकर बूंदी के राव राजा अनिरुद्धसिंह के पास आए । फिर बरसात का मौसम कोटे के जिले कृष्णविलास में काटा । वहां से पुष्कर होकर कृष्णगढ़ पधारे तब कृष्णगढ़ के राजा मानसिंह ने कहा : 'आपको छिपकर रहना मंजूर हो तो रहिये । मैं जाहिरा रख नहीं सकता । निदान बसंत और किसी कद्र गर्मी कृष्णगढ़ में पूरी की, उसके बाद मारवाड़ में गए । जोधपुर के महाराजा यशबंतसिंह ननिहाल थे । गोसाईजी ने जोधपुर से तीन कोस की दूरी पर चांपासेणी ग्राम में श्रीनाथजी को पधराया और बरसात के आखिर तक वहीं रहे । मथुरा से निकलने के बाद प्रथम बरसात का मौसम कृष्णगढ़ में, द्वितीय कोटे के पास कृष्ण विलास में और तृतीय चांपासेणी में बिताया ।

[शेष अगले पृष्ठ पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूप नहीं है। राधा–कृष्ण दोनों अभिन्न हैं, उनके इस अभिन्नत्व का ब्रह्म–रसाधिकारी भक्त ही अनुभव कर सकता है। कृष्णदास उच्च कोटि के परम भगवदीय अनुग्रह प्राप्त सेवक थे। वल्लभ सम्प्रदाय में अवतारी श्रीकृष्ण की उपासना बाल, सखा, किशोररूप, युगल रूप तथा उसके लोक रक्षक स्वामी रूप, वात्सल्य, सख्य, कान्ता, सखी तथा सेव्य–सेवक भावों से होती है। सूर–साहित्य में सभी भावों का निरूपण मिलता है, पर कृष्णदास ने रस-लीलासक्त राधाकृष्ण के युगल रूप को अधिक प्रमुखता प्रदान की है। परब्रह्म श्रीकृष्ण रस रूप हैं तो राधा 'रसिकनी' एवं 'रसभीनी' है। उसने प्रिय कृष्ण को कंठमणि बना रखा है, क्योंकि माधुर्य के अधिपति श्रीकृष्ण के अंग–प्रत्यंग की रसिकता से वह परिचित है। राधा–कृष्ण के उभय स्वरूप की रति कृष्णदास को भगवदनुग्रह के रूप में प्राप्त हुई है अतः वह उस पर निछावर है–

> रसिकनी राधा रस भींनी।
> मोहन रसिक गिरिधर पिय अपनें कण्ठमनि कीनी।
> रसमय अंग-अंग रस–रसमय रसिक रसिकता चीन्हीं।
> उभय स्वरूप की रति न्योछावरि 'कृष्णदास' को दीनी। कृष्णदास–पदसंग्रह, पद–५९

भक्तों के कष्ट निवारण के लिए परब्रह्म ने लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के रूप में भूतल पर अवतार लिया। उन्होंने वाम बाहु पर गोवर्धन धारण करके इन्द्र के अतिवृष्टि के खंड–प्रलय से ब्रज की रक्षा की। इन्द्र भी उनके अद्‌भुत प्रभाव को देखकर प्रणत होकर सामने आया और अपने अपराध के लिए क्षमा याचना की। इस प्रकार विनोद में ही गोवर्धन पर्वत धारण करने की अद्‌भुत केलि करके बाल कृष्ण वे गोवर्धनधारी[1] कहलाए—

ये गोसाई लोग बादशाह आलमगीर के डर से सारे रजवाड़ों में फिरे, परंतु बादशाही नाराजगी को झेलने की ताकत किसी में न पाई। लाचार मारवाड़ में महाराज जसवंतसिंह के पास गए। लेकिन जब उनके मुलाजिमों की भी ताकत न देखी, तब टीकेत गोसाई दामोदरजी के काका गोविंदजी महाराणा राजसिह (उदयपुर, मेवाड़) के पास आए और श्रीनाथजी के बारे में अपनी ख्वाहिश थी, जाहिर की। महाराणा ने खुशी के साथ मंजूर किया और कहा कि 'जब मेरे एक लाख राजपूतों के सिर कट जाएंगे, उसके बाद आलमगीर इस मूर्ति को हाथ लगा सकेगा।" इस तरह २० फरवरी १६७२, शनिवार के दिन श्रीनाथजी को सिहाड़ ग्राम (नाथद्वार के पास) में पाट बिठाया।' (वीरविनोद, भाग-२, पृ. ४५२-४५३से) श्रीनाथजी के साथ–साथ, श्रीनाथजी के गोद के ठाकुरजी नवनीतप्रियजी, श्री विट्ठलनाथजी (नाथद्वारा) श्री द्वारकाधीश (कांकरोली) यों चार पुष्टि संप्रदाय के स्वरूप आज भी मेवाड़ में मेवाड़ के महाराजाधिराज महाराणा श्रीभगवान् शंकर एकलिंगजी के माथे बिराजते हैं। हिन्दी शोधकर्ताओं को वास्तविकता का पता चले एवं धर्म की रक्षा वीरता करती है, नहीं कि स्त्री-समर्पण, व्यभिचार, अधरामृत, जूठा खिलाना, थूंक चटवाना एवं राजभोग के मिष्ठान्न। ये ही बातें स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त ऐतिहासिक विवरण यहां प्रस्तुत किया गया है।

१. गोवर्धन–पर्वत वास्तव में पर्वत नहीं किन्तु मनुष्य–निर्मित एक बांध है। धार्मिकों ने आदर देने के लिए इस बांध को पर्वत नाम दिया है। यमुना की बाढ़ का जल गाँवों में घुसकर नुकसान न पहुँचाए, इसके लिए लोगों ने ही मिलकर यह एक लंबी दीवार-सी बनाई है: 'ब्रज में आमतौर पर लोग इसे गिरिराज के नाम से पुकारते हैं। साहब, मुश्किल से १०० फुट ऊँची पहाड़ी है...जमीन की सतह पर उठाई गई सी लगती है। यह पहाड़ी मिट्टी में चट्टानें जमाकर उठाई गई है। यह सात मील लंबी दीवार की तरह खड़ी हुई है। मैं और कन्या वहां जा कर यूं हैरत में रह गए। मुझे ऐसा लगा कि यह कुदरती पहाड़ी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीत्यो-जीत्यो जसोदा को नंदन मघवनि वृष्टि निवारी ।
वाम बाहु राख्यो गिरि नायक, गोकुल आरत परी ।।
इन्द्र खिसाय जोरि कर विनवै, मैं अपराध कियो प्रभु भारी ।
तू दयाल, करुणामय माधो, प्रनत हृदे भय हारी ।।
बाल-विनोद बाल-लीला रस, अद्भुत केलि बिहारी ।
'कृष्णदास' व्रजवासी बोलत, लाल गोवर्धन धारी । —कृष्णदासपदसंग्रह, पद—८१

नंददास की भाँति कृष्णदास ने भी राम कृष्ण में अभिन्नता स्थापित की है । उन्होंने कहा है कि राम ही त्रिलोक के रोम–रोम में रम रहा है । राम रूपी परम रमणीय रूप ही नंदराय के आंगन में कृष्ण के रूप में लीलाएँ कर रहा है । जल–थल अंबर सर्वत्र इस प्रकार राम ही विलसित हो रहा है—

राम राम रमि रह्यो त्रैलोक ।
राम राम रमणीय भेष नट, राजत नन्दराय के ओक ।
राम राम राम मनु रंजन, जल–थल विलसित केतक कोक ।
गिरिधर पिय बलि 'कृष्णदास' के सब विधि राम बिना सुन–लोक । कृष्णदासपदसंग्रह,पद-८२

'राजत' शब्द ब्रह्म के स्वराट् का वाचक है । ब्रह्म स्वयं प्रकाश रूप है एवं उससे सभी प्रकाशित हैं । यही स्वराट् शब्द का वास्तविक अर्थ है । इसी तरह 'सुन–लोक' अर्थात् शून्य–लोक ।

सूर आदि की भाँति कृष्णदास ने भी परब्रह्म श्रीकृष्ण एवं गुरु में अभिन्नत्व स्थापित किया है । कृष्णदास ने श्रीवल्लभनंदन गोसाई विट्ठलनाथ की स्तुति परब्रह्म श्रीकृष्ण के रूप में ही की है । श्रीगोसाई विट्ठलनाथ प्रकट पुरुषोत्तम हैं, मायावाद निकंदक हैं, नामोच्चारण मात्र से ही वे भव–फंदन–कर्तक हैं तथा उनकी पदरज को सुर-नर–मुनि भी वंदन करते हैं—

जय जय जय श्रीवल्लभनन्दन । सुर नर मुनि जाकी पदरंजन वंदन ।।
मायावाद किये जु निकन्दन । नाम लिए काटत भव फन्दन ।।
प्रकट पुरुषोत्तम चरचित चंदन । 'कृष्णदास' गावत श्रुति छन्दन ।। कृष्णदासपदसंग्रह, पद-८३

'मायावाद–निकंदन' एक ऐसा अपशब्द है, जिसका प्रत्येक पुष्टिमार्गीय वैष्णव से गोसाई आचार्य प्रार्थना–स्तुति, स्तवन इत्यादि किसी न किसी रूप में प्रतिदिन उच्चरित करवाते हैं । 'अपशब्द' का अर्थ गाली होता है । यह आद्य शंकराचार्य को दी जानेवाली अच्छी सुसभ्य गाली है ।

आचार्य शंकर ने 'केवलाद्वैत' वेदान्त के आधार पर त्रिगुणात्मिका सृष्टि को माया कहा है, इसलिए वे मायावाद के संस्थापक कहे जाते हैं । इसके विपरीत आचार्य वल्लभ ने मायावाद का खण्डन किया एवं शुद्ध–अद्वैतवाद का वेदान्त स्थापित किया ।[1] इसी कारण वल्लभ मायावाद–निकंदक कहे जाते हैं । यह एक

नहीं है, कृष्ण ने जरूर गोवर्धन उठाया था, यानी इन्सान ने ही इस पहाड़ को बनाया है । कठिन बाढ़ों को रोकने के लिए कृष्ण की प्रेरणा से सब गाँववालों ने मिलकर यह बाँध बनाया होगा । इसी बाँध के कारण उनका गोधन वर्षा की बाढ़ से बचकर अपने आपको बढ़ाता था' (इसी कारण इसका नाम गो+वर्धन पड़ा ।) बूंद और समुद्र, अमृतलाल नागर, पृ. ४३० धर्म में कितना झूठ एवं पाखंड चलता है, यह इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है ।

१. मायावाद निराकर्त्ता ब्रह्मवादः प्रवर्त्तकः सर्वोत्तमस्त्रोत्र, ९ वल्लभाचार्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम आश्चर्य का विषय है कि 'श्रीमद्भागवत' के प्रथम छंद में भी इसी त्रिगुणात्मिक सृष्टि को माया-मिथ्या कहा गया है,[1] पर 'भागवत' में कथा मुख्यतः सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण की ही है ।

रसरूप ब्रह्म के संस्तुवन के अतिरिक्त कृष्णदास ने व्रजभूमि के प्रति भी अगाध प्रेम व्यक्त किया है । साथ ही 'परम-पुनीता' 'जगपावनी' 'कृष्ण-मन-भावनी' 'तरणि-तनया' यमुना की भी उन्होंने स्तुति की है । जैसे चकोर प्रेम में मुग्ध रहता हैं वैसे ही गोप-गोपी भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम में यमुना तट पर सदा नव-नवीन रहते हैं । यमुना गिरिवरधरन श्रीकृष्ण को भी अतीव प्रिय है । कवि कृष्णदास ने प्रसाद एवं माधुर्य गुणमयी ललित काव्यमय शैली में महारानी यमुना की स्तुति इस भांति की है—

नमो तरणि तनया परम पुनीत जग पावनी, कृष्णमन भावनी रुचिर नामा ।
अखिल सुखदायिनी सवसिद्धि हेतु, श्री राधिकारमण रति कारण स्यामा ।
विमल जल सुमन कानन मोदयुत, पुलिन अतिरम्य प्रियव्रत किशोरी ।
गोप-गोपी नवल प्रेमगति वंदिता, तट मुदित रहत जैसे चकोर
लहरि भावललिता बालुका सुभग, ब्रजवास, व्रज पूरण फलंदा ।
ललित गिरिवरधरन प्रिय कलि-नंदिनी निकट 'कृष्णदास' विरहित प्रवलता ।

कृष्णदासपदसंग्रह, पद-१३३

कृष्णदास ने लीला में स्वयं को लय कर देना, लीला का आनंद प्राप्त करना, लीला-सामीप्य एवं लीला की सन्निधि प्राप्त करना ही जीव का परम लक्ष्य एवं मोक्ष माना है । उपर्युक्त छंद की 'गोप-गोपी नवल प्रेमगति वंदिता, तट मुदित रहत चकोर 'पंक्ति द्वारा कवि लीला-मुक्ति की ही ओर संकेत कर रहा है । अंतिम चरण में कवि स्वयं को भी इसी लीला में स्थान मिले, इसके लिए उत्कंठित बता रहा है : 'ललित गिरिवरधरन प्रिय कलिनंदिनी निकट 'कृष्णदास' विरहित प्रवलता ।'

५. नंददास : जीवन : साहित्यिक गरिमा एवं वेदान्त-निरूपण की दृष्टि से अष्टछाप के कवियों में सूर के पश्चात् नंददास का ही स्थान है । ये गोस्वामी विट्ठलनाथजी के शिष्य थे । अष्टछाप के कवियों में ये आयु में सबसे छोटे थे । कई समीक्षकों ने इनका काव्य सम्प्रदाय की दार्शनिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों समझने की दृष्टि से सूर के साहित्य से भी अधिक महत्त्पूर्ण माना है ।[2] नंददास का समसामयिक उल्लेख नाभाजी के 'भक्तमाल' ग्रंथ में इस प्रकार मिलता है—

नन्ददास आनन्दनिधि, रसिक सुप्रभुहित रंग मगे ।
लीलापद रसरीति ग्रन्थ, रचना में नागर ।
सरस उक्ति युत मुक्ति, भक्ति रसगान उजागर ।
प्रचुर पथ लौं सुजसु, रामपुर ग्राम निवासी ।।
सकल सुकुल संवलित, भक्त पद रेनु उपासी ।
चन्द्रहास-अग्रज-सुहृद परम, प्रेमपथ में पगे ।।

उपर्युक्त पद से स्पष्ट होता है कि नंददास कृष्ण की प्रेमलक्षणा मधुर पुष्टि-भक्ति में तल्लीन रहनेवाले वैष्णव भक्त थे । नंददास के लिए नाभाजी ने 'रसिक' विशेषण प्रयुक्त किया है, जिसके तीन अर्थ हो सकते

---

१. तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा ।
धाम्ना स्वेन सदानिरस्त कुहकं सत्यं पर धीमहि ।। श्रीमद्भागवत १-१-१

२. अष्टछाप के कवि नन्ददास, डॉ. कृष्णदेव झारी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं–(१) रसशास्त्र में शृंगार–रस निरूपण में निपुण, (२) लौकिक शृंगार में लिप्त एवं (३) मधुर–भक्ति का उपासक भक्त। नन्ददास के काव्य का अध्ययन करने पर ये तीनों विशेषताएँ स्पष्टतः उभर आती हैं। कई बातों में गुजरात के व्रजभाषा काव्य के अन्यतम कवि दयाराम के साथ नन्ददास तुलनीय हैं, पर यह एक अलग शोधप्रबंध का विषय है। नाभाजी ने नन्ददास को 'रसिक' नाम से संबोधित किया है।

ऐसा प्रसिद्ध है कि ये अपने यौवनकाल में एक खत्री जाति की सुंदरी पर आसक्त थे और सदैव उसी के पीछे लगे फिरते थे। एक बार वह स्त्री व्रज में आई तो ये भी उसके साथ लगे चले आए। यहीं गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने इनका मोह भंगकर इन्हें कृष्णभक्ति के प्रति अभिमुख किया। इस घटना को लेकर या फिर इनकी राधाकृष्ण की शृंगारात्मक मधुर भक्ति को लेकर नंददास को नाभाजी ने 'रसिक' कहा है। यों ब्रह्म में चित्त लीन रहने पर व्यक्ति बाह्यरूप में योग, भोग, संग या असंग में से किसी भी स्थिति में रहे, वह ब्रह्मानंद से ही युक्त कहा जाएगा—

योगरतो वा भोगरतो वा, संगरतो वा संगविहीनः।
यस्य ब्रह्मणि रमते चित्तम्, नन्दति नन्दति नन्दत्येव। –आद्य शंकराचार्य

अपनी बहुमुखी प्रतिभा, सरस कविता और कोमल–कांतपदावली के कारण नंददास का स्थान व्रजभाषा साहित्य में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

नन्ददास का जन्म सन् १५३३ में हुआ था। ये रामपुर के निवासी थे। कई इन्हें तुलसीदास का छोटा भाई मानते हैं। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम जीवाराम था। जीवाराम के भाई का नाम आत्माराम था। जीवाराम के दो पुत्र थे–नन्ददास और चंद्रहास। आत्माराम के पुत्र का नाम तुलसीदास था। बचपन में तुलसीदास और नंददास ने बचपन में ही संस्कृत साहित्य का उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसके साथ ही काव्यरचना और संगीतकला की ओर भी इनकी बचपन से ही रुचि थी।[1]

नंददास का रामभक्त से कृष्णभक्त होना : अपने शिक्षा गुरु के प्रभाव से आरंभ में नंददास भी तुलसीदास की तरह रामभक्त थे, किन्तु पुष्टिसंप्रदाय में दीक्षित होने के अनन्तर इनके जीवन का क्रम ही आमूल परिवर्तित हो गया। ये पूर्णतः कृष्णभक्त हो गए। काव्य एवं संगीत में स्वाभाविक रुचि के कारण इनका मन कीर्तन में विशेष रूप से लगता था। ये भक्तिभावपूर्ण उत्तम पदों की रचना करके गाने लगे। काव्य एवं संगीत में इनकी प्रतिभा का इस गति से विकास हुआ कि ये शीघ्र ही पुष्टिसंप्रदाय के कवियों में गिने जाने लगे। नंददास कुछ काल तक गोवर्धन पर्वत पर सूर के सत्संग में रहे। सूर के सात्त्विक जीवन के प्रभाव से नंददास के हृदय में ऐकांतिक पुष्टिभक्ति का उदय हुआ। साम्प्रदायिक जनश्रुति के आधार पर यह भी सुप्रसिद्ध है कि नंददास के हृदय में दृढ़ वैराग्य का अभाव देखकर सूर ने इनको गृहस्थ बनने का आदेश दिया। नन्ददास सूर के आदेशानुसार अपने गाँव रामपुर में आए और उन्होंने कमला नामक कन्या के साथ विवाह किया। जिससे उनके कृष्णदास नामक एक पुत्र भी हुआ। इस प्रकार कुछ काल तक गृहस्थ के रूप में रहकर नन्ददास संवत् १६२४ के लगभग विरक्त भाव से पुनः गोवर्धन पर्वत पर चले आए। गोवर्धन पर आने के बाद ये स्थायी रूप से मानसी गंगा पर रहने लगे। वहीं रहते हुए उन्होंने अपना शेष जीवन श्रीनाथजी की कीर्तन–सेवा और ग्रन्थ–रचना में लगा दिया। अंत में सं. १६४० के लगभग गोवर्धन में मानसी गंगा के किनारे एक पीपल के वृक्ष के नीचे इन्होंने अपना देह त्याग किया।

काव्य : नन्ददास ने अष्टछाप के अन्य कवियों की भाँति कीर्तन के स्फुट पदों की रचना तो की ही है, पर साथ ही इन्होंने अनेक ग्रन्थों का निर्माण भी किया है। इनकी रचनाएं इस प्रकार हैं—

---

१. अष्टछाप के कवि नन्ददास', डॉ. कृष्णदेव झारी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) अनेकार्थ मंजरी (अनेकार्थ नाममाला, अनेकार्थभाषा)
(२) मानमंजरी[1] (नाममंजरी, नाममाला, नामचिंतामणिमाला)
(३) रसमंजरी
(४) रूप मंजरी
(५) विरह मंजरी
(६) प्रेम बारहखड़ी
(७) स्याम सगाई
(८) सुदामा चरित्र
(९) रुकमणि मंगल
(१०) भंवरगीत
(११) रासपंचाध्यायी
(१२) सिद्धांत पंचाध्यायी
(१३) दसमस्कन्ध
(१४) गोवर्धनलीला
(१५) पद्यावली

नंददासकृत उपर्युक्त रचनाओं में काल का उल्लेख नहीं है। अतः कालक्रमानुसार इनका समीक्षण करना संभव नहीं है। डॉ. दीनदयालु गुप्त का मत है कि 'रसमंजरी' नन्ददास की आरंभिक रचना है और 'रासपंचाध्यायी', 'भंवरगीत' एवं 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' इनकी अंतीम रचनाएं हैं।[2]

यह निश्चित है कि पुष्टिसंप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व नन्ददास ने कतिपय स्फुटपदों की रचना की थी, किन्तु इन्होंने कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखा। सूर के निरीक्षण में और उसके पश्चात् अपने गाँव के गृहस्थ–काल में संभव है, नन्ददास ने साहित्य का विशेष अध्ययन किया हो। 'अनेकार्थ–भाषा' और 'नाम–माला' जैसे कोशग्रन्थ इसी काल में रचे हो सकते हैं। इसके पश्चात् 'रसमंजरी' और 'रूपमंजरी' जैसे रसभावाश्रित ग्रन्थों की रचना होना संभव है। यह भी स्पष्ट है कि नन्ददास को 'मंजरी' शब्द अधिक प्रिय था। इसी कारण इनके अधिकांश ग्रन्थों के साथ 'मंजरी' शब्द जुड़ा हुआ है। **'विरहमंजरी', 'रसमंजरी'** और **'रूपमंजरी'** ग्रन्थ चौपाई छंद में विरचित हैं। इन ग्रन्थों में अवधी भाषा के महाकवि जायसी तथा तुलसीदास की शैली का प्रयोग किया गया है। चौपाई छन्द में सरल काव्य लिखने का श्रेय जायसी एवं तुलसीदास के पश्चात् हिन्दी कृष्ण काव्यधारा के कवि नन्ददास को ही प्राप्त है। **'रूपमंजरी'** नायिका भेद एवं रसशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य पुष्टिसंप्रदाय की शृंगारपरक धार्मिक भावना का प्रतिपादन करता है, पर उपरि दृष्टि से यह ग्रन्थ लौकिक शृंगार का काव्य-सा प्रतीत होता है। **'रसमंजरी'** में नायिका भेद का सांगोपांग वर्णन है। 'रूपमंजरी' एवं 'रसमंजरी' ग्रन्थों की रचना नन्ददास जैसे भक्त कवि के द्वारा हुई है, किन्तु दोनों में रीतकालीन काव्य-शैली की प्रमुखता स्पष्ट प्रतीत होती है और दोनों ग्रन्थों के द्वारा हिन्दी के भावी रीतकाल की भी स्पष्ट सूचना मिल जाती है। **'स्याम सगाई'** ग्रन्थ में कृष्ण के साथ राधा की सगाई का वर्णन किया गया है। यह कथा 'भागवत' में नहीं है। पुष्टिसंप्रदाय में राधा स्वकीया मानी जाती है, संभव है, इसी भावना की संपुष्टि हेतु यह ग्रन्थ लिखा गया हो। **'सुदामाचरित'** और **'रुकमणीमंगल'** भागवत दशमस्कंध के विविध अध्यायों की कथाओं के आधार पर लिखे गए ग्रन्थ हैं। **'सुदामाचरित'** एक लघु काव्य है, जिसे कई समीक्षक नन्ददासकृत नहीं मानते,

---

१. नन्ददासकृत 'मानमंजरी' की एक हस्तलिखित प्रति मेरे गुरु डॉ. भ्रमरलाल जोशी के पास है। यह संस्कृत के 'अमरकोश' की भांति हिन्दी में दोहा, छंद में निबद्ध है। कवि ने प्रारंभ में लिखा है 'अमरकोश' के आधार पर यह ग्रंथ भाषा में लिख रहा हूं—

गुथित नाना नाम कौ, अमरकोश के माय।
मतबतिकै मानपरि, मिले अरथ सब आय ।।४।।

यह ग्रंथ २८८ दोहों में लिखा गया है। अंत में लिखा है–'इति श्रीमानमंजरी नाममाला नन्ददासकृत संपूर्ण ।। श्री संमत १८९२ मिति पोस विद १२ बुध दिने लिपिकृतं जती वेणीचंद त्रतीय प्रहरे ।।

२. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, पृ. ३७१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर डॉ. दीनदयालु गुप्त इसे नन्ददासकृत मानते हैं।[1] **'रुकमणी मंगल'** संभव है, गो. तुलसीदास के 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' के अनुकरण पर लिखा गया ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कवि की प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ है और यह कवि की श्रेष्ठ कृतियों में से एक है। नंददास की रचनाओं में **'भंवरगीत'** और **'रास-पंचाध्यायी'** का विशेष महत्त्व है। भाषा की कोमलता, शब्दों की संजावट, भांवों कीं सरसता एवं साम्प्रदायिक सिद्धांतों के निरूपण की दृष्टि से इन दोनों ग्रन्थों का अत्यधिक महत्त्व है। इन दोनों ग्रन्थों में साहित्य एवं दर्शन का मणिकांचन योग परम स्तुत्य है। **'भंवरगीत'** नंददास की एक अमर साहित्यिक रचना है। उद्धव-गोपी संवाद के माध्यम से निर्गुण पर सगुण की एवं योग तथा ज्ञान पर प्रेम की विजय इसमें प्रतिपादित है। इस ग्रन्थ में भी दर्शन एवं वेदान्त के विचार व्यक्त हुए हैं। शंकर के **'जगन्मिथ्या'** से संबंद्ध योगियों के योगमार्ग तथा कबीर जैसे ज्ञानियों के शुष्क ज्ञानमार्ग की अपेक्षा शुद्धाद्वैत वेदान्त से संवद्ध सगुण पुष्टिमार्ग श्रेष्ठ है, यही इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य है। इस ग्रन्थ की रचना रोला और दोहा मिश्रित छन्द में की गई है। प्रत्येक पद के अंत में दस मात्रा की टेक से ग्रन्थ की संगीत-योजना में पूर्णता आ गई है। इस ग्रन्थ में गोपियों के तर्क भी अकाट्य एवं युक्ति संगत हैं। युक्ति-संगत तर्क-कर्ता को महर्षि यास्क ने 'निरुक्त' में ऋषि नाम से संबोधित किया है-**'तर्को वै ऋषिः'**। **'रासपंचाध्यायी'** ग्रन्थ अपनी कोमलकांत पदावली एवं श्रुतिमधुर भाषा शैली के कारण इतना ललित प्रतीत होता है कि कई इसे हिन्दी का 'गीतगोविन्द' कहते हैं। रोला छन्द नंददास को विशेष प्रिय है। यह ग्रन्थ इसी छंद में निबद्ध है। बाह्य रूप में यह काव्य लौकिक प्रेम को लेकर चलता-सा प्रतीत होता है पर आध्यात्मिक दृष्टि से इसमें आत्मा (गोपी) का रासलीला के माध्यम से रसरूप परमात्मा (कृष्ण) के प्रति समर्पण निरूपित हुआ है। यह ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' के आधार पर लिखा गया है तथा 'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया' कथन हिन्दी व्रजभाषा साहित्य में नन्ददास के भाषा-सौष्ठव को लेकर ही प्रचलित है। 'रासपंचाध्यायी' की प्रांजल भाषा, विषय प्रतिपादन शैली, काव्य-सौंदर्य एवं मौलिक उद्भावनाएं नन्ददास की 'जड़िया' उपाधि को सार्थक बनाती हैं।[2] **'सिद्धान्त पंचाध्यायी'** ग्रथ में 'रासपंचाध्यायी' की सैद्धान्तिक व्याख्या की गई है। इस ग्रन्थ में कृष्ण, वृंदावन, वेणु, गोपी, रास आदि शब्दों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस ग्रन्थ का सांप्रदायिक महत्त्व है। रासलीला के लौकिक शृंगार को कवि ने पारलौकिक ध्येय की ओर उन्मुख किया है।[3] **'दसमस्कन्ध भाषा'** में 'भागवत' के दशमस्कंध के आरंभिक २९ अध्यायों का भावानुवाद किया गया है। 'भागवत' के २९ से ३३ तक के पाँच अध्यायों पर 'रासपंचाध्यायी की कथा आधारित है। इस प्रकार नंददास ने 'भागवत' की कथा को क्रमिकता के आधार पर दो स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं। ऐसी भी जनश्रुति है कि नन्ददास ने संपूर्ण 'भागवत' का भावानुवाद किया था, जिसे ब्राह्मणों की आजीविका नष्ट हो जाने के भय से अपने गुरु विट्ठलनाथजी के आदेश से उन्होंने यमुना को समर्पित कर दिया। उसी का शेष भाग 'दसमस्कन्ध भाषा' ग्रन्थ है। पर इस कथन में कोई सार प्रतीत नहीं होता। यह भी संभव है कि यह उनकी अंतिम रचना हो, जिसे वे अपने असामयिक निधन के कारण पूर्ण न कर सके हों। 'भागवत' दशमस्कन्ध के अध्याय २४-२५ में वर्णित गोवर्धनलीला के आधार पर **'गोवर्धनलीला'** ग्रन्थ की रचना की गई है। हिन्दी के इतिहास के ग्रन्थों में इस रचना का उल्लेख नहीं मिलता है, पर रचना के प्रारंभ एवं अन्त में कवि के नाम की छाप होने के कारण डॉ. दीनदयालु गुप्त इसे नन्ददासकृत मानते हैं।[4]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ. ३४२

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. २२५

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र पृ. २२५, ४. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ. २८४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पद्यावली' में नन्ददास विरचित पदों का संकलन किया गया है। नन्ददास ने श्रीनाथजी का कीर्तन करते हुए अनेक पद रचे थे, उनमें से जो उपलब्ध हो सके हैं, उन्हीं का 'पद्यावली' में संकलन किया गया है। शोध के फलस्वरूप और भी पद उपलब्ध हो सकते है।

नन्ददास के काव्य में वेदान्त एवं साहित्य का समन्वय : नन्ददास का टकसाली काव्य व्रजभाष-काव्य का अमर श्रृंगार है। नन्ददास की रचनाओं में दो गुणों की प्रधानता है—माधुर्य और प्रसाद। नन्ददास के पदों में माधुर्य तो इतनी उच्च कोटि का है कि प्रत्येक पद मानो एक रसझरी मृद्वीका का एक गुच्छ है। पंक्तियों में न तो संयुक्ताक्षर हैं और न दीर्घ समस्त शब्द ही। शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश कर देती है और जो कुछ कहा गया है, वह भी वहुत थोड़े शब्दों में और सुन्दरता के साथ।[2]

नंददास के काव्य का साहित्यिक महत्त्व के साथ-साथ धार्मिक महत्त्व भी कुछ कम नहीं है। उन्होंने अपनी सरस शैली में शुद्धाद्वैत वेदान्त के सिद्धांतों का सफलतापूर्वक निरूपण किया है। उनके काव्य की यह भी एक विशेषता है कि उनके काव्य में साहित्य एवं दर्शन का सुभग समन्वय हुआ है।

प्रेमविवश कवि नंददास की प्रेम में प्रमत्तावस्था का वर्णन 'भक्तनामावली' में इस प्रकार किया गया है–

> **नन्ददास जो कुछ कह्यो राग रंग में पागि।**
> **अच्छर सरस सनेह-मय सुनत स्रवन उठे जागि।**
> **रमत दसा अद्भुत हुते करत कवित्त सुढार।**
> **बात प्रेम की सुनत ही छुटत नैन जलधार।**
> **बावरो सो रस में फिरै, खोजत नेह की बात।**
> **आछे रस के वचन सुनि, वेगि विवस ह्वै जात।**

वेदान्त : भाव एवं कला की दृष्टि से सूर निःसन्देह अष्टछाप के कवियों में मूर्धन्य हैं, पर काव्य में वेदान्त-निरूपण की दृष्टि से नंददास अपेक्षाकृत श्रेष्ठ हैं। इस संबंध में डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय लिखते हैं—'अष्टछाप के कवियों में सूर से भी अधिक नन्ददास में वल्लभ सम्प्रदाय के विचारों को वाणी मिली है। नंददास सम्प्रदाय के विचारों को कविता का आवरण पहनाने में अधिक प्रवीण थे।'[1] नंददास ने 'मानमंजरी', 'पंचमंजरी', 'अनेकार्थमंजरी', 'रासपंचाध्यायी', 'सिद्धान्तपंचाध्यायी', 'दशमस्कन्ध भाषा', 'भंवरगीत' इत्यादि ग्रन्थों में तथा अपने गुरु गोसाई विट्ठलनाथ की स्तुति में विरचित पदों में वेदान्त-परक विचारों का निरूपण किया है। हिन्दीतर प्रदेश के हिन्दी कृष्ण-कवियों में गुजरात के कवि दयाराम के व्रजभाषा साहित्य में भी सर्वाधिक रूप में शुद्धाद्वैत वेदान्त के तत्त्व निरूपित हुए हैं। तौलनिक दृष्टि से परीक्षण किया जाए तो दयाराम इस क्षेत्र में न केवल हिन्दीतर प्रदेश के कृष्ण-कवियों में अपितु हिन्दीभाषी क्षेत्र के हिन्दी कृष्ण कवियों में भी काफी आगे हैं। इस संबंध में इसी शोध-प्रबंध में आगे पर्याप्त विचार किया जाएगा।[2]

ब्रह्म : नंददास ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही कृष्ण को परब्रह्म मानकर उनको जगत् का कारण, करुणार्णव एवं गोकुलाधीश कहा है। यह नामरूपात्मक एवं सगुण जगत् परब्रह्म श्रीकृष्ण के ही परिणमन का फल है। ब्रह्म ही सभी तत्त्वों के रूप में बिलसित हो रहा है—

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामकुमार वर्मा, पृ. ६६०

२. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ. २१७, २. देखिए, इसी शोध-ग्रंथ का षष्ठ अध्याय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तन्नमामि पद परम गुरु, कृष्ण कमल दल नैन ।
जगकारन करुनार्णव, गोकुल जाको ऐन ।
नामरूप गुन भेद जो, सोइ प्रकट सब ठौर ।
ता बिन तत्त्व जु आन कछु, कहै सो अति बड बौर । –मानमंजरी, पृ. ६९

पुष्टि सम्प्रदाय में कृष्ण एवं गुरु में अभेद माना गया है । उपर्युक्त पंक्तियों में कृष्ण एवं गुरु गोसाइ विट्ठलनाथजी में अभेद स्थापितकर उनकी स्तुति की गई है ।

नन्ददास ने परब्रह्म 'मोहन' की अद्भुत रूप–छवि के सौन्दर्य को अनिर्वचनीय कहा है । वह 'मोहन' हीं अखिल 'अंड' में व्याप्त ब्रह्म है । वही परमात्मा है, सभी का अन्तर्यामी है । वही नारायण है । वही सबका स्वामी है । वही इस भूतल पर अवतरित होकर बाल, कुमार, पौगण्ड अवस्थाओं में लीलाएँ करता हैं । वही मोहन नित्य किशोर–कान्ह के रूप में सभी के मन को मोहित करनेवाला है । वही गोपाल लाल है एवं नित्यधाम में सर्वदा निवास करता है। इसी कारण वैकुंठ का वैभव भी उस नित्यलीलाधाम के समक्ष कुंठित-सा प्रतीत होता है–

मोहन अद्भुत रूप कहि न आवै छबि ताकी ।
अखिल अंड व्यापी जु ब्रह्म आभा कछु जाकी ।
परमातम परब्रह्म सबन के अन्तरजामी ।
नारायन भगवान् धरम आक्रान्त ललित तन ।
बाल कुमार, पौगण्ड, धरम आक्रान्त ललित तन ।
धर्मी नित्य किसोर कान्ह मोहत सबको मन ।
× × ×
अस अद्भुत गोपाल लाल सब काल बसत जहं ।
याही से वैकुंठ विभव, कुंठित लागत तहं । –रासपंचाध्यायी, पृ. १५९

उपर्युक्त छंद में शुद्धाद्वैत वेदान्त के ब्रह्मवाद एवं पुष्टिभक्ति सम्प्रदाय में उपासना के लिए स्वीकृत कृष्ण के बालरूप दोनों का मणिकांचन योग हुआ है । पुष्टि सम्प्रदाय में बालभाव से ही कृष्ण सेव्य हैं । आचार्य या सेवक माता–पिता के स्थान पर हैं । यहां बालकृष्ण की आयु 'पौगण्ड' शब्द द्वारा प्रकट की गई है–**'पौगण्डो दशमावधिः'** दस वर्ष की आयु तक के बालक को 'अमरकोश' के रचयिता ने पौगण्ड कहा है।

'रसो वै सः' श्रुति वचन के अनुसार शुद्धाद्वैत वेदान्त में ब्रह्म शर्करापुत्तलिकावत् रस रूप है । वह 'रसमय' है, रस का कारण है इसीलिए जगत् भी उसीके रस का आधार है, पात्र है । कवि नन्ददास ने जगत् को 'रसिक' कहा है क्योंकि उसका कारण ब्रह्म स्वयं रसरूप है । वह आत्मानंद है, आनन्द घन है, अखंड, नित्य, केवल प्रेम स्वरूप, अगम्य एवं सुगंधमय है–

नमो नमो अनन्द घन सुन्दर नंद कुमार । रसमय रसकारण रसिक जग जाके आधार ॥
–रसमंजरी–१

सब घट अन्तरजामी, स्वामी परम एक रस ।
नित्य आत्मानन्द अखंड स्वरूप उदार ॥
केवल प्रम सुगन्ध अगम्य अवर परकार । सिद्धान्तपंचाध्यायी, पृ. १९१

वल्लभ वेदान्त में ब्रह्म के निर्गुण रूप को स्वीकार करने पर भी उसके सगुण रूप को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया गया है । नंददास ने भी ब्रह्म को 'अजन्मा', 'अनन्य', 'ज्योतिस्वरूप' मानकर उसे एक ओर जहाँ योग एवं ज्ञान द्वारा ध्यानगम्य कहा है तो दूसरी ओर उसे रसरूप सगुण–साकार भी निरूपित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है । गोपिकाएँ कहती हैं कि 'जोगी' जिसे ज्योति के रूप में भजते हैं, उसी को हम प्रेम-पियूष-रूप श्यामसुन्दर मानकर अपने हृदय से लगाते हैं—

जोगी जोति भजै, भक्त निज रूपहि जानै ।
प्रेम-पियूषै प्रकट, स्यामसुन्दर उर आनै ।। -रसमंजरी

योग, ज्ञान, कर्म एवं भक्ति ये ब्रह्म-साधना के मार्ग हैं । इनमें से अंतिम मार्ग सर्वोत्तम एवं सुगमतम है । मानव के लिए योग, ज्ञान एवं कर्म कष्ट-साध्य साधन हैं । ज्ञानी इस माया-ममता के संसार में किसी भी क्षण मोह में पड़कर पथभ्रष्ट हो सकता है, पर भक्त के लिए पथभ्रष्ट होने का कोई कारण ही नहीं है । वह तो प्रपत्ति द्वारा भगवान् का अनुग्रह प्राप्त कर चुका है । भगवान् के सद्यः अनुग्रह से उसके संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण सभी कर्म अनायास ही नष्ट हो चुके होते हैं और वह तत्क्षण ही मुक्ति का अधिकारी हो जाता है—

कर्म मध्य ढूंढे सबै, किनहूं न पायौ देख ।
कर्म रहित हीं पाइयै, तातै प्रेम विसेख । -रसमंजरी, छंद-५

जीव को अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म बंधन में डालते हैं । पाप लोहे का बंधन है तो पुण्य सोने का । एक का फल कष्ट है तो दूसरे का स्वर्गीय सुख । इस कारण जीव अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के कर्म छोड़कर केवल भगवान् से प्रेम करे तो वह समस्त बंधनों से मुक्त हो सकता है—

कर्म पाप अरु पुण्य लौह सोने की बेरी । पायन बंधन दोउ मानौ बहु तेरी ।।
ऊंच कर्म तैं स्वर्ग है, नीच कर्म तैं भोग । प्रेम विना सब पचि मरै, विषय वासना रोग ।
-रसमंजरी, छंद-३

कभी-कभी किसी पद में दर्शन के साथ **'तिल-तण्डुलन्याय'** के अनुसार अन्य दर्शन कैसे घुल-मिल जाते हैं, उसका यह छन्द एक उदपहरण है । 'अर्हतदर्शन' कर्म-निर्झरा में मानता है । गत कर्मों को तो भोगना ही है, पर वर्तमान में कर्म-रहित हो जाओ, जिससे लोह एवं सुवर्ण दोनों में से कोई भी शृंखला बंधन कर्ता नहीं होगी । अप्रत्यक्ष रूप से कवि ने यहां अर्हत (जैन) दर्शन की ओर संकेत किया है, फिर पूर्व मीमाँसा दर्शन ईश्वर को नहीं मानता पर पुनर्जन्म तथा कर्म को प्रमुखता देता है । कवि ने इसका इसमें निरूपण किया है । तीसरा दर्शन वेदांत है, जिसमें सगुण परब्रह्म श्रीकृष्ण को प्रेमस्वरूप कहा गया है, वह प्रेमरूप होने से प्रेम द्वारा ही लभ्य है और वह प्रेम भी ऐकान्तिक, निःस्वार्थ प्रेम । कवि ने उपर्युक्त छन्द के अंतिम चरण में प्रेम को ही प्रमुखता देकर उपसंहार किया है । निःस्वार्थ प्रेम अपने आप में कर्म की निर्झरा ही है । क्योंकि साधक प्रेम के बदले ईश्वरानुग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, वह सर्वथा निरिच्छ रहता है ।

आचार्य शंकर के अतिरिक्त शेष सभी वेदान्ताचार्यों ने निर्गुण की अपेक्षा सगुण को सुष्ठुतर माना है, जिसके फलस्वरूप सूर ने उद्धव एवं गोपिकाओं के संवाद द्वारा इसी तथ्य को बलवत्तर-स्वर में 'भंवरगीत' नामक प्रसंग में प्रस्तुत किया है । सूर की ही भांति कवि नन्ददास ने भी अपने 'भंवरगीत' प्रसंग में निर्गुण की अपेक्षा सगुण ब्रह्म को भोगपरक (प्रवृत्ति-मूलक) जीवन व्यतीत करनेवालों के लिए सहज-आराध्य माना है । यों सूरदास, नंददास इत्यादि कवियों के 'भ्रमर-गीत' से संबद्ध काव्यों का मूल आधार 'श्रीमद्भागवत' हैं, पर यह विद्वानों के लिए आश्चर्य का विषय हैं कि भागवतकार मंगलाचरण में त्रिगुणात्मिका सृष्टि को माया कहता है एवं परम सत्य निर्गुण-निराकार को ही मानता है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेजावारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा ।
धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं सत्यं परं धीमहि । 'भागवत', १-१-१

अविद्या के कारण जैसे प्रकाश में जल का, जल में थल का एवं थल में जल का भ्रम हो जाता है वैसे ही इस त्रिगुणात्मिका सृष्टि को सत्य मान लेना भ्रम है । यहां शंकर का ही मायावाद प्रकट हुआ है, पर यह विचारणीय है कि आगे 'श्रीमद्भागवत' में सगुण परब्रह्म श्रीकृष्ण की ही लीलाओं का प्रमुख रूप में निरूपण हुआ है । 'ज्ञान की आँखों से देखें तो आतमा एवं चैतन्य के रूप में ब्रह्म अखिल विश्व में व्याप्त है, अतः सर्वत्र ब्रह्म ही को देखना चाहिए । लोहा, काष्ठ, पत्थर, जल-थल, आकाश, चर-अचर सभी में परब्रह्म, ज्योति-स्वरूप निर्गुण ब्रह्म ही प्रकाशित है । हे ब्रज-नारियों, तुम इस सत्य को समझो और किसी एक व्यक्ति में, जो नाम-रूपात्मक होने से नश्वर है-उसे ब्रह्म समझकर मोह में मत पड़ो—

वे तुम तैं नहिं दूरि, ग्यान की आंखिन देखौ ।
अखिल विस्वभर भूरि, ब्रह्म सब रूप बिसेखौ ।
लोह-दारु-पाषान में, जल-थल-माँहि अकास ।
सचर-अचर बरतन सवै, ज्योति ब्रह्म परकास ।
सुनौ व्रजनागरी । भंवरगीत

उद्धव की कठोर निर्गुण-वाणी से गोपियाँ झल्ला उठती हैं । वे उत्तर में उद्धव से कहती हैं कि उद्धव ! तुम किस ब्रह्म की ज्योति की बात कर रहे हो ? किस ज्ञान की चर्चा कर रहे हो ? हमारा तो प्रेममार्ग बड़ा सीधा है । हम तो श्यामसुन्दर को चाहती हैं । योग का मार्ग उसी को बताओ, जो उस तरफ जाना चाहता है । हम तो श्यामसुन्दर के 'प्रेम-पियूष' को छोड़कर रखिया समेटना नहीं चाहतीं—

कौन ब्रह्म की ज्योति ? ग्यान कासौं कहौ उधौ ?
हमरे सुन्दर स्याम, प्रेम को मारग सूधौ ।
× × ×
प्रेम पियूषै छांडिकै, कौन समेटे धूरि । भंवरगीत

नंददास भी श्रीकृष्ण के इसी प्रेम-रूप के उपासक थे । 'जन्माद्यस्य यतः'[1] इस जगत् का जन्म, पालन एवं संहार जिस परब्रह्म के द्वारा होता है, उसे उन्होंने सगुण 'नंद-नंदन' कहा है । वही सभी का आश्रय है । वही 'विश्व-प्रभव' है, वही 'विश्व-प्रतिपालक' है एवं वही 'प्रलय-कारक' है, वही मायापति है । वही परम अभिराम है एवं उदार है । उसके रूप, गुण एवं कर्म अपार हैं। जग उसका परम-लीला-धाम है । वही 'परम-हंसों' द्वारा दस इद्रियां, अहंकार, महत्तत्त्व, त्रिगुणात्मक एवं मन रूप कहा गया है-

दस इन्द्रिय अरु अहंकार, महत्तत्त्व त्रिगुण मन ।
यह सब मायाकार विकार, कहैं परम हंस गन ।
सो माया जिनके अधीन, नित रहत मृगी जस ।
विस्व प्रभव प्रतिपाल, प्रलय कारक आयुसवस ।
× × ×
षट्र गुन जो अवतार धरन नारायण जोई ।
सब कौ आश्रय अवधि भूत नंद-नंदन साई । -सिद्धान्तपंचाध्यायी

मृगी जैसे मायाधीन रहती है, मरुभूमि में प्रकाश में जल की भ्रांति से भ्रमित होकर भटकती रहती है, वैसे ही समस्त विश्व उस ब्रह्म की ही माया के वशीभूत है ।

१. ब्रह्मसूत्र, बादरायण व्यास, १-१-२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म स्वयं प्रकाश रूप है इसलिए उसे 'स्वराट्'[1] कहा गया है। वह सभी सुखों का कारण, विघ्न-हर्ता सगुण देव है। नंददास ने वल्लभ वेदान्त के अनुसार एक ओर जहाँ योगियों के लिए ध्यानगम्य 'ज्योतिर्मय' निर्गुण ब्रह्म का निरूपण किया है वहां दूसरी ओर उन्होंने सभी सुखों के कर्ता, विघ्न हर्ता, सगुण ब्रह्म की भी परम देवता के रूप में स्तुति की है। वल्लभ वेदान्त के अनुसार ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रयी है। वही निर्गुण भी है एवं सगुण भी है। नंददास ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म को इस प्रकार विरुद्धधर्माश्रयी निरूपित किया है—

जो प्रभु ज्योतिमय जगतमय, कारण-करण अमेय।
विघन हरण सब सुख करन, नमो नमो तिहि देव। अनेकार्थमंजरी

जीव-जगत् ब्रह्म रूप होने के कारण शुद्धाद्वैत वेदान्त को ब्रह्मवाद भी कहा गया है। नंददास ने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर ब्रह्मवाद को दुहराया है। उन्होंने परब्रह्म श्रीकृष्ण को सभी का कारण, प्रतिपालक संहारक एवं व्यक्त-अव्यक्त कहा है। उनके इस अनुपम विश्वरूप का निरूपण केवल वेद ही कर सके हैं। सभी पंचमहाभूत, देह, प्राण, इन्द्रियां एवं काल का विस्तार उसी परब्रह्म का परिणमन है। वही सर्वव्यापी, अव्यय ईश्वर है। प्रकृति, सत्त्व, रज एवं तम ये तीनों गुण, जीवन एवं जीव वही तो हैं। नंददास ऐसे करुणानिधि श्रीकृष्ण से केवल उनकी भक्ति एवं 'रति' माँग रहा है—

परम पुरुष सबहिन के कारन, प्रतिपालक तारन संघारन।
व्यक्त-अव्यक्त तू विश्व अनूप, बेद वदत प्रभु तुम्हारौ रूप।
तुम सब भूतन कौ विस्तार, देह, प्राण इन्द्री अहंकार।
काल तुम्हारी लीला श्रीधरु, तुम व्यापी, तुम अव्यय ईश्वर।
तुम ही प्रकृति सकल सव तुमहिं, सत, रज, तम जे लै लै तुम ही।
तुम ही जीवन तुम हीं जीव, सबठां, तुम कोउ अवर न बीच।[2]

× × ×

हे करुणानिधि करुणा कीजै, अपनी भाव-भगति रति दीजै। दशमस्कन्धभाषा, दशम अध्याय

नंददास ने कृष्ण एवं राम में अभिन्नता स्थापित की है। जो राम धनुप करधारी अवधेश हैं, वे ही व्रज-जीवन एवं माखन चोर हैं। उनके छत्र-चवर सिंहासन हैं तथा भरत, शत्रुघ्न एवं लक्ष्मण हैं तो इनके मोर-मुकुट, लकुटी और पीतांबर हैं और गायें हैं। उन्होंने सागर पर शिला तैराई थी तो इन्होंने गोवर्धन को अपनी कनिष्ठिका के नखाग्र पर धारण किया था। इस प्रकार कवि नन्ददास चकोर चंद्रवत् राम एवं कृष्ण दोनों को एक रूप मानकर भजता है—

वे अवधेश धनुषकर धारें, ए व्रज जीवन माखन चोर।
उनके छत्र-चंवर सिंहासन, भरत, शत्रुघ्न लक्ष्मण जोर।
इनके लकुटि मुकुट पीतांबर, निज गायन, संग नंदकिसोर।
उन सागर में सिला तराई, इन राख्यौ गिरि नख की कोर।
'नंददास' प्रभु सव तजि भजिए, जैसे निरखत चन्द चकोर। -नन्ददास, पृ. ४२९

जीव : शुद्धाद्वैत वेदान्त जीव को ब्रह्म स्वरूप नहीं, किन्तु अग्नि से विस्फुलिंगों की भांति ब्रह्म का अंश मानता है। इस प्रकार जीव एवं ब्रह्म का अंशी-अंश संबंध है। नंददास ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के

१. श्रीमद्भागवत् १-१-१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार ही जीवमात्र को अग्नि से अग्निकणों की भांति परिणमित कहा है। भगवान् श्रीकृष्ण ने जब देवकी के गर्भ से जन्म लिया तब शंकर, ब्रह्मा, शारदा, सभी देवता, मुनिगण, नारद इत्यादि उनके दर्शन करने के लिए आए। सभी को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि समस्त जगत् जिसके उदर में है, वह आज देवकी के गर्भ में विराजमान है। सभी ने देवकी-गर्भ-संभूत कृष्ण की स्तुति करते हुए कहा—हे श्रीकृष्ण! आप ही परमेश्वर हैं, सभी के नाथ हैं, सारा विश्व आपके अधीन है। अग्नि से विस्फुलिंगों की भांति हम सभी आपसे परिणत हुए हैं—

तदनन्तर संकर अज सारद, अवर अमर वर मुनिवर नारद।
आए दरसन हित वेर वेरे, अति मुद भरे अचंभे भरे।
जाके उदर मधि जग सबै, सो देवकी उदर मधि अबै।

× × ×

करि दंडवत महामुद भरे, इकह वेर सब पायन परे।
गद् गद् कंठ प्रेमरस भरे, अंजुलि जोरि स्तुति अनुसरे।

× × ×

तुम परमेश्वर सबके नाथ, विस्व समस्त तिहारे हाथ।
तुम ते हम सब उपजत ऐसे, अगिनि तें विस्फुलिंग गन जैसे। दशमस्कंध भागवत, पृ. २४१

उपर्युक्त पद का अंतिम अंश शुद्धाद्वैत वेदान्त के इस कथन का अनुवाद है—

'विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि'।[1]

नंददास ने आचार्य वल्लभ के सिद्धान्तों के अनुसार ही जीव-जगत् को ब्रह्म द्वारा परिणत कहा है। वे लिखते हैं—

अब हौं कहतु तुम्हरी चेरौ, तुमसे प्रकट जनम यह मेरौ।[3] दशमस्कंधभाषा, पृ. २६३

ब्रह्म के अंश रूप जीवात्मा के साथ रहनेवाला ब्रह्म का एक अन्तर्यामी रूप भी शुद्धाद्वैत वेदान्त में स्वीकृत है। नंददास ने इसी तथ्य को विशेष रूप में प्रकट किया है। वे कहते हैं कि देह पाप-पुण्यों से निर्मित है और संसारी जीव की विषय-विदूषित इन्द्रियाँ ब्रह्म के अन्तर्यामी स्वरूप के दर्शन नहीं कर कर सकती हैं। परब्रह्म अपने आनन्दांश से सभी जीवों के अंतःकरण में अन्तर्यामी के रूप में विद्यमान है—

आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामि रूपिणः ॥३३॥[2]

इसी अन्तर्यामी स्वरूप का निरूपण नंददास ने इस प्रकार किया है—

निपट निकट घट में तो अन्तरजामी आही।
विषै विदूषित इन्द्री पकरि सके नहिं ताहिं। रासपंचाध्यायी, पद-७२

जीव की व्याख्या करते हुए नंददास कहते हैं कि जो काल, कर्म, माया के अधीन है, वह जीव है। जीव ही विधि-निषेधों और पाप-पुण्यों में डूबा हुआ है। ब्रह्म ज्ञान-विज्ञान एवं प्रकाश रूप है। वही परम धर्म है अर्थात् ब्रह्म ही परम आराध्य है—

काल करम माया अधीन ते जीव बखाने।
विधि निषेध अरु पाप-पुन्य तिन में सब साने॥
परम धरम परब्रह्म ज्ञान-विज्ञान प्रकासी।
ते क्यों कहिए जीव सहस श्रुति शिखा निवासी। सिद्धांत पंचाध्यायी, पद-१८४

१, सप्रकाशस्तत्त्वदीपनिबन्धः, शास्त्रार्थ प्रकरण। श्लोक ३३, २. सप्रकाशस्तत्त्वदीपनिबन्धः, शास्त्रार्थ प्रकरण।

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'श्रीमद्भागवत' के मंगलाचरण के प्रथम छन्द में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करने के पश्चात् भागवतकार ने 'भागवत' में वर्णित विषय का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि इसमें ईर्ष्यारहित शुद्ध मनवाले निष्कपट संतों के परमधर्म का निरूपण किया गया है—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सताम्' श्रीमद्भागवत १-१-२७

यह परम-धर्म ही परब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है, जिसे भागवतकार ने प्रथम छन्द में **'सत्यं परं धीमहि** 'परम-सत्य' नाम से अभिहित किया है ।

जीव ऐकान्तिक प्रेम एवं प्रपत्ति के द्वारा जब ब्रह्म का नैकट्य प्राप्त कर लेता है तब उसका शुद्ध प्रेममय जीवन सांसारिक पंच भौतिक शरीर से कुछ भिन्न ही हो जाता है । वह जीव सत्य एवं आनंदरूप हो जाता है तथा ईश्वर के छः गुणों (षडैश्वर्य-गुणों) से विभूषित हो जाता है । गोपिकाएँ इसकी प्रत्यक्ष उदाहरण हैं । ऐसे जीवों को पुण्य-पाप, प्रारब्ध इत्यादि कुछ भी स्पर्श नहीं करता । वह संसार में जल-कमलवत् रहता है—

सुद्ध प्रेममय रूप पंचभूतन ते न्यारो । तिन्हैं कहा कोऊ कहै, जोति-सीं जगत उजारो ।।
जे रुकि गई घर अति अधीर, गुनमय सरीर बस । पुन्न-पाप-प्रारब्ध रच्यो तन नाहि पच्यौ रस ।।

—व्रजमाधुरीसार, रासपंचाध्यायी, पृ-५१

जीवन् मुक्त जीव भी परब्रह्म में लीन हो जाता है । वह देह से संसार में रहता है पर अन्तर से वह ब्रह्मलीन हो चुका होता है । उद्धव ने गोपिकाओं के प्रेम का निरूपण कृष्ण के सम्मुख किया तब 'सांवरे' कृष्ण के 'गात' का रोम-रोम गोपिका बनकर नाच उठा । उस समय प्रेम-रोमांचित कृष्ण कल्पवृक्ष थे तो व्रजवनिताएँ उसकी पत्नियां थीं । इस प्रकार प्रेम-विवश कृष्ण का अंग-अंग उल्लसित हो उठा । उन्होंने उद्धव से कहा : 'हे उद्धव ! मुझ में एवं गोपिकाओं में एक 'छिन' का भी अंतर नहीं है । जैसे तरंग एवं 'वारि' एक होते हैं वैसे ही मैं और गोपिकाएं अभिन्न हैं—

(अ) सुनत सखा के बैन, नैन भरि आये दोऊ ।
बिबस प्रेम आवेस रही, नाहीं सुधि कोऊ ।
रोम-रोम प्रति गोपिका, ह्वै रहे सांवले गात ।
कल्पतरोरुह सांवरो, व्रजवनिता भई पात ।
उलहि अंग-अंग तें । —भंवरगीत

(आ) मो मैं उनमें अन्तरौ, एकौ छिन भरि नाहि ।
ज्यों देखी भी माँझ तें, त्यों मैं उनही माँहि ।
तरंगिनि वारि ज्यों । भंवरगीत

सूर ने ब्रह्म एवं जीव-जगत् को क्रमशः सागर एवं बुद्बुदों से उपमित किया है तो नंददास ने 'वारि' एवं तरंगों से । माधुर्यभाव के निरूपण में भारतीय-संतों एवं भक्तों ने ब्रह्म को पुरुष (प्रति-प्रेमी) एवं स्वयं को नारी (पत्नी-प्रिया) के रूप में प्रस्तुत किया है । इस दृष्टि से सूर की अपेक्षा नंददास अधिक स्वाभाविक हैं । उन्होंने ब्रह्म को वारि एवं जीव (गोपिकाओं) को तरंग (नारी) से उपमित किया है।

नंदनंदन श्रीकृष्ण ही सच्चिदानंद सघन आनंदघन हैं । वे ही ईश्वर हैं । उनके भक्त-जीव-जगत् में रहते हुए भी उन्हीं की भांति रस-रूप हो जाते हैं, आनंदमय हो जाते हैं जैसे कि गोपिकाएँ—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सघन सच्चिदानन्द नन्द-नन्दन ईश्वर जस ।
तैसेई तिनके भगत जगत में भए भरे रस । –सिद्धांतपंचाध्यायी, नंददास

जगत् : नंददास ने जगत् के परिणमन के संबंध में शुद्धाद्वैत वेदान्त के अविकृतपरिणामवाद को ही स्वीकार किया है । ब्रह्म के सत् अंश से परिणमित यह जगत् सत्य है । ब्रह्म के सगुण स्वरूप की इन्द्रिय-ग्राह्य अभिव्यक्ति ही जगत् है । सगुण ब्रह्म ही मायादर्पण में प्रतिबिंबित होकर जीव-जगत् रूप में विलसित हो रहा है । शुद्ध वारि एवं कीच-मिश्रित वारी में जो अंतर है, वही अंतर निर्गुण एवं सगुण में भी समझना चाहिए । उद्धव ने ब्रह्म को निर्गुण कहा, तब उसके उत्तर में गोपिकाओं ने सगुण की प्रस्थापना करते हुए वेदान्त के बिम्बप्रतिबिम्बवाद को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ब्रह्म यदि निर्गुण ही था तो सगुण रूप इस जीव-जगत् का विस्तार कैसे संभव हुआ ? इसका उत्तर भी गोपिकाएँ ही देती हुई कहती हैं कि जैसे बिना बीज के वृक्ष पैदा नहीं होता, वैसे ही बिना गुण के सगुण जीव-जगत् कैसे परिणमित हो सकते हैं । सच तो यह है कि उस सगुण ब्रह्म की ही परछाहीं माया-दर्पण में पड़ी, जिसका रूप यह जीव-जगत् का विस्तार है—

जो उनके गुन नाहिं, और गुन भये कहां तें ।
बीज बिना तरु जमैं, मोहिं तुम कहौ कहां तें ॥
वा गुन की परछांह री, माया-दरपन बीच ।
गुन तें गुन न्यारे भये, अमल वारि मिलि कीच ॥
सखा सुन स्याम के । –भंवरगीत

जगत् के परिणमन के संबंध में नंददास ने आचार्य वल्लभ के ही विचारों को स्वीकार किया है । शुद्धाद्वैत वेदान्त में २८ मूल तत्त्व माने गए हैं, जिनसे सृष्टि का विस्तार होता है । ये तत्त्व हैं-पंच महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेंद्रियां, पंच तन्मात्राएँ, अहंकार, महत् तत्त्व (+बुद्धि) तीन गुण (सत्त्व, रज, तम) मन, प्रकृति और पुरुष–

रूप-गंध-रस-शब्द-स्पर्श जे पंच विषय-वर । महाभूत पुनि पंच पृथ्वी तेज पानी-अंबर-घन ॥
दस इन्द्रिय अरु अहंकार महत् तत्त्व त्रिगुण मन । यह सब मायाकर विकार कहैं परम हंस गन ॥
–दशमस्कंधभाषा

जीव-जगत् का विस्तार ब्रह्म अपनी माया द्वारा ही करता है । ब्रह्म सर्वज्ञ एवं जीव अज्ञ है—

लोक-सृष्टि सिरजत यह माया, तुम तें दूरि भल भई काया ।
हे सरवग्य, अग्य जन मेरे, जानैं नहिन धर्म प्रभु फेरे । दशमस्कंधभाषा

नंददास ने उपर्युक्त छन्द मे यह स्पष्ट कहा है कि 'लोक-सृष्टि' एवं 'काया' ब्रह्म से ही अलग हुई हैं। विविध नाम-रूपात्मक यह सृष्टि माया के कारण भिन्न प्रतीत होने पर भी तत्त्वतः यह ब्रह्म ही है और वह ब्रह्म कमल-नयन, जग-कारण, करुणार्णव, गोकुल-वासी श्रीकृष्ण ही हैं—

नाम-रूप गुण भेद तैं, सोइ प्रकट सब ठौर ।
ता बिनु तत्त्व नु आन कछु कहैं सो अति बड़ बौर । मानमंजरी

वल्लभ वेदान्त में जीव-जगत् की उत्पत्ति को लेकर वेदान्त के अविकृतपरिणामवाद को स्वीकार किया गया है । जैसे सुवर्ण निर्मित 'किंकिणी' 'कंकण' और 'कुण्डल' यथार्थ में कंचनरूप ही हैं । इनका नाम-रूपात्मक स्वरूप अयथार्थ है, वैसे ही जीव-जगत् भी यथार्थ में शुद्ध ब्रह्म ही हैं । जैसे सरिताएँ सागर

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
में मिलती हैं, समुद्र से 'जलधर' ऊपर उठकर बरसते हैं, अग्नि से अगनित दीप जल उठते हैं, वैसे ही संपूर्ण जीव-जगत् का विस्तार ब्रह्म से ही हुआ है—

ज्यों अनेक सरिता जल वहै, आन सबै सागर में रहै।
× × ×
ज्यों जलनिधि से जलधर जल तैं, बरखि हरखे अपनो कर ले।
अग्नि तैं अनगन दीपक बरैं, वहुरि आप सब तिन में रहे।
ऐसे ही रूप प्रेम-रस जो तुम, ते हैं तुम ही कर सोहै। —रसमंजरी

संसार : शुद्धाद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तानुसार नंददास ने जगत् को ब्रह्म का रूप एवं संसार को अविद्या-माया-जन्य कहा है। संसार माया-जन्य होने से ही असार है। इस असार संसार में श्रीकृष्ण के चरण-कमलों का 'स्पर्श-दर्शन' ही सार रूप है। श्रीकृष्ण ही परमात्मा, स्वामी, ब्रह्म एवं अन्तर्यामी हैं। अतः वे ही परम आराध्य हैं—

तव पद-पंकज दरसे-परसे, कौन पुन्य धौं मेरे सरसे।
अरु संसार-असार-अपार, सहज ही भयौ जु तांके पार।
तुम अपने परमातम स्वामी, ब्रह्मरूप सब अन्तर्यामी। —दसमस्कन्धभाषा

जीव को वहा ले जानेवाली संसार एक प्रचंड धारा है एवं दम घोंटनेवाला फांसी का फँदा है।[1] इनसे जीव को मुक्त करने के लिए ही करुणा-कर नंद-नंदन यहाँ अवतरित हुए हैं। सांसारिक वैभव बुद्धि को भ्रमित करनेवाला है। यह शरीर क्षणिक है, पर जीव इसे अमर मानता है। इस देह का परिणाम है क्रमि-विष्टा में डूबे रहना। इस देह को माता कहती है: 'मेरा है।' पिता कहते हैं: 'मेरा है।' पर यह तो या तो मरकर भूत बनेगी या नर्क में गिरेगी। इस सांसारिक देह का यही अंतिम परिणाम है।

इस प्रकार नंददास ने वल्लभाचार्य के मतानुसार ही जगत् को ब्रह्म-स्वरूप एवं संसार को अविद्या-जन्य एवं मिथ्या घोषित किया है।

माया : नंददास ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही माया को ब्रह्मवशा कहकर उसके विद्या एवं अविद्या दोनों रूपों का वर्णन किया है। सगुण ब्रह्म माया-दर्पण में प्रतिबिंबित होकर ही जीव-जगत् के रूप में विलसित हो रहा है।[3] सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण की मोह-मयी माया ने ही समस्त जगत् को मोहित कर रखा है।[4] नंददास ने स्पष्ट लिखा है कि २८ मूल तत्वों से परिणमित यह जगत् सगुण ब्रह्म की ही माया है। संसार का परिणमन, पालन एवं प्रलय माया द्वारा ही होता है।[5] श्रीकृष्ण की योगमाया ने समस्त जगत् को वशीभूत कर रखा है। वह नित्यस्वरूपा है एवं संपूर्ण जगत् उन्हीं का स्वरूप है—

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।[6]

वे नित्य एवं अजन्मा हैं तथापि देवताओं की कार्यसिद्धि के लिए प्रकट होती हैं। कल्प के अंत में जब संपूर्ण जगत् एकार्णव में निमग्न था तब भगवान् विष्णु शेषनाग की शय्या का आश्रय ले सो रहे थे, उस समय यही योगमाया 'योगनिद्रा' के रूप में उनमें बिराजमान थीं। विष्णु के ही कानों के मैल से

१. सिद्धांतपंचाध्यायी, नंददास, पृ. १८४, २. दशमस्कन्धभाषा पृ. २३९, २४०
३. दशमस्कन्ध भाषा, नंददास, पृ. ३१९
४. भँवरगीत, नंददास ५. दशमस्कंधभाषा, नंददास
६. मार्कण्डेयपुराण, देवीमाहात्म्य, दुर्गासप्तशती, प्रथम अध्याय, मंत्र, ६४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पन्न मधु एवं कैटभ नामक दैत्यों ने विष्णु के नाभिकमलस्थ ब्रह्मा को मारना चाहा तब विष्णु को जाग्रत् करने के लिए उनके नेत्रों में निवास करनेवाली इसी विश्व की अधीश्वरी, जगत् को धारण करनेवाली, संसार का पालन, संहार करनेवाली, तेजः स्वरूपा भगवान् विष्णु की अनुपम शक्ति योगमाया रूपी योगनिद्रा का ब्रह्मा ने स्तवन किया था। योगमाया की स्तुति करते ब्रह्मा कहते हैं—'जो जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, उन भगवान् को भी हे माता! तुमने निद्राधीन कर रखा है। मुझको, शंकर को एवं विष्णु को तुमने ही शरीर धारण कराया है। तुम विष्णु को शीघ्र जगाकर इन मधु–कैटभ असुरों को मार डालने की उनमें बुद्धि उत्पन्न कर दो—

यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत् ॥८३॥
सोऽपिनिद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वर। विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च ।८४।
प्रबोधं च जगत्स्वामी नीयतामुच्यतो लघु ॥८६॥ बोधश्चक्रियतामस्य हन्तुमेतौ महासुरौ ।[1]

इसके पश्चात् योगनिद्रा से मुक्त विष्णु ने अपनी जंघा पर रखकर चक्र से मधु–कैटभ के सिर काट डाले।[2]

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं योगमायापति हैं। विष्णु के पूर्णावतार हैं पर यह आश्चर्य का विषय है कि गोप वनिताओं की प्रेम–माया ने स्वयं उन्हें भी वश में कर रखा है और यह कोई अति अद्‌भुत बात भी नहीं, क्योंकि शुद्धाद्वैत वेदान्त में ब्रह्म विरोधी धर्मों का आश्रय है एवं भक्ताधीन है। वह निष्काम होने पर भी व्रज वनिताओं के लिए सकाम होता है तथा योगमायापति होने पर भी भक्तों के लिए, गोपांगनाओं के लिए प्रेम–वश होता है क्योंकि उनके प्रेम में विह्वल हुई वे नवलकिशोरियां लोक–वेद की सुदृढ़ शृंखला तोड़कर अर्धरात्रि में यमुना–तट पर उनसे मिलने के लिए आई हैं—

सकल विस्व अपबस करि सो माया सोहति है। प्रेममयी तुम्हरी माया सो मोहिं मोहति है॥
तुम जो करी सो कोउ न करै, सुनि नवल किसोरी। लोक–वेद की सुदृढ शृंखला तृन–सम तोरी॥

रासपंचाध्यायी, पृ. ५४

नंददास ने विद्या माया को 'अमल' विशुद्ध ब्रह्म शक्ति कहा है एवं अविद्या माया को कीच कहा है। उन्होंने शुद्ध जल से विद्या माया एवं कीचड़ से अविद्या माया को उपमित किया है और यह कहा है कि श्रीकृष्ण की कृपा से जीव अविद्या से मुक्त हो सकता है।[3]

मोक्ष : पुष्टिभक्ति–मार्ग में आचार्य शंकर की अभेद मुक्ति के स्थान पर भेद–मुक्ति ग्राह्य है। जिसमें परब्रह्म श्रीकृष्ण का जीव को सामीप्य, सारूप्य एवं सालोक्य आनन्द प्राप्त होता है। नंददास ने कृष्ण के सामीप्य के आनंद को कोटि–कोटि स्वर्गों के सुख से भी श्रेष्ठ माना है। पुष्टि–भक्ति में नित्यरास के आनंद को सर्वोत्तम मुक्ति माना है। रासलीला में जीव को श्रीकृष्ण के चरण–कमलों का सामीप्य प्राप्त होता है, अतः वही परम–मुक्तावस्था है, आनन्दावस्था है–

पद पंकज सन्निधि, तबं ही भए मुक्ति के पात्र ।[4]

'रास–रस–राशि' का अद्‌भुत आनंद अनिर्वचनीय है। यह आनंद शुक, सनकादि, नारद एवं शारद को अतिशय रूचिकर है–

यह अद्‌भुत रस–रासि कहत कछु नहिं आवै।
सुक सनकादिक नारद–सारद अतिशय भावै।[2] –रासपंचाध्यायी

१. मार्कण्डेयपुराण, देवीमाहात्म्य, दुर्गासप्तशती, प्रथम अध्याय, मंत्र–८३,८६, ८७
२. मार्कण्डेपुराण, देवी माहात्म्य, दुर्गासप्तशती, प्रथम अध्याय, मंत्र–१०३
३. भंवरगीत, (व्रजमाधुरीसार) पद–४ ४. दशमस्कन्धभाषा, नंददास

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रास के समय श्रीकृष्ण ने गोपिकाओं पर कृपा करके उनको अपने प्रेमालिंगन में आबद्ध कर लिया। उस क्षण उन गोपिकाओं को करोड़ों स्वर्गों का सुख एक साथ ही एक क्षण में मिल गया था। यह भी जीव की ब्रह्म-प्राप्ति की एक दशा है। जिसका वर्णन नंददास ने इस प्रकार किया है–

पुनि रंचक धरि ध्यान, पीय परिरंभ दियो जब।
कोटि सरग सुख भोग, छिनक मंगल भुगवे तब। –रासपंचाध्यायी

यह प्रेमा–भक्ति में प्रिय सान्निध्यावस्था रूपी जीवन–मुक्ति का स्वरुप है। पुष्टि सम्प्रदाय में यही उत्तमोत्तम जीव की स्थिति है। नंददास ने रासलीला–वर्णन में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य इन चारों मुक्ति अवस्थाओं का समावेश कर दिया है। साथ ही नित्यरास में गोपिकाओं द्वारा आस्वादित रास–रस को भी नित्य कहकर उन्होंने पुष्टि–भक्ति में स्वरूपानंद मोक्ष का भी प्रतिपादन कर दिया है। नंददास के साहित्य में चारों प्रकार की मुक्तियों का निरूपण इस प्रकार हुआ है–

सालोक्य मुक्ति : **इह वन दुर्लभ आइबो, इन्दुमति सुनि वात।**
जाकी रंचक रज–गरज, अज से मरि पचिजाता। –रूपमंजरी, पद–५६६

सामीप्य मुक्ति : **तब क्रम–क्रम वह सखी सुहाई, रचे रास मण्डल में लाई।**
मृदु कंचन मनिमय तहं धरनी, मन हरनी छवि परतन वरनी। सिद्धान्तपंचाध्यायी, पृ.१९२

सारूप्य मुक्ति : **कमल नैन करुनामय सुन्दर नन्द सुवन हरि।**
रच्यौ चहत रसराज इनहिं अपनी सहसरि करि। रूपमंजरी, पद–५५

सायुज्य मुक्ति : **तजत भई तिय सम तन सोई, ज्यों जीरन पर त्यागत कोई।**
ज्यों रवि और रवि की गरमाई, किरन मांझ हो रवि में जाई रूपमंजरी, पद–५५१

रूपमंजरी के देहत्याग करके कृष्ण के नित्यरास में प्रवेश पाने की स्थिति को पुष्टिभक्त कवि नंददास ने सूर्य की ऊष्मा एवं सूर्य की किरणों से उपमित किया है। जिस प्रकार सूर्य की ऊष्मा सूर्य की किरणों में होकर पुनः सूर्य में ही समा जाती है, वैसे ही रूपमंजरी अपने प्रिय कृष्ण से विलग हुई थी और पुनः उन्हीं में समा गई। इसके द्वारा नंददास ने लयात्मक सायुज्य मुक्ति का प्रतिपादन किया है।

गोलोक–वृन्दावन : शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार नंददास ने भूतलस्थ वृन्दावनधाम को नित्यलीला-धाम गोलोक का ही अवतरित रूप कहा है। वृन्दावन अति सुन्दर एवं सकल सिद्धिदायक है। वह परमात्म श्रीकृष्ण का ही 'चिद्धन' स्वरूप है। श्रीकृष्ण की ललित–लीला के लिए ही उसने जड़त्व का रूप धारण किया है। वहाँ रहनेवाले सभी कामादि रहित होकर लीला का अनुसरण करते हैं। परब्रह्म, परमात्मा, सर्वान्तर्यामी नारायण श्रीकृष्ण वहाँ नित्यलीला करते हैं एवं सदाकाल निवास करते हैं। इसी कारण इसके समक्ष वैकुण्ठ का वैभव भी कुंठित–सा प्रतीत होता है। इस प्रकार वृन्दावन चिद्धन रूप है एवं क्षण–क्षण नवीन प्रतीत होता है––

क्षणे–क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमाणीयतायाः –कालीदास

जो प्रतिक्षण नवीनता प्राप्त करता रहे, वही रमणीय कहलाता है। इस तरह वृन्दावन का सौंदर्य भी क्षण–क्षण में परिवर्तित होता रहता है, अतः वह परम रमणीय है और वहाँ श्रुतियाँ स्वयं भगवद् यश का गान किया करती हैं–

परमातम परब्रह्म सबन के अन्तर्यामी। नारायन भगवान धर्म कहि सबके स्वामी।

× × ×

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस अद्भुत गोपाल लाल, सब काल बसत जहं। ताही तैं वैकुण्ठ विभव कुण्ठित लागत तहं ॥

× × ×

श्री वृन्दावन चिद्घन छन-छन-छन छबि पावै। नन्द सुवन कौं नित्य सदन श्रुतिगन तिहि गावै ॥

रासपंचाध्यायी

नन्ददास ने वृन्दावन को ब्रह्म का ही चेतन स्वरूप कहा है। वृन्दावन के दर्शन का वही अधिकारी है, जो कृष्ण का सच्चा भक्त है। जब तक हमारी समस्त इन्द्रियां विषयों में आसक्त रहेंगी तब तक अन्तर्यामी कृष्ण के और उनके लीला-धाम वृन्दावन के दर्शन संभव नहीं। नंददास कहते हैं—

बिनु अधिकारी भए नांहिं वृन्दावन सूझै। रेनु कहां तैं सूझै जब लगि वस्तु न बूझै ॥
निपट निकट घट में जो अन्तरजामी आहीं। विषै विदूषित इन्द्री पकरि सकै नहिं ताहीं ॥

'जब लगि वस्तु न बूझै' का तात्पर्य है, जब तक जीव को अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक उसे न वृन्दावन के दर्शन प्राप्त हो सकते हैं, और न कृष्ण के ही।

मुरली : पूर्वमीमांसा दर्शन में शब्द को नित्य माना गया है, जिसके आधार पर, दार्शनिकों ने शब्द को भी ब्रह्म माना है--**'शब्दो वै ब्रह्मः'** तथा शब्द की इसी नित्यता को लेकर वैयाकरणियों ने **स्फोटवाद** की स्थापना की है और इसी स्फोटवाद के अनुकरण पर काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने काव्य की आत्मा **व्यंजना (ध्वनि, रस)** की स्थापना की है।

नन्ददास ने कृष्ण की मुरली को 'योगमाया' एवं उसके स्वरों को शब्द ब्रह्म के रूप में निरूपित किया है। मुरली की ध्वनि जीव को ब्रह्म का आह्वान है। **'तत्वमसि' 'तत्' (ब्रह्मणः) त्वम् असि'** तू उस ब्रह्म का अंश है, अतः तू उसका सामीप्य प्राप्त कर। इस प्रकार मुरलीनाद द्वारा ब्रह्म जीव को अपनी ओर आकृष्ट करता है। आचार्य वल्लभ ने मुरली को भगवान् की भक्ति का प्रतिरूप तथा नाद-ब्रह्म की जननी कहा है। यह मुरली भुवन-मोहिनी है एवं प्रबुद्ध जीव के लिए भगवान् का आह्वान भी है। गोपिकाओं पर कृपाकर के भगवान् ने इसी योगमाया के आह्वान द्वारा रासक्रीड़ा के लिए उनका आह्वान किया था। कृष्ण का मुरलीनाद, गोपिकाएँ एवं रास, इन तीनों तत्त्वों को हम आध्यात्मिक दृष्टि से इस प्रकार समझें कि परब्रह्म श्रीकृष्ण गोपिकाओं पर अनुग्रह करना चाहते थे, अतः वेणुनाद द्वारा उनका आह्वान किया—

तब लीनी कर कमल, जोग माया-सी मुरली।
अघटित घटना-चतुर, बहुरि अधरन सुर जु-रली।
जाकी धुनि तें निगम अगम, प्रगटित बड़नागर।
नादब्रह्म को जानि मोहिनी सब सुख सागर। -रासपंचाध्यायी, पद-५०

रास : वेणु-नाद श्रवण करते ही प्रबुद्ध जीव अपने घर में रुक नहीं सकता। घर अर्थात् संसार। वेणुनाद सुनते ही संसार की माता-पिता, सास-श्वसुर, पति-पुत्र इत्यादि की लोह श्रृंखला को तोड़कर गोपिकाएँ ऐसे दौड़ पड़ती हैं, जैसे सरिता सागर से मिलने दौड़ती हैं।

नन्ददास ने रास-रस को सभी रसों का सार तथा सभी वेदान्त सिद्धान्तों का निचोड़ कहकर उसे महारस के विरुद से विभूषित किया है--

सब रस को निर्यास (निर्वास), रास-रस कहिए सोई।
सकल सास्त्र-सिद्धान्त, परम एकान्त महारस।
जाके रंचक सुनत-गुनत, श्रीकृष्ण होत बस। —सिद्धान्तपंचाध्यायी,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नन्ददास ने रास में आध्यात्मिकता का आरोप करके उसे अलौकिक स्वरूप प्रदान किया है। उन्होंने रास के शृंगारपरक भावों को भी परब्रह्म कृष्ण के संसर्ग के कारण निर्मल बताया है।[8]

नन्ददास ने पूर्णपुरुषोत्तम कृष्ण के नित्यरास और इस लोक में कृष्ण के अवतार के समय के नैमित्तिक रास, दोनों का समन्वय करते हुए कृष्ण-गोपी रास का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि नित्य रास में कृष्ण के साथ रमण करनेवाली गोपिकाएँ नित्य हैं एवं रास का रस भी नित्य-नूतन तथा अद्भुत है--

नित्य रास-रस नित्य, नित्य गोपीजन वल्लभ। नित्य निगम जो कहत, नित्य नव तन अति दुल्लभ।।
यह अद्भुत रस-रास कहत कछु कहि नहिं आवैं। सेस सहस मुख गावै, अजहु पार न पावैं।।

रासपंचाध्यायी

जीव-जगत् का परिणमन ब्रह्म के लीला-विलास के लिए हुआ है, इसलिए जागतिक कार्य भी ब्रह्म की ललित-लीला ही है।

६. गोविंदस्वामी (गोविंददास[1]) :

जीवन : संगीतकला के मर्मज्ञ के रूप में गोविंदस्वामी अष्टछाप के कवियों में सुप्रसिद्ध हैं। अष्टछाप के कवियों में तीन कवि संगीतशास्त्र में विशेष निपुण थे-सूरदास, परमानंददास और गोविंदस्वामी। अकबरी दरबार के सुप्रसिद्ध संगीत सम्राट् तानसेन गोविंदस्वामी को गायनकला पर मुग्ध थे और प्रायः इनका संगीत सुनने के लिए आया करते थे।[2] 'वार्ता' में भी इन्हें गायन विद्या के आचार्य परमोच्च श्रेणी के गायक एवं उत्तम कवि के विरुद से विभूषित किया गया है।[3] इनके सिखाए पद लोग गो. विट्ठलनाथजी को सुनाया करते थे। इस प्रकार पुष्टिसंप्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् ये महावन से गोवर्धन चले गए। वहां वे कदम्ब वृक्षों के एक मनोरम उपवन में रहा करते थे जो स्थान आज भी 'कदमखंडी' के नाम से सुविख्यात है। गोविंदस्वामी का जन्म संवत् १५६२ में वर्तमान भरतपुर राज्य के आँतरी गाँव में हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। ये विवाहित थे और इनके एक पुत्री भी थी। कुछ समय तक गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के पश्चात, इन्हें विरक्ति हो गई और ये अपने गाँव से व्रज के महावन में रहने चले गए। वहीं वे शास्त्रोक्त विधि से सस्वर संगीत गाया करते थे। इनके पदों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि इन्होंने काव्य एवं संगीतशास्त्र का विधिवत् अभ्यास किया था।

'वार्ता' से ज्ञात होता है कि ये श्रीनाथजी के साथ हास्य-विनोद किया करते थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि इनकी भक्ति सखाभाव की थी। ये श्रीनाथजी के साथ खेला करते थे और उनके साथ ये बालसुलभ नटखटपन भी किया करते थे। गोवर्धन पर्वत पर इन्होंने परम विरक्त-भाव से जीवन व्यतीत किया था। एक बार इनकी पुत्री इनसे मिलने आई और कई दिनों तक साथ रही, पर इन्होंने उससे बातचीत तक नहीं की। पूछने पर इन्होंने उत्तर दिया कि मेरी वृत्ति केवल श्रीनाथजी में ही केन्द्रित है।

'वार्ता' में भी ऐसा भी उल्लेख है कि एक बार ये गोकुल के यशोदा घाट पर बैठकर प्रातःकाल के समय भैरव राग का आलाप कर रहे थे। राहगीरों में बादशाह अकबर भी उनके संगीत को सुन रहा था। आलाप पर मुग्ध होकर अकबर के मुँह से 'वाह-वाह' निकल पड़ा। गोविंदस्वामी को पता चला तो यवन के मुख से अपवित्र हो जाने के कारण वह राग उन्होंने कभी श्रीनाथजी के सम्मुख नहीं गाया।[4]

---

१. संप्रदाय में दीक्षित होने के बाद गो. विट्ठलनाथ ने 'गोविंदस्वामी' को 'गोविंददास' नाम दिया।

२, 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में अष्टसखान की वार्ता, गोविंदस्वामी

३. 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता में अष्टसखान की वार्ता, गोविंदस्वामी

४, 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', में अष्टसखान की वार्ता

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीगिरधरलालजी के १२० वचनामृत से यह ज्ञात होता है कि संवत् १६४२ की फाल्गुन कृष्ण ७ को इनका अवसान हुआ। गोवर्धन पर्वत की जिस कंदरा में इनका अवसान हुआ, वहाँ इनकी स्मृति में आज चबूतरा बना हुआ हैं।

काव्य : गोविंदस्वामी जैसे उच्चकोटि के गायक थे, उनकी रचना उतनी काव्य-गुण संपन्न नहीं है। उन्होंने श्रीनाथजी की कीर्तन सेवा करते हुए, कुछ पद गाए थे, वे ही आज हमें उपलब्ध हो सके हैं। इनके रचे हुए २५२ पदों का संग्रह संप्रदाय में विशेष रूप से सुप्रसिद्ध है। इनके लिखे २५२ पदों की एक हस्तलिखित प्रति मेरे गुरुवर डॉ. भ्रमरलाल जोशी के पास सुरक्षित है। ग्रन्थ 'अथ गोविंदस्वामी के पद लिख्यते' से प्रारंभ होता है। इस ग्रन्थ का राग विभास में प्रथम पद इस प्रकार है—

मदन मोंहन पिय भयौ न भोर
प्राचीदिस नहि असन देखियत, अस सुनियत नहि खग बन रोर।
ग्रहत कंठ परस्पर दम्पति पिय विश्लेष कातर अति जोर।
'गोविंद' प्रभु रसमत्त परस्पर, प्यारी के वचन लीयौ चितचोर।

यह पद संभोग शृंगार लीला से संबद्ध है। गोपी कृष्ण को वियोग भय से प्रभात होने पर भी आलिंगन से मुक्त नहीं कर रही है। इतनें संभोग रति का वर्णन है। ग्रंथ के अंत में 'इति श्री गोविंद-स्वामी के पद संपूर्णम्।। श्री शुभं भवतु।। मिति असाढ कृष्ण १०।। श्री संवत् १९०९ श्री।। यह पुस्तक लिखि श्री गोकुलजी मध्ये श्री बलदेवजी के मंदिर में सारस्वत ब्राह्मण सीताराम ने।। आज से ठीक १३१ वर्ष पूर्व इस पद-संग्रह की प्रतिलिपि तैयार की गई थी। मेरे गुरु डॉ. भ्रमरलाल जोशी के व्यक्तिगत पुस्तक संग्रह में स्वच्छ, सुवाच्य अक्षरों में यह प्रति सुरक्षित है। इस हस्तलिखित पांडु-लिपि में पदसंख्या १४, १६, २१, २७, ११८, २५१ शुद्धाद्वैत वेदान्त से सम्बद्ध है, जिन पर आगे विचार किया जा रहा है। सभी पदों के अंत में 'गोविंदस्वामी' की छाप है।

वेदान्त : ब्रह्म : गोविंदस्वामी भी रसनायक रस स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के ही परम संकीर्तक थे। ये भी अन्य अष्टछाप के कवियों की भांति गोपीजन वल्लभ रसरूप श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म मानते थे। श्रीकृष्ण 'रसिक-सिरोमनि' हैं और उन्होंने अपने नृत्य से त्रिलोक को विमोहित कर रखा है। उनके 'श्रीवत्स-लांछित' उरस्थल पर हार एवं कंठ में 'कौस्तुभमनि' समलंकृत हैं। 'धेनु-रेनु रंजित अलकावलि' मंडित उनके सौंदर्य का कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है—

आजु लाल पियारे छबि अति बनी।
विच-विच चारु सिखंड, बीच-बीच मंजरी नूतन बिराजनी।
धेनुं रेनुं रंजित अलकावलि, सगज गति सोंधेसनी।
मधुप जूथ उडि-उडि बैठन, सखि पारिजात अवतंसनी।
अंगदवलयकर मुद्रिका, खचितनगकटिपीतकांछे काछनी।
श्रीवत्स लंछ उर हार विषद सखी, कंठ लसत कौस्तुभ मनी।
त्रगज भवरी लेत सुधर ग्र ग्रताधिमकटिथुंगथुंगनि ग्वाल तालगति उघटनी।
'गोविंद' प्रभु त्रैलोंक विमोहतनिर्तत रसिकसिरोमनि।[1]

---

१. गोविंद स्वामी के पद (हस्तलिखित प्रति) पद-११६ डॉ. भ्रमरलाल जोशी की निजी पुस्तक, लिपिक-समय संवत् १९०९ गोकुल मध्ये। लिपिक : सारस्वत ब्राह्मण सीताराम। कुल पद संख्या-२५२।
(उपर्युक्त पद हस्तलिखित प्रति से लिया गया है, अतः पद में अर्थ कहीं न बैठता हो तो लिपिक का हस्तदोष समझा जाए।)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षीरशायी भगवान् विष्णु के उर पर भृगु ने लात मारी थी, वही 'श्रीवत्सलांछन' है। विष्णु ही कौस्तुभमणि धारण करते हैं। इन प्रयोगों से कवि ने श्रीकृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में निरूपित किया है। उनके नर्तन से तीनों लोक विमोहित हो रहे हैं अथवा तीनों लोकों का जन्म, पालन, लय 'जन्माद्यस्य यतः' रूप ब्रह्म-कार्य 'रसिक सिरोमनि' परब्रह्म श्रीकृष्ण का ही नर्तन है। 'बेंनु', 'रेंनु' पर अनुस्वार संगीत सापेक्ष्य है। इससे प्रतीत होता है कि ये पद कीर्तन के लिए हीं रचित हैं। व्रज में बाल रूप में लीलाएं करने वाले, त्रिभुवन की युवतियों के मन को मोहित करनेवाले, अपने 'नेंन-बेंन-रस' से मन्मथ को भी लज्जित करनेवाले एवं दीखने में नन्हे-से उदर में भी रानी यशोदा को 'सप्तद्वीप नवखंड' को दिखाने वाले श्रीकृष्ण ही गोविंदस्वामी के प्रभु हैं, परब्रह्म हैं। कवि अपने इष्टदेव के अलौकिक माहात्म्य से भली-भांति परिचित हैं। कृष्ण यशोदा का नन्हा-सा 'ढ़ोटा' है, फिर भी वह रसिक सिरोमणि है और युवतियों का मन मोहित करता है, एवं सारा ब्रह्माण्ड उसके उदर में विद्यमान है। शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार सारी सृष्टि ब्रह्म स्वरूप है, ब्रह्म रस-रूप है, रस-लीलाओं के लिए ही रिरंसा भाव से वह यहां अवतरित हुआ है, ब्रह्म सभी विरुद्धधर्मों का एवं ब्रह्माण्ड का आश्रयस्थान है इत्यादि शुद्धाद्वैत विषयक विचार एक ही पद में सहज ही में इस प्रकार अनुस्यूत हो गए हैं-

> अब ही ते ढोटा चितचोरत, आगें आगें कहा करौंगे।
> नेंकु बड़े किनि होउ बलि जाऊं, त्रिभुवन जुवतिन के मन हरौंगे ॥
> देखत के नहने से उदर में, सप्तदीप नवखंड।
> रांनी जसुमति कों दिखाई, सोई सांची अनुसरौंगे।
> 'गोविंद' प्रभु केजू नेंन बेंन रस सूचित मेरे जांन मनमथ सों लरौंगे ॥

गोविन्दस्वामी के पद-५८

कवि ने तृतीय पंक्ति में कहा है कि हे बालकृष्ण! आपने जो अपने उदर में माता यशोदा को सप्तद्वीप-नवखंड दिखाए हैं, वही वास्तव में आपका यथार्थ ब्रह्म स्वरूप है। मैं उसको भलीभांति समझ रहा हूं एवं उसी का अनुसरण कर रहा हूं।

गोविंद स्वामी ने पुष्टि भक्ति सम्प्रदाय के अनुसार अपने गुरु गोसाईं विट्ठलनाथ जी को भी श्रीकृष्ण का ही स्वरूप एवं अवतार माना है। गोसाईं विट्ठलनाथजी ने कलियुग के महापतित लोगों के निस्तार के लिए ही अवतार धारण किया है और उन्होंने पुष्टि संप्रदाय के अनुकूल श्रीनाथजी की 'सेवा-रीति-प्रीति' का भी विस्तार किया है—

> जो पै श्री विट्ठल रूप न धरते।
> तो कैसेक घोर कलियुग के, महापतित निस्तरते ॥
> सेवा रीति प्रीति व्रज जन की श्री मुख ते विस्तरते।
> श्री विट्ठलनाम अमृत जिनि लीनों, रसना सरस सुफलते।
> करति विसद सुनी जिनि श्रवणन, बिश्व विषे परहते।
> 'गोविंद' काजे दरसन, जिनि पायों उमगि-उमगि रस भरते ॥ गोविंदस्वामी, पद-२१

आचार्य वल्लभ के 'लीलाप्रवेश' के बाद गोसाईं विट्ठलनाथजी ने ही श्रीनाथजी के मंदिर की सेवा-व्यवस्था का सुव्यवस्थित रूप में 'मंडाण' किया था। इसी संदर्भ में श्रीनाथजी की दैनिक अष्ट झांकियों के लिए उन्होंने आठ कीर्तनकारों को नियुक्त कर 'अष्टछाप' की स्थापना की थी। इसका भी उल्लेख इस पद में 'सेवा रीति प्रीति व्रजजन की श्रीमुख ते विस्तरते' इस पंक्ति द्वारा गोविंद स्वामी ने किया है।

१. गोविंदस्वामी के पद, पद-५८, हस्तलिखित प्रति, डॉ. भ्रमरलाल जोशी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत् संसार : संसार विष सागर है। जीव का सांसार के विष रूप विषयों से मुक्त होना आवश्यक है। उसका अन्तर काम, क्रोध, अज्ञान–तिमिर से आक्रांत है। वह इस अध्यास से मुक्त होगा तभी उसे ब्रह्म–रस की उपलब्धि संभव है। कवि गोविंद स्वामी यमुना मैया से विनति कर रहा है कि वह उसे त्रिविध दोष (काम, क्रोध, लोभ) से मुक्त करके 'गोपाल–गुण–गान' में उसका चित्त स्थिर कर दे। जिससे वह सांसारिक अष्टव्याधियों के भय से मुक्त हो जाएगा और जब वह संसार से मुक्त हो जाएगा तब उसे भगवान् श्रीकृष्ण के यथार्थ स्वरूप के दर्शन होंगे। यह जीव एवं जगत् उन्हीं का अंश है, ऐसा ज्ञान स्वयमेव हो जाएगा—

श्री यमुनाजी यह विनती चित धरिये।
विष सागर संसार विषय संग, ते मोहि उद्धरिये॥
काम क्रोध अज्ञान तिमिर अति, उर अंतर ते हरिये।
तुम्हरे संग बसों निज जन संग, रूप देखि मन ठरिये॥
गाऊं गुन गुपाल लाल के, अष्ट व्याधि से डरिये।
त्रिविध दोष हरि के कालिंदी, एक कृपा कर ढरिये॥
'गोविंद'–दास यह वर मांगे, तुम्हारे चरण अनुसरिये॥ गोविंदस्वामी, पद–२६५

जगत् एवं संसार को भिन्न–भिन्न न बताने पर भी कवि ने संसार से मुक्ति मांगी है, जिससे प्रकट होता है कि वह ब्रह्म से जुड़ना चाहता है।

गोपी : गोविंदस्वामी ने सखी भाव से राधाकृष्ण की युगलोपासना की है, अतः उनकी भक्ति संयोग शृंगारमयी है। गोपिकाएं आत्मा एवं श्रीकृष्ण परब्रह्म के रूप में हैं। श्रीकृष्ण ने गोपिकाओं के मन को मोहित कर लिया है। श्रीकृष्ण के दर्शन के बिना अब उन्हे चैन नहीं—

मेरो मन मोह्योरी इन नागर।
कैसे मन धीरज धरों सुनि मेरी आली, बिनु देखे रह्यो न परे रूप सागर।
चितवति हंसनि चलनि चित चुभि रही, कोक कलागुन को है आगर।
'गोविन्द' प्रभु मदन–मोहन, पीय की यह प्रीति उजागर। गोविन्दस्वामी, पद१७२

गोविंदस्वामी के पद शुद्धशृंगारमयी प्रेमा–भक्ति के हैं, अतः उनमें यत्र–तत्र वेदान्त के तत्वों का ध्वनन मात्र हुआ है। घंटिका के बजने के पश्चात् कुछ काल तक अनुरणन होता है, वही ध्वनन है। साहित्य में भी उत्तम कोटि के काव्य में प्रायः इसी प्रकार का ध्वनन होता है। शब्द रस–सिद्ध कवि के काव्य में ही इस प्रकार का सामाजिकों को साधारणीकरण की मधुमति भूमिका तक पहुँचानेवाला ध्वनन उपलब्ध होता है, जो चिरंजीवी होता है। किसी सहृदय सामाजिक के हृदय में किसी काव्य का एक बार ध्वनन हो गया तो वह यावज्जीवन ध्वनित होता ही रहेगा। आलंबन, उद्दीपन एवं संचारियों की अनुकूलता पर वह सहज ही इस तरह उभर आएगा, जिस प्रकार आषाढ की प्रथम वर्षा से धरती के हृदय पर नन्हे–नन्हे दुर्वांकुर उभर आते हैं और अलता–मंडित, सनूपुर सुन्दरी के अलस–मंद पदाघात से कंटकित अशोक वृक्ष पर कलियां रोमांचित हो उठती हैं।

७. छीतस्वामी :

जीवन : छीतस्वामी को व्रजपति एवं ब्रजमंडल दोनों के प्रति अगाध प्रेम था। ब्रजधाम के प्रति इनकी आस्था से संबद्ध यह कथन सुप्रसिद्ध है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

अहो विधना ! तो पै अंचरा पसार मांगौं। जनम–जनम दीजो मोहि, याही ब्रज बसिबौ॥

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छीतस्वामी को ब्रजमंडल के प्रति इतना प्रेम है तो ब्रजपति के प्रति कितना प्रेम होना चाहिए ? इनके संबंध में 'भक्तनामावली' में उल्लेख है कि इनके नाम से जग भी पवित्र हो गया है—

रामानंद, अंगद, सोमू, हरिव्यास और छीत। एक-एक के नाम तें सब जग होय पुनीत॥

इनके इस संस्तुवन को पढ़कर भक्तिसूत्र का यह कथन याद आ जाता है—'पावयन्ति कुलानि पृथ्वीञ्च' ऐसे संत न केवल अपने कुल को अपितु, अपने जन्म से सारी पृथ्वी को भी पवित्रता प्रदान करते हैं।

छीतस्वामी कृष्ण के अनन्य भक्त थे। इनके पदों में गुरु एवं ईश्वर में अभिन्नता के भाव निरूपित हुए हैं—

'छीतस्वामी' गिरिधरन की विट्ठल तेइ पई, पई तेई कछु न संदेह।

अर्थात् गिरिधर कृष्ण एवं विट्ठलनाथजी में कोई अंतर नहीं है। छीतस्वामी ने मुख्यतः राधा-कृष्ण की विलास-लीलाओं का ही वर्णन किया है। इनके पदों में वर्णन-प्रधानता तथा चित्रमयता की प्रधानता है। इन्होंने राधा-कृष्ण की गुप्त लीलाओं का वर्णन इस रूप में किया है, मानो उन सभी लीलाओं के वे द्रष्टा हों। गुजरात के श्रेष्ठ एवं आदि कृष्णभक्त कवि नरसी के पदों की भी यही विशेषता रही है। **'चातुरी'** नामक पदों में राधा-कृष्ण की संयोगपरक रति-लीलाओं में नरसी स्वयं उपस्थित रहे हैं, एवं राधा-कृष्ण की रतिक्रीड़ा का आँखों देखा वर्णन उन्होंने **'चातुरी छत्रीसी'** एवं **'चातुरी षोडशी'** में किया है।[1]

छीतस्वामी का जन्म संवत् १५७२ के लगभग मथुरा में हुआ। ये प्रारंभ में शैवमतानुयायी थे और अकबर बादशाह के सुप्रसिद्ध मंत्री राजा बीरबल के पुरोहित थे। प्रारंभिक जीवन में छीतस्वामी मथुरा के प्रसिद्ध गुंडों में से थे और **'छीत चौबे'** के नाम से पुकारे जाते थे। एक बार ये गो. विट्ठलनाथजी के संपर्क में आए, तभी से ये उनके शिष्य हो गए। इन्होंने संवत् १५९२ में पुष्टि-संप्रदाय में दीक्षा ग्रहण की। पुष्टि-संप्रदाय में दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ये स्थायी रूप से गोवर्धन पर्वत पर ही रहने लगे। वहीं रहते हुए इन्होंने श्रीनाथजी की कीर्तन सेवा अपना ली। काव्य-संगीत में इन्हें बचपन से ही रुचि थी। आगे चलकर इनकी भक्ति एवं कीर्तन सेवा में निष्ठा देखकर गो. विट्ठलनाथजी ने इन्हें अष्टछाप में संमिलित कर लिया।

ऐसा कहा जाता है कि गो. विट्ठलनाथजी के अवसान के आघात को ये सहन नहीं कर सके और संवत् १६४२ में गोसाईजी के अवसान के बाद इन्होंने भी अपना शरीर छोड़ दिया। पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित होने के बाद ये गोवर्धन के 'पूंछरी' नामक स्थान पर रहा करते थे। वहीं आज इनका स्मारक भी विद्यमान है।

काव्य : इन्होंने कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं लिखा। इनके कीर्तन के लगभग २०० पद प्राप्त हो सके हैं। विविध कीर्तन संग्रहों में इनके पद संग्रहीत हैं। काव्य-कला की दृष्टि से इनके पद उत्कृष्ट न होने पर भी इनके पदों में कृष्ण की शृंगारलीलाओं के भाव इस प्रकार प्रकट हुए हैं—

भौर भये नव कुंज सदन ते, आवत लाल गोवर्धनधारी।
लटपटी पाग मरगजी माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी॥
बिन गुन माल बिराजत उर पर, नखक्षत द्वैजचन्द अनुरागी।
'छीतस्वामी', जब चितए मो तन, तब हौं निरखि गई बलिहारी॥ अष्टछाप-पदावली, पृ. २०८

१. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. भ्रमरलाल जोशी, पृ. ४६, ४७, ४८

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्ण ने रात्रिभर किसी गोपिका के साथ विहार किया है और प्रभात होने पर रतिचिह्नों से मंडित शिथिल गात्र होकर वे डगमगाती चाल से चले आ रहे हैं। रतिक्रीडा में गोपिका ने नखक्षत किया है, उससे भी वे विभूषित हैं। उपर्युक्त पद से यह प्रतीत होता है कि इन्होंने भी सूर की भाँति कृष्ण की शृंगार-लीलाओं का वर्णन किया है। उपर्युक्त पद में 'खण्डिता-नायिका' का वर्णन हुआ है।

वेदान्त : छीतस्वामी अन्य अष्टछाप के कवियों की भाँति रास-रसेश्वर परब्रह्म के ही अनन्य उपासक थे। शुद्धाद्वैत वेदान्त में 'ब्रह्मवाद' का सिद्धांत स्वीकृत है। ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है। जड़-चेतन, जल-थल, नीचे-ऊपर, आगे-पीछे सर्वत्र वही तो व्याप्त है। अज्ञानी उसे सांसारिक दृष्टि के कारण देख नहीं पाता है, पर ज्ञान दशा में साधक सर्वत्र ब्रह्म की ही सत्ता को व्याप्त देखता है 'सर्वं खलु इदं ब्रह्मः' यह सब कुछ दृश्यमान जगत्-जीव ब्रह्म ही है, ऐसी भक्त की ब्रह्म-दृष्टि हो जाती है। छीतस्वामी ने परब्रह्म श्रीकृष्ण एवं विट्ठलनाथ दोनों को अभिन्न माना है। उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया है और वे सर्वत्र कृष्ण के ही दर्शन कर रहे हैं। वे ही कृष्ण वपुधारी विट्ठलेश भी हैं—

आगे कृष्ण, पीछे कृष्ण, इत कृष्ण उत, कृष्ण। जित देखौं तित कृष्ण ही मइ री॥
मोर मुकुट कुंडल किरनि भरे। मुरली मधुर तान लेत नई-नई री॥
काछनी काछे लाल, उपरना पीत पट। तिहि काल ही शोभा चकित भई॥
'छीतस्वामी' गिरधरी विट्ठलेस वपुधारी। निरखति छवि अंग-अंग ठई री॥

छीतस्वामी-पदसंग्रह, पद-४१

छीतस्वामी श्रीकृष्ण के लीला पुरुषोतम व्रजवनिता-वल्लभ रूप एवं धर्म संस्थापक रूप दोनों रूपों के उपासक थे। वे एक ओर जहाँ 'राधा-रमन विहारी' गोपीनाथ' 'सुन्दर जसुमति-बाल' 'गोचारी गोविंद' 'गोपपति भावन मंजुल बाल' हैं तो दूसरी ओर वे 'दीनबंधु दयाल' 'कृपालु' एवं 'कृपानिधि भी हैं—

श्रीकृष्ण कृपालु कृपानिधि, दीनबन्धु दयाल।
दामोदर बनवारी मोहन, गोपीनाथ गुपाल।
राधारमन बिहारी, नटवर सुन्दर जसुमति बाल।
माखन चोर गिरिधर मनहारी, सुखकारी नन्दलाल।
गोचारी गोविन्द, गोपति भावन मंजुल ग्वाल।
'छीतस्वामी' सोई अब प्रकटे, कलि में वल्लभ लाल। -छीतस्वामीपदसंग्रह, पद-४२

छीतस्वामी एवं गोविंदस्वामी इन दोनों अंतिम अष्टछापी कवियों पर गुरु विट्ठलनाथ का अत्यधिक परिलक्षित होता है। दोनों कवियों ने समान रूप से गुरु गोसाई विट्ठलनाथ को कलिकाल में प्रकट परब्रह्म श्रीकृष्ण निरूपित किया है। उदाहरणार्थ छीतस्वामी का एक और पद द्रष्टव्य है, जिसमें उन्होंने गोपीनाथ, मदन-मोहन, कृष्ण नटवर को सकल जीवों के उद्धार के लिए, दनुजों के संहार के लिए, वल्लभ सदन में श्रीविट्ठलनाथ के रूप में प्रकट हुआ निरूपित किया है—

(अ) राधिका रमन गिरिवरधरन गोपीनाथ, मदन मोहन कृष्ण नटवर बिहारी।
रासक्रीड़ा रसिक ब्रज-जुवति प्रानपति सकल दुख हरन गो-गणन चारी।
सुख करन जगत करन नन्द-नन्दन, नवल गोपपति नारि वल्लभ मुरारी।
'छीतस्वामी' सकल जीव उधरन हित, प्रकट वल्लभ सदन दनुजहारी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

-छीतस्वामीपदसंग्रह पद-५३

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(आ) हम तो विठ्ठलनाथ उपासी ।
सदा सेउं श्री वल्लभ नन्दन, जाइ करौं कहा कासी ।
उन्हें छांडि जो औरे ध्यावै, सो कहिये असुरासी । –छीतस्वामीपदसंग्रह–५३

छीतस्वामी के पदों में जीव, जगत्, संसार, माया इत्यादि विषयक विचार विशेष रूप में निरूपित नहीं हुए हैं । उन्होंने सर्वत्र प्रभु के परम अनुग्रह भाव की ही बड़ी दीनता के साथ याचना की है । वे परमात्मा से एवं विधाता से यही आँचल पसार कर अनुग्रह की याचना करते हैं कि उन्हें सदा जन्म-जमान्तर में व्रज में ही अहीर जाति में जन्म मिले । उनका घर नन्द बाबा के घर के समीप हो, जिससे वे हर घड़ी श्याम के दर्शन कर सकें, उनके साथ हंस–खेल सकें । श्रीकृष्ण ने जिन व्रज की गलियों में गोपिकाओं के अंग–अंग को झकझोर करके शिथिल करके, प्रेम वश करके दधिदान माँगा था। उन गलियों की रज का वह स्पर्श करके सदा आनंदित रहना चाहता है । जब श्री विट्ठलेश श्रीकृष्ण शरद पूर्णिमा की रात्रि को गोपिकाओं के साथ 'रस–राग' लीला करते हों तब वह भी उस निरवद्य लीला के दर्शन करना चाहता है––

अहो विधना ! तो पै अंचरा पसारि मांगौं । जनम–जनम दीजो मोहि याही व्रजवसिवो ।
अहीर की जाति समीप नन्द घर हेरि–हेरि, स्याम सुभग घरी–घरी हंसिवो ।
दधि के दान मिस व्रज की वीथिन, झकझोरन अंग–अंग को परसिवो ।
'छीतस्वामी' गिरिधरन श्रीविट्ठल, सरद रैनु रस–रास विलासियो । –छीतस्वामीपदसंग्रह–४३

मोक्ष की दृष्टि से विचार करें तो यह सदेह, सान्निध्य, सामीप्य मुक्तावस्था की याचना ही कहा जाएगा। कवि छीतस्वामी व्रज में गोवर्धन पर्वत पर स्थित श्रीगोवर्द्धननाथजी (श्रीनाथजी) के मंदिर के कीर्तनीया थे । वे सदा काल एवं सभी जन्मों में इसी प्रकार परब्रह्म का सेवा–सान्निध्य लाभ प्राप्त करना चाहते हैं ।

८. चतुर्भुजदास :

जीवन : चतुर्भुजदास का जीवनवृत्त 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' और 'अष्टसखान की वार्ता' संख्या–७ में दिया गया है । उपर्युक्त ग्रंथों के आधार पर चतुर्भुजदास के जीवनवृत्त एवं उनके कृतित्व के विषय में जो कुछ तथ्य उपलब्ध हो सके हैं वे यहां प्रस्तुत किए जाते हैं। चतुर्भुजदास अष्टछाप के वयोवृद्ध कवि कुंभनदास के सातवें पुत्र थे । चतुर्भुजदास के छः बड़े भाई थे, पर वे पिता के प्रतिकूल चला करते थे । चतुर्भुजदास बचपन से ही पिता के अनुकूल रहा करते थे । इनका जन्म संवत् १५८९ में गोवर्धन के पास 'जमनावती' गांव में हुआ । दस वर्ष की आयु में ही अपने पिता की आज्ञा से इन्होंने गो. विठ्ठलनाथजी से पुष्टि–सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली । चतुर्भुजदास बचपन से ही अपने पिता के प्रत्येक काम में सहयोग देते रहे थे । खेती–बाड़ी, घर के काम एवं श्रीनाथजी की कीर्तन–सेवा में भी वे सदैव अपने पिता की सहायता करते रहते थे । उनको बचपन में ही काव्य एवं संगीत की शिक्षा प्राप्त हुई थी । अपने पिता के साथ श्रीनाथजी की कीर्तन सेवा में संमिलित होने के कारण अल्प–आयु में ही उत्तम रीति से ये पद रचना करने लगे थे । चतुर्भुजदास आशु कवि थे । एक बार रात्रि के समय अपनी झोंपड़ी से श्रीनाथजी के मंदिर के दीपक के दर्शन करके इनके पिता कुंभनदास ने पद की एक तुक का गान किया–

'वह देखो वरु झरोखन दीपक, हरि पौढे ऊँची चित्तरसारी । चतुर्भुजकीर्तन–संग्रह

यह सुनते ही चतुर्भुजदास ने तत्काल दूसरी तुक का गायन किया–

सुन्दर बदन निहारन कारन, राखे है बहुत जतन करु प्यारी । चतुर्भुजकीर्तन–संग्रह

इसे सुनकर जैसे संस्कृत के सुप्रसिद्ध गद्य कवि बाण को अपने द्वितीय पुत्र के मुख से––'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' पंक्ति सुनकर विश्वास हो गया कि यह पुत्र मेरे अपूर्ण 'कादम्बरी' गद्यकाव्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अवश्य पूर्ण करेगा, वैसे ही कुंभनदास को भी यह विश्वास हो गया कि उनका पुत्र भी निश्चित रूप से रसमग्न होकर श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा करेगा और पिता का यह विश्वास सही सिद्ध हुआ। इसके बाद चतुर्भुजदास ने जीवन-पर्यंत श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा करते हुए लीला-विषयक अनेक पदों की रचना की।

श्रीनाथजी की भक्ति, अनन्य सेवा-भावना और कीर्तन के उत्तम पदों की रचना के कारण चतुर्भुजदास गो. विट्ठलनाथजी के अत्यंत कृपापात्र बन गए थे। गो. विट्ठलनाथजी ने जब अष्टछाप की स्थापना की तब इन्हें बड़े आदर के साथ उसमें स्थान दिया गया।

चतुर्भुजदास का समस्त जीवन श्रीनाथजी की एकनिष्ठ कीर्तन-सेवा में ही व्यतीत हुआ। सं. १६४२ में जब गो. विट्ठलनाथजी का देहावसान हुआ तो यह हृदय विदारक आघात उनके लिए असह्य हो गया और उन्होंने भी अपने गुरु गो. विट्ठलनाथजी की स्तुति करते हुए लीला में प्रवेश किया।

काव्य : चतुर्भुजदास ने कीर्तन के स्फुटपदों की रचना की थी। संभवतः उन्होंने किसी स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना नहीं की। उनके पदों के तीन संग्रह--(१) चतुर्भुजकीर्तनसंग्रह, (२) कीर्तनावली और (३) दानलीला कांकरोली (मेवाड़) के विद्या-विभाग में सुरक्षित हैं। खोज रिपोर्ट में इनके नाम से 'मधुमालती', 'भक्तिप्रताप', 'द्वादशयश' और 'हित जू को मंगल' नामक ग्रंथों का भी पता चला है, पर इनकी प्रामाणिकता विचारणीय है।

चतुर्भुजदास की भाषा श्रुतिमधुर ब्रज भाषा है और इनका काव्य काव्यगुण संपन्न है। रचना में माधुर्य गुण की प्रधानता है। इनके भक्तिभाव की महत्ता का संस्तुवन करते हुए ध्रुवदास लिखते हैं--

परम भागवत अति भए, भजन मांहि दृढ़ धीर।
'चतुर्भुज' वैष्णवदास को, बानी अति गंभीर॥
सकल देस पावन कियो, भगवत जस बढ़ाई।
जहाँ-तहाँ निज एक रस, गाई भक्ति बड़ाई॥ भक्तनामावली, पद-४८, ४९

वेदान्त : चतुर्भुजदास भी शुद्धाद्वैत वेदान्त में सम्मान्य रस-स्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण के ही अनन्य उपासक थे। जो जैसा होता है, उसे वैसे ही भाव से उपलब्ध किया जा सकता है, यह एक शाश्वत मनोवैज्ञानिक सत्य है, जो न केवल मानव में अपितु प्राणिमात्र में तथा जड़ पदार्थों तक में देखा जा सकता है। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि लोहे से लोहा, तांबे से तांबा, सुवर्ण से सुवर्ण, चांदी से चांदी जुड़ते हैं। श्रीकृष्ण प्रेम स्वरूप है, अतः वे अप्रेम से नहीं किन्तु प्रेम-रस से ही जुड़ सकते हैं। चतुर्भुजदास इस शाश्वत मनोवैज्ञानिक तथ्य से सुपरिचित हैं। एक गोपिका ने रस-स्वरूप, रसिक गोपाल को, कुंवर कन्हाई को रस द्वारा ही रिझा लिया हैं। उसने रसीली बातों से रसनिधि गिरिधर को न केवल हृदय-रस में अपितु अपने हृदय से भी लिपटा लिया है। शुद्धाद्वैत वेदान्त की दृष्टि से यह तद्रूप मिलन मुक्ति है--

रस ही में वश कीने कुंवर कन्हाई।
रसिक गोपाल रस ही रीझत; रस मिस रस त्यज भाई॥
प्रिय को प्रेमरस सुन्यौ है, रसीलीं बात रसमय वचन सुखदाई।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर सब रस निधि, रसता मिलि है रहसि हृदय लपटाई॥

चतुर्भुजदास-पदसंग्रह, पद-११९

'सब रस-निधि' कथन द्वारा कवि ने लौकिक-अलौकिक सर्व रसों का आदि कारण परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं एवं 'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्' माधुर्य के अधिपति भगवान् रासरसेश्वर नट नागर लीला पुरुषोत्तम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीकृष्णचन्द्र का हंसना, बोलना, उठना, बैठना, उनकी बंसुरी, वृन्दावन, उनके द्वारा परिणमित जीव-जगत् सभी कुछ माधुर्य से ही आपूर्ण हैं, परिपूर्ण है, ओतप्रोत है, ऐसा कहा है। बंसुरी का स्वर जीव के लिए ब्रह्म का आह्वान है। पुष्टिजीव गोपिकाएँ बंसुरी का नाद सुनते ही विवश होकर कृष्ण से मिलने अर्धरात्रि में भी दौड़ पड़ती हैं। एक गोपिका दूसरी गोपिका से यह पूछ रही है कि हे गोपिका! यह तो बताओ कि श्रीकृष्ण ने मुरली के सुमधुर नाद द्वारा तुम्हें कैसे विवश कर दिया ? कवि चतुर्भुजदास का ध्यान भी 'रसाल वेनु'-की ओर ही है। कवि भी मुरली की भाँति सदा श्रीकृष्ण के अधरों के सम्मुख रहकर 'सुखनिधि' लूटना चाहता है। गिरिधारीलाल ने जड़ बंसुरी पर अनुग्रह किया, वैसा ही वह उस पर भी कर दे तो उसका जीवन आप्तकाम हो जाए—

नेकु सुनावहु हो उहि रीति।
जिहि विधि अमृत प्याय स्रवनं पुट सरवस लीनो जीत।

× × ×

लाग्यो ध्यान चतुर्भुज प्रभु मोहि तुम्हारे वेनु रसाल।
राखहु दास अधर ज्यों सम्मुख, सुखनिधि गिरिधरलाल। चतुर्भुजदास-पदसंग्रह, पद-७८

जीव : चतुर्भुजदास ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही जीव-जगत् को ब्रह्म का ही अंश बताया है। परब्रह्म रसरूप है एवं जीव भी उसका रसांश है। सागर में जैसे बूंद मिल जाती है, वैसे ही जीव भी रस-निधि में मिलकर रसमय बन जाता है। 'रसमिस रस त्यज भाई'[1] कथन द्वारा कवि यह कहना चाहता है कि परब्रह्म रस-स्वरूप श्रीकृष्ण को पाने के लिए संसार के वैषयिक रस छोड़ने होते हैं।

संसार : कवि चतुर्भुजदास ने अष्टछाप के अन्य कवियों की भाँति एवं शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुरूप संसार को क्षणिक एवं त्याज्य माना है।[2] श्रीकृष्ण के अनुग्रह को, उनकी प्रेमलक्षणा ऐकान्तिक भक्ति को प्राप्त करने के लिए लौकिक रसों के त्याग की बात कवि चतुर्भुजदास ने बारंबार दुहराई है। गोपिकाएं इसकी उदाहरण हैं। उन्होंने सांसारिक विषय, सांसारिक संबंध सुत, पति, माता, पिता इत्यादि का त्याग करके ही परब्रह्म श्रीकृष्ण को हृदय से लिपटाया है। श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति में फिर गोपिकाओं के लिए केवल श्रीकृष्ण की प्रीति ही 'धर्म' शेष रह गया है—

गोपाल को मुखारविंद देखि जी जै।

× × ×

धर्म कर्म लोक लाज सुत पति तजि धाई।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर मैं जांचे री माई। चतुर्भुजदास-पदसंग्रह-२८

गोपिका का श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भाव श्लाघ्य है। 'गिरिधर मैं जांचे री माई' हे सखि! मैंने श्रीकृष्ण से प्रेम करके यह 'जाँच' लिया है कि जगत् में वे ही एकमेव प्रेमाराध्य हैं। उनसे कभी कपट, धोखा, छल-छद्म, एवं तलाक की संभावना नहीं है, जब कि संसार में प्रायः ऐसा ही होता है।

चतुर्भुजदास ने आचार्य वल्लभ के अनुसार जगत् एवं संसार के भेद को स्पष्ट नहीं किया है; पर माता, पिता, पति, बंधु, वेद-विधि इत्यादि सभी सांसारिक संबंधों को 'जंजाल'[3] (माया जाल) कहा है। जीव को सिर्फ एक ही नाम 'गोपाल' भजना चाहिए। एक गोपिका कहती है कि उसके चित्त में तो श्रीकृष्ण का 'श्याम-स्वरूप' भलीभाँति 'चुभ गया' है। श्रीकृष्ण ने प्रेमपूर्वक जब उसके सामने देखा तो

१. चतुर्भुजदास पदसंग्रह, पद ११९, २. चतुर्भुजदास पद संग्रह, पद-११९

३. जंजाल = जगत् + जाल का अपभ्रंश रूप = जंजाल, लक्षणा से 'मायाजाल'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके विशाल नेत्र उसके अन्तःकरण में खुब गए हैं । अब वह इस तन से श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को भी नहीं चाहेगी—

एक ही आंक जपे गोपाल ।
अब यह तन जाने नहि सखि, और दूसरी चाल ।
मात पिता पति बंधु वेद विधि, तजै सबै जंजाल ।
स्याम सुरूप चित्त में चुभ्यो, पर बीत्यो बहुकाल ।
गह्यो नेहु तिन तोरि जबै, हंसि चितये नैन बिसाल ।
'चतुर्भुजदास' अटल भए उरघट, परसी-परसी गिरधारीलाल । चतुर्भुजदास पदसंग्रह, पद-३६

मोक्ष : 'चतुर्भुजदास-पदसंग्रह' के पद-७९ में 'राखहु दास अधर धों सम्मुख सुख निधि गिरिधर लाल' कवि ने गिरधर लाल से प्रार्थना की है कि वह जैसे मुरली को सम्मुख रखता है, अधर पर रखता है, वैसे ही उसे भी रखे । इससे स्पष्ट होता है कि कवि चतुर्भुजदास सान्निध्य मुक्ति को ही सर्वाधिक चाहते थे । एक गोपिका की अन्य माधुर्योक्ति में भी कवि ने स्वयं को मोहन के निकट रखने की कामना प्रकट की है । 'हे श्याम ! देखो, वादल कैसे झुक आए हैं । ये मुझ पर हावी हो रहे हैं, आक्रमण कर रहे हैं । ये अनंग के प्रबलतम सैनिक हैं । देखिए मेरी 'चूनरी भी नई-नई है । भीग जाएगी तो इसका सारा रंग ही बिगड़ जाएगा इसलिए मुझे आप अपने पीत-पट की ओट में ले लीजिए । 'दामिनी' भी मदन की प्रचंड अमोघ शक्ति है । उससे भी मैं भयभीत हूँ । हे गिरधर, तुझसे स्नेह ऐसा बँध गया है कि इस समय प्रचंड आक्रमक मदन से रक्षा के लिए निःसंकोच होकर एकमात्र तुझे ही पुकारा जा सकता है—

स्याम सुन नियरे आयो मेहु ।
भींजेगी मेरी सुरंग चुनरी, ओट पीत पट देहु ।
दामिनि ते डरपत हौं मोहन, निकट आपनो लेहु ।
दास 'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर सों, वाध्यो अधिक सनेह । चतुर्भुजदास पदसंग्रह, पद-८१

इस पद में भी सान्निध्य सदेह मुक्ति अवस्था ही निरूपित हुई है । गोपिका यही कहती है कि आप मुझे अपने निकट ले लीजिए । यहां शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव ब्रह्म का ही अंश है, ऐसा भी ध्वनित होता है । 'नियरे' व्रजभाषा का शब्द है, जिसका अर्थ 'निकट', समीप होता है । अंग्रेजी का 'नियर' शब्द तुलनीय है । यह तो सर्वविदित है कि हिन्दी एवं अंग्रेजी दोनों एक ही भाषा परिवार-'भारोपीय भाषा-परिवार' की आधुनिक भाषाएँ हैं ।[१]

एक और अन्य पद में कवि ने कृष्ण के नैकट्य की कामना की है । एक गोपिका कृष्ण से कहती है कि हे गुणसागर गिरधर प्रभु ! जैसे आप मीठे स्वर में गाते हैं वैसे ही मुझे भी सरस सारंग राग मुरली पर गाना सिखा दीजिए । आपका मुरली नाद-संगीत ऐसा श्रुति मधुर होता है कि खग, मृग,पशु, कुलवधू, देव, मुनि सभी की गति को वह भुला देता है । यदि आप यह न कर सकें तो आप स्वयं ही अपनी अधर-सुधा से मेरे श्रवण-पुटों को परिपूर्ण कर दीजिए—

ऐसे हि मोहू क्यों न सिखावहु ।
कैसे मधुर-मधुर कल मोहन, तुम मुरलिका बजावहु ।
सारंग राग सरस नन्द-नन्दन, सँजि सप्तक सुर गावहु ।
× × ×

१. हिन्दी भाषा का इतिहास, धीरेन्द्र वर्मा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खग मृग पशु कुलवधू देव मुनि, सबकी गति बिसरावहु ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर गुन सागर, जो तुम यह न बनावहु ।
तो बहुरि आपु ही अधर सुधा, स्रवन पुट प्यावहु ॥ चतुर्भुजपदसंग्रह, पद-८०

किसी प्रेमोन्मत्ता गोपिका का 'दधि लो' के स्थान पर 'गोविंद लेहु' 'गोविंद लेहु' कथन भी सायुज्य मुक्ति–अवस्था के अनुरूप ही है––

आज सखी तोहि लागी है यह रट ।
'गोविन्द लेहु, लेहु कोई गोविन्द' कहति फिरत बन में औघट घट ।
दधि को नाम बिसरि गयो देखत, स्याम सुन्दर ओढ़े पीत पट ।
मांगत दान ठ़गोरी मेली, 'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर नागर नट । चतुर्भुजदासपदसंग्रह–१२१

रास : रस स्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण की रस–लीलाओं में 'रास' सर्वोत्तम है । सभी पुष्टि जीव अंत में भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य रासलीला में ही स्थान प्राप्त करने की कामना करते हैं । चतुर्भुजदास ने भगवान् श्रीकृष्ण की रासलीला का अतीव मर्मस्पर्शी वर्णन किया है । रासलीला देखकर चन्द्रमा भी अपनी गति भूलकर स्थिर हो गया है । इसके साथ ही पशु–पक्षी, पवन इत्यादि भी मुग्ध होकर इस अलौकिक रासलीला को देख रहे हैं––

(अ) 'चतुर्भुज' प्रभु स्याम–स्यामा की नटनि देखि ।
मोहे खग मृग वन थकित व्योम विमान ॥ चतुर्भुजदासपदसंग्रह, पद–३२

(अ) चतुर्भुज' प्रभु वन विलास, मोहे सब सुर अकास ।
निरखि थक्यों मृग चन्द रथहिं, पच्छिम नहिं खींचे ।
थक्यो चन्द मोहे खग मृग वन, प्रति धुनि अमित आन गति लावै । चतुर्भुजदास-पदसंग्रह २४

समस्त हिन्दी कृष्ण–काव्य का प्राण है, उसकी आध्यात्मिकता और आध्यात्मिकता का तत्त्व है, अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त निराकार चेतन तत्त्व, जिसे निर्गुण वेदान्त ने आत्मा, जीव, चेतन नाम दिए हैं तो सगुण वेदान्त ने कृष्ण । इस तरह चेतन का सही नाम आत्मा है तो कल्पित, मनगढ़न्त एवं आरोपित नाम है कृष्ण ।

हिन्दी कृष्ण–काव्य पर सगुण वेदान्त की दृष्टि से विचार करें तो ब्रह्माण्ड ही व्रज है, उसमें व्याप्त अखिल चेतन ही कृष्ण है और उसका अहर्निश विकसन, वर्द्धन, बृंहण ही सगुण लीला विलास है तथा कृष्ण–काव्य के गो, गोप, गोपिकाएं इस विकसित शाश्वत चेतना के ही विविध रूप हैं ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ।

पंचम अध्याय

अष्टछापेतर हिन्दी कृष्ण–कवि : जीवन, काव्य, भक्ति एवं वेदान्त

मुख्य कवि : (१) मीरां, (२) रसखान, (३) गवरी बाई, (४) भारतेन्दु हरिश्चंद्र, (५) मैथिलीशरण गुप्त, (६) जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (७) द्वारकाप्रकाश मिश्र ।

गौण कवि : (१) देव, (२) बिहारी, (३) अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', (४) रामधारीसिंह 'दिनकर' ।

ब्रह्म : (चेतन) निराकार वीज है । वह सकाम हुआ, उसका बृंहण हुआ, विविध नाम–रूपों में उसका विकास हुआ और फलतः ब्रह्माण्ड के रूप में वहीं साकार बना ।

साकार–ब्रह्म : विकास के जल–थल जीवों के विविध स्तरों में मंझता, संवरता, परिष्कृत एवं सुसंस्कृत होता हुआ मानव के रूप में आविर्भूत हुआ ।

कृष्ण : इसी आविर्भूत मानवीय चेतना–विलास का प्रतिनिधित्व करनेवाला श्रेष्ठ स्वरूप है । कवि, कलाकारों, पौराणिकों–एवं भक्तों के जगत् में यह विविधवेषी नट है, अभिनेता है । जो ब्रह्म भी है, एवं लौकिक प्रेमी भी है । कृष्ण समूचे मानव के रसोत्सवों, सुख–दुःखों को रूपायित करने वाला कल्पित नट है । समस्त जागतिक कार्य–सम्पदाओं की समष्टि अर्थात् कृष्ण ! कृष्ण अर्थात् भूत, वर्तमान एवं भविष्य का शाश्वत सामूहिक मानवीय–अमानवीय व्यक्तित्व । इतना हमारे गले उतर सके तो 'महाभारत' 'भागवत' 'गीतगोविंद' 'सूरसागर' 'मीरां' को समझना और स्वयं को समझ लेना सहज हो जाएगा । इसी को वेदान्त में स्वस्वरूपोपलब्धि कहते हैं । अपने स्वरूप (आत्म–स्वरूप, ब्रह्म–स्वरूप) को जानना ब्रह्मज्ञान एवं उसमें जीना ब्रह्म भाव है ।

सगुण वेदान्तियों का कृष्ण को वैयक्तिक अवतारी रूप देना अफीमची की भाँति बहकने–वहकाने के अतिरिक्त और शेष कुछ नहीं है । नशा उतरने के बाद अफीमची आसमान से धरती पर उतर आता है, वैसे ही पौराणिकी पाखण्डभक्ति के अंधविश्वास का पर्दा हटते ही जिज्ञासु वेदान्त की धरती पर उतर आता है—**'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** (ब्रह्मसूत्र–१–१–१,बादरायण व्यास) **'ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' 'ज्ञानी च भरतर्षभ'** । केवल ज्ञानी, वेदान्ती ही मुझे (आत्मा को) पा सकता हैं । 'गीता'–श्रीकृष्ण ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ॥

पंचम अध्याय

अष्टछापेतर हिन्दी कृष्ण—कवि : जीवन, काव्य, भक्ति एवं वेदान्त

गत अध्याय में 'अष्टछाप के कवि, काव्य भक्ति एवं वेदान्त' विषय पर विचार किया जा चुका है। 'शुद्धाद्वैत–वेदान्त' एवं उसका ब्रह्मवाद ही अष्टछाप के काव्य का मेरुदण्ड है। आचार्य शंकर के केवलाद्वैत–वेदान्त एवं मायावाद तथा योगदर्शन, सांख्यदर्शन की ज्ञानात्मिका निवृत्ति इत्यादि का निरूपण अष्टछापी कवियों के काव्य में या तो निषेध के रूप में हुआ है या फिर **'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति'**[1] के रूप में अपने आप ही सहज रूप में हो गया है। संसार की नश्वरता के संदर्भ में कहीं जगत् को माया–मिथ्या कह दिया गया है या फिर उसे 'संप्रदाय' में शरणापन्न होने से पूर्व की विचार–धारा ही समझ लेनी चाहिए। जैसे कि सूर कहते हैं—'मेरो मन अनत कहां सुख पावै। जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी फिरि जहाज पर आवै।[2] तात्पर्य यह कि—सूर का मन यावज्जीवन रह–रहकर जैसे बार–बार कृष्ण चरणों में ही समाश्रित होता रहा, वैसे ही अष्टछाप के कवियों का मन भी शुद्धाद्वैत वेदान्त एवं पुष्टिभक्ति पर ही अहर्निश मंडराता रहा है।

पुष्टिसंप्रदाय के अतिरिक्त भक्तियुग के राधावल्लभीय, चैतन्य इत्यादि वैष्णव संप्रदायों के कृष्ण काव्य में वेदान्त–निरूपण अपेक्षाकृत स्वल्प या किसी–किसी में तो नहींवत् हुआ है। उदाहरण के रूप में राधावल्लभीय–सम्प्रदाय मूलतः स्वामिनी राधा एवं उसके प्रेष्ठ श्रीकृष्ण की प्रेममूला भक्ति को ही स्वीकार करता है। राधा की रसोपासना के अतिरिक्त किसी दर्शन या वेदान्त के साथ अपने संप्रदाय को इसने संलग्न करना ही नहीं चाहा। इसी भांति चैतन्य महाप्रभु भी वेदान्त के मत–मतान्तरों के चक्कर से एकदम अलिप्त रहे हैं।

प्रस्तुत अध्याय में अष्टछापेतर हिन्दी कृष्ण कवियों के जीवन, काव्य, भक्ति एवं वेदान्त तथा मुख्यतः वेदान्त निरूपण विषय पर विचार किया जा रहा है। यों तो भक्तिकाल, रीतिकाल एवं आधुनिक काल का महद् अंशीय हिन्दी–साहित्य कृष्ण संबंधी है और शोधकर्ता को उसमें वेदान्त के तत्त्व भी, उपलब्ध हो सकते हैं, पर हम **'स्थालीपुलाकन्याय'** के अनुसार महत्त्वपूर्ण हिन्दी कृष्ण कवियों को ही अपने अध्ययन का विषय बना रहे हैं। प्रस्तुत अध्याय में मुख्य रूप में मीरां, रसखान, गवरीबाई, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', द्वारकाप्रसाद मिश्र एवं गौण रूप में देव, बिहारी, घनानंद, एवं दिनकर के काव्य पर विचार किया जा रहा है।

उपर्युक्त कवियों में से मीरां, रसखान, भारतेन्दु, हरिश्चन्द्र के काव्य में विशेषतः शुद्धाद्वैत वेदान्त के तत्त्व ही निरूपित हुए हैं क्योंकि इनका संबंध किसी न किसी रूप में व्रज के वैष्णव संप्रदायों के साथ रहा है। यों भारतेन्दु बाबू का घराना तो शुद्ध पुष्टि–भक्त था ही एवं वह वैष्णव आचार्यों द्वारा दीक्षित भी

---

१. 'गाँव जाते हुए कोई तिनके को छूता जाता है।' मुख्य काम गाँव जाना, गौण काम किसी का घर रास्ते में पड़ गया हो तो जरा देर रुक कर 'राम–राम' करते जाना। लक्षणा से 'तृण' का अर्थ अपने आप, सहज में, अनायास होनेवाले कार्य को लें।

२. सूरसागर, पद–१६८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा । कवि रसखान व्रज, व्रजभूमि एवं व्रजपति के ऐसे अनन्य आशिक थे कि उनके लिए जैसे अखिल भारतीय उर्दू सम्मेलन 'कलकत्ता' के अधिवेशन में अध्यक्ष ने प्रेमचन्द के लिए कहा था : 'अरे ! हम छः करोड़ मुसलमानों में से एक भी ऐसा नहीं, जो इस काफिर से उर्दू जबान छीन ले'[1] वैसे ही भारतेन्दु बाबू ने ऐसे महाभाग एवं परम भागवत मुसलमानों के संबंध में भी बड़े गौरव एवं आदर के साथ कहा था : **'इन मुसलमान हरिजनन पै, कोटिन हिन्दू वारिए ।'** आज कितने हैं, ऐसे मुसलमान जो भारतीय संस्कृति के आदर-सूत्रों के साथ मन-तन से जुड़े हैं ?

गवरी बाई के काव्य में योग, कैवलाद्वैत-वेदान्त, सांख्य-दर्शन की ज्ञानात्मिका निवृत्ति के स्वर अपेक्षाकृत अधिक मुखरित हुए हैं, फिर भी शुद्धाद्वैत वेदान्त का ब्रह्मवाद उनके काव्य में यथास्थान अवश्य उभर आया है । यहां हम क्रमशः उपर्युक्त सभी कवियों के जीवन-काव्य, भक्ति एवं वेदान्त निरूपण पर विचार प्रस्तुत करते हैं ।

१. मीरां :

जीवन : अष्टछाप के कवियों के पश्चात् हिन्दी कृष्ण-कवियों में भक्ति एवं लोक-कविता की दृष्टि से मीरां का अन्यतम स्थान है ।

भक्तिकालीन अन्य भक्तों एवं संत कवियों की भांति भक्त कवयित्री मीरां का जीवन भी विवादास्पद है । मीरां ऐतिहासिक है, पर इनके संबंध में कर्नल टाड इत्यादि इतिहासकारों ने जो कुछ लिखा है, उसे परवर्ती इतिहासकार पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मेवाड़ के सुप्रसिद्ध इतिहासकार एवं मेवाड़ के इतिहास **'वीरविनोद'**[2] के रचयिता कविराज श्यामलदास इत्यादि ने अप्रामाणिक ठहराया है । कर्नल टाड ने मीरां को मेवाड़ के महाराणा कुंभकरण की पत्नी बताया हैं, जबकि कुंभकरण का राज्यारोहण काल वि. सं. १४९० है[3] एवं मीरां के पति महाराजकुमार भोजराज के पिता महाराणा संग्रामसिंह (मेवाड़) का राज्यारोहण काल वि. सं. १५६५, ज्येष्ठ शुक्ल, ५ है ।[4] यह खेद के साथ लिखना पड़ता है कि निल्सन जैसे अंग्रेज विद्वान्, हिन्दी साहित्य के इतिहासकार शिवसिंह 'सेंगर', गुजराती साहित्य के इतिहासकार श्री त्रिपाठी इत्यादि ने भी बिना विशेष शोध के ही कर्नल टाड की मान्यता को यथावत् स्वीकार कर लिया है ।

'वीरविनोद' कर्नल टाड के बाद लिखा गया इतिहास-ग्रंथ है । इसमें मीरां के संबंध में इस प्रकार का उल्लेख है—**'महाराणा सांगा के पाटवी याने सब से बड़े पुत्र भोजराज थे, जिनकी शादी मेड़ता के मेड़तिया राजा वीरमदेव के छोटे भाई रत्नसिंह की बेटी व जयमल्ल के काका की बेटी मीरांबाई के साथ हुई थी । इन राजकुमार का देहांत महाराणा सांगा की मौजूदगी में हो चुका था, इसलिए राजकुमार रत्नसिंह जो राठौड़ बाघा की बेटी महाराणी धनबाई के पेट से पैदा हुए थे, भोजराज के मरने के बाद राज्य (मेवाड़) के वारिस बने ।'**[5]

---

१. कश्मीर विश्वविद्यालय के पर्शियन विभाग के अध्यक्ष का गुजरात विश्वविद्यालय के 'भाषा-भवन' में प्रदत्त सन् १९८२ के व्याख्यान से, श्रोताओं में डॉ. भ्रमरलाल जोशी

२. वीरविनोद (मेवाड़ का इतिहास) लेखक-कविराज श्यामलदास, ३६ पोइंट ब्लेक (श्री लाइन टाइप) में प्रकाशित, न्यूज पेपर साइज, चार भागों में प्रकाशित, लगभग १६ किलो वजन, पृष्ठ संख्या २६८५, प्रकाशक राज्यमंत्रालय, उदपुर, संवत् १९४३ मित्रवासर चैत्र शुक्ल १५, (ई. सन् १८८७), यह संपूर्ण वृहदाकार ग्रंथ मेरे गुरुवर डॉ. भ्रमरलाल जोशी के पास सुरक्षित है । यह भारत के प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रंथों में से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है एवं मेवाड़-राजवंश का प्रामाणिक इतिहास है ।

३. वीरविनोद, प्रथम भाग, पृ. ३१७, ४. वीरविनोद, प्रथम भाग, पृ. ३५४, ५. वीरविनोद, प्र. भा. पृ. ३७१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीरां के संबंध में 'वीरविनोद' में जो उल्लेख मिलता है, वह सर्वथा प्रामाणिक है, क्योंकि यह ग्रन्थ मीरां के ही श्वसुरकुल मेवाड़-राजवंश का वृहद् इतिहास है।

उपर्युक्त कथन से इतना स्पष्ट होता है कि मीरां का विवाह हिंदवा सूर्य मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह के ज्येष्ठपुत्र भोजराज के साथ सम्पन्न हुआ था। ये ही वे प्रबल प्रतापी महाराणा हैं, जिन्होंने बाबर के साथ खानवा की युद्धभूमि नें डटकर टक्कर ली थी। इस युद्ध में उनके अस्सी घाव लगे थे। एक आंख और एक हाथ भी जाता रहा था। राजपूत राजाओं में आपसी फूट न होती और इन महाराणा को यदि राजस्थान के अन्य क्षत्रिय राजाओं से सहायता मिल गई होती तो पृथ्वीराज चौहान के बाद मुगलों की नहीं किन्तु एक बार पुनः दिल्ली पर हिन्दू सूर्यवंशी राजवंश की पताका ही फहराती। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि मीरां के पिता का नाम रत्नसिंह था तथा वीरमदेव मेड़ता (मारवाड़) के राजा थे।

इसी 'वीरविनोद' में मीरां के संबंध में दूसरा उल्लेख इस प्रकार है—'**भोजराज, जो सोलंखी रायमल की बेटी के गर्भ से जन्मे थे, उनका विवाह मेड़ता के राव दूदा के पांचवे बेटे रत्नसिंह की बेटी मीरांबाई के साथ हुआ। मीरांबाई बड़ी धार्मिक और साधु- संतों का सम्मान करने- वाली थी। वह विराग के गीत बनाती और गाती। मीरां बाई महाराणा विक्रमादित्य व उदयसिंह के समय तक जीती रही और महाराणा ने उसको दुःख दियां, वह उसकी कविता में स्पष्ट है।**'[1]

उपर्युक्त कथन से ये तथ्य स्पष्ट हुए :

(१) मीरां के पति महाराज कुमार भोजराज थे और उनकी माता सोलंखी थीं एवं रायमल्ल की वे पुत्री थीं। राजवंशों में विवाहिता राजकुमारियां अपने मायके के राजवंश से ही पुकारी जाती हैं। जैसे साधारण परिवार में विवाह होने के पश्चात् कन्या जिस वंश में विवाहित होती है, उसी वंश के जाति-गोत्र-पदवी को उसे स्वीकार करना होता है, पर क्षत्रिय राजवंशों में ऐसा नहीं होता है। राजवंशों में विवाहिता का पैतृक स्वमान हर रूप में सुरक्षित रहता है। यहां तक कि उसका अन्तःपुर भी अपने आप में एक स्वतंत्र ईकाई होता है, जिस पर उसके पति राजा का भी अधिकार नहीं होता। राजा को भी रानी की आज्ञा लेने के बाद ही उसमें प्रवेश मिलता है। अपनी महारानी के अन्तःपुर में जबरदस्ती से घुसनेवाले राजाओं के महारानी के मायके के अंगरक्षकों ने सिर तक काट डाले हैं तथा विवाह के बाद जन्मभर अपने पति राजा का मुंह तक न देखने के उदाहरण राजस्थान के इतिहास मे मिलते हैं।[2] मीरां मेड़ता की थीं, इसलीए 'मेड़ती' या 'मेड़तनी' कही जाती हैं तथा 'राठोड़' वंश की थी, इसलिए 'राठोड़ी' भी कही जाती हैं।

(२) महाराज कुमार भोजराज का विवाह मेड़ता के राव दूदा के पांचवे पुत्र रत्नसिंह की पुत्री मीरां के साथ हुआ था।

(३) मीरांबाई धार्मिक थीं एवं साधु-संतों का सम्मान करनेवाली थीं।

(४) मीरां विराग के गीत बनातीं और गातीं। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि मीरां को संसार से विरक्ति हो चुकी थी। यह विरक्ति बचपन से ही थी या फिर पति के अवसान के बाद ? इस संबंध में कोई निश्चित नहीं कहा जा सकता। यों उनकी बचपन से ही गिरिधर गोपाल के प्रति भक्ति थी। मीरां विवाहित होकर चित्तौड़ गईं तब अपने इष्टदेव गिरिधर गोपाल को वह साथ लाईं थीं। हमारा अनुमान है कि अपने पति के अवसान के बाद ही मीरां के मन में संसार के प्रति पूर्ण वैराग्य जागा। कृष्ण के प्रति

---

१. वीरविनोद, द्वितीय भाग, पृ. ३६२ २. देखिए 'गोली' उपन्यास, आचार्य चतुरसेन शास्त्री

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बचपन से ही उनकी जो भक्ति थी, वह पति के अवसान के बाद वैराग्य में परिणत हो गई। गिरिधर गोपाल जो केवल भक्ति का विषय रहा, अब जीवन का विश्वास बन गया। हारील की लकड़ी की भाँति वह जीवन का संतुलन बन गया। मीरां का प्राण या श्वास भी गिरिधर ही बन गया। इस स्थिति में ही मीरां ने 'विराग' के पद गाने शुरू किए। मीरां 'विराग के गीत बनाती और गाती' इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मीरां पठित थीं। उसे भाषा, अलंकारशास्त्र इत्यादि का ज्ञान भी था।

(५) मीरां महाराणा विक्रमादित्य एवं महाराणा उदयसिंह के समय तक जीवित रहीं। इससे मीरां के जीवनकाल की अवधि का पता चल जाता है। मीरां महाराणा साँगा के पाटवी महाराज कुमार भोजराज की पत्नी थीं। अतः महाराणा साँगा से लेकर उदयसिंह तक की काल-अवधि कितनी है, यह जान लेना आवश्यक है—

	राज्याभिषेक-संवत्	मृत्यु संवत्		राज्याभिषेक-संवत्	मृत्यु संवत्
(१) महाराणा संग्रामसिंह	१५६५	१५८४	(३ महाराणा विक्रमादित्य	१५८८	१५९२
(२) महाराणा रत्नसिंह	१५८४	१५८८	(४) महाराणा उदयसिंह	१५९४[1]	१६२८[2]

महाराणा सांगा का जन्म संवत् १५३८ में हुआ था एवं उनका राज्यारोहण संवत् १५६५ में हुआ। तात्पर्य यह कि राज्यारोहण के समय महाराणा सांगा की आयु २६ वर्ष की थी। उस समय तक उनका विवाह हो चुका होगा तथा पाटवी राजकुमार भोजराज का जन्म भी हो चुका होगा। राज्यारोहण के समय में १५ वर्ष और मिला दें तो लगभग संवत् १५८० के लगभग महाराजकुमार भोजराज का विवाह मीरां के साथ होना संभव है। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, मीरां महाराणा उदयसिंह के राज्यकाल तक जीवित रहीं तो महाराणा उदयसिंह का मृत्यु समय संवत् १६२८ है। अर्थात् मीरां इस काल तक अवश्य जीवित रही थीं।

मीरां के मृत्युकाल के समय की एक चमत्कारी घटना प्रसिद्ध है। मीरां के मेवाड़ त्याग के पश्चात् मेवाड़ की स्थिति बिगड़ती चली गई। मेवाड़ की प्रजा दुःखी हो गई। घबराकर सब लोग यह सोचने लगे कि मीरां के मेवाड़ छोड़ने से ही उनकी यह दशा हुई है। अतः महाराणा उदयसिंह ने मीरां के पास द्वारका में अपना पुरोहित भेजा। पुरोहित ने मीरां को महाराणा का निमंत्रण दिया और सारी स्थिति कह सुनाई। आग्रह-अनुरोध में उस पुरोहित ने यह भी कह दिया कि यदि मेरी प्रार्थना आप स्वीकार नहीं करेंगी तो मैं यहीं अपने प्राण विसर्जित कर दूँगा।

मीरां के जीवन में राजपुरोहित का यह दुर्निवार आग्रह अंतिम संकट था। उसने पुरोहित से कहा कि आप ऐसा नहीं करें। मैं अपने आराध्य से आज्ञा लेकर मेवाड़ चल देती हूँ और यह कहकर वे निज मंदिर में पहुंचीं। जहाँ अपना अंतिम पद द्वारकाधीश को निवेदन करती हुईं, वे उनमें समा गईं। फिर राजपुरोहित खाली हाथ ही मेवाड़ लौट आए।

यह चमत्कारी घटना सत्य नहीं है। चमत्कार का अर्थ ही झूठ और पाखंड होता है। धर्म को एवं व्यक्ति को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने के लिए इस प्रकार की असत्य बातें धार्मिक लोग प्रायः गढ़ लिया करते हैं। ऐसी भी मान्यता है कि मीरां कृष्ण के स्वरूप में लीन नहीं हुईं, किन्तु अपने वस्त्र निज मंदिर में छोड़कर दूसरे वस्त्र धारण कर वे अज्ञातवास में रहीं। अपने अज्ञातवास में मीरां ने दक्षिण, पूर्व, उत्तर

---

१. विक्रमादित्य के देहान्त के बाद वनवीर का फुतूर खड़ा हो जाने के कारण ये महाराणा दो वर्ष गद्दीनशीन न हो सके।) वीरविनोद पृ. ६२, भाग, २
२. वीरविनोद, भाग-१, पृ, ६२, ३. वीरविनोद, भाग-१ पृ. ३६५,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत की यात्राएँ कीं। मीरां ने तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक वातावरण को स्थिरता प्रदान करने के भी कई सक्रिय प्रयत्न अपने गुप्तवास में किए।[1] मीरां ने तत्कालीन कलुषित भारतीय वातावरण को स्थिरता प्रदान करने के जो सफल प्रयत्न किए, उनके फलस्वरूप अनेक कार्यों में उसने सफलता प्राप्त की। गुजरात के साहित्यकारों ने मीरां के इस राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक समन्वयात्मक कार्यों का मूल्यांकन करते हुए, उन्हें 'महाभारत' के विराट् व्यक्तित्व श्रीकृष्ण एवं आधुनिक भारत के युगपुरुष गांधीजी के साथ उपमित किया है। इस दृष्टि से विचार किया जाए तो मीरां केवल भक्त कवियित्री ही नहीं, अपितु वे मध्ययुगीन भारत की एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय असाधारण उज्ज्वल प्रतिभा भी सिद्ध होती हैं।[2]

सन् १९६६ में न्यूयार्क में राष्ट्रसंघ की एक सामान्य सभा आमंत्रित की गई थी, जिसमें डॉ. सुब्बुलक्ष्मी[3] ने मीरां का **'हरि तुम हरो जन की पीर'** पद गाया था। भारतवर्ष के भक्त कवियों में इस प्रकार का प्रथम गौरव मीरां को ही प्राप्त हुआ है।

(६) **'वीरविनोद'** में लिखा है कि 'महाराणा ने उसको दुःख दिया।' यह एक ऐतिहासिक सत्य है। मेवाड़ जैसे हिंदवा सूर्यवंश की कुलवधू अन्तःपुर की मर्यादा में में न रहे और साधु-संतों के साथ भजन-कीर्तन करे, यह कैसे क्षम्य हो सकता है? इस दिशा में हमारा एक अनुमान है। मीरां के चरित्र को क्षति पहुंचे इस दृष्टि से यह अनुमान प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है, पर यह सत्य के निकट या सत्य हो सकता है। तत्कालीन मेंवाड़ राजवंश की क्षत्रिय मर्यादा के अनुसार स्त्री के निःसंतान होने पर पति की मृत्यु के पश्चात् उसे अनिवार्यतः पति के साथ सती होना ही पड़ता था। इससे श्वसुरपक्ष एवं मातृपक्ष दोनों गौरवान्वित होते थे। साथ ही युद्धकाल में विधवा की लज्जा-रक्षा की चिन्ता से भी क्षत्रिय मुक्त हो जाते थे। इसी कारण क्षत्राणियों के लिए सती होना युगधर्म था। मेवाड़ के राजवंश में प्रारंभ से ही महाराणा शंभुसिंह से पूर्व तक[4] यह प्रथा बराबर चली आ रही थी। रानियों के साथ उनकी निजी सेविकाएं (खवासें) तक सती होती थीं, पर महाराणा शंभुसिंह के समय से यह प्रथा बंद कर दी गई।[5] ऐसी स्थिति में संभव है मीरां ने कृष्ण को ही अपना परम-पुरुष पति मानकर अपने पति भोजराज को महत्त्व न दिया हो। हमारा यह अनुमान है कि सती न होने के कारण ही मीरां के श्वसुरपक्ष एवं मातृपक्ष गौरवहीन हुए हों और इसी कारण उसे संभव है चित्तौड़ एवं मेड़ता में यथेष्ट सम्मान न मिला हो, और फिर विवश होकर जैसा कि लगभग विरागी करते आए हैं, उसने वृंदावन की राह पकड़ी हो। ऐसा भी

---

१. मीरां (गुजराती ग्रंथ), निरंजन भगत

२. मीरां मात्र संत न हती, पण कृष्ण अने गांधीजीनी जेम भारतवर्षना इतिहासनी एक विरल विभूति हती। 'मीरां', निरंजन भगत, पृ. ३३

३. डॉ. सुब्बुलक्ष्मी ने 'तमिल और हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय चेतना' विषय पर शोध-प्रबंध लिखा है।

४. महाराणा शंभुसिंह का अवसान काल ८ अक्टूबर, सन् १८७४, वीरविनोद भाग-४, पृष्ठ-२१२३

५. 'महाराणा शंभुसिंह (ई. सन् १८७४, अक्टूबर ७) का अवसान हुआ, उसी समय जनानी ड्योढ़ी का पुख्तह बंदोबस्त किया गया, कि कोई सती न होने पावे। चार सहेलियाँ सती होने को उठीं, लेकिन जनानी ड्योढ़ी के किवाड़ बंद थे और बाहर बेदला के राव बख्तसिंह, वगैरह सर्दार और ड्योढ़ी के महता लालचन्द, प्यारचन्द और देवीचन्द वगैरह मौजूद थे। उन लोगों को अंदर से हजारों गालियाँ दी जाती थीं, लेकिन ऐसे वक्त में उनको कौन इजाजत दे सकता था। महाराणा साहिब के साथ सती न होने देने का यह पहला अवसर और पुराने ख्यालात का आखरी हुल्लड़ था।'
—वीरविनोद भाग-४, पृ. २१२३, २१२४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुप्रसिद्ध है कि मीरां की भक्ति को देखकर मेवाड़ के महाराणा ने उनके लिए चित्तौड़ गढ़ पर मंदिर बनवा दिया था। वह मंदिर आज भी मीरां बाई के मंदिर के नाम से विद्यमान है। इसमें भी मीरां के आराध्य गिरधारीजी का स्वरूप था। उसे जयपुर के राजा मिर्जा मानसिंह–जिसने अपनी फूफी जोधा बाई अक्बर से ब्याही थी–चित्तौड़ विजय के बाद अपनी राजधानी 'आमेर' ले गया और वहाँ मंदिर बनाकर उस स्वरूप को जगत् शिरोमणिजी के नाम से उसमें पधराया। वह स्वरूप आज भी आमेर में विद्यमान है। इतनी सुविधाएँ प्रदान करने पर भी मीरां राजवंश की मर्यादा का उल्लंघन करती रहीं तो तत्कालीन महाराणा विक्रमादित्य, जो उनके देवर थे, वे उनको मर्यादा में रखने के लिए प्रयत्न करें, यह स्वाभाविक भी है और देखा जाए तो उन कष्टों ने ही मीरां को एक सर्वसामान्य जीवन से ऊपर उठाकर भक्ति के शाश्वत आलोक के रंगमंच पर प्रस्थापित कर दिया। उसी ने मीरां के वैराग्य को सुदृढ़ कर परमात्मा के प्रति अचल बना दिया। मीरां को महाराणा[1] ने साँप की पिटारी भेजी और वह माला बन गई, जहर का प्याला भेजा और 'पीवत मीरां हाँसी रे'—जहर अमृत बन गया, ये सभी कवियों अथवा साधु–संतों की मनगढंत बातें हैं–यह भी संभव है कि साँप और जहर ले जाने वाले के मन में मीरां के प्रति करुण भाव जागा हो और उसने पदार्थ वदल दिए हों।

इस प्रकार 'वीरविनोद' के आधार पर हमने मीरां के जीवन का नवीन शोधपरक मूल्यांकन किया है।

मीरां का जन्म, जन्मस्थान :

मीरां का जन्म मारवाड़ में कुकड़ी नामक गाँव में हुआ। मीरां अपने पिता की इकलौती संतान थी। महाराणा साँगा ने खानवा के युद्ध में सहायता के लिए 'रण बंका राठौड़' मीरां के पिता रतनसिंह को निमंत्रण दिया था। इसी युद्ध में रतनसिंह ने वीर–गति प्राप्त की। उस समय मीरां की आयु केवल तीन वर्ष की थी। इस घटना के सात वर्ष वाद मीरां की माता वीर कुंवरी भी चल बसीं। मीरां के दादा राव दूदा दस वर्ष की वालिका मीरां को अपनी राजधानी मेड़ता (मारवाड़) में ले आए और बड़े दुलार से उसका लालन–पालन करने लगे।

राव दूदा के दरवार में साधु–समागम होता रहता था। एक साधु ने मीरां की भक्ति पर प्रसन्न होकर उसे गिरिधर–गोपाल की मूर्ति दी थीं। मीरां जब चित्तौड़ (मेवाड़) छोड़कर चली गई थीं तब उन्होंने वह मूर्ति चित्तौड़ में ही रहने दी थी। गिरिधर–गोपाल की यह मूर्ति आज भी मेवाड़ के वर्तमान महाराणा साहब श्री महेन्द्रसिंहजी (उदयपुर) के पास है, और आपश्री के उदयपुर के अन्तःपुर के निज मंदिर 'पीतांबर–रायजी' में पूजा में है।[2] इस तथ्य का पता भी हिन्दी जगत् के बहुत कम सशोधकों को है।

राव दूदा के ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेव ने मीरां का संबंध महाराणा संग्रामसिंह (मेवाड़) के पाटवी ज्येष्ठ महाराजकुमार भोजराज के साथ कर दिया। यह भी संभव है कि मीरां के पिता ने खानवा के युद्ध में महाराणा संग्रामसिंह को सहायता देते समय वीरगति प्राप्त की थी, इसके ऋणशोध के रूप में महाराणा संग्रामसिंह ने मीरां का विवाह अपने पाटवी महाराजकुमार के साथ किया हो, जिससे कि मीरां मेवाड़ की भावी महारानी वन सके।

---

१. ये महाराणा विक्रमादित्य ही हो सकते हैं, क्योंकि इनका स्वभाव कुछ ऐसा ही उच्छृंखल था। इनके वाद महाराणा उदयसिंह हुए, जो महाराणा प्रताप के पिता थे तथा मीरां के प्रति सम्मान का भाव रखते थे। वीरविनोद, भाग २, पृ. २. लोकनिधि (पत्रिका), १८७३, मीरां कला मंदिर, उदयपुर।

२. डॉ. भ्रमरलाल जोशी द्वारा मौखिक जानकारी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाह के पश्चात् मीरां ससुराल में प्रसन्नतापूर्वक रहने लगी। वह सांसारिक बंधनों में आबद्ध हो गई थीं, लेकिन कृष्ण के प्रति उसका आंतरिक अहोभाव अर्थात् भक्ति-भाव बढ़ता ही जा रहा था। मीरां अपने इष्टदेव कृष्ण में तल्लीन रहने लगीं। भोजराज मीरां से संतुष्ट थे। मीरां जैसी सुशील सहधर्मिणी पाकर भला कौन अपने भाग्य को नहीं सराहेगा? मीरां और भोजराज सुखी थे। दुर्दैव को उनका सुख सहन नहीं हुआ। भोजराज का अचानक अवसान हो गया। इस प्रकार मीरां का सुहाग सात वर्ष तक ही सुरक्षित रहा।

इसके पश्चत् मीरां को संसार के प्रति पूर्णतः विरक्ति हो गई। भोजराज की मृत्यु के कुछ काल बाद मीरां के श्वसुर महाराणा साँगा भी स्वर्ग सिधारे। इसके पश्चात् महाराजकुमार रत्नसिंह मेवाड़ के महाराणा बने। वे भी अधिक काल तक जीवित नहीं रहे। उनके पश्चात् महाराजकुमार विक्रमादित्य मेवाड़ के महाराणा बने।

विक्रमादित्य चंचल एवं उद्धत प्रकृति के महाराणा थे। मर्यादा में रखने के लिए इन्होंने मीरां को नाना प्रकार की यातनाएँ देना प्रारंभ किया। सांप को पिटारी में बंद करके भेजना, विष का प्याला भेजना इत्यादि घटनाएँ इन्हीं महाराणा के राज्यकाल की हैं। भक्ति में बाधा देखकर इन्हीं महाराणा के राज्य-काल में मीरां ने मेवाड़ का त्याग किया। यह भी कहा जाता है कि महाराणा विक्रमादित्य ने मीरां से अपने दुर्व्यवहार के लिए बाद में क्षमा भी माँगी थी।

ऐसा भी प्रसिद्ध है कि मेवाड़ का त्याग करने से पूर्व मीरां ने तुलसीदास से आज्ञा माँगी थी। चित्तौड़ छोड़ने के बाद मीरां कुछ समय अपने मायके मेड़ता रहीं, फिर वहाँ से वे वृन्दावन चली गईं। वृन्दावन में ही चैतन्य संप्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य जीव गोस्वामी से मीरां की भेंट हुई। वृन्दावन में मीरां चार वर्ष रहीं। इसके पश्चात् वे द्वारका चली गईं और वहीं रणछोड़रायजी के मंदिर में भजन-कीर्तन करती हुईं अपना जीवन व्यतीत करने लगीं। इसके पश्चात् क्या हुआ, सो हम ऊपर लिख चुके हैं। मीरां महाराणा उदयसिंह के निमंत्रण पर वापस चित्तौड़ (मेवाड़) नहीं लौटीं, पर वे गुप्तवास में चली गईं।

यही मीरां का उपलब्ध जीवन-वृत्त है।

इस तरह भक्ति की जो एक सूक्ष्म चिनगारी मारवाड़ के मेड़ता के कुकड़ी गाँव में प्रकट हुई, वह मेवाड़, व्रज, गुजरात तक पहुँचते-पहुँचते भक्ति की महाज्वाला के रूप में परिणत होकर समग्र भारत को उसने अपने शांत तेज से व्याप्त कर लिया।

मीरां के इतिवृत्त के संबंध में इतना ही ज्ञात हो सका है। वास्तव में मीरां क्या थीं? कैसी थी? यह तो उपर्युक्त कुछ मोटी-मोटी बातों के अतिरिक्त शेष सब कुछ अंधकार में डूब चुका है। मीरां का असल नाम क्या था? यह भी किसी को ज्ञात नहीं है। मीरां तो उसका प्यार का उपनाम था।[1] एक बात और भी है। मेवाड़ के आद्य नृपति बापा[2] रावल गुजरात के वल्लभीपुर से ही मेवाड़ में गए थे, इसलिए मीरां यदि गुजरात में आईं तो यह उनका अपना अधिकार था।

काव्य : मीरां के जीवनवृत्त की भांति उनके ग्रन्थों की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। अब तक की शोध के अनुसार उनके निम्नलिखित ग्रन्थों का पता चला है[3]—

(१) कवि जयदेव रचित 'गीतगोविंद' की टीका, (२) नरसींजी का माहेरा,

(३) राग सोरठ-पदसंग्रह या राग सोरठ का पद, (४) फुटकर भक्ति के पद, (५) राग गोविंद

१. लोकनिधि, शोधपत्रिका, १९८३ मीरां कला मंदिर, उदयपुर, २. वीरविनोद, प्रथम भाग।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल, पृ. १८४

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीरां के स्फुट पद ही प्राप्त होते हैं। ये पद व्रजभाषा, मेवाड़ी एवं गुजराती तीनों भाषाओं में मिलते हैं। एक ही पद तीनों भाषाओं में उपलब्ध होता है। मीरां लोक-कवयित्री होने के कारण वर्षों से मेवाड़, व्रज एवं गुजरात के घर-घर में इनके पद गाए जाते रहे हैं। इसीलिए पदों के भाव तो यथावत् रहे पर लोकजिह्वाओं ने मीरां के एक ही पद को अलग-अलग भाषाओं का परिवेश प्रदान कर दिया है। यह मीरां के साहित्य की अमर निशानी है। जैसे आत्मा अजर-अमर है, न उसे शस्त्र छेद सकता है, न अग्नि जला सकती है, न उसे जला गला सकता है, और न उसे पवन सुखा सकता है, वैसे हीं मीरां के पदों में जो शाश्वत भक्ति महाभाव है, उसे देश, काल, समाज बदल नहीं सका। भाव यथावत् ही रहे, पर भाषा रूपी चोला बदल गया। मीरां को तो हिन्दी की भांति गुजराती कवयित्री होने का भी गौरव प्राप्त है। नरसी महेता गुजराती के आदि कवि हैं तो मीरां गुजराती साहित्य की आदि कवयित्री। गुजरात के मूर्धन्य साहित्यकारों में मीरां का स्थान है। दूसरी एक और बात महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि मीरां को आलंबन के रूप में रखकर गुजराती साहित्यकारों ने काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानियां इत्यादि के रूप में प्रचुर साहित्य लिखा है। मेवाड़ के राजवंश पर गुजराती में जो साहित्य निर्मित हुआ है, इस पर मेरे गुरु डॉ. भ्रमरलाल जोशी ने शोधकार्य किया है। इसके फलस्वरूप यह पता चला है कि मीरां पर गुजरात के साहित्यकारों ने काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी इत्यादि के रूप में लगभग ४० स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं।[1] ऐसा गौरव हिन्दी के किसी भी साहित्यकार को मिला है? यह हमें ज्ञात नहीं।

मीरां के गुरु : मीरां के दीक्षा गुरु के संबंध में भी विद्वान् एकमत नहीं हैं। कई संत रैदास को इनका गुरु मानते हैं। कई वल्लभ सम्प्रदाय के गोसाई विट्ठलनाथजी को इनका गुरु मानते हैं। कई ऐसा मानते हैं कि पत्र-व्यवहार द्वारा तुलसीदास से उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। इधर वियोगीहरि इन्हें चैतन्य सम्प्रदाय के जीव गोस्वामी की शिष्या मानते हैं। इस संबंध में संशोधकों ने पर्याप्त विचार किया है। समय की दृष्टि से संत रैदास और मीरां में पर्याप्त अन्तर है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से यह प्रमाणित होता है कि गो. विट्ठलनाथजी से मीरां ने दीक्षा ग्रहण नहीं की। वेणीमाधव का 'गोसाई चरित' प्रामाणिक नहीं है। अतः यह मत अधिक सम्मान्य है कि मीरां की भक्ति आत्मोद्भूत थी।[2]

मीरां की भक्ति : मीरां का काव्य भक्ति की ही भाँति उनके जीवन की सहज अभिव्यक्ति है। गिरधर-गोपाल के प्रति मीरां की बचपन में ही भक्ति थी। विवाह के पश्चात् उन पर अल्पकाल में ही वैधव्य का संकट आ पड़ा तब वही भक्ति और भी सुदृढ़ हो गई। वे गिरधर-गोपाल के अनन्य और एकनिष्ठ प्रेम में डूब गईं। उन्होंने अनुभव किया—'यो संसार बीड़ रो कांटो' यह संसार तो जंगली-झाड़ियों का कांटा है। ऐसा समझकर सदा के लिए 'मैं तो गिरधर के रंग राचीं रे' के रूप में वे गिरधर की अनन्य ऐकांतिक माधुर्यभाव की भक्ति में लीन हो गई।

दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भक्ति के ये प्रमुख भाव हैं, इनमें से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माना गया है। माधुर्यभाव सबसे श्रेष्ठ है। इसमें इष्ट की प्रिय, प्रिया, पति या पत्नी के भाव से उपासना की जातीं है। शृंगार एवं मधुर भक्ति में केवल आलंबन का ही अंतर है। शृंगार में आलंबन लौकिक होता है जबकि मधुर-भक्ति में परमात्मा! शकुंतला का आलंबन दुष्यन्त लौकिक व्यक्ति है, अतः वहां शृंगार रस निष्पन्न हुआ, पर मीरां कीं भक्ति के आलंबन भगवान श्रीकृष्ण हैं अतः उनकी भक्ति मधुर-भक्ति कहलाई।

---

१. 'गुजराती साहित्य में महाराणा प्रताप', 'महाराणा प्रताप स्मृति-ग्रन्थ', राजस्थान-विद्यापीठ, उदयपुर, ई. सन् १९६७, शोध लेख : डॉ. भ्रमरलाल जोशी

२. हिन्दी साहित्य-कोश, भाग-२, पृष्ठ ४२२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीरां के स्फुट पदों में उनका माधुर्य भाव आनंद की चरम-दशा तक पहुँचा है। इनके विरहा-कुलतापूर्ण माधुर्यभाव के पदों में विशेष तन्मयता है। 'सूली ऊपर सेज हमारी किस बिद सोणा होय' इस एक ही विरहानुभूति की पंक्ति में मीरां की असह्य पीड़ा अभिव्यक्त हुई है। मीरां की भावाभिव्यक्ति को लेकर गुजरात के सुप्रसिद्ध आधुनिक कवि उमाशंकर जोशी ने एक बार कहा—

'जैसे ओस्टर नामक मछली के मुँह से निकला हर बुलबुला मोती बन जाता है, वैसे ही मीरां के मुँह से कविता का हर शब्द मोती बन गया है।[1]'

माधुर्य के साथ-साथ मीरां की भक्ति में दैन्य का भाव भी विद्यमान है। इन्होंने अपने आराध्य की कई रूपों में कल्पना की है। कहीं वह निर्गुण निराकार ब्रह्म अविनाशी है, अगम देशवासी है, जैसे सूर्य एवं उसकी ऊष्मा अभिन्न है, वैसे ही मीरां भी उससे अभिन्न है—

(अ)-यो संसार चहर री बाजी, साँझ पड्यां उठ जासी। मीरांपदावली
(आ)-चालां अगम वा देस, काल देख्यां डरां। मीरांपदावली
(इ) -मीरां के प्रभु हरि अविनाशी, दरसण दीज्यो आय। मीरांपदावली
(ई) -तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं, जैसे सूरज घामा। मीरांपदावली

कहीं वह सगुण साकार गिरधर-गोपाल है, जो मीरां का पति है, प्रिय है, सर्वस्व है, उसकी प्रतीक्षा करते-करते उसकी आँखें दुखने लगी हैं, वह विदेश में जा बैठा है, सावन की घटाएँ घिर आई हैं, उसका चीर भीग रहा है, उसका जन्म-जन्मांतर का कौमार्य उसी की प्रतीक्षा कर रहा है, वह केवल उसी के लिए है। इस प्रकार की सहज भावाभिव्यक्ति मीरां को अमरत्व दिलाने के लिए पर्याप्त है—

(अ) 'भींजे म्हांरो दांवन चीर, सावणियो लूम रह्यो रे' मीरांपदावली
(आ) 'आप तो जाय बिदेसां छाये, जिवड़ो धरत न धीर' मीरांपदावली
(इ) 'चरण-सरण री दासी मीरां, जनम-जनम री क्वांरी।' मीरांपदावली
(ई) 'लिख-लिख पतिया, संदेसा भेजूं, घर आवे मारो पीव।' मीरांपदावली

उपर्युक्त काव्य-पंक्तियों में मीरां के वे मधुर भाव हैं, जो मानव की शाश्वत संवेदना के मूलभूत आधार हैं। **'भींजे म्हांरे दांवन चीर, सावणियो लूम रह्यो रे'** पंक्ति में जो रसध्वनि है, उसे काव्यत्व की दृष्टि से देखें तो किसी भी सहृदय के लिए गहराई में उतर जाने के बाद ऊपर आना कठिन है। 'सावणियो लूम रह्यो रे' यहाँ 'सावन' में व्यंजना है। 'सावन' में रूपकातिशयोक्ति है। 'सावन' यौवन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और यौवन भी कैसा, एकदम गदराया यौवन—

अपने अंग के जानि कै, जोबन नृपति प्रबीन।
स्तन, मन, नैन नितंब को बड़ो इजाफा कीन॥[3] बिहारीसतसई, दोहा-२

यौवन नृपति ने नायिका की देहलता के राज्यासन पर आरूढ होते ही उसने अपने राज्य को अधिक शोभनीय एवं सुदृढ़ बनाने के लिए उसके महत्त्वपूर्ण अंग-स्तन, मन, नयन एवं नितंब-की बड़ी वृद्धि कर दी है। ऐसे यौवन के लिए राजस्थानी लोकगीतों में 'मारो जोबन झोला खाए' 'मारो जोबन लूमि रह्यो भँवरजी!' जैसे प्रयोग प्रचुर रूप में मिलते हैं। लोकगीतों में सहज रूप में भावाभिव्यक्ति होती है। उनमें रस, भाव एवं अलंकारों का सहज ही में जैसा यथेष्ट प्रयोग मिलता है, वैसा हमारे सुसंस्कृत सभ्य साहित्य में दुर्लभ है। लोकगीत साधारणीकरण के साथ ही चलते हैं, श्रोता-गायक सभी रसलीन रहते हैं, जब कि हमारे

१. मौखिक वार्तालाप-उमाशंकर जोशी, एवं डॉ. अम्बाशंकर, डॉ. नागर के मुख से डॉ. भ्रमरलाल जोशी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभ्य साहित्य में कहीं-कहीं तो हमें रस के लिए काव्य-क्षेत्र की सुदूर शुष्क यात्रा करनी पड़ती है। कई रचनाएं तो ऐसी भी मिलेंगी कि रेगिस्तान में कहीं नखलिस्तान मिल गया तो पाठक का सौभाग्य है। तात्पर्य यह कि मीरां का काव्य सहज काव्य है। 'लूमना' राजस्थानी (मेवाड़ी) का ऐसा क्रियापद है, जिसका शाब्दिक अर्थ स्पष्ट करना कठिन है। श्याम घटाएं गिर आई हों, और बरसने को आतुर हों, वैसे ही यौवन भी किसी पर बरसने को बेचैन हो, इस प्रकार का व्यंग्यार्थ इस 'लूमना' क्रिया का है। आम की शाखाएँ रस भरे हरित-पीत आम के भार से झुकी जा रही हों। कोई हाथ बढ़ाकर उन्हें पा ले तो चैन मिले, ऐसा कुछ अनिर्वचनीय व्यंग्यार्थ इस 'लूमना' द्वारा व्यक्त होता है। मेवाड़ी में फलों से लदे पेड़ के लिए 'लड़ा-लूम' विषेषण का प्रयोग होता है। काव्य की इस पंक्ति को पढ़कर कोई कितने रस की गहराई में उतारेगा ? यह तो मीरां का ही अंतःकरण है, जो उस समग्र आनंद का अखंड कोश है। यहां माधुर्यभाव द्वारा रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति हुई है और मीरां के ऐसे शत-शत भाव हिन्दी साहित्य की अमरनिधि हैं।

मीरां के कई पदों में गिरिधर-गोपाल को परदेशी, जोगी, निर्मोही के रूप में भी चित्रित किया गया है। इस प्रकार की मीरां की भावाभिव्यक्ति उत्तम ध्वनि-काव्य के गुणों से समलंकृत हैं। जैसे सावन में घटाएँ लूम रही हों, बरसने को, वैसे ही मीरां का काव्य सहृदयों पर बरसने को 'लूम' रहा है। भीगनेवाला सहृदयी उससे ऐसा भीगेगा कि फिर कभी सूखेगा नहीं, सदा-सदा भीगा ही रहेगा।

सूर, तुलसी आदि भक्त कवि सम्प्रदाय के घेरे में आवद्ध थे जब कि मीरां सम्प्रदाय-मुक्त थीं। मीरां ने न किसी सम्प्रदाय का आश्रय लिया और न किसी विशेष गुरु का ही।[1]

मीरां का व्यक्तित्व स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ है। मीरां के जीवन के इस गौरवान्वित तथ्य को प्रकट करते हुए वर्तमान युग के एक गुजराती साहित्यकार लिखते हैं—'मीरां ने न पुत्र को जन्म दिया, न शिष्य बनाया, न सम्प्रदाय चलाया। उसने सब कुछ परमेश्वर को माना।[2] मीरां के पावन एवं भक्तिपूर्ण जीवन को स्पष्ट करने के लिए ये पंक्तियां पर्याप्त हैं। कबीर, सूर तुलसी इत्यादि भी हिन्दी के प्रथम कक्षा के साहित्यकार हैं, पर इस दृष्टि से वे भी मीरां की कोटि में नहीं आ सकते। सूर पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित थे और आचार्य वल्लभ के शिष्य थे। उनको महद् आश्रय प्राप्त था।[3] हिन्दी के आधुनिक संशोधक एवं कवि जगदीश गुप्त लिखते हैं—

जो भी नये पथ, आज तक खोजे गए,
भटके इन्सान की ही देन है।'

मीरां को लोगों ने 'कुलनासी' इसीलिए तो कहा है। पर महाभाव में निमग्न मीरां का जीवन-पथ ही सच्चा जीवन-पथ था। मीरां ने अपना भक्ति-पथ स्वयं प्रशस्त किया था। मेवाड़ में उनका मन नहीं रमा तो वे व्रज में गईं, वहां भी मन नहीं रमा तो वे गुजरात में आईं। पंथ चलाना, शिष्य बनाना यह तो लकीर का फकीर होना है। अपना स्वार्थ ही इसमें किसी-न-किसी रूप में निहित होता है और आगे चलकर इन पंथों-सम्प्रदायों का कैसा जुगुप्सित रूप खड़ा हो सकता है, इसे यहां स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। राम, कृष्ण, कबीर इत्यादि के नाम पर चले पन्थ-सम्प्रदायों का आज का रूप हर बुद्धिजीवी जानता है। गटर में बुलबुलाते कीड़ोंवाले दुर्गंधमय कीच की भांति घृणित एवं **'अयं पटः संवृत एव शोभते'** यह जीर्ण-शीर्ण मैला-कुचैला, गंदा, वस्त्र ऐसा है कि इसे तह करके रखना ही उचित है।

---

१. 'मीरां मेवाड़ का राजवंश गुजरात और गुजराती साहित्य'-शोध लेख-मीरां विशेषांक, मीरां कला मन्दिर उदयपुर-डॉ. भ्रमरलाल जोशी, १९८३, २. मीरां-निरंजन भगत

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ. २५३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदान्त : हिन्दीभाषी प्रदेश के संप्रदाय–निरपेक्ष हिन्दी कृष्ण–कवियों में मीरां का अन्यतम स्थान है। अष्टछाप के कवि पुष्टि–संप्रदाय में दीक्षित थे। उनके लिए शुद्धाद्वैत–वेदान्त एवं पुष्टि–भक्ति से संबद्ध गुरु–उपदिष्ट सांप्रदायिक विचारधारा के वृत्त से बाहर कुछ भी सोचना संभव नहीं था। उन्हें महद् आश्रय प्राप्त था। जीवन के योगक्षेम की उन्हें कोई चिंता नहीं थी। परम शांत भाव से एक निश्चित सात्त्विक जीवन प्रणाली के अनुसार उनका जीवन–स्रोत बहता रहा। न कहीं ऊबड़–खाबड़ जमीन, न रेगिस्तान, न पहाड़। बस, केवल नन्दनवन के कल्पद्रुमों की हरीतिमा से आच्छन्न समतल मैदान था। पर मीरां का जीवन इनसे एकदम भिन्न था। एक तो वह स्त्री थी। फिर वह मेवाड़ जैसे हिन्दवां सूर्य के राजवंश में ब्याही गई थीं। फिर अकाले वैधव्य का तुषारापात हो गया था। राजवंश की मर्यादा के अनुसार सती न होने के कारण वह न श्वसुर पक्ष में सम्मान्या हुई और न मातृपक्ष में ही। अतः उसने व्रज–गुजरात की राह पकड़ी। ऐसे अशांत जीवन के लिए किसी एक ही दार्शनिक या वेदान्त की विचार–धारा का अपनाना संभव नहीं था। मीरां ने न किसी संप्रदाय का आश्रय लिया और न किसी व्यक्ति का ही। संप्रदाय निरपेक्ष रहने के कारण ही वल्लभ संप्रदाय ने मीरां की कटु आलोचना की है। वह केवल ईर्ष्या–द्वेष के कारण ही। 'क्यों, नहीं मीरां आचार्य वल्लभ की शरण में आईं ?' यही पुष्टि संप्रदाय के आचार्य–अनुयायियों के पेट का दर्द है।[1] मीरां को जो 'कुलनासी' कहा गया है एवं जो कहलवाया गया है, वह भी इसी कारण। जिसके जीवन का स्रोत अनेक प्रकार की विषम भूमियों एवं वातावरण में से होकर गुजरा हो, उसके काव्य-जल में सभी का प्रभाव समन्वित होना सहज है।' जो भी नये पंथ आज तक खोजे गए भटके इन्सान की ही देन है।[2] मीरां बने बनाए सांप्रदायिक राजमार्गों पर चलने वाली लकीर की फकीर नहीं, अपितु अपना जीवन–मार्ग, भक्तिमार्ग स्वयं बनानेवाली एक वीर क्षत्राणी भक्त–नारी थीं। अपने जीवनकाल में वह कई संतों, भक्तों एवं साधुजनों के संपर्क में आई थीं और इस प्रकार सभी से उसने दर्शन, भक्ति एवं वेदान्त के नव–नवीन उत्तम तत्त्व ग्रहण किए थे। 'महाभारत' में कहा गया है–'**प्रत्यक्षदर्शी लोकोनां सर्वदर्शी भवेन्नरः**' जो व्यक्ति जितने अधिक प्रत्यक्ष एवं सक्रिय रूप से लोकसंपर्क में आता है, लोक–सेवा के कार्य करता है, कोल्हू के बैल की तरह किसी एक संप्रदाय, मंडल या गुट से बँध नहीं जाता है, वह बहुश्रुत होता है। भारतीय शास्त्रों में बंधना–धर्म जानवर का माना गया है। व्यक्ति विचार की दृष्टि से बंध गया तो फिर उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व रहा ही कहां ? न फिर उसका अपना ज्ञान, न अपनी उसकी विचारधारा ही विकसित हो पाती है। हौज के पानी की तरह उसका संपूर्ण व्यक्तित्व कुछ ही दिनों में दुर्गंध से भर उठता है, पर चूँकि वह आदी हो गया होता है, अतः वह सांप्रदायिक दुर्गंध भी उसे सुगन्ध ही प्रतीत होने लगती है। तात्पर्य यह कि मीरां के जीवन की भाँति उसके साहित्य में भी विविध प्रकार के दार्शनिक एवं वेदान्त से सम्बद्ध विचार मिलते हैं।

मीरां के जीवन–काल में आचार्य शंकर का केवलाद्वैत वेदान्त, आचार्य रामानुज का विशिष्टाद्वैत–वेदान्त, मध्व का द्वैत वेदान्त, चैतन्य सम्प्रदाय से सम्बद्ध अचिन्त्यभेदाभेद–वेदान्त, आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैत–वेदान्त, महर्षि पतजलि का योगदर्शन, कपिल का सांख्य–दर्शन, वज्रयानी सिद्धों कि विकृत वामाचारी वीभत्स क्रियाओं के फलस्वरूप उद्भूत शैवाद्वैत मत अर्थात् सिद्धमार्ग, अवधूत मत, योगमार्ग या नाथमत एवं संत मत इतने दार्शनिक एवं वेदान्त के मत–सम्प्रदाय उन दिनों प्रचलित थे। '**सार सार तो गहि रही थोथा देहु उड़ाय**' के अनुसार इनमें से जितना भी उपलब्ध हो सका, मीरां ने 'सार–सार' ग्रहण कर लिया और वही संगृहीत–सार उसने अपनी 'प्रेम–दीवानी' वाणी में सन्निहित किया है। उपर्युक्त दार्शनिक

---

१. 'वल्लभ संप्रदाय के लोग मीरां के कठोर आलोचक थे।' मीरांबाई, पृ. ३६२, डॉ. प्रभात।

२, डॉ. जगदीश गुप्त की एक कविता की पंक्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं वेदान्त से सम्बद्ध संप्रदायों के सिद्धांतों का निरूपण मीरां के साहित्य में किस रूप में हो पाया है। यही हमारा मुख्य प्रतिपाद्य है।

केवलाद्वैत वेदान्त में सगुण ब्रह्म को जगत् की ही भांति मिथ्या कहा गया है। माया द्वारा आच्छन्न ब्रह्म ही सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर है, जो जगत्पालक, जगत् संहारक है। मीरां मोर–मुकुट पीतांबर–धारी गिरिधर–गोपाल को तन–मन से वर चुकी थी। जो पूर्णतः सगुण–साकार है एवं जन्म–जन्मान्तर से उसका स्वामी है। ऐसी स्थिति में मीरां पर आचार्य शंकर के वेदान्त के ब्रह्म विषयक विचारों का प्रभाव शशश्रृंगवत् दुर्लभ है।[1] हां, संसार की निःसारता से सम्बद्ध मीरां के विचार अवश्य शंकर से यत्किंचित् मेल खाएंगे।

इक्ष्वाकुवंशी महाराज भगीरथ ने स्वर्गंगा को भूतल पर अवतरित करके उसे पावनत्व अर्पित किया, वैसे ही संत रामानन्द के विषय में भी यह सुप्रसिद्ध है कि भक्ति–जाह्नवी की धारा को दक्षिण भारत से उत्तर भारत की ओर प्रवाहित करके उन्होंने इस भू–भाग को भक्ति–मय बनाकर पवित्र किया। ये संत रामानन्द विशिष्टाद्वैत वेदान्त के आचार्य रामानुज की तेरहवीं पीढ़ी में हुए थे। मीरां उन दिनों अवश्य रामानंदी संप्रदाय के संतों एवं भक्तों के संपर्क में आई होंगी। मीरां के पुरोहित देवाजी रामानन्दी संप्रदाय के कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे। इससे भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि हो जाती है।[2] यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि विशिष्टाद्वैत वेदान्त ईश्वर, चित् एवं अचित् इन तीन तत्त्वों को मानता है तथा ईश्वर एवं जीव में भी किसी अंश में भेद मानता है। रामानन्द ने भक्ति में प्रपत्ति को महत्त्व दिया है। प्रपत्ति में न्यास एवं न्यास के छः अंग–भगवान् के प्रति अनुकूलता का वर्जन, भगवान् सर्वत्र रक्षा करेंगे, इसमें अटल विश्वास, केवल भगवान् का ही वर्णन तथा कार्पण्य सम्मान्य हैं। मीरां ने गिरिधर गोपाल के चरणों में प्रपत्ति एवं न्यास के सभी वचन स्वीकार किए हैं। द्वैत–वेदान्त के आचार्य मध्व ने सगुण ब्रह्म को मानते हुए ईश्वर एवं जीव में संपूर्ण भेद माना है। तथा संसार या जगत् को ब्रह्म से भिन्न माना है। मीरां ने भी स्वयं को गिरिधर गोपाल से भिन्न माना है तथा संसार को 'चहर की वाजी' कहकर ब्रह्म एवं जीव से उसे भिन्न घोषित किया है। माधवेन्द्र पुरी आचार्य मध्व के मतानुयायियों में अद्वितीय स्थान रखते हैं। आचार्य मध्व विष्णु के उपासक थे, पर उनके संप्रदाय में सर्वप्रथम गोपाल की पूजा माधवेन्द्र पुरी ने ही प्रारंभ की थी। मीरां भी गिरिधर गोपाल की आराधिका थीं। इस प्रकार मीरां पर माधवेन्द्र पुरी की 'गोपाल' की निर्मल प्रेमल लक्षणा–भक्ति का भी प्रभाव पड़ा।[3] माधवेन्द्र के शिष्य केशव भारती से संवत् १५६६ में चैतन्य ने संन्यास की दीक्षा ली। चैतन्य संप्रदाय के दार्शनिक मत अचिन्त्य–भेदाभेद' मत के सिद्धांतों की स्थापना चैतन्य से परवर्ती है। अतः मीरां पर चैतन्य की माधुर्य भक्ति का प्रभाव अवश्य माना जा सकता है। मैथिलीशरण गुप्त चैतन्य के संबंध में लिखते हैं—

(अ) अक्षय माधुर्य भाव, भरकर लाये वे।
हो न हो, वही हैं अधिष्ठातृ देव प्रेम के। विष्णुप्रिया

(आ) 'जाना नहीं जाता प्रभु, प्रेम से ही प्राप्य हैं'
'प्रेम ? परकीया प्रेम ? जो प्रत्यक्ष पाप है ?'
'बाहर से जैसे परकीया गृह–कर्म में
व्यस्त रहती है, न्यस्त भीतर से प्रेमी में,
बाहर से लोक–व्यवहार कर वैसे ही,
भीतर से राम–रत होना गौर–मत है।' विष्णुप्रिया, पृ. ३०

---

१. मीरां बाई, पृ. ३५५, डॉ. प्रभात

१. मीरां बाई, पृ. ३५६, डॉ. प्रभात, २. मीरां बाई पृ. ३५४, डॉ. प्रभात

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ भी हो, मीरां पर चैतन्य की परकीया प्रेमलक्षणा माधुर्य भक्ति का प्रभाव अवश्य पड़ा है। द्वैताद्वैत वेदान्त के आचार्य निम्बार्क भक्तों के लिए भगवान् की चरण सेवा ही प्रमुख मानते हैं तथा कृष्ण को ही परम देव मानते हैं। शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं उज्ज्वल (माधुर्य) इनमें से किसी भी भाव से कृष्ण की भक्ति की जा सकती है, ऐसा भी उनका मत है। मीरां स्वयं उज्ज्वल-रस (मधुर-रस) की भक्त थीं एवं कृष्ण ही उनके एक मात्र आराध्य थे। निम्बार्क संप्रदाय में 'प्रेमलक्षणा-अनुरागात्मिका पराभक्ति' को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। देखा जाए तो मीरां की भक्ति इसका उज्ज्वल उदाहरण है। निम्बार्क ने राधा को कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति मानकर उसे 'अनुरूप सौभगा' कहा। इस प्रकार उन्होंने कृष्ण के समान ही राधा को भी परमाराध्या माना, पर मीरां ने राधा को नहीं, किन्तु कृष्ण को ही प्रमुख माना है, क्योंकि स्त्री होने के कारण राधा के स्थान पर तो जन्मजन्मान्तर से वही स्वयं उनके प्रेम की प्रतीक्षा कर रही थी। मीरां ने सूर आदि अष्टछापी कवियों की भांति योगदर्शन एवं सांख्यदर्शन की ज्ञानात्मिका निवृत्ति की भी उपेक्षा की है। 'जोगी होयाँ जुगत ना जाणा उलट जनमरा फांसी।' जिसने श्रीकृष्ण से प्रेम करने की भक्ति-युक्ति नहीं जानी और कोरा 'जोगी' हो गया तो उलटा उसका जन्म ही व्यर्थ गया। ऐसा योग के संबंध में मीरां ने कई स्थानों पर कहा है। ज्ञान की तो मीरां ने कहीं अधिक चर्चा ही नहीं की है। शुद्धाद्वैत-वेदान्त के अनेक सिद्धांत मीरां के काव्य में प्रतिबिम्बित हुए हैं। मीरां ने पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षा नहीं ली और न उन्होंने पुष्टि-संप्रदाय के आचार्यों के साथ बैठकर ब्रह्म चर्चा ही की थीं, पर उनके पदों में ब्रह्मवाद के विचार मिलते हैं। गुजरात में नरसी महेता (वि. संवत् १४६९-७०) शुद्धाद्वैत-वेदान्त के भाष्यकर्ता आचार्य वल्लभ (संवत् १५३४) से ६६ वर्ष पूर्व[1] हुए फिर भी उनके गुजराती कृष्ण-साहित्य में शुद्धाद्वैत-वेदान्त के सभी तत्त्व पूर्णरूपेण निरूपित हुए हैं।[2] इसी प्रकार मीरां के पद साहित्य में भी शुद्धाद्वैत-वेदान्त के तत्त्व यथास्थान निरूपित हुए हैं। संत मत विभिन्न साधनाओं का मिलन-बिन्दु है। वैष्णवों की रागानुगाभक्ति, सूफी-साधकों का प्रेम, नाथ-संप्रदाय के साधुओं की योग-साधना इत्यादि इसमें सहज ही में घुल-मिल गए हैं। जैसे अनेक धार्मिक विचारों का समन्वित रूप संत धर्म है, वैसे ही अनेक दर्शन एवं वेदान्त विषयक विचारों का समन्वित रूप संत मत है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में निर्गुणधाराओं में कबीर, दादू, नानक, रैदास इत्यादि संत हैं, वे इसी के अन्तर्गत आएँगे। मीरां अनेक संतों के संपर्क में आई थीं। अतः संतों की मिली-जुली दार्शनिक विचारधारा का प्रभाव भी मीरां पर अवश्य पड़ा। मीरां कहती हैं—

चाल अगम वा देस, काल देख्यां डरां।
भर्या प्रेम रां होज हंस केला करां। —मीरांपदावली

उपर्युक्त पंक्तियों में 'अगम देश' तथा 'हंस' का उल्लेख मीरां पर संतों के रहस्यवाद का ही प्रभाव है, जो दर्शन का एक विशेष अंग है। ब्रह्म को रहस्यमयी सत्ता माननेवाले प्राचीन संतों में कबीर, जायसी आदि सुप्रसिद्ध हैं। रहस्यमय ब्रह्म का 'देश' स्वरूप इत्यादि सभी कुछ 'अगम्य' है, मानव की बौद्धिक समझ के क्षेत्र से वह बाहर का विषय है। मीरां की ही भांति कबीर भी ब्रह्म की उस जगमगाती ज्योति को 'अगम' एवं 'अगोचर' बताते हैं, जहां किसी की भी पहुंच नहीं है। कोई भी इन्द्रिय उसे अपना विषय नहीं बना सकती।

---

१. सूरदास और नरसी महेता : तुलनात्मक अध्ययन, पृ. १९-२९, डॉ. भ्रमरलाल जोशी
२. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ८७ से ११८ पठनीय, डॉ. भ्रमरलाल जोशी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अगम अगोचर गमि नहीं, तहां जगमगै ज्योति।'[1] ब्रह्म स्वयं प्रकाश रूप है। 'भागवत' के प्रथम मंगलाचरण के छन्द ही में ब्रह्म को 'स्वराट्' कहा गया है, तथा संतों ने भी बिना तेल, बिना बाती, बिना सूत्र के कोटि–कोटि सूर्यों से भी अधिक प्रकाशयुक्त इस जाज्वल्यमान ज्योति को 'अकल' 'अविनाशी' एवं अगम्य कहा है और यही ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप भी है—

निरखने गगनमां कोण घूमी रह्यो, तेज हुं तेज हुं शब्द बोले।
श्यामना चरम मां इच्छुं छुं मरण रे, अहींया कोइ नथी कृष्ण तोले।

× × ×

जळहळ ज्योत उद्योत रवि कोटमां हेमनी कोर ज्यां नीसरे तोले।
सच्चिदानंद आनन्द क्रीडा करे, सोनाना पारणां मांही झूले।
बत्ति विण तेल विण सूत्र विण जो वळी, अचल झळके सदा अनल दीवो।
नेत्र विण निरखवो, रूप विण परखवो, वण जिह्वाए रस सरस पीवो।

नरसिंह महेताकृतकाव्यसंग्रह, पृ. ४८४, ४८५

गुर्जर धरा के आदि कवि नरसी महेता उस तेज को बिना आंखों से देखने, निर्गुण, निराकार रूप में उसे परखने एवं बिना जिह्वा के निराकार होने पर भी रस–रूप परब्रह्म के रस का पान करने को कहते हैं।

मीरां के काव्यकाल में विदेशी होने पर भी उदार सूफियों की प्रेम–भावना का भी हिन्दी साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है। मीरां की प्रेम–साधना एवं सूफियों के ऐकांतिक एवं भाव-विह्वल प्रेम में यत्किंचित् साम्य है। इस साम्य को कई विद्वान् मीराँ पर सूफियों का प्रभाव मानने को प्रस्तुत नहीं भी हैं।[1] दुनिया में जो कुछ है, सूफी उसे इश्क का जलवा मानते हैं। वे मौत को इश्क की बेहोशी मानते हैं। जिंदगी को वे इश्क की होशियारी मानते हैं। नेकी को वे इश्क की कुरवत मानते हैं। सूफी गुनाह को इश्क से दूर मानते हैं अर्थात् प्रेम करना किसी के भी लिए गुनाह नहीं है। सूफियों की यह प्रेम–साधना पूर्णतः ऐकान्तिक होने के साथ–साथ परम भावपूर्ण है। मीरां के काव्य में भी ये दोनों विशेषताएँ मिलती हैं। सूफियों में इसका गहरा, गंभीर रूप मिलता है। मीरां कहती हैं—

घायल री घूमां फिरा, म्हांरो दरद ना जान्यो कोय। मीरांपदावली, पद–५९

मीरां के साहित्य का मेरुदंड अपने प्रियतम गिरधर गोपाल के प्रति अन्यतम प्रेम है। प्रेम का सौंदर्य के साथ अभिन्न संबन्ध है। कई मनीषियों ने तो प्रेम के मूल कारण में सौदर्य को ही प्रमुख माना है।[2] सूफियों ने भी अपने प्रेम निरूपण में सौंदर्य का काफी डूबकर वर्णन किया है। मीरां भी गिरधर गोपाल के रूप पर ही भ्रमर की भाँति लुब्ध थीं। उनका सुन्दर वदन, उनके कमल–दल लोचन एवं उनकी बाँकी चितवन पर वह मुग्ध थी। इसीलिए तो उसने उनको जन्मजन्मान्तर के लिए अपना स्वामी, पति मान लिया था। मीरां पर सूफियों के प्रेम का प्रभाव कितना पड़ा, यह कहना कठिन है। मीरां एक ओर सगुण–साकार गिरधारीलाल से प्रेम करती थीं तो दूसरी ओर वह 'अविनासी' ब्रह्म की भी चर्चा करती हैं, जो वेदान्त के क्षेत्र में निराकार माना गया है। तुलना की दृष्टि से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सूफियों का प्रेम निराकार के प्रति था जब कि मीरां का अधिकांश प्रेम निरूपण सगुण–साकार गिरिधर गोपाल को लेकर था।

१, मीरांबाई, पृ. ३६७, डॉ. प्रभात
२. द मिस्टीकल फिलासफी आव महीनुद्दीन इब्नुर अरबी, ए. ई. एफी, फीनी, पृ. १७३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निष्कर्ष यह कि मीरां पर भारतीय दर्शनों में से योग, सांख्य तथा वेदान्त की धाराओं में से विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत तथा संत मत का प्रभाव परिलक्षित होता है। साथ ही रामानन्द की प्रपत्ति एवं चैतन्य की प्रेममूला भक्ति तथा माधवेन्द्र पुरी की गोपाल पूजा का प्रभाव भी उन पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।[1]

अष्टछाप के कवियों की भाँति मीराँ का कृतित्व एवं व्यक्तित्व दोनों किसी एक बंधी-बंधाई सांप्रदायिक विचारधारा, सेवा-उपासना की परिधि में आबद्ध नहीं था, अपितु वह मदगंधि वन्य पुष्प की भाँति स्वतंत्र वातावरण में पल्लवित एवं पुष्पित हुआ था। तभी वह चैतन्य संप्रदाय के जीव गोस्वामी को तक दबंग भाव से यह सुना सकी कि व्रज में श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य भी कोई पुरुष है, यह मुझे आप से आज ज्ञात हुआ। बंधे-बंधाये घेरे में जीनेवालों की इससे भिन्न स्थिति होती है। वह स्वतंत्रतापूर्वक कुछ सोच ही नहीं सकता। संप्रदाय का आचार्य पहले से ही उसकी बुद्धि को, स्वतंत्र वैयक्तिक विचारधारा या मान्यता को नष्ट करके उसे अपनी मान्यता का गुलाम बना लेता है। फिर अनुयायी आचार्य के मस्तिष्क से सोचता है, आचार्य की आंख से देखता है। फिर शरीर मात्र व्यक्ति ढोता है और जो कुछ वह करता है, वह परोपदिष्ट ही करता है। हमारे यहाँ कहा गया है—**'तर्को वै ऋषिः'**[2] जो तर्क कर सकता है वह ऋषि है। यास्क की मृत्यु के समय उसके शिष्य रो रहे थे तब उन्होंने बड़े ही करुण भाव से कहा-**'तर्को वै ऋषिः'** मैंने तुम्हें तर्क करना सिखा दिया है, विवेकपूर्वक सोचना एवं शास्त्रार्थ करना सिखा दिया है, अब तुम स्वयं ऋषि हो, फिर क्यों रो रहे हो?' यह तो हमारी प्राचीन वैदिक-कालीन ऋषि परंपरा की बात है, पर बाद के पुराणकाल ने तर्क को समाप्त कर दिया और अन्ध-विश्वास को जन्म दिया। आचार्य कहे सो मानो, और जो वह कहे वैसा ही करो। इसी कारण उनके काव्य में भी दर्शन एवं वेदान्त-विषयक विचारों का उत्तरोत्तर वर्द्धमान एवं विकचमान बहुमुखी वैविध्य दृष्टिगत होता है। यद्यपि भक्ति भी वेदान्त का एक अंग है, फिर भी उपासना के क्षेत्र में अलौकिक सत्ता के प्रति भक्ति एक प्रारंभिक आचरण है तो उसका अंतिम एवं चरम बिन्दु है-निर्गुण अगम-अविनासी ब्रह्म, जो केवल संतों एवं योगियों का स्वानुभूति का, ध्यान का विषय है। भक्त जब कि इन्द्रिय-ग्राह्य सगुण की लीला कल्पना में मग्न रहता है तब वेदान्ती उस निराकार ब्रह्म की अपने अन्तःकरण में अनुभूति करता है और यही सत्य ध्यान का विषय है—**'सत्यं परं धीमहि'** (श्रीमद्भागवत, मंगलाचरण)

ब्रह्म : यह तो निश्चित है कि मीरां के प्रियतम और इष्टदेव लीला पुरुषोत्तम, नटनागर, रास रसेश्वर, यशोदोत्संग लालित भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही थे। जिनको मीरां ने 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई' कहा है। इस तरह यह तो स्पष्ट हो जाता है कि मीरां श्रीकृष्ण को ही सगुण-साकार परब्रह्म मानती हैं। वेदान्त धाराओं में द्वैत-वेदान्त, द्वैताद्वैत-वेदान्त, शुद्धाद्वैत-वेदान्त एवं अचिन्त्यभेदाभेद-वेदान्त में श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म माना गया है। मीरां एक पद में अपने मन से कहती हैं : 'हे मन, तू हरि के चरणों का स्पर्श कर। तू उनकी शरण जा। जो सुन्दर हैं। शीतल हैं। कमल से भी अधिक सुकोमल हैं। जगत् की ज्वालाओं एवं संतापों का हरण करने वाले हैं। प्रह्लाद ने इन्द्र के पद को धारण करने के लिए इन्हीं चरणों का आश्रय लिया था। इन्हीं चरणों ने वामनावतार में ब्रह्माण्ड को माप लिया था और उसे नख से शिख तक श्रियों से विभूषित कर दिया था। इन्हीं चरणों ने कालीनाग को नाथा था। इन्हीं चरणों ने गोपियों के साथ लीला की थीं। इन्हीं चरणों ने इन्द्र का गर्व हरण करने के लिए गोवर्धन धारण किया था। हे गिरधरलाल, मीरां आपकी दासी है और आप 'अगम' 'तारण-तरण' हैं—

---

१. मीरांबाई, पृ. ३६८, डॉ. प्रभात, २. निरुक्तकार यास्क

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मण थें परस हरि रा चरण ।
सुभग सीतल कंवल कोमल, जगत ज्वाला हरण ।
इण चरण प्रह्लाद परस्यां, इन्द्र पदवी धरण ।
इण चरण ध्रुव अटल करस्यां, सरण असरण सरण ।
इण चरण ब्रह्माण्ड भेट्यां, नखसिखां सिरीभरण ।
इण चरण कलियां नाथूयां, गोपीलीला करण ।
इण चरण गोवरधन धार्यां, गरब मघवा हरण ।
दासि मीरां लाल गिरिधर, अगम तारण तरण । –मीरांपदावली, पद–१, प.च.

शुद्धाद्वैत वेदान्त में श्रीकृष्ण को सच्चिदानन्द परब्रह्म स्वीकार किया गया है एवं श्रीकृष्ण को ही नित्य व्रज धाम से लीला करने के लिए भूतल पर अवतरित होना निरूपित किया गया है। उपर्युक्त पद की अंतिम तीन पंक्तियों श्रींकृष्ण के भूतल पर अवतरित होकर गोपियों के साथ लीला करने का उल्लेख है। अर्थात् मीरां के गिरधरलाल के चरणों की दासी कहा गया है । आचार्य रामानुज ने विशिष्टाद्वैत-वेदान्त के अन्तर्गत नारायण की भक्ति को स्वीकार करके 'प्रपत्ति' को ही भक्ति का एकमेव आधार माना है। मीरां दासी बनकर श्रीकृष्ण के चरणों के आश्रय की कामना कर रही है । विशिष्टाद्वैत वेदान्त में जीव को ब्रह्म का दास माना है । महाकवि तुलसीदास भी कहते हैं—'सेवक-सेव्य भाव विनु, भव न तरिय उरगारि ।' 'हे गरुड, सेवक-सेव्य की भक्ति के विना भवसागर को पार करना संभव नहीं।' मीरां के इस पद में विशिष्टाद्वैत-वेदान्त में स्वीकृत जीव का दास्यभाव निरूपित हुआ है। दास्यभाव में चरण-सेवा ही प्रमुख हैं जब कि माधुर्य में परमात्मा के मुखारविंद का सेवन महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस पद में परब्रह्म गिरिधर-लाल के चरणों का माहात्म्य बताते हुए उन्हें वामनावतार में संपूर्ण ब्रह्माण्ड को माप करके उसे उन्होंने नख से शिख तक श्रीसम्पन्न कर दिया है, ऐसा निरूपित किया है । 'श्री' केवल परब्रह्म का ही आभरण है, ऐसा मीरां यहां निर्देश कर रही है । मीरां ने गिरिधरलाल के चरणों को 'अगम-तारण तरण' कहा है । 'अगम' शब्द से गिरिधरलाल के अगाध माहात्म्य को प्रकट किया गया है । आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म को अगाध माहात्म्य से सम्पन्न कहा है । पर ब्रह्म का जब अनुग्रह होता है तभी वह जीव को भवसागर से पार उतार देता है । भवसागर से पार होने के लिए अर्थात् मोक्ष के लिए भी एकमेव गिरधरलाल के चरणों का अनुग्रह ही आधार है । मीरांने इस तथ्य को 'तारण-तरण' द्वारा स्पष्ट किया है । 'श्रीमद्भागवत' में कहा गया है-'पोषणं तदनुग्रहः' तत्-तस्य, परब्रह्मश्रीकृष्णस्य, अनुग्रहः-कृपा, पोषणम्-पुष्टि, सम्पुष्टि । जीव परब्रह्म श्रीकृष्ण के अनुग्रह से ही परिपुष्ट होता है अर्थात् आनंद से भर जाता है। जीव में आनंदांश नहीं होता । भगवदनुग्रह से ही वह प्राप्त होता है । इस प्रकार मीरां ने शुद्धाद्वैत-वेदान्त तथा पुष्टिसंप्रदाय में निर्दिष्ट भगवदनुग्रह का भी 'तरण-तारण' उल्लेख द्वारा निरूपण किया है । इस प्रकार इस एक पद में ही मीरां ने ब्रह्म के लीला स्वरूप एवं उसके अगाध माहात्म्य को प्रकट कर दिया है । मानव जीवन का प्रमुख नियामक (डिरेक्टर, मन है । मन सत्-असत् जिधर भी जीवन को गतिशील करता है, मन उधर ही चल देता है । महापुराण, 'श्रीदेवीभागवत' में कहा गया है-'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण मन ही है । 'बन्धन' का संबंध अविद्या से है। मन ही सांसारिक विषयों में डुबाकर मानव को बंधन में जकड़ता है तो मन ही मानव को सात्त्विक विषयों में प्रवृत्त करके उसे विषयों से, संसार से मुक्त करता है । अतः मीरां ने भी मन को ही संबोधित करके कहा है कि-'हे मन, तू हरि के चरण-कमलों का आश्रय ले । आचार्य वल्लभ लिखते हैं—

'नीचाश्रयो न कर्तव्यः कर्तव्योमहदाश्रयः'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीच का नहीं, किन्तु महान् का आश्रय ग्रहण करो। जीव के लिए परब्रह्म श्रीकृष्ण के चरण कमलों के आश्रय के अतिरिक्त अन्य कौन-सा महान् श्रेष्ठ आश्रय हो सकता है ? दूसरा मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि मन से ही सभी क्रियाएँ होती हैं। आखें कभी-कभी देखती हुई भी नहीं देखतीं, श्रवण शक्ति बराबर होने पर भी कभी-कभी निकटस्थ ध्वनि को भी मानव नहीं सुन पाता है, क्योंकि उसका मन कहीं अन्यत्र होता है। अतः मीरां ने भी अपने मन को ही भगवच्चरणों का आश्रय लेने को कहा है क्योंकि वह इन्द्रियों से भी बलवत्तर एवं प्रमुख है। इन्द्र द्वारा मरणासन्न स्थिति तक पहुँचा वृत्रासुर भगवान् विष्णु की स्तुति करता हुआ कहता है—'जिनके पंख अभी तक नहीं फूटे हैं, ऐसे शावक अपने घौंसलों में से लाल-लाल चोंचे निकाल कर जिस मन से चुगा लेने गई अपनी माता की प्रतीक्षा करते हैं, सवेरे से जंगल में चरने गई अपनी माता की साँझ के समय भूखा बछड़ा जिस मन से प्रतीक्षा करता है, कोई वियोग संतप्ता प्रेयसी विदेश में गए अपने प्रियतम की गवाक्ष में बैठकर जिस मन से प्रतीक्षा करती है, मैं इसी तरह के तीव्र मन से हे कमलनयन ! आपके दर्शन करना चाहता हूँ'—

> अजातपक्षा इव मातरं खगाः, स्तन्यं यथा वत्सतराःक्षुधार्ताः ।
> प्रियं प्रियैव व्युषितं विषण्णा, मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥ श्रीमद्भागवत

मीरां भी ऐसे ही तीव्र मन से 'अगम तारण-तरण' गिरधरलाल के चरणों का आश्रय लेना चाहती हैं। उपर्युक्त पद का निष्कर्ष यह कि परब्रह्म श्रीकृष्ण के अनुग्रह से जीव भवसागर पार हो सकता है। जीव ईश्वर से भिन्न है, इस प्रकार की द्वैतवेदान्त की विचारधारा भी इस पद में व्यक्त हुई है। ईश्वर महान् है एवं जीव लघु है, दीन-हीन है, ऐसा मीरां कहना चाहती हैं। शुद्धाद्वैत-वेदान्त में जीव को ऐश्वर्याभाव में दीन-पराधीन, वीर्याभाव में दुःखी, यशाभाव में हीन, श्री के अभाव में जन्म-मरणादि अनेक दोषों से युक्त, ज्ञानाभाव में अहंकारी एवं सभी पदार्थों में विपरीत बुद्धिवाला तथा वैराग्य के अभाव में विषयासक्त कहा है। उपर्युक्त पद में मीरां ने स्वयं को सभी तरह से दीन-हीन कह कर भगवान् के चरणों के आश्रय की कामना की है। इस प्रकार इस पद में शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव के दैन्य का भी निरूपण हुआ है। वह दीन-हीन है तभी तो दासभाव से गिरधरलाल के अनुग्रह की कामना कर रहा है।

मीरां कहती हैं—"इन चरण ब्रह्माण्ड भेट्यां, नखसिखां सिरीभरण" नख से शिखा तक श्रियों से विभूषित करने के लिए हरि गिरधरलाल ने अपने चरणों से वामनावतार में ब्रह्माण्ड को माप लिया। यह तो इस कथन का अभिधेयार्थ है, शब्दार्थ मात्र है। इन्द्रिय गोचर एवं इन्द्रियातीत समग्र सौंदर्य 'श्री' के अन्तर्गत आता है। ब्रह्म की अगाध शक्ति माया है, 'श्री' उसी माया का अंग है। मीरां यह कहना चाहती हैं कि अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त 'श्री' ब्रह्म के संस्पर्श मात्र का परिणाम है। गुजराती में आद्याशक्ति की प्रार्थना की एक पंक्ति है—'माडी तारू कंकु खर्यु ने सूरज ऊग्यो' हे माता, यह जो सूर्य है, वह तेरी कुंकुम से भरी माँग से गिरे कुंकुम का एक अणु मात्र है। यही 'श्री' है। विश्व में चर-अचर सर्वत्र जो 'श्री' व्याप्त है वह ब्रह्म का ही संस्पर्श मात्र है। यह 'श्री' व्यक्ति, परिवार, समाज, ग्राम, नगर, राष्ट्र सर्वत्र अपनी समग्रता में व्याप्त है। 'मार्कण्डेयपुराण' के देवी माहात्म्य (चण्डीपाठ, अध्याय ४, मंत्र-५) में ऋषि मार्कण्डेय भगवती की स्तुति करते हुए कहते हैं—'हे माता ! पुण्यात्माओं के यहां तू श्री के रूप में निवास करती है—'या श्रीः स्वयं सुकृतिनाम्' [1] अर्थात् ब्रह्म का परम सात्त्विक तेजोमय स्वरूप ही श्री है। श्री का कारण एवं जनक स्वयं ब्रह्म ही है, जो स्वराट् है। मीरां यह कहना चाहती हैं कि हरि के चरण के स्पर्श मात्र से ही ब्रह्माण्ड अनन्त-अनन्त श्रियों से समलंकृत हो उठा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी का परिणाम है, समस्त तेज पिण्ड नक्षत्र एवं चराचर सृष्टि । इस प्रकार मीरां ने यहाँ ब्रह्म ही ब्रह्माण्ड का कारण है, इस तथ्य को काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया है । जड़-चेतन समग्र उसी ब्रह्म के ही सौंदर्य का, श्री का एवं रस का परिणाम है, ऐसा मीरां कहना चाहती हैं ।

'श्री' के अर्थ को थोड़े में कह पाना कठिन है । व्यक्ति में जो कुछ उत्तम है, आचार-विचार, तपस्या, सत्य, दया, कृपा, स्नेह, परोपकार, दान ये सभी 'श्री' हैं। कर्ण के हाथ में 'श्री' थी । बुद्ध, महावीर एवं ईशु के अन्तःकरण में 'श्री' थी । महाकवि कालिदास, कबीर, सूर, तुलसी की वाणी में 'श्री' थी । समुद्रगुप्त, प्रताप, शिवाजी, रानीझाँसी, के बाहुओं में 'श्री' थी। इस प्रकार 'श्री' का इतना विस्तार है कि उसे परिभाषा में बांधना संभव नहीं । **'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'** माधुर्य के अधिपति का अणु-अणु मधुर है । वास्तव में 'श्री' ही श्रीकृष्ण के विग्रह में माधुर्य के रूप में रूपायित हो उठी है । **'रसो वै सः'** के रूप में 'छान्दोग्योपनिषद्' में ब्रह्म को रस रूप कहा गया है, वह भी यह 'श्री' ही है । यह समस्त ब्रह्म की लीला विस्तार भी 'श्री' का ही परिणमन है । ब्रह्म 'श्री' संपन्न है, तभी तो उसने अपने पदाक्रान्त से समस्त ब्रह्माण्ड को श्रियों से समलंकृत कर दिया है । ब्रह्म कारण है एवं ब्रह्माण्ड उसका कार्य है । कारण शुद्ध है, श्री संपन्न है । इस रूप में यहाँ शुद्धाद्वैत वेदान्त के स्वराट् एवं रसरूप आधिदैविक परब्रह्म का निरूपण हुआ है । इस प्रकार जगत् में जहां कहीं भी 'श्री' है, सौन्दर्य है, सात्त्विकता है, वह रसरूप परब्रह्म का ही अंश है । 'श्री' एक संन्यासी के पास भी हो सकती है । आचार्य शंकर श्री-संपन्न थे । एक गृहस्थी के पास भी हो सकती है और एक वेश्या के पास भी । उसे देखने, परखने समझने के लिए परम संवेदनशील हृदय एवं तंत्रात्मक मेधावी क्रान्तद्रष्टा व्यक्तित्व परम आवश्यक है ।

ब्रह्म के विराट् स्वरूप एवं अगाध माहात्म्य को इस प्रकार की सरलतम मध्यकालीन राजस्थानी की एक लोकभाषा में एवं प्रसादात्मक काव्य-शैली में प्रस्तुत करना यह अपने आप में असाधारण काव्य-प्रतिभा का द्योतक है । जिसका समग्र जीवन ब्रह्ममय हो चुका हो, उसीके द्वारा यह संभव है । जैसे कोई हीरक मणि खदान से ही ब्रह्म के स्वराट् रूप की भाँति परम चाकचक्य अवस्था में अपने समस्त संस्कारों के साथ आविर्भूत हुई हो, वैसे ही अपनी सहज लोक-प्रतिभा के साथ मीरां हिन्दी साहित्य के मंच पर एक वरदान के रूप में अवतीर्ण हुईं । मीरां जैसी सहज लोक-प्रतिभा हिन्दी साहित्य में विरल है । हां, गुजरात के पास ऐसी एक प्रतिभा है और वह है नरसी महेता । कबीर की उलटबासियां, सूर के दृष्टिकूट परम श्लिष्ट पद, तुलसी का प्रशान्त महासागर की भाँति गुरु गंभीर काव्य-पाण्डित्य, केशव का 'केशव अर्थ गम्भीर को अर्थ गम्भीर काव्य, बिहारी की गंभीर घाव करनेवाली रीतियुक्त लघु छंद शैली पाठक को सहज ही में काव्य के हार्द तक नहीं पहुंचा पाई, पर जैसे श्वेत वस्त्र जल में डालते ही जल के अणुओं को आत्मसात कर लेता है,वैसे ही मीरां एवं नरसी के काव्य को पढ़ने के साथ ही पाठक का रोम-रोम काव्य-रस में डूब जाता है । मीरां कहती हैं—**'भींजे म्हारो दांवन चीर, सावणियो लूम रह्यो रे ।**[1] मीरां के तन-मन के आकाश में यह कौन-सा 'सावणियो' 'लूम' रहा है । यह एकमात्र काव्य-पंक्ति ही मीरां को काव्यत्व के उच्चतम बिन्दु तक पहुँचाने के लिए पर्याप्त है । बदलियाँ बरस रही हैं । मीरां का दामन भीग रहा है । अपने भीगे यौवन को ही यहां लूमना (भार से झुका जाता जो अभी-अभी टूट पड़ेगा ऐसा) रसस्निग्ध, गदराया यौवन कहा है । जो प्रिय कृष्ण के लिए बरसने को तत्पर है, पर कृष्ण कहां है, जो दामन पकड़े और इस रस को झेले । वह तो-

आप तो जाय विदेसां छाये जिवड़ो धरत न धीर ।[2] मीरांपदावली, पद-१२१ प. च.

१. मीरांपदावली, पद-१२१, प. च. २. मीरांपदावली पद-१२१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदेश बैठा है और इधर मीरां की धीरज टूट चुकी है । जो मेवाड़ का मूल निवासी हो; भले ही फिर वह निरक्षर, ग्रामीण ही क्यों न हो, इस पंक्ति को पढ़कर कुछ समय के लिए तो वह अपने आप में खो ही जाएगा ।

नरसी महेता लिखते हैं—'हे कृष्ण ! मेरी चुँदड़ी भीग रही है, शीघ्र आओ, और मुझे कंबलीं ओढ़ा दो । नहीं तो मुझे हृदय से लगा लो । वर्षा में भीगे मेरे खुले अंग काँप रहे हैं—

कांवली ओढ़ाड़ो रे, कहान, मारी चुदड़ी भींजे,
नहीं को मुने हृदया भींडो, अंग उघाडुं धूजे रे ।[1]

कैसा है जीवनोत्सव ? कैसा है काव्योत्सव ? पहले कहा जा रहा है, चुँदडी भीग रही है, फिर कहाँ जा रहा है, मेरे खुले अंग काँप रहे हैं । दोनों कैसे विरोधाभासी वचन हैं, पर ध्वनि कुछ और है, माँग कुछ और है ?

मीरां का यह स्वयं का विप्रलंभ वचन है तो नरसी की गोपिका का संभोग श्रृंगार से सम्बद्ध कथन है, पर भावाभिव्यक्ति में कितना साम्य है ? एक स्त्री है और दूसरा पुरुष है, पर साधारणीकरण की मधुमति भूमिका में, काव्य-समाधि में लिंग पीछे छूट गया है । वह धरती का विषय है तभी आज शताब्दियों के बाद भी मीरां एवं नरसी लोक-जिह्वाओं पर अमर हैं । आपको आश्चर्य होगा, गुजरात के गाँव के लोग मेवाड़ को मेवाड़ के नाम से कम पर **'मीरांबाईनो देश'** के नाम से ज्यादा जानते हैं । बताइए, इस प्रकार की हिन्दी में लोक-प्रतिभा ? एक भी पंक्ति किसी भी कवि की ऐसी हो तो उसका जीवन धन्य है—

भींजे म्हांरों दावन चीर, सावणियो लूम रह्यो रे ।

सगुण लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र, गिरधरलाल के प्रति ऐसे कथन हिन्दी साहित्य की अमर-निधि हैं ।

मीरां एक पद में कहती हैं—हे राम, आप मेरे यहाँ पधारिए । मैं स्वागत के लिए आपको सामने लेने आऊँगी । आपके मिलने से मुझे अतीव सुख मिलेगा और मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हो जाएँगे । जैसे सूर्य और उसके 'धाम' में कोई अंतर नहीं है, वैसे ही मेरे और आपके बीच कोई अंतर नहीं है । हे सुन्दर श्याम ! मीरां के अन्तःकरण में और राम-श्याम, आपके अन्तःकरण में कोई अंतर नहीं है—

म्हारे आज्यो जी रामा, थारे आवत आस्या सामा ।
तुम मिलिया मैं वोही सुख पाऊँ, सरँ मनोरथ कामा ।
तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं, जैसे सूरज घामा ।
मीरां के मन अवर न माने, चाहे सुंदर श्यामा ॥ मीरांपदावली, पद-११४ प. च.

मीरां ने 'सूरज' और 'घाम' के ऐक्य के द्वारा आत्मा और परमात्मा के ऐक्य को प्रकट किया है । यों विचार करें तो यहाँ परमात्मा एवं आत्मा में अंशी-अंश भाव प्रकट हुआ है । 'सूरज' अंशी है तथा 'घाम' अंश है । इस रूप में हम इसे समझें तो यहाँ शुद्धाद्वैत-वेदान्त के अनुसार ही मीरां ने ब्रह्म के साथ अपना संबंध स्थापित किया है । शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार अक्षरब्रह्म के चिदंश से अग्नि से विस्फुलिंगों की भाँति जीवों का तथा सद् अंश के जड़ जगत् का परिणमन हुआ हैं । विस्फुलिंग अग्नि के अंश हैं वैसे ही यहाँ भी 'घाम' 'सूरज' का अंश है । 'सूरज' शुद्ध है तो उससे परिणमित अथवा उसका अंश 'घाम' भी शुद्ध है । जिस प्रकार सूर ने चराचर सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त ब्रह्म को जल और बुद्बुद्

१, नरसिंह महेताकृतकाव्यसंग्रह, इच्छाराम सूर्यराम देसाई, पृ. २९७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में बताया है, उसी प्रकार मीरां ने भी सूरज और उसके 'घाम' द्वारा। बुद्बुदे जल से परिणत हुए हैं और वे जल अविकृत रूप हैं, उसी प्रकार 'धाम' भी सूर्य का अविकृत परिणमित रूप है, ऐसा स्पष्ट किया गया है। यों हम देखें तो मीरां ने 'सूरज' एवं 'घाम' के द्वारा शुद्धाद्वैत-वेदान्त में सृष्टि की उत्पत्ति के लिए स्वीकृत अविकृत परिणामवाद के। ही प्रकट किया हैं। सूर ने चराचर सृष्टि की उत्पत्ति के। जल एवं बुदबुदों के द्वारा समझाया है, पर मीरां ने तो स्वयं को राम एवं श्याम के साथ वैसे ही अभिन्न बताया है, जैसे कि 'सूरज' एवं 'घाम'। इस प्रकार सूर एवं मीरां के कथनों की तुलना करें तो सूर ने जहाँ केवल शुष्क उदाहरण द्वारा जो तथ्य प्रकट किया है, मीरां ने उसी तथ्य को अपने ही जीवन के साथ संबद्ध कर दिया है। राम-श्याम अंशी हैं तथा मीरा स्वयं उनका अंश है। जल जैसे जीवन है-'**जीवनं जलम्**' (अमरकोश) वैसे ही सूर्य को भी श्रुतियों में जगत् की आत्मा कहा है—'**सूर्य आत्मा जगतः...**(यजुर्वेद) सूर अपने कथन में तटस्थ हैं, वहां मीरां माधुर्यभाव से स्वयं के। एक प्रेयसी के रूप में प्रियतम राम-श्याम के सामने प्रस्तुत कर रही हैं। मीरां राम-श्याम की प्रतीक्षा कर रही हैं। उनके आने से उसके सभी मनोरथ पूर्ण हो जाएंगे। यहां ब्रह्म एवं जीव की वेदान्त की दृष्टि से भिन्नता भी प्रकट हुई है। 'सूरज' एवं 'घम' की तरह अभिन्न होते हुए भी मीरा प्रियतम श्याम की प्रतीक्षा कर रही है। आचार्य शंकर के अतिरिक्त विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत तथा अचिन्त्यभेदाभेद इत्यादि वेदान्त धाराओं ने सगुण की महत्ता स्वीकार कर के जीव को अंशतः भिन्न माना है। इस प्रकार यहां मीरां ने उपर्युक्त वेदान्त धाराओं में निरूपित निरूपित ब्रह्म-जीव के संबंध को भी व्यक्त किया है।

शुद्धाद्वैत वेदान्त के '**सप्रकाशस्तत्त्वदीपनिबन्धः**' ग्रंथ में ब्रह्म को अन्तर्यामी भी कहा गया है। '**आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामि रूपिणः**'। ब्रह्म अन्तर्यामी है एवं वह सभी के अन्तःकरण में आनन्दांश के रूप में विराजमान है। मीरां सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण से मिलने के। तड़प रही है। वह उनके दर्शन करना चाहती हैं। जैसे बिना जल के कमल और बिना चाँद के रजनी रह नहीं सकती, वैसे ही मीरां भी श्रीकृष्ण के बिना जी नहीं सकतीं। वह आकुल-व्याकुल होकर कठिनाई से रात बिता पातीं है। विरह उसके कलेजे को खाए जा रहा है। न दिन के। भूख लगती है और न रात को नींद आती है। मीरां के दर्द को सुननेवाला भी तो कोई नहीं है। वह किससे कहे? प्रियतम से ही हृदय का ताप मिट सकता है। अन्त में वह कहती है—हे अंतर्यामी! आप मुझे क्यों तरसा रहे हैं। शीघ्र आकर मिलें, जिससे मेरा दुःख-दर्द मिट जाए। मैंने तो जन्म-जन्मान्तर से तुमसे ही स्नेह का नाता जोड़ रखा है, फिर मुझे क्यों तड़पा रहे हो। मैं तो सदा से, जन्म-जन्मान्तर से आपकी ही दासी रही हूँ—

> प्यारे दरसण दीज्यो आय, थें विण रह्या ण जाय।
> जल विण कंवल, चन्द विण रजनी, थें विण जीवन जाय।
> आकुल व्याकुल रैण बितावा, विरह कलेजो खाय।
> दिवस ण भूख, निंद्राण रैणो. मुख सूं कह्या न जाय।
> कोण सुणे कासूं कहिये री, मिल पिव तपण बुझाय।
> क्यूं तरसावां अन्तरयामी, आय मिलो दुख जाय।
> मीरां दासी जन्म-जन्म री, थारो णे लगाय।। मीरांपदावली, पद-१०१ प. च.

अंतिम पंक्ति में प्रयुक्त 'णे' शब्द स्नेह का अपभ्रंश रूप है, जो सगुण परब्रह्म श्रीकृष्ण है, वही अंश रूप में मीरां के घट में विराजमान अन्तर्यामी है। वह निर्गुण एवं सूक्ष्म रूप में अन्तर्यामी है तो सगुण-साकार रूप में लीला पुरुषोत्तम गिरधरलाल है। इस पद में मीरां ने शुद्धाद्वैत-वेदान्त में स्वीकृत ब्रह्म के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्यामी रूप एवं लीला-पुरुषोत्तम रूप दोनों रूपों को स्वीकार किया है। इस पद में भक्ति एवं प्रेम दोनों के भाव अनुस्यूत हैं। श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, अन्तर्यामी हैं। अतः भक्ति के विषय हैं। साथ ही मीरां उनकी जन्मजन्मान्तर से दासी है और उसने उन्हीं से स्नेह किया है, अतः वह प्रीतिपात्र भी है।

मीरां ने संतों की भांति 'घट-घटवासी' अन्तर्यामी ब्रह्म का भी कई रूपों में वर्णन किया है। मीरां कहती हैं कि मैं विरहिणी हूँ और मेरे अन्तर में निवास करनेवाला परमात्मा मेरे विरह की तड़प को अच्छी तरह जानता है। इस प्रकार रोगी के भीतर ही वैद्य रहता है, जो रोगी की औषध जानता है। अंतर में विरह की पीड़ा व्याप्त है और बिना हरि के सभी कुछ सूना है। जैसे कोई दुग्धस्तन-भारवती गाय बछड़े के वियोग में अरण्य में घूमती फिरती है, कि बछड़ा आकर दूध पी जाए तो दुग्ध भार से जो स्तन फटे जा रहे हैं, उनकी पीड़ा कम हो जाए तथा जैसे चातक का मन केवल स्वाति की बूंद में ही रहता है, वैसे ही मीरां श्रीकृष्ण के लिए व्याकुल है। अर्थात् कोई सवत्सा धेनु वत्स के वियोग में तड़पे एवं चातक स्वाति की बूंद के लिए व्याकुल हो, वैसे ही मीरां भी व्याकुल हो रही है। दुनिया सारी कूड़ा करकट है। दर्द को पहचानने वाला यहाँ कोई नहीं है। मीरां का पति 'रमैया' ही केवल उसके दर्द को जानता है—

को बिरहिनी को दुःख जांणै हो।
जा घट बिरहा सोइ लखि है, कै कोई हरिजन मानै हो।
रोगी अंतर वैद बसत है, वैद ही ओखद जांणै हो।
बिरह दरद उरि अन्तरि मांही, हरि विणि सब सुख कांनै हो।
दुगधा आरण फिरै दुखारी, सुरत बसी सुत मांनै हो।
चात्रग स्वाति बून्द मन मांही, पील उकलांणै हो।
सब जग कूड़ो कंटक दुनिया, दरध न कोई पिछाणै हो।
'मीरां' के पति आव रमैया, दूजो नहिं कोइ छाँणै हो। मीरांपदावली, प.७३ प.च

कबीर ने जैसे अपने 'पीव' को अन्तर में बसा हुआ कहा है, वैसे ही मीरां ने भी। कबीर के अनुसार अविद्या का अंधकार का आवरण बीच में पड़ा है, उसे हटा दिया जाए तो घट में बसने वाले प्रियतम परमात्मा के दर्शन अवश्य हो सकते हैं—

घूंघट के पट खोल रे, तोकु पीव मिलेंगे। -कबीरग्रंथावली,आचार्य चतुरसेन शास्त्री

मीरां ने अन्तर्यामी ब्रह्म की बात कही है तब उसे अविनासी, जोगी, रमैया इत्यादि संबोधनों से अभिहित किया है और जब उसने लीला पुरुषोत्तम सगुण श्रीकृष्णचन्द्र का स्मरण किया है तब उसे प्रभु, गिरिधरलाल, सांवरा, श्याम, हरि, गिरवर नागर, गोविंद, साजन,[1] मोहनलाल, बिहारी,[2] नाथ जैसे मधुर संबोधनों से अभिहित किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मीरां पर संतों के अविनाशी, घट-घटवासी निर्गुण का भी प्रभाव पड़ा था। मीरां के समय में राजस्थान में योगियों एवं नाथ-मुनियों का प्रभाव था। मेवाड़ राजवंश के इष्टदेव भगवान् एकलिंग शंकर हैं। हारित नामक ऋषि ने ही मेवाड़ के आद्य नृपति बापा रावल को चित्तौड़ का राज्य दिलवाया था। हारित ऋषि नाथ संप्रदाय के थे। मेवाड़ में इन कनफटे नाथ संप्रदाय के अनेक साधुओं को जागीरियां मिली हुई थीं। नाथ संप्रदाय के प्रभाव के कारण मीरां के पदों में इष्टदेव के लिए 'जोगिया' संबोधन भी मिलता है। मीरां कहती हैं कि हे सजनी,

१. मीरांपदावली, पद-१५०, परशुराम चतुर्वेदी, २. मीरांपदावली, पद-१७५, प. च.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जोगिया से कहना कि तू बड़ा चतुर-सुजान है, शंकर एवं शेष भी तेरा ध्यान करते हैं। मैं तेरे बिना जी नहीं सकती। मैं भी जोगिनी का रूप धरकर तेरे पीछे-पीछे चलूंगी। माला, मुद्रा, मेखला धारण करके हाथ में खप्पर लूंगी। उसने श्रावण में आने को कहा था। तथा अनेक बार आने के लिए वचन दिए थे। उसके आने के दिनों को गिनते-गिनते मेरी अंगुलियों की रेखाएँ भी घिस गई हैं। मैं युवती होने पर भी चिंता में पीली पड़ गई हूँ। मैंने तो दासी के रूप में उस राम को भजते-भजते तन एवं मन दोनों उसको समर्पित कर दिए हैं--

जोगिया ने कहज्यो जी आदेस।
जोगियो चतुर सुजाण सजणी, ध्यावै संकर सेस।
आऊंगी मैं नाह रहूंगी (रे म्हारा) पीव बिना परदेस।
करि किरपा प्रतिपल, मो परि, राखो ण आपण देस।
माला मुदरा मेखला रे बाला, खप्पर लूंगी हाथ।
जोगणि होइ जुग ढूंढसूं रे, म्हारा रावलियारो साथ।
सावण आवण कह गया बाला, कर गया कौल अनेक।
गिणता-गिणता घंस गई रे म्हाँरा, आंगलियारी रेख।
पीव कारण पीली पड़ी बाला, जोवन बाली बेस।
दासि 'मीरां' राम भजि कैं, तण मण कीन्हौं पेस। मीरांपदावली, प. च.

मीरां का प्रियतम जोगिया कृष्ण ही है, जिसका शंकर एवं शेष ध्यान करते हैं। यह ध्यान रहे कि मेवाड़ के महाराणा एवं जागीरदार नाथ 'रावल' भी कहलाते हैं। मीरां ने इसीलिए जोगिया को 'रावलिया' भी कहा है। सूर एवं नंददास की गोपिकाएँ न योग साधना करना चाहती हैं और न योगिनी बनना चाहती हैं, पर मीरां का कृष्ण योगी भी है जो एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता। मीरां उसे ढूंढ़ने के लिए योगिनी बनकर निकलने को प्रस्तुत है। सूर ने गोपिकाओं के मुख से जो योग, ज्ञान इत्यादि का निषेध करवाया है, उसका भिन्न उद्देश्य है। मीरां के समक्ष तो एक ही उद्देश्य है—वह किसी भी रूप में गिरधर गोपाल को प्राप्त करना चाहती है।

ब्रह्म की परोक्षानुभूति में लिखे गए रहस्यात्मक भाव के मीरां के पद भी दर्शन के विषय हैं। जब साधक ब्रह्म की परोक्षानुभूति को मधुर भाव के माध्यम से व्यक्त करता है, परमात्मा को, निर्गुण ब्रह्म को वह प्रिय मानता है और स्वयं को उनकी प्रियतमा मानता है तब साधना की यह उच्च दशा, रहस्य साधना के अन्तर्गत आती है। आलंबन जब साकार होता है तब सगुण भक्ति कहलाती है और जब साधक इससे भी ऊपर उठकर ब्रह्म के निराकार रूप के प्रति माधुर्यभाव से आकृष्ट होता है तब रहस्य दशा कहलाती है। सगुण भक्ति में श्रद्धा एवं विश्वास होते हैं तब रहस्य दशा में मुख्यतः रहस्यमय प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। रहस्यवाद के अन्तर्गत ब्रह्म का सात्त्विक, अविनाशी, निराकार अगम रूप ग्राह्य है। सख्य, वात्सल्य, दास्य की अपेक्षा रहस्यानुभूति में माधुर्यभाव अधिक ग्राह्य है। प्रेम-व्यंजना में यदि आलंबन की महानता और जीव की लघुता का प्रकाशन होगा तो भाव व्यंजना प्रेम परिधि को लांघकर भक्ति के क्षेत्र में पहुँच जाएगी। रहस्य भावना में प्रेमाभिव्यक्ति की प्रमुखता होने के कारण दास्य भाव कम ग्राह्य है। रहस्यवाद में संभोग-विप्रलंभ की अनेक अवस्थाएँ-जैसे विरह की तड़प, उपालंभ, दर्शनाभिलाष, मिलनोत्कंठा प्रतीक्षा, अभिसार, संदेश-संप्रेषण, स्वप्न-मिलन, मिलनानंद, इत्यादि अनेक शृंगार-रस विषयक मनोदशाओं का चित्रण होता है। रहस्यवाद चार प्रकार का होता है—(१) दर्शनपरक, (२) प्रकृतिपरक, (३) साधना-परक एवं (४) प्रेमपरक। दर्शनपरक रहस्यवाद में ब्रह्म एवं जीव के संबंध का दार्शनिक-रूप में निरूपण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है । उदाहरणार्थ निरालाजी की 'तुम और मैं' कविता को प्रस्तुत किया जा सकता है । इसमें 'तुम' 'तत्त्वमसि' वाला त्वम् = तू ब्रह्म है, एवं 'मैं' जीव है । इस कविता में द्वैत में भी अद्वैत का एक मधुर-सूत्र अनुस्यूत है । प्रकृतिपरक रहस्योक्ति में साधक प्रकृति के विभिन्न रूपों में अपने परम प्रभु के रूप का दर्शन करता है । वह यह अनुभव करता है कि प्रकृति उसी ज्योति का प्रकटीकरण है । परमात्मा यदि कहीं हैं तो इसी सुन्दरतम रहस्यमय प्रकृति के मधुर मदगंधी आवरण के पीछे ही छिपे हुए हैं । साधक परमात्मा के उस स्वरूप की अनुभूति करता है एवं प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से व्यक्त करता है । कवि निराला की कई ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें प्रकृति परक रहस्यवाद अभिव्यक्त हुआ है । साधनापरक रहस्य स्थिति में साधक योग के माध्यम से हठयोग, सहजयोग के द्वारा अपने भीतर आत्म तत्त्व की अनुभूति करके उसे परमात्मा के साथ संयुक्त करता है । हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन परम अवधूत कवि कबीर के अनेक पदों में इस प्रकार की रहस्य भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं । प्रेम-मूलक रहस्यवाद में प्रेम की ही संभोग-विप्रलंभ से सम्बद्ध मधुर भावनाएँ व्यक्त हुई हैं—शृंगार में आलंबन लौकिक होता है, जबकि रहस्यवाद में वह निर्गुण-निराकार होता है । मीरां पर योग एवं ज्ञान का तथा संत साहित्य का यत्किंचित् प्रभाव अवश्य है, पर विशेषतः वह अपने 'अविनासी' 'अगम देशवासी' रहस्यमय प्रियतम से मिलने को ही एक अखंड कुमारिका एवं सद्यः विवाहिता की भाँति प्रियतम से मिलने को समुत्कंठित है ।

मीरां कहती हैं—'हे प्रिय, तुम शीघ्र आओ । तुम मेरे हो और मैं तुम्हारी हूँ । मैं तुम्हारा मार्ग देख रही हूं । तुम्हारी प्रतीक्षा मेरे लिए बड़ी पीड़ाकारी हो रही है । तुमने जो समय दिया था, उसकी अवधि तो बीत चुकी है । क्या मार्ग में तुमने किसी दूति से 'नेह' जोड़ लिया है ? हे प्रभु ! आप कब मिलेंगे ? आपके दर्शनों के बिना दिन बड़े कष्ट (दोरे) में व्यतीत हो रहे हैं—

> **पिया अब आज्यो मेरे, तुम मोरे हूं तोरे ।**
> **मैं जण तेरा पंथ निहारूं, मारग चितवत तोरे ।**
> **अवध बतीती अजहूं न आये, दुतियन सूं नेह जोरे ।**
> **'मीरां' कहे प्रभु कब रे मिलोगे, दरसन विण दिन दोरे ।** मीरांपदावली, पद-९५

यहाँ 'तुम' ब्रह्म वाचक तथा 'हूं' जीव वाचक है । 'हूं' शब्द 'अहम्' से निष्पन्न हुआ है । किसी युग में यह आज के दिल्ली, मथुरा, राजस्थान एवं गुजरात की सम्मिलित संपत्ति के रूप में था । 'हौं' इसीका ब्रजभाषा का रूप है । 'दोरा' शब्द मेंवाड़ी बोली में आज भी प्रचलित है । 'कष्टद' इसका पर्याय है । 'दारुण' संस्कृत शब्द का यह अपभ्रंश रूप है । कोई आलसी काम नहीं करता है तो उसके लिए 'मेवाड़ी' में कहा जाता है—**'यो दोरो नी वे हे'** (यह आलसी शरीर को कष्ट नहीं देना चाहता ।) इस पद में मीरां ने परब्रह्म को 'प्रिया' तथा स्वयं को 'प्रियतमा' कहा है । मीरां का 'पिया' निर्गुण है ।

पंचतत्त्वात्मक भौतिक शरीर से इस जगत् में आने को मीरां ने 'झिरमिट' का खेल कहा है । एक प्रकार का झुरमुट का खेल होता है । जिसमें खेलनेवाला अपने सारे शरीर को एसा ढंक लेता है, कि जिससे उसे कोई पहचान न सके । इसी को हम दर्शन के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जीवात्मा का अपने कर्मानुसार योनि में जन्म लेना अथवा शरीर धारण करना । जैसे झुरमुट खेल में व्यक्ति वस्त्र के बड़े लबादे में स्वयं को छिपाए रखता है, उसे देखने वाला पहचान नहीं सकता, वैसे ही 'पंचरंग का चोला' पहनकर जीवात्मा यहाँ आई है । भीतर परमात्मा हैं, वे छिपे हुए हैं । अध्यास का आवरण बीच में ऐसा पड़ा है कि जीव उसे पहचान नहीं पा रहा है । मीरां ने भी 'पंचरंग चोला' पहना है । उसने पंच भूतात्मक शरीर धारण किया है, पर वह अपने गिरधर के प्रति अनुरक्त है । इस संसार के 'झिरमिट' खेल में उसे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपना 'सांवरा' मिल गया है। 'अध्यास' का आवरण उसके अन्तःचक्षुओं से हट चुका है। उसे ब्रह्मज्ञान हो चुका है। वह ब्रह्म ही उसका 'सांवरा' है। जिसको देखते ही वह अनुराग में नहा उठी है। नहा उठने से तात्पर्य है 'स्वेद' सात्त्विक भाव उत्पन्न होना। प्रसन्नता में रोमांच एवं सस्वेद होना सात्त्विक है। मीरां का 'सांवरे' से मिलते ही तन और मन दोनों स्वेद सात्त्विक भाव से नहा उठे हैं। जिनका प्रिय विदेश रहता है, वे 'पातियाँ' लिख-लिख भेजती हैं। सूर की गोपिकाओं ने मथुरा गए कृष्ण को जो संदेश में 'पतियां' लिखी थीं, उनसे 'मधुवन कूप भरे'। सारी मथुरा के कुएँ भर गये थे। प्रियाओं को कभी-कभी जीवनकाल में इतने तक पत्र लिखने होते हैं, पर मीरां स्वयं को बड़ी भाग्यशाली मानती है क्योंकि उसका 'सांवरा' कहीं दूर विदेश में नहीं बसता है। वह तो उसके 'हीयड़े' में ही बस रहा है। अतः उसे कहीं भी आना-जाना नहीं पड़ रहा है। सांसारिक प्रियाओं को प्रिय प्राप्ति के लिए अभिसारिका बनकर अभिसरण करना होता है, पर मीरां का 'सांवरा' अंदर ही बैठा हुआ है। इस संसार के आगमन के 'झिरमिट' खेल में मीरां पहले तो उस 'सांवरे' को बाहर ढूंढ़ती रही, पर अध्यास के दूर होते हीं, वह उसे भीतर ही छिपा हुआ दृष्टिगत हुआ। यहां दार्शनिक दृष्टि से विचार करें तो भीतर जो आत्मा है, वही यह 'सांवरा' है। पहले मीरां ने उसे बाहर ढूंढ़ा। इसका यह भी अर्थ लिया जा सकता है कि प्रथम उसने सगुण रूप की आराधना की, पर अन्त में तत्त्वतः उसे निर्गुण रूप में वह भीतर ही आत्मा के रूप में प्रकाशित होता हुआ दृष्टिगत हुआ। इस रहस्यदशा को आत्मानुभूति एवं आत्मबोध भी कहा जा सकता है। ब्रह्म अन्तर्यामी के रूप में 'घट-घट' के भीतर आत्मा के रूप में ही विद्यमान है। जिस तथ्य को दार्शनिक सीधी अभिधेयात्मक भाषा में व्यक्त करते हैं, मीरां उसी को काव्य के स्निग्ध एवं परमाह्लादक आवरण में प्रस्तुत कर रही हैं। मीरां का यह पद इस प्रकार है--

म्हां गिरधर रंग राती, सैयां म्हां।
पंचरंग चोला पहर्या म्हाँ, झिरमिट खेलण जाती।
वां झिरमिट मां मिल्यौ सांवरो, देख्यां तण-मण राती।
जिणरो पियां परदेस बस्यांरी, लिख-लिख भेज्यां पाती।
म्हारा पियां हीयड़े बसतां, णा आवां णा जाती।
'मीरां' रे प्रभु गिरधर नागर, मग जोवां दिण राती। -मीरांपदावली, पद-२३ प.च.

'राती' शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है। प्रथम 'राती' का अर्थ अनुरक्त है तो दूसरे का रात्रि। मेरा प्रिय मेरे अन्तःकरण में ही बसता है। यहाँ मीरां द्वारा आत्मा के रूप में निर्गुण-ब्रह्म सूचित हुआ है। उसके प्रति जो प्रेमाभिव्यक्ति हुई है, वह प्रेममूलक रहस्योक्ति है।

मीरां का 'मुरारी' उसके हृदय में हीं बस रहा है। हर पल वह उसके दर्शन कर रही है और सुख की सेज बिछा रही है-

णेणां बणज बसावां री, म्हारा सांवरा आवां।
णेणां म्हारां सांवरा, राज्यां, डरतां पलक ण लावां।
म्यारां हिरदां बस्यां मुरारी, पल-पल दरसण पावां।
स्याम मिलण सिंगार सजावां, सुखरी सेज बिछावां।
'मीरां' रे प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जावां। मीरांपदावलीं

इस पद में भी मीरां का 'सांवरा' उनके अन्तःकरण में ही विद्यमान है। वह उनसे मिलने के लिए ही श्रृंगार कर रही है और सुखोपलब्धि के लिए सेज बिछा रही है। यहाँ भी मीरां की रहस्यमय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परोक्षानुभूति ही व्यक्त हुई है। आत्मा परमात्मा रूपी प्रिय से मिलने के लिए स्वयं के सजा रही है। शरीरस्थ आत्मा ही जीव है। जीव को जब स्वय बोध हो जाता है, तब वह शरीर से जलकमलवत् अपने संबंध को हटा लेती है तब वही जीव आत्मा के रूप में प्रकट होता है। उपनिषद् के दो जुड़वा पक्षियों की कल्पना इन्हीं जीव एवं आत्मा को लेकर है। जीव को स्वरूप का ज्ञान होते ही सह अपने भीतर आत्मा के रूप में ब्रह्म का प्रकाश देखने लगता है। मीरां लिखती है कि मैं अपलक 'साँवरे' के दर्शन कर रही हूँ। क्योंकि पलक-झँपना भी क्षणिक वियोग ही तो है। मीरां के ये नेत्र चर्मचक्षु नहीं किन्तु अन्तः चक्षु हैं---उन्हीं से वह निर्निमेष दृष्टि से 'साँवरे' को देख रही हैं। यह आत्मा की परमात्मा के प्रति योग की अखंड समाधि की स्थिति है। एक पद में मीराँ ने स्वयं को सूरज एवं 'घाम' की भांति परमात्मा से अभिन्न बताया है। वह भी उसकी प्रेममूला रहस्योक्ति ही है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि मीरां की भक्ति के प्रारंभकाल के सगुण गिरधर-गोपाल ही आगे चलकर उनकी प्रेममूला रहस्योक्तियों में परोक्षसत्ता के रूप में प्रकट हुए हैं। इस प्रकार मीरां का बाह्य सगुण प्रेम ही आंतरिक रहस्यानुभूतियों में अपने चरम भाव में प्रकट हुआ है।

माया : मीरां ने 'माया' को अविद्या के अर्थ में ही निरूपित किया है। शुद्धाद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत माया के विद्या एवं अविद्या दो रूप प्रकट किए गए हैं। उनमें से विद्या को ब्रह्मवशा एवं ब्रह्म की अगाध शक्ति कहा गया है एवं दूसरी को अध्यास, अज्ञान एवं अविद्या कहा गया है। मीराँ ने दूसरे प्रकार की अध्यास रूपा माया का ही निरूपण किया है। मीरां कहती है कि गिरधर नागर के श्रीचरणों में मेरी 'लगनी' लग गई है। मुझे उन्हीं के दर्शन अच्छे लगते हैं। उनके दर्शनों के अतिरिक्त शेष जगत् का कार्य स्वप्न की माया जैसा लगता है। स्वप्न में कोई भिखारी राजा बन जाता है पर जागने पर उसे वास्तविकता का खयाल आता है, वैसे ही जगत् के बंधनों को मैंने हरिचरणों में डाल दिया है इसलिए अब भवसागर का मुझे कोई भय नहीं है। मैंने इस प्रकार गिरधर नागर के चरणों की आशा की डोरी पकड़ रखी है—

> **म्हा लगां लगण सिरि चरणा री।**
> **दरस विणा म्हाणे कछु णा भावां जग माया या सुपणा री।**
> **भो सागर भय जग कुछ बंधण, डार दयां हरि चरणा री।**
> **'मीरां' रे प्रभु गरधर नागर, आस गह्यां थें सरणा री।** मीरांपदावी, पद-१२८ प.च.

जगत् संसार : शुद्धाद्वैत वेदान्त में आचार्य वल्लभ ने जगत् एवं संसार को भिन्न-भिन्न माना है। जगत् का कारण स्वयं ब्रह्म है तो संसार का कारण अविद्या। मीरां के पदों में जगत् और संसार को लेकर इस प्रकार का विवेक नहीं मिलता है। मीरां ने जगत् एवं संसार को एक दूसरे का पर्याय माना है तथा संसार की व्यर्थता घोषित की है।

मीरां ने सारे संसार को देख-परख लिया है। उसे लगा है कि हरि के बिना सारा संसार व्यर्थ है—

> **थें छिण म्हाणे जग णा सुहावां, निरख्यां सब संसार।** मीरांपदावली, पद-१९, प.च.

मीरां को 'सांवरे' के बिना जगत् की बातें कच्ची एवं जगत् खारा लग रहा है। मीरां केवल 'साँवरे' में ही पूर्णतः आसक्त है। उसने लोक-लज्जा छोड़कर पैरों में घुंघरू बांध लिए हैं और वह सांवरे के आगे नाच रही है। साधुओं की संगति से उसकी कुमति नष्ट हो गई है तथा 'श्याम' के प्रति उसके अन्तःकरण में सच्ची प्रीति एवं भक्ति उत्पन्न हुई है—

> **माई सांवरे रंग राची।**
> **साज सिंगार बांध पग घुंघर, लोकलाज तज नाची।**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गयां कुमत लयां साधां संगत, स्याम प्रीत जग सांची ।
गायां गायां हरि गुण निसदिन, काल ब्याल री बांची ।
स्याम विणा जग खारां लागां, जग री बातां काची ।
'मीरां' सिरि गिरधर नट नागर, भगति रसीली जांची । मीरांपदावली

मीरां को श्रीकृष्ण गिरधरलाल नागर से प्रेम भी है एवं उनके लिए उसके अन्तःकरण में भक्ति भी है। इस पद में मीरां ने प्रेम एवं भक्ति दोनों का अतीव सुभग समन्वय किया है। भक्ति ऐकान्तिक होती है, एवं प्रेम दोनों तरफ से होता है। मीरां का कृष्ण के साथ दोनों प्रकार का संबंध है। वह उनकी प्रिया भी है और परम ऐकान्तिक, एकनिष्ठ भक्त भी हैं।

मीरां ने गिरिधर गोपाल के घर को बड़ा घर कहा है। पुष्टि संप्रदाय में वैष्णव मदिरों को 'हवेली' के नाम से अभिहित करते हैं। वास्तव में वह मंदिर नहीं पर हवेली है। जहाँ बड़े लोग निवास करते हैं, वह भवन है। पुष्टि–सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण की पाँच वर्ष के बालक की भावना है। इस कारण उसे वे अपने ही घर का बालक मानकर वात्सल्य भाव से उसकी पूजा करते हैं एवं श्रीकृष्ण को 'लालन' कहते हैं। मीरां का प्रियतम बड़े घर का रहनेवाला है। वह उसका स्वामी है, नाथ है, पति है। मीरां उसके दरबार में सजकर जाती है। उसे 'कामदारों' से कोई प्रयोजन नहीं है पर सभी के स्वामी गिरधर नागर से प्रयोजन है। सभी 'कथीर', 'सोना', 'रूपा' की तरह हैं पर मीरां तो हीरों का व्यापार करनेवाली है।

बडे घर तालो लागां री, परबला पुन्न जगांवारी ।
झीलर्‌या री काम ण म्हांरो, डाबरां कूण जावांरी ।
गंगा जमणा काम णा म्हांरे, म्हां जावां दरियावांरी ।
हे ल्यां मेल्यां काम ण म्हांरे, पेठ्यां मिल सरदारां री ।
कामदारां सुं काम णा म्हांरे, जावा म्हां दरबारां री ।
काच कथीर सुं काम णा म्हांरे, चढस्यां घणरी सारयां री ।
सोना रूपा सुं काम णा म्हांरे, म्हांरे हीरां रो बौपारां री ।
भाग हमारो जाग्यां रे, रतणाकर म्हारी सीरयां री ।
अमृत प्यालो छांड्या रे, कुण पीवां कडवां नीरा री ।
भगत गणा प्रभु परचां पावां, जावां जगतां दूर्‌यांरी ।
'मीरां' रे प्रभु गिरधर नागर मणरथ करस्यां पूर्‌यारी । मीरांपदावली, पद–२४, प.च.

मीरां ने इस पद में संसार को अनेक हीन उपमानों द्वारा प्रकट किया है। 'झीलरयाँ' 'और 'डाबरां' कीचड़ से भरे छोटे–छोटे खड्डे को कहते हैं। मीरां को न इनसे कोई संबंध है और न गंगा–यमुना से ही कोई मतलब है। वह तो 'दरिया' की तरफ जा रही है। मीरां की प्यासी आत्मा संसार के क्षुल्लक खड्डों एवं गंगा-यमुना से अपनी प्यास नहीं बुझाएगी। वह तो 'दरिया' से ही अपनी प्यास बुझाएगी। 'दरिया' यहां परमात्मा का वाचक है। जैसे कोई बड़े सम्राट् की राज्यसभा हो। उसमें अनेक छोटे–बड़े कर्मचारी एवं सरदार होते है, मीरां को उनसे काम नहीं है, वह तो सीधी सम्राट् के पास ही पहुंचेगी। छोटे कर्मचारी एवं सरदार सांसारिकता के सूचक हैं तो सम्राट् परब्रह्म का। संसार में काँच, कथीर, सोना, चाँदी इत्यादि धातु हैं। मीरां इन्हें व्यर्थ मानती हैं क्योंकि वह तो हीरों का ही लेन–देन करने वाली है। हीरा यहां परम तत्त्व परमात्मा का प्रतीक है। इसी प्रकार परमात्मा की प्राप्ति तो अमृत का प्याला है और संसार कड़आ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जल है। मीरां ने इस पद में संसार के लिए 'झीलर्यां' 'डावरां' 'कामदारां' 'कांच' 'कथीर' 'कड़वा नीर' जैसे हीन एवं तुच्छ उपमानों का प्रयोग किया है एवं परमात्मा के लिए उसने 'दरिया' 'हीरा' 'रत्नाकर' एवं अमृत का प्याला जैसे श्रेष्ठ उपमानों का प्रयोग किया है। प्रथम पंक्ति में मीरां ने 'परबला पुन्न जगावां री' प्रयोग किया है। दर्शन के अन्तर्गत इसे पुनर्जन्मवाद कहते है। 'परबला' शब्द पूर्ववर्ती शब्द का अपभ्रंश रूप है। आज भी इसका ज्यों का त्यों मेवाड़ में प्रयोग होता है। 'परबला' का अर्थ है पूर्वजन्म के, 'पुन्न' अर्थात् 'पुण्य'। मीरां के पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों का उदय हुआ है इसलिए उसे संसार कांच-कथीर एवं 'कड़वा नीर' लगने लगा है एवं परमात्मा 'अमृत का प्याला' एवं 'दरिया' लगने लगे हैं। भारतीय पूर्वमीमांसा दर्शन के अनुसार यहां कर्मवाद भी प्रकट हुआ है। 'गीता' में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं---'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

प्रत्येक प्राणी को अपने शुभ एवं अशुभ कर्मों का फल तो भोगना ही होता है। जैसे हजारों गायों के बीच खड़ी अपनी माता गाय को बछड़ा पहचान लेता है और भाग कर उस के पास पहुंच जाता है, वैसे ही हमारे पूर्व-कर्म हमें बरावर पहचान कर हमारे साथ लगे रहते हैं एवं शुभ कर्म का शुभ एवं अशुभ का अशुभ फल भोगवाते हैं। यही हमारा भारतीय कर्मवाद है—

यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो गच्छति मातरम्।
एवमात्मकृतं कर्मः मानवः प्रतिपद्यते ॥ उत्तराध्ययनसूत्र-जैनागम

इस छंद में 'धेनु' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह अतीव सार्थक है। जो गाय पहले पहल ब्याई हो, उसे धेनु कहते हैं। हमारा हर जन्म कर्मों को भोगने के लिए धेनुवत् होता है एवं कर्मों की भी, जो वत्स रूप हैं—अपनी माता धेनु के प्रति एवं धेनु की अपने वत्स के प्रति अधिक प्रीति होती है। जैसे संसार में प्रथम पुत्र प्यारा होता है। तात्पर्य यह कि इस पद में मीरां ने पूर्वमीमांसा-दर्शन के कर्मवाद को प्रकट किया है। हमारा भारतीय ज्योतिषशास्त्र भी इस दर्शन को मानता है।

मीरां ने संसार को मिथ्या, मोह, माया बताने के साथ-साथ इसे भक्ति मार्ग का कांटा कहा है। मीरां कहती है कि 'हे भाई, मैं गोविंद के गुण गाऊंगी। नित्य सबेरे उठकर उनके दर्शन करूंगी और उनका चरणामृत लूंगी। मैं उनके सामने नित्यप्रति नृत्य करके घुंघरुओं की रूनझुन से सारे वातावरण को मुखरित कर दूंगी। मेरे पास भवसागर को पार करने के लिए एक ही तो जहाज है और वह है श्याम का नाम। यह संसार तो बीहड़ जंगल का कांटा है जो प्रियतम प्रभु के मार्ग को रोकने वाला है। मीरां कहती है कि 'हे गिरधर नागर, मैं आपके गुण गाती हूं और इसके फलस्वरूप मैं आपको अवश्य प्राप्त करूंगी—

भाई म्हा गोविन्दा, गुण गास्यां।
चरणाम्रित रो नेम सकारे, नित उठ दरसण जास्यां।
हरि मन्दिर मां निरत करावां, घुंघरजा घमकास्यां।
स्याम नाम रो झाझ चलास्यां, भो सागर तर जास्यां।
यो संसार वीडरो कांटो, गेल प्रीतम अटकास्यां।
'मीरा' रे प्रभु गिरधर नागर, गुन गावा पास्यां। मीरांपदावली, पद-३१, प.च.

मीरां ने संसार को 'वीड़ रो कांटो' कहा है। बीड़ शब्द संस्कृत के 'विकट' शब्द से निष्पन्न हुआ है। इसी विकट से हिन्दी में 'बीहड़' शब्द बना है। उसी का अपभ्रंश रूप मेवाड़ी बोली का 'बीड़' शब्द है। मेवाड़ी में खेतों के पास प्रत्येक किसान की अपनी जंगली जमीन होती है। जिसमें उसके पशु चरते हैं। उसमें घास, कंटिली झाड़ियां इत्यादि होते है। वह बड़ा दुर्गम होता है। बीड़े की कंटिली झाड़ी का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काँटा जो छोटे बेर का होता है घुस जाने पर वस्त्र या अंग को फाड़ डालता है। उसका आकार गीध की चोंच की तरह टेढ़ा होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मीरां को भी कभी बीड़े में जाना पड़ा होगा। उसके अंग एवं वस्त्र कभी न कभी जरूर 'बीड़े के कांटों' में फँसे होंगे। नहीं तो सुनी-सुनाई बात होती तो मीरां इतने प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सकतीं।

मेवाड़ राजवंश का परिवार मीरां के आचरण से कुपित था। मीरां को इसी कारण मेवाड़ छोड़कर ब्रज एवं फिर द्वारका (गुजरात) जाना पड़ा। मीरां ने मेवाड़ छोड़ा अर्थात् संसार छोड़ा। संसार का ममत्व, संसार के संबंध, वैभव सब कुछ छोड़कर उसने ब्रज की राह पकड़ी। मीरां ने संसार की व्यर्थता बताते हुए मेवाड़ के महाराणा को संबोधित करके कहा:—हे महाराणा आपका मेवाड़ सभी तरह से संपन्न है और सांसारिकता की दृष्टि से उसमें सभी प्रकार के सुख हैं पर उसमें साधु नहीं रहते हैं। जो लोग रहते हैं वे असाधु हैं। इसी कारण मैं अपने सारे वस्त्रालंकार, चूड़ा, कज्जल, बिंदिया, 'जूड़ो बांधन' इत्यादि सभी को त्यागकर जा रही हूँ क्योंकि मुझे पूर्ण पुरुषोत्तम गिरधर नागर वर मिला है—

नहिं सुख भावै थांरो देसलड़ो रंग रू ।
थांरे देसां में राणा साध नहीं छे, लोग बसै छे कूड़ो ।
गहणा गांठा राणा हम सब त्यागा, त्याग्यो कर रो चूड़ो ।
काजल टीकी हम सब त्यागा, त्याग्यो छे बांधन जूड़ो ।
'मीरां' के प्रभु गिरधर नागर, वर पायो छे पूरो । मीरांपदावली, पद-३५, प.च.

इसमें मीरां ने स्वेच्छा से संसार छोड़ा है, इस प्रकार का भाव व्यक्त हुआ है। संसार के संबंध क्षणिक हैं पर उसे पूर्ण पुरुषोत्तम वर मिला है। अंतिम पंक्ति के 'वर पायो छे पूरो' प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि मीरां को परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण जैसे पूर्ण वर की प्राप्ति हुई है। मनुष्य अपूर्ण है, खंड है, नश्वर है, क्षणिक है, पर परमात्मा पूर्ण है। मीरां को पूर्ण की प्राप्ति हो चुकी है, फिर वह खंड से क्यों चिमटी रहे। विषय की दृष्टि से इस पद में हमें कुछ त्रुटि मालूम हो रही है। वस्त्राभूषण काजल, बिंदिया, चूड़ा, वेणी का श्रृंगार ये सभी तो सुहागिनियों के लिए हैं। मीरां तो विधवा हो चुकी थी और वैधव्य के साथ ही इन सबका उसे विवश होकर त्याग करना ही पड़ा था। इस स्थिति में मीरां का यह कहना कि मैंने पूर्ण वर प्राप्त कर लिया है, इसलिए मैं सांसारिक श्रृंगार एवं विषयों को छोड़ रही हूँ, असंगत प्रतीत होता है। अथवा इस पद के भाव को हम यों भी समझ सकते हैं कि वैधव्य के साथ ही मैंने तन-मन से सारा श्रृंगार छोड़ दिया है और तुम्हारे 'देश' में साधु नहीं रहते हैं, अतः आज मैं इसे भी छोड़कर जा रही हूँ।

मीरां को मेवाड़ के महाराणा विक्रमादित्य ने, जो उनके देवर थे, बहुत कष्ट दिए तब मीरां ने कहा—'हे राणाजी, वृक्षों में जैसे कंटीला कैर खराब लगता है, वैसे ही आप मुझे बुरे लग रहे हो। मुझे मारने के लिए आपने जहर का प्याला भेजा, पर गिरधर नागर ने उसे अमृत कर दिया है और अब मैंने संसार के सभी विषय एवं श्रृंगार छोड़कर 'भगवी चादर' पहन ली है'—

राणाजी थे क्यांने, राखो म्हांसूं बैर ।
थे तो राणाजी म्हांने इसड़ा लागो, ज्यों ब्रच्छन में कैर ।
महल अटारी हम सब त्यागे, त्याग्यो थांरो बसणो सहर ।
काजल टीका राणा हम सब त्यागा, भगवी चादर पहर ।
'मीरां' के प्रभु गिरधर नागर, इमरत कर दियो जहर । मीरांपदावली, पद-३५, प.च.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाराणा रूठ गए हैं तो इसकी मीरां को कोई चिंता नहीं है, क्योंकि वे उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। अब वह गोविंद के गुण गाएगी। महाराणा रूठे हैं तो वे अपना देश रखें, पर हरि नहीं रूठना चाहिए। वह रूठ जाएगा तो मीरां भी मुरझा जाएगी। उसने श्याम के नाम के जहाज का आश्रय ले लिया है और वह उसके द्वारा भवसागर पार हो जाएगी। वह तो 'सांवले' के चरण कमलों से लिपट गई है–

सीसोदूयो रूठ्यो तो म्हारो कांई कर लेसी। म्हें तो गुण गोविन्द का गास्यां, हो माई।
राणोजी रूठ़स्यां वारां देस रखासी। हरि रूठ़्यां कुम्हलास्यां, हो माई।
लोक-लाज की काण न मानुं, नरभै निसाण घुरास्यां, हो माई।
स्याम-नाम का झांझ चलास्यां, भवसागर तरजास्यां, हो माई।
'मीरां' सरण सांवल गिरधर की, चरण-कंवल लपटास्यां, हो माई। मी. प., पद-५५, प,च.

मेवाड़ के महाराणा सिसोदिया कहलाते हैं। एक बार इस वंश के एक महाराणा ने अनजान में मद्यपान कर लिया, तब उसके प्रायश्चित्त में उन्होंने पिघला हुआ गर्म शीशा पीकर मृत्यु का आलिंगन कर लिया। तभी से मेवाड़ का राजवंश 'सिसोदिया' कहलाता है। मेवाड़ के महाराणा भगवान् एकलिंग (शंकर) को अपना परम इष्टदेव एवं मेवाड़ का राजाधिराज एवं स्वयं को उनका चाकर मानते हैं। आज भी वे जब भगवान् एकलिंग के मंदिर में दर्शनार्थ जाते हैं तब हाथ में चपरासी की तरह छड़ी लेकर जाते हैं। जैसे कोई चाकर अपने राजाधिराज के सामने जाता है। मेवाड़ के महाराणा एकलिंग के सेवक होने के कारण गद्दीनशीन होने के साथ ही उनको मद्यपान न करने का संकल्प करना होता है, क्योंकि उनको एकलिंगजी की सेवा में जाना होता है। मेवाड़ के इतिहास में यह भी सुप्रसिद्ध है कि महाराणा फतहसिंह ने अंग्रेज पोलिटिकल एजेंट से इस कारण दाहिना हाथ नहीं मिलाया कि वह हाथ केवल उनके इष्टदेव भगवान एकलिंगजी की पूजा के लिए है। वे एक गोमांस भक्षी से, जिससे वह गोमांस भक्षण करता है, उस हाथ से अपने हाथ का स्पर्श कैसे करवा सकते हैं। ऐसा करने पर वह हाथ भगवान् एकलिंग की चाकरी में छड़ी पकड़ने लायक नहीं रह जाएगा तथा उनकी 'आशिका' (भगवान् के चढ़े हुए पुष्प) धारण करने लायक नहीं रह जाएगा।[1]

मीरां को कृष्ण से प्रीति हो गई है। वह प्रीति तोड़ना नहीं चाहतीं, पर प्रेम की पीड़ा उसके लिए असह्य हो रही है। मीरां कहती हैं कि जो पागल होता है, वही प्रीति करता है और जो क्रूर-कठोर होता है, प्रीति करके उसे तोड़ देता है। इसलिए मूर्ख से कभी प्रीति नहीं जोड़नी चाहिए, क्योंकि वह पल में ठंडा तो पल में गर्म हो जाता है। वह अव्यवस्थित चित्तवाला होता है। **'अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयंकरः'** जो अव्यवस्थित चित्तवाले होते हैं, उनकी प्रसन्नता भी भयंकर परिणामदायिनी होती है। प्रीति करके उसे निभाना ऐसा है, जैसे किसी दल (सैना) पर विजय प्राप्त करनी है। मीरां की कृष्ण के प्रति प्रीति तो पूर्वजन्म की है। उसका कृष्ण 'गजगिरी' की चबूतरी है तो वह बालू की दीवार है। मीरां ने प्रेम करके मानो एक ही 'थाले' में आम और बबूल दोनों बो दिए हैं। एक का रसी मीठा लगता है तो दूसरे के कांटे चुभते हैं—

रमइया मेरा तोही सूं लागो नेह। लगी प्रीति जिन तोड़े रे बाला, अधिक कीजै नेह।
जो हूं ऐसी जानती रे बाला, प्रीति कीयां दुःष होय। नगर ढंढोरो फैरती रे प्रीति करो मत कोय॥
[2]षीर न षाजे आरी रे, मूष न कीजै मित। षिण ताता छीण सीतला रे, षिण वैरी षिण मित॥

१. वीरविनोद, भाग-४ २, 'ष' का उच्चारण 'ख़' किया जाए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रीति करें ते बावरा रे, करि तोरे तें कूर । प्रीत निभावण दल के षंभण, ते कोई विरला सूर ॥
तुम गजगिरी की चूंतरीं रे, हम बालू की भीत । अब तो क्यां कैसे वणै रे, पूरब जनम की प्रीति ॥
एकै थाणै रोपिया रे, इकं आंवो इक बबुल । वाँको रस नीको लगै रे, वाकी लागे सूल ॥
ज्यूं डुंगर का बाहला रे, युं ओछा तणा सनेह । मीरांपदावली, पद–५९, प.च.

इस पद में मीरां ने स्वयं को एवं संसार को बालू की दीवार तथा परमात्मा को 'गजगिरी' की चबूतरी कहा है। हाथी पर बैठने के लिए हाथी की ऊंचाई के अनुसार जो चबूतरी बनाई जाती है। उसीके लिए मीरां ने 'गजगिरी चूंतरी' शब्द का प्रयोग किया है । परमात्मा गजगिरी पर बैठने के लिए बनाई गई चबूतरी हैं तो वह बालू की दीवार है । यहां मीरां ने श्रीकृष्ण के माहात्म्य को, जो ठोस है, अखंड है, महान् है, उसे गज पर बैठने के लिए बनाई गई चबूतरीं कहा है । गजगिरी उपमान राजवंशीय है । जिनके द्वार पर हाथी झूलते हैं, उनके मन में ही ऐसे उपमान की कल्पना संभव है। ऐसी राजवंशीय लोकभोग्य उपमान मीरां जैसी राजवंशी लोक-कवयित्री के काव्य में ही संभव है । जो व्यक्ति 'ओछे' हैं, कुलीन नहीं हैं, उनकी प्रीति को मीरां ने पर्वत के नाले से उपमित किया है । पानी बरसता है तब वह एकदम तीव्र वेग से प्रवाहित होता है, और फिर एकदम सूख जाता है, वैसे ही 'ओछे' लोगों की प्रीति होती है। वह स्वार्थहीन होती है । यहां मीरां ने परमात्मा श्रीकृष्ण की प्रीति को पूर्ण एवं सांसारिक व्यक्ति की प्रीति को पहाड़ी नाले से उपमित किया है। प्रारंभ में ओछे लोग काफी प्रीति जताते हैं और फिर स्वार्थ सिद्ध होने पर हाथ खींच लेते हैं, मुकरजाते हैं । ऐसी ओछों की प्रीति होती है ।

जैसे ग्राह के मुंह में फँसे गज ने अपने उद्धार के लिए हरि को पुकारा था, वैसे ही मीरां ने भी संसार को विकार सागर कह कर स्वयं को उसके बीच में फँसी हुई बताया है । जैसे समुद्र में यात्रा करते समय किसी की नाव में दरार पड़ जाए, वैसे ही मीरां की जीवन-नौका भी फट गई है और वह हरि को पुकार रही है—

हरि बिन कूण गति मेरी । तुम मेरे प्रतिपाल कहिये, मैं रावरी चेरी ।
आदि अंत निज नाव तेरो, हीया मे फेरी । बेरि-बेरि पुकारि कहुं, प्रभु आरती है तेरी ।
यों संसार विकार सागर, बीच में घेरीं । नाव फाटी प्रभु पाल बांधो, बूड़त है बेरी ।
बिरहिणि पिव की बाट जोवै, राखिल्यो नेरीं । दासि 'मीरां' राम रटत हैं, सरण हूं तेरी ।
मीरांपदावली, पद-६३ प.च.

इसी प्रकार मीरां ने जग को बंधन-कर्ता तथा कुल एवं जाति के लोगों को झूठा कहा है—
भो सागर जग बंधण झूठाँ, कुलरा न्याती । मीरांपदावली, पद–१८६, प.च.

मीरां ने अपने मन को 'अविनासी' गिरधर नागर के चरण कमल को ही भजने के लिए कहा है, क्योंकि इस धरनी और आसमान में जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सभी यहाँ से उठ जानेवाला है । तीर्थ, व्रत, ज्ञानकथा एवं अंत में काशी में जाकर करवत ले लेना, यही मीरां के जीवन का परम लक्ष्य हैं, क्योंकि यह मिट्टी की देह एकदिन जरूर मिट्टी में मिलने वाली है और संसार भी 'चौसर' का खेल है जो कुछ काल के लिए खेला जाता है । भगवा पहनने से और योगी बनने से भी क्या लाभ है । जोगी वही जोगी है जो परमात्मा से मिलने की युक्ति को जानता है । मीरां भगवान् गिरधर से कहती हैं कि वह किसी तरह इस संसार की गाँठ से उसे छुड़वाए—

भज मण चरण कंवल अवणासी ।
जे ताई दीसां धरण गगन मां, तेताई उठ जासी ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीरथ वरतां ग्यांण कथंतां, कहां लियां करवत कासी ।
यो देही रो गरब णा करणां, माटी मां मिल जासी ।
यो संसार चूहर री वाजी, सांझ पड्यां उठ जासी ।
कहा भयां थां भगवा पहर्यां, घर तज लयां सन्यासी ।
जोगी होयां जुगत णां जाणां, उलट जणम फिर फांसी ।
अरज करा अबला कर जोर्यां, स्याम तुम्हारी दासी ।
'मीरां' रे प्रभु गिरधर नागर, काट्यां म्हारी गांसी । मी. प., पद-१९५, प.च,

संसार चार दिनों की चाँदनी है । दाड़िम के फूल की तरह क्षणिक है और यह कुबुद्धि का भाण्ड है । इसलिए प्रत्येक मानव को चाहिए कि वह परमात्मा की बन्दगी करना न भूले । लोभ में पड़कर मानव अपने मूल धन को भी भूल जाता है––

(अ) बन्दे बन्दगी मत भूल ।
चार दिनां की कर ले खूबी, ज्युं दाड़िमदा फूल ।
आया था ए लोभ के कारण, मूल गमाया भूल ।
'मीरां' के प्रभु गिरधर नागर, रहना है वे हजूर । मीरांपदावली, पद-१९८, प.च.

(आ) यो संसार कुबधि रो भांडो, साध संगत णा भावां । मी. प., पद-१५६, प.च.

मोक्ष : मीरां ने परमात्मा श्रीकृष्ण की परम ऐकान्तिक भक्ति को ही मोक्ष का आधार माना है । उनका नाम ही भवसागर से पार होने के लिए जहाज की तरह है ।[1] मीरां कहती है **'दीश्यां मोच्छ नेवाज'** अर्थात् हे परमात्मा, आपके दर्शन से ही मुझे मोक्ष मिलेगा । इस प्रकार मीरां ने परमात्मा गिरधर नागर की प्राप्ति को ही अपना मोक्ष कहा है ।

२. रसखान :

जीवन : रसखान जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, कृष्ण भक्ति रूपी रस की ये खान ही हैं । इन्होंने दिल्ली से गोवर्धन धाम जाकर गो. विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली ।[2] इनके जीवन के संबंध में कोई निश्चित प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं होता । 'प्रेमवाटिका' कवि की स्वयं की रचना है । इसमें अन्तःसाक्ष्य के रूप में कवि के जीवन-वृत्त के संबंध में कतिपय संकेत-सूत्र मिलते हैं––

देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान ।
छिनहिं बादशाह वंश की, ठसक छोरि रसखान ।
प्रेमनिकेतन श्रीबनहिं, आई गोवर्धन धाम ।
लह्यो सरन चित चाहि के, जुगल स्वरूप ललाम ।

'दिल्ली के श्मशान' बन जाने का गदर का समय इतिहासकारों ने ई. सन् १५५५ माना है । बादशाह हुमायूं ने दिल्ली के सूरवंश के पठान शासकों को पराजित करके पुनः दिल्ली का तख्त हस्तगत किया था । उस समय जो नरसंहार हुआ, उसी को कवि ने दिल्ली नगर का मसान हो जाना लिखा है । गदर के नरसंहार को देखकर कवि रसखान विरक्त हो गए । उन्होंने बादशाहवंश की 'ठसक' छोड़ दी और सीधे वे श्रीहरि के प्रेमनिकेतन धाम गोवर्धन में आ गएं ।

१. मीरांपदावली, पद-३५ परशुराम चतुर्वेदी २. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ. २५३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बादशावंश की ठसक से तात्पर्य है पठान (सूर) वंश । इस वंश के शासन का उदय शेरशाह सूरी के द्वारा ई. सन् १५२८ में हुआ तथा अंत इब्राहीम खाँ और अहमद खाँ के पारस्परिक कलह के कारण १५५५ में हुआ ।[1] जब रसखान ने दिल्ली का त्याग किया, उस समय उनकी आयु २०-२२ के लगभग होनी चाहिए । इस तरह इनका जन्म समय ई. सन् १५३३ के आसपास माना जा सकता है । गोवर्धन पर आकर रसखान ने गो. विट्ठलनाथजी से दीक्षा ग्रहण की, इस तथ्य का उल्लेख 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में है । 'मूल गुसाईं चरित' में गोस्वामी तुलसीदास द्वारा स्वरचित 'रामचरितमानस' की कथा सर्वप्रथम रसखान को सुनाने का उल्लेख है—

"जमुना तट पै त्रय वत्सर लौं, रसखान हिं जाई सुनावत भौ ।"

सभी संशोधक इस तथ्य से सहमत हैं कि 'प्रेमवाटिका' रसखान की अंतिम काव्यरचना है । इस रचना का समय ई. सन् १६१४ है । अतः संभव है इस रचना के कुछ वर्ष पश्चात् ई. सन् १६१८ के आसपास इनका देहावसान हुआ हो ।[2]

काव्य : अद्यावधि शोध के फलस्वरूप रसखान की चार प्रामाणिक कृतियाँ उपलब्ध हो सकी हैं ।[3] (१) प्रेमवाटिका, (२) दानलीला, (३) सुजानरसखान, (४) अष्टयाम ।

प्रेमवाटिका' कवि की ५३ दोहों में निबद्ध लघु काव्य-कृति है । प्रेम-रूपी वाटिका के राधा-कृष्ण माली एवं मालिन हैं । राधा एवं कृष्ण के माध्यम से कवि ने प्रेम तत्त्व की गूढ़ता का वर्णन किया है । प्रेम जीवन का शाश्वत एवं सहज तत्त्व है । अप्रेम की स्थिति अस्वाभाविक, असहज एवं कृत्रिम है । सहज होने से प्रेम में ऊब नहीं है, क्योंकि इसके केन्द्र में आनंद है, उत्साह है, उछाह है । इस प्रकार प्रेम जीवन की महत्तम उपलब्धि एवं पुरुषार्थ है ।

'दानलीला' रसखान की 'श्रीमद्‌भागवत' के प्रसंग के आधार पर केवल ११ छंदों में निबद्ध लघुतम कृति है । इसकी कथा सुप्रसिद्ध है । **'अष्टयाम'** दोहा छंद में लिखित रचना है । इसमें श्रीकृष्ण के प्रातः जागने से लेकर रात्रिशयन पर्यंत के आठ यामों (प्रहरों) की विभिन्न लीलाओं-क्रीड़ाओं का वर्णन है । अष्टयाम की आठ झाँकियां पुष्टि संप्रदाय के मंदिरों में होती हैं । यह भी सर्वविदित है कि श्रीनाथजी की आठों अलग-अलग झाँकियों में कीर्तन करने के लिए अष्टछाप के अलग-अलग कवि नियुक्त थे ।

'सुजान रसखान' कवि रसखान के स्फुट-मुक्तक छंदों का संग्रह है । इसमें १८१ सवैये, १७ कवित्त, १२ दोहे एवं ४ सोरठे हैं । 'सुजानरसखान' में कवि ने राधा-कृष्ण की अनन्य भक्ति, प्रेम, राधा-कृष्ण की रूप माधुरी, वंशी-मोहिनी एवं कृष्ण-लीला विषयक सरस प्रसंगों की योजना की है ।

रसखान वस्तुतः भक्त एवं कवि होने के साथ-साथ एक अतीव संवेदनशील सहृदय व्यक्ति थे । धरती के उदर में जैसे ऊष्मा विद्यमान है वैसे ही उनका अन्तःकरण सोष्म था । ऐकांतिक प्रेम ही उनके काव्य का प्राण है, जिसे हम 'रस की खान' कह सकते हैं । ब्रह्म रस रूप है ।'**रसो वै सः**'-हम रसखान एवं उनके काव्य को इसी रूप में पाते हैं । रसखान मुसलमान थे । वे शाही खानदान के थे, पर जब उन्होंने कृष्ण की प्रेमानुभूति की तब उनका व्यक्तित्व ही एकदम बदला गया । प्रेम की आँच से उनके व्यक्तित्व का कायाकल्प हो गया । बादशाह के वंश की 'ठसक' अभिमान प्रेम की आँच में भस्मसात हो

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ.२५३ २. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डा. नगेन्द्र, पृ. २५३
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास डॉ. नगेन्द्र पृ. २५३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया । कृष्ण के लीलागान में वे ऐसे डूबे कि फिर उन्हें किसी लौकिक किनारे की आवश्यकता ही महसूस नहीं हुई । कृष्ण के प्रेम में उन्होंने अपने जीवन के कृत-काम समझा-'त्यों **रसखानि, वही रसखानि, जो है रसखानि सो है रसखानि**' । जैसे कबीर ब्रह्म के अनुराग में ऐसे डूबे कि सर्वत्र उन्हें उसी अनुराग की अरुणिमा व्याप्त दिखाई दी और स्वयं भी उसी अनुराग की आभा में आरक्त हो गए—

लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल । लाली देखन में चली, मैं भी हो गई लाल ॥

ठीक इसी प्रकार रसखान का जीवन भी रसेश्वर श्रीकृष्ण का प्रेम-स्तवन करते हुए रसरूप हो गया, रसखान हो गया ।

रसखान के काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य शृंगार रस है एवं उसके आलंबन श्रीकृष्ण हैं । श्रीकृष्ण के रूप पर मुग्ध राधा एवं गोपिकाओं की मनःस्थिति का रसखान ने अतीव स्वाभाविक चित्रण किया है । रसखान का व्रज-मंडल के प्रति अगाध प्रेम है । इनकी काव्य-भाषा शुद्ध, परिमार्जित एवं साहित्यिक व्रज भाषा है । माधुर्य एवं प्रसाद गुणों ने इनके काव्य को अतीव सरस बना दिया है । इनके पदों में भक्ति के साथ-साथ स्वल्प मात्रा में ब्रह्म, माया इत्यादि वेदान्त के तत्त्वों का निरूपण मिलता है । अष्टछापेतर हिन्दी कृष्ण-कवियों में मीरां के पश्चात् इन्हीं का स्थान होने से हमने इन्हें अपने अध्ययन का विषय बनाया है ।

वेदान्त : परम भागवत एवं अनन्य वैष्णव कवि भारतेन्दु बाबू ने जिन मुसलमान हरि भक्तों को लेकर कहा था-'**इन मुसलमानें हरि जनन पै, कोटिन हिन्दू वारिए**' उनमें रसखान प्रमुख हैं । ये गोसाईं विट्ठलनाथजी के कृपापात्र शिष्य थे एवं श्रीकृष्ण के रसस्वरूप के अनन्य उपासक थे ।

ब्रह्म : रसखान ने शुद्धाद्वैत-वेदान्त के अनुसार ही श्रीकृष्ण को परब्रह्म माना था । वे एक पद में लिखते हैं कि शेष, महेश, गणेश, दिनेश एवं सुरेश जिसका निरंतर गान करते हैं । वेद जिसे अनादि, अनंत, अखंड, अछेद, अभेद बताते हैं । नारद और शुकदेव मुनि जिसका गुणगान करते-करते थकावट, फिर भी जिसके अनंत गुणों का वे भी पार न पा सके, उन परमात्मा श्रीकृष्ण को अहीर की बालिकाएं कुलिया भरी छाछ के लिए नाच नचातीं रहती हैं-

सेस महेश गनेस दिनेस, सुरेस हु जाहि निरंतर गावैं ।
जाहिं अनादि अनंत अखंड, अछेद अभेद सुबेद बतावैं ।
नारद से सुक व्यास रटे, पचि हारे तऊँ पुनि पार न पावैं ।
ताहि अहीर की छोहरियां छछियां भरि छाछ पै नाच नचावैं ।

व्रजमाधुरीसार, सुजानरसखान, पद-५

इस एक ही छंद में रसखान ने वल्लभ-वेदान्त से सम्बद्ध ब्रह्म की सभी विशेषताएं निरूपित कर दी हैं । वल्लभ-वेदान्त के अनुसार ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों स्वरूप मान्य हैं । इस पद में 'अनादि', 'अखंड', 'अछेद' एवं अभेद विशेषणों से ब्रह्म के निर्गुणत्व की ओर संकेत किया है । शुकदेवजी ने 'श्रीमद्भागवत' में ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों का वर्णन किया है । कवि रसखान इस ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं । 'भागवत' के मंगलाचरण के प्रथम छन्द में ही कहा गया है- 'जिसकी माया के कारण त्रिगुणात्मिका यह मायिक सृष्टि भी सत्य प्रतीत होती है, उस परम सत्य स्वरूप निर्गुण ब्रह्म का मैं ध्यान करता हूं-

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा ।
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि । 'श्रीमद्भागवत', १-१-१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके पश्चात् इसी महापुराण 'श्रीमद्भागवत' में विष्णु के चौबीस अवतारों तथा श्रीकृष्ण के सगुण रूप की लीलाओं का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ।

शुद्धाद्वैत–वेदान्त के अनुसार ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रयी है । एक ओर वह शंकर, सुरेश द्वारा वंदनीय है तो दूसरी ओर वह ऐसा भी सर्वसामान्य बालक है कि जिसे अहीर कन्याएं कुलड़ी–भरी छाछ के लिए नाच नचा रही हैं । दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्म गोपालकन्याओं को आनंद देने के लिए स्वयं सभी लीलाएँ कर रहे हैं । यहाँ वेद से उपनिषद भी ग्राह्य हैं । उपनिपदों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते–करते उसे 'नेति–नेति' 'ऐसा भी नहीं', 'ऐसा भी नहीं' ऐसा बारंबार कहा है । ब्रह्म के इस 'नेति–नेति' रूप का भी रसखान ने इस पद में संकेत किया है । शेष, महेश, गणपति, सूर्य एवं इन्द्र जिस ब्रह्म का निरंतर गाने करते रहते हैं तथा नारदजी एवं शुकदेवजी भी जिसका सदा रटन किया करते हैं, वही ब्रह्म लीला करने के लिए गोकुल में अवतरित हुआ है । उपर्युक्त कथन से ब्रह्म का अनिर्वचनीय, अगम्य एवं अगाध माहात्म्य प्रकट होता है । वेदों में तथा वेद के ही अंगभूत आरण्यक, उपनिषद् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्म के निर्गुण सगुण दोनों स्वरूपों का विवेचन हैं । रसखान ने ब्रह्म का वर्णन करते हुए जो उसे 'अखंड', 'अछेद' एवं 'अभेद' बताया है । ठीक इसी प्रकार के विशेषणों द्वारा 'गीता' में आत्मा के स्वरूप का विवेचन किया गया है–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

यह ब्रह्म के ही निर्गुण स्वरूप का वर्णन है । ब्रह्म से ही जीवजगत् सभी परिणत हुए हैं । वह विभु एवं अगाध माहात्म्य सम्पन्न है । फिर भी वह प्रेम द्वारा उपलब्ध हो सकता है । अहीर कन्याएँ उसे जो नचा रही हैं वे प्रेम के द्वारा ही । नरसी महेता कहते हैं–'परब्रह्म श्रीकृष्ण को संत प्रेम के तन्तु में सदा आबद्ध रखते हैं—'प्रेमना तन्तमां संत झाले' ।[1]

तात्पर्य यह कि शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म की जो विशेषताएँ हैं, रसखान ने इस एक ही पद में संक्षेप में निरूपित कर दी हैं । श्रीकृष्ण रस रूप हैं । रस द्वारा ही, प्रेम द्वारा ही, वे उपलब्ध हो सकते हैं । ऐसा अहीर कन्याओं के प्रेमाचरण द्वारा रसखान ने प्रकट कर दिया है ।

एक अन्य पद में रसखान कहते हैं कि गुणीजन, गणिकाएं, गंधर्व, शारदा, शेष जिस ब्रह्म का सदा गुण गान किया करते हैं । जिसके अनंत मामों का गुणगान करते हुए गणपति, ब्रह्मा एवं त्रिलोचन भी पार नहीं पा सके । योगी, यती, तपस्वी और सिद्ध सदा समाधि में जिसका ध्यान लगाया करते हैं । उसी ब्रह्म के अहीर की 'छोहरियां' कुलड़ी-भरी छाछ के लिए नाच नचा रही हैं—

गावैं गुनि गनिका गंधर्व, और सारद सेस सबै गुन गावैं ।
नाम अनंत गनन्त गनेस ज्यों, ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावैं ।
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध, निरन्तर जाहिं समाधि लगावैं ।
ताहि अहीर की छोहरियां, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं ।

जोगी, जती, तपस्वी और सिद्ध समाधिस्थ होकर अन्तःस्थ परमात्मा के जिस रूप का ध्यान करते हैं वह भी निर्गुण ही है । योगदर्शन में साधक ध्यानस्थ होकर अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ संयुक्त करता है । यही उसकी समाधिदशा है । रसखान ने इन सभी का उल्लेख करके ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का वर्णन किया है । वही ब्रह्म सगुण रूप में व्रज में अवतरित होकर अपने भक्तों को आनन्द दे रहा है ।

---

१. नरसिंह महेताकृत काव्यसंग्रह, इच्छाराम सूर्यराम देसाई ।
२. व्रजमाधुरीसार–सुजान रसखान, पद–४
CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वल्लभ–वेदान्त में परब्रह्म श्रीकृष्ण के अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए 'प्रपत्ति' आवश्यक है। भक्त स्वयं को सर्वथा भगवच्चरणों में डाल दे और सदा उन्हीं का रहे, यही प्रपत्ति का आधार है। प्रपत्ति के पश्चात् भक्त को फिर कोई चिंता नहीं रहती। माखन का चखनेवाला जब 'राखनहार' बन जाता है तो फिर किसी की चिंता नहीं रहती। उसकी जो–जो शरण में गए, उन सभी की उसने रक्षा की है। द्रौपदी, गणिका, गज, गीध (जटायू) अजामिल' गौतम की गृहिणी, प्रह्लाद इन सभी की यमराज से भगवान् ने रक्षा की है। इसलिए यदि जीव अपनी रक्षा चाहता है तो वह भगवान् की शरण में जाए—

> **द्रौपदी और गनिका गज गीध, अजामिल सौं कियो सो न निहारो।**
> **गौतम–गेहिनी कैसे तरी, प्रह्लाद कौ कैसे हर्यो दुःख भारी।**
> **काहें कों सोच करै 'रसखानि', कहा करि हैं रविनन्द विचारो।**
> **कौन–सी संक परी है जु माखन, चाखन हारो है राखन हारो।**

ब्रजमाधुरीसार, सुजानरसखान, पद–११

यहां कवि रसखान ने भगवदनुग्रह प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण की शरणागति स्वीकार की है। पुष्टि–भक्ति के अनुसार आचार्य भक्त को अष्टाक्षर मंत्र **'ॐ श्रीकृष्ण: शरणं मम'** (श्रीकृष्ण मेरे शरण स्थान हैं) सुनाकर तथा ब्रह्म संबंध देकर ब्रह्म की शरण में लेते हैं। रसखान शुद्ध पुष्टि–भक्त थे। इसी कारण उनके पद में प्रपत्ति के इस प्रकार के शुद्ध स्वरूप का वर्णन मिलता है। कवि रहीम का भी इसीं आशय का एक दोहा मिलता है। रहीम कहते हैं कि दुनिया में जुआरी, चोर और लबार व्यक्ति बड़े दुष्ट होते हैं, पर यदि माखन–चाखन हार यदि राखन हार है तो फिर किस की शक्ति कि कोई जरा भी बाल बांका करे—

'कहु रहीम' का करि सकै, जुआरी चोर लबार। जो पत राखनहार है, माखन–चाखन हार॥

रसखान ने श्रीकृष्ण के सम्मुख अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। आनंद–राशि, रस–स्वरूप परमात्मा श्रीकृष्ण के गुणगान में ही उन्होंने अपनी वाणी उनकी कथा श्रवण में ही, अपने कान, उनकी सेवा में ही, उन्होंने अपने हाथ तथा उनका अनुगमन करने में ही अपने पैरों को लगा दिया था। उन्होंने अपने प्राणों को उनके प्राणों के संग जोड़ दिए थे। इस प्रकार रसखान ने अपने मन को भी सदा–सदा के लिए उनके मन के अनुकूल बना लिया था—

> **बैन वही, उनकौ गुन गाइ, और कान वही, उन बैन सौं सानी।**
> **हाथ वही उन गात सरै, अरु पाइ वही, जु वही अनुजानी।**
> **जान वही, उन प्रान के संग, और मान वही जु करै मनमानी।**
> **त्यौं 'रसखानि' वही रसखानि, जु है रसखानि सो है रसखानि।** ब्रजमाधुरीसार, सुजानरसखान,

अंतिम 'रसखानि' शब्द का अर्थ आनंद स्वरूप, रस–स्वरूप श्रीकृष्ण होता है। परब्रह्म श्रीकृष्ण पूर्ण रसरूप है। शुद्धाद्वैत वेदान्त में केवल श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म सच्चिदानंद एवं पूर्ण आनंदस्वरूप माना है। कवि रसखान ने अपने प्राण, मन, इन्द्रियां सभी को श्रीकृष्ण की सेवा में समर्पित कर दिए है तथा यह कहा है कि जिसने अपने जीवन में ऐसा नहीं किया है, उसकी वाणी, नेत्र, कान, मन, प्राण एवं संपूर्ण जीवन व्यर्थ है।

रसखान ने श्रीकृष्ण के प्रेम स्वरूप का ही समधिक वर्णन किया है। श्रीकृष्ण के लीलाधाम ब्रज में ही उनका बारंबार जन्म हो, ऐसी उन्होंने कामना व्यक्त की है। इस प्रकार की मुक्ति को हम सामीप्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके पश्चात् इसी महापुराण 'श्रीमद्भागवत' में विष्णु के चौबीस अवतारों तथा श्रीकृष्ण के सगुण रूप की लीलाओं का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ।

शुद्धाद्वैत–वेदान्त के अनुसार ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रयी है । एक ओर वह शंकर, सुरेश द्वारा वंदनीय है तो दूसरी ओर वह ऐसा भी सर्वसामान्य बालक है कि जिसे अहीर कन्याएं कुलड़ी–भरी छाछ के लिए नाच नचा रही हैं । दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्म गोपालकन्याओं को आनंद देने के लिए स्वयं सभी लीलाएँ कर रहे हैं । यहाँ वेद से उपनिषद भी ग्राह्य हैं । उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते–करते उसे 'नेति–नेति' 'ऐसा भी नहीं', 'ऐसा भी नहीं' ऐसा बारंवार कहा है । ब्रह्म के इस 'नेति–नेति' रूप का भी रसखान ने इस पद में संकेत किया है । शेष, महेश, गणपति, सूर्य एवं इन्द्र जिस ब्रह्म का निरंतर गाने करते रहते हैं तथा नारदजी एवं शुकदेवजी भी जिसका सदा रटन किया करते हैं, वही ब्रह्म लीला करने के लिए गोकुल में अवतरित हुआ है । उपर्युक्त कथन से ब्रह्म का अनिर्वचनीय, अगम्य एवं अगाध माहात्म्य प्रकट होता है । वेदों में तथा वेद के ही अंगभूत आरण्यक, उपनिषद् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्म के निर्गुण सगुण दोनों स्वरूपों का विवेचन है । रसखान ने ब्रह्म का वर्णन करते हुए जो उसे 'अखंड', 'अछेद' एवं 'अभेद' बताया है । ठीक इसी प्रकार के विशेषणों द्वारा 'गीता' में आत्मा के स्वरूप का विवेचन किया गया है–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

यह ब्रह्म के ही निर्गुण स्वरूप का वर्णन है । ब्रह्म से ही जीवजगत् सभी परिणत हुए हैं । वह विभु एवं अगाध माहात्म्य सम्पन्न है । फिर भी वह प्रेम द्वारा उपलब्ध हो सकता है । अहीर कन्याएँ उसे जो नचा रही हैं वे प्रेम के द्वारा ही । नरसी महेता कहते हैं–'परब्रह्म श्रीकृष्ण को संत प्रेम के तन्तु में सदा आबद्ध रखते हैं—'**प्रेमना तन्तमां संत झाले**' ।[1]

तात्पर्य यह कि शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म की जो विशेषताएँ हैं, रसखान ने इस एक ही पद में संक्षेप में निरूपित कर दी हैं । श्रीकृष्ण रस रूप हैं । रस द्वारा ही, प्रेम द्वारा ही, वे उपलब्ध हो सकते हैं । ऐसा अहीर कन्याओं के प्रेमाचरण द्वारा रसखान ने प्रकट कर दिया है ।

एक अन्य पद में रसखान कहते हैं कि गुणीजन, गणिकाएं, गंधर्व, शारदा, शेष जिस ब्रह्म का सदा गुण गान किया करते हैं । जिसके अनंत नामों का गुणगान करते हुए गणपति, ब्रह्मा एवं त्रिलोचन भी पार नहीं पा सके । योगी, यती, तपस्वी और सिद्ध सदा समाधि में जिसका ध्यान लगाया करते हैं । उसी ब्रह्म को अहीर की 'छोहरियां' कुलड़ी-भरी छाछ के लिए नाच नचा रही हैं—

गावैं गुनि गनिका गंधर्व, और सारद सेस सबै गुन गावैं ।
नाम अनंत गनन्त गनेस ज्यों, ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावैं ।
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध, निरन्तर जाहिं समाधि लगावैं ।
ताहि अहीर की छोहरियां, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं ।

जोगी, जती, तपस्वी और सिद्ध समाधिस्थ होकर अन्तःस्थ परमात्मा के जिस रूप का ध्यान करते हैं वह भी निर्गुण ही है । योगदर्शन में साधक ध्यानस्थ होकर अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ संयुक्त करता है । यही उसकी समाधिदशा है । रसखान ने इन सभी का उल्लेख करके ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का वर्णन किया है । वही ब्रह्म सगुण रूप में व्रज में अवतरित होकर अपने भक्तों को आनन्द दे रहा है ।

---

१. नरसिंह महेताकृत काव्यसंग्रह, इच्छाराम सूर्यराम देसाई ।
२. व्रजमाधुरीसार–सुजान रसखान, पद–४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वल्लभ–वेदान्त में परब्रह्म श्रीकृष्ण के अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए 'प्रपत्ति' आवश्यक है। भक्त स्वयं को सर्वथा भगवच्चरणों में डाल दे और सदा उन्हीं का रहे, यही प्रपत्ति का आधार है। प्रपत्ति के पश्चात् भक्त को फिर कोई चिंता नहीं रहती। माखन का चखनेवाला जब 'राखनहार' बन जाता है तो फिर किसी की चिंता नहीं रहती। उसकी जो–जो शरण में गए, उन सभी की उसने रक्षा की है। द्रौपदी, गणिका, गज, गीध (जटायू) अजामिल' गौतम की गृहिणी, प्रह्लाद इन सभी की यमराज से भगवान् ने रक्षा की है। इसलिए यदि जीव अपनी रक्षा चाहता है तो वह भगवान् की शरण में जाए—

द्रौपदी और गनिका गज गीध, अजामिल सों कियो सो न निहारो।
गौतम–गेहिनी कैसे तरी, प्रहलाद कौ कैसे हर्यो दुःख भारी।
काहें कों सोच करै 'रसखानि', कहा करि हैं रविनन्द विचारो।
कौन–सी संक परी है जु माखन, चाखन हारो है राखन हारो।

ब्रजमाधुरीसार, सुजानरसखान, पद–११

यहां कवि रसखान ने भगवदनुग्रह प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण की शरणागति स्वीकार की है। पुष्टि–भक्ति के अनुसार आचार्य भक्त को अष्टाक्षर मंत्र **'ॐ श्रीकृष्णः शरणं मम'** (श्रीकृष्ण मेरे शरण स्थान हैं) सुनाकर तथा ब्रह्म संबंध देकर ब्रह्म की शरण में लेते हैं। रसखान शुद्ध पुष्टि–भक्त थे। इसी कारण उनके पद में प्रपत्ति के इस प्रकार के शुद्ध स्वरूप का वर्णन मिलता है। कवि रहीम का भी इसीं आशय का एक दोहा मिलता है। रहीम कहते हैं कि दुनिया में जुआरी, चोर और लबार व्यक्ति बड़े दुष्ट होते हैं, पर यदि माखन–चाखन हार यदि राखन हार है तो फिर किस की शक्ति कि कोई जरा भी बाल बांका करे—

'कहु रहीम' का करि सकै, ज्वारी चोर लबार। जो पत राखनहार है, माखन–चाखन हार॥

रसखान ने श्रीकृष्ण के सम्मुख अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। आनंद–राशि, रस–स्वरूप परमात्मा श्रीकृष्ण के गुणगान में ही उन्होंने अपनी वाणी उनकी कथा श्रवण में ही, अपने कान, उनकी सेवा में ही, उन्होंने अपने हाथ तथा उनका अनुगमन करने में ही अपने पैरों को लगा दिया था। उन्होंने अपने प्राणों को उनके प्राणों के संग जोड़ दिए थे। इस प्रकार रसखान ने अपने मन को भी सदा–सदा के लिए उनके मन के अनुकूल बना लिया था—

बैन वही, उनको गुन गाइ, और कान वही, उन बैन सों सानी।
हाथ वही उन गात सरै, अरु पाइ वही, जु वही अनुजानी।
जान वही, उन प्रान के संग, और मान वही जु करै मनमानी।
त्यों 'रसखानि' वही रसखानि, जु है रसखानि सो है रसखानि। ब्रजमाधुरीसार, सुजानरसखान,

अंतिम 'रसखानि' शब्द का अर्थ आनंद स्वरूप, रस–स्वरूप श्रीकृष्ण होता है। परब्रह्म श्रीकृष्ण पूर्ण रसरूप है। शुद्धाद्वैत वेदान्त में केवल श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म सच्चिदानंद एवं पूर्ण आनंदस्वरूप माना है। कवि रसखान ने अपने प्राण, मन, इन्द्रियाँ सभी को श्रीकृष्ण की सेवा में समर्पित कर दिए है तथा यह कहा है कि जिसने अपने जीवन में ऐसा नहीं किया है, उसकी वाणी, नेत्र, कान, मन, प्राण एवं संपूर्ण जीवन व्यर्थ है।

रसखान ने श्रीकृष्ण के प्रेम स्वरूप का ही समधिक वर्णन किया है। श्रीकृष्ण के लीलाधाम व्रज में ही उनका बारंबार जन्म हो, ऐसी उन्होंने कामना व्यक्त की है। इस प्रकार की मुक्ति को हम सामीप्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्ति नाम दे सकते हैं । रसखान पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट–पतंग किसी भी योनि में उनका जन्म हो, पर वे सदा व्रज–गोकुल–गांव के ग्वालों के बीच अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं । पुष्टि–भक्ति के अनुसार नित्यधाम वृन्दावन का ही अवतरित रूप लोक में व्रज–वृन्दावन है । श्रीकृष्ण लीला करने के लिए भूतल पर अवतरित होनेवाले थे । अतः स्वयं अवतार लेने से पूर्व उन्होंने व्रज को भी भूतल पर प्रकट होने का आदेश दिया । जन्म–जन्मान्तर के लिए व्रजवास की ही रसखान इस प्रकार कामना करते हैं—

मानुष हौं, तो वही रसखानी, बसौं ब्रज–गोकुल–गांव के ग्वारन ।
जो पसु हौं तो कहा वसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मंझारन ।
पाहन हौं, तो वही गिरि को, जो धर्यौ कर छत्र पुरंदर धारन ।
जो खग हौं, तो बसेरो करौं, मिलि कालिंदी–कूल–कदम्ब की डारन ।

व्रजमाधुरीसार, सुजानरसखान, पद–१

रसखान सगुण भक्त थे एवं कृष्ण के परमोपासक थे । इस कारण उनका समस्त साहित्य लीला–पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के सौन्दर्य निरूपण से ही सम्बद्ध है । सिर पर मोर मुकुट, सुन्दर 'पाग' गोरज सुशोभित भाल, बनमाल से सुशोभित हृदय ऐसे श्रीकृष्ण की ही शोभा का रसखान सदा ध्यान करते थे । एक गोपिका हृदयस्थ श्रीकृष्ण की शोभा देखतीं हुई आंखें बंद करके अपने सिर पर घूंघट डाल देती हैं तब दूसरी कहती है कि 'हे सखि, घूंघट खोल, तूने आँखें क्यों बन्द कर ली हैं ? तब वह उत्तर में कहती हैं–

खोली री घूंघट, खोलौं कहा, वह मूरति नैननि मांझ बसी है । सुजानरसखान, पद–८

वास्तव में ब्रह्म का स्थान तो ब्रह्मलोक में ही है । वहीं सदा ब्रह्म का निवास है, पर रसखान को आश्चर्य है कि ब्रह्म न अपने लोक में है और न कहीं वेदों की ऋचाओं में या फिर अन्य मंत्रों में है । उसने ब्रह्म को वेदों, पुराणों तथा और भी कई लोकों में ढूंढ़ा । उसने उसे खूब चिल्ला–चिल्लाकर पुकारा, पर वह कहीं नहीं मिला और आखिर में व्रज की एक कुंज–कुटीर में राधिका के पैर दबाता हुआ मिला–

ब्रह्म मैं ढूंढ्यौ, पुराननि, गाननि, वेद–रिचा, सुनि चौगुनी चायन ।
देख्यौं सुन्यौं कबहूं न कितू, वह कैसे सरूप औ' कैसे सुभायन ।
टेरत–टेरत हारि पर्यौं 'रसखानि' बतायौ न लोग लुगायन ।
देख्यौ, दुर्यौ वह कुंज–कुटीर में, बैठ्यो, पलोटतु राधिका पायन ॥

व्रजमाधुरीसार, सुजानरसखान, पद–७

इस प्रकार रसखान के समस्त साहित्य का मूल भाव यह है कि निर्गुण की अपेक्षा सगुण ब्रह्म ही श्रेष्ठ है जो राधावल्लभ एवं लीला पुरुषोतम हैं । रसखान इस पद से यह ध्वनित कर रहे हैं कि लोग ब्रह्म को वेदों, उपनिषदों, पुराणों में ढूंढते हैं, पर यह सब–कुछ व्यर्थ है । वह तो एकमात्र व्रज में और फिर व्रज में भी वह केवल राधा के इर्द–गिर्द ही मंडराता मिल सकता है । रसखान के विचारों पर सिद्धांत एवं भक्ति दोनों की दृष्टि से शुद्धाद्वैत वेदान्त एवं पुष्टिभक्ति का ही पूर्णतः प्रभाव है ।

३–गवरीबाई :

जीवन : राजस्थान का दक्षिण अंचल वागड नाम से प्रसिद्ध है । उसमें डुंगरपुर नामक नगर एवं राज्य है । मेवाड़ी एवं गुजराती में पहाड़ को 'डुंगर' कहते हैं । इसका क्षेत्रफल १००० वर्गमील है । पहाड़ों में बसा होने के कारण इसे डुंगरपुर (गिरिपुर) कहा गया है । यहां के नृपति मेवाड़ के आद्य नृपति बापा रावल के वंशज हैं एवं मेवाड़ के भाई एवं सिसोदिया कहलाते हैं । बापा रावल ने गुजरात के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वडनगर (वृद्धिनगर–आनन्दनगर) से ही मेवाड़ में जाकर गुहिल–वंशीय राज्य स्थापित कया था । डुंगरपुर में वडनगरा नागर गृहस्थ जाति में लगभग १८१५ (ई. सन् १७५९) में गवरी बाई का जन्म हुआ ।[1] इनके माता–पिता का नाम अविदित है । जब ये पाँच–छः वर्ष की थीं, तभी इनका विवाह हो गया । आँखों में पीड़ा होने के कारण विवाह के समय इनकी आँखों पर पट्टी बंधी हुई थी । दुर्भाग्य से एवं किसी अज्ञात रोग से विवाह के आठ दिन वाद ही इनके पति का अवसान हो गया । गवरी बाई विधवा हुईं, तब इन्हें संसार का कुछ भी ज्ञान नहीं था । इनसे कोई कहता 'गवरी' तेरा पति मर गया है । तब ये उत्तर देतीं–'मेरा पति परमेश्वर हैं ।' इस प्रकार बचपन से ही गवरीबाई के मन में परमेश्वर बस गया था । गवरी बाई मेधावी थीं । बहुत शीघ्र ही ये विद्या, काव्य कला, 'भागवत' 'गीता' इत्यादि में निपुण हो गईं । उन्हें बचपन से ही लगने लगा कि संसार असार है । उन्होंने अपना मन ईश्वर–भक्ति में लगा दिया । गवरी बाई की ईश्वर–भक्ति की ख्याति डुंगरपुर के तत्कालीन नृपति शिवसिंह तक पहुँची । वे गवरी बाई के दर्शन के लिए उनके घर पधारे और उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर उनके लिए एक मंदिर बनवाकर उसकी सेवा–पूजा एवं आने–जानेवाले साधु–संतों के लिए खर्च की अपने खजाने से व्यवस्था करवा दी । संवत १९३६, माघ शुक्ल ६ गुरुवार के दिन गवरी बाई ने ठाकुरजी की प्राण–प्रतिष्ठा की । इसके बाद मंदिर में पंडितों, साधु–संतों इत्यादि की ज्ञान–चर्चा एवं भजन–कीर्तन होने लगे । गवरी बाई को रामानन्दी सत्गुरु मिले, जिन्होंने उनको ज्ञान–ध्यान एवं समाधिस्थ किया । वे 'गवरी कीर्तन माला' में लिखती हैं—

"गुरु दया क्रिपाकर ध्यान मेरे मन भाया ।"
"रामनाम का समरण दीनो, त्रिकुटी में ध्यान लगाया ।"

कृष्ण भक्त गवरी बाई के अन्तःकरण में रामानंदी गुरु का ज्ञान भली भाँति प्रकाशित हो गया । उस प्रकाश में उन्होंने राम एवं कृष्ण को अभिन्न रूप में देखा । वे 'गवरी कीर्तन मालां' में लिखती हैं—

रघुनन्दन, यदुनन्दन, रसना रट लैया । लछमन के भ्रात, बलभद्रजू के भैया ।

एकबार एक महात्मा मन्दिर में आए । उन्होंने गवरी बाई से कहा—'तुम मीरां बाई की अवतार हो । मीरां बाई के ज्ञानमार्ग में कुछ दोष था । उसीको पूरा करने के लिए तुम्हारा अवतार हुआ हैं । मैं तुम्हें ज्ञान देने के लिए यहां आया हूं । ऐसा कहकर उस साधु ने गवरी बाई को ब्रह्मज्ञान एवं आत्मज्ञान का उपदेश दिया और योगमार्ग भी बताया । उस महात्मा ने बालमुकुन्द की मूर्ति भी गवरी बाई को दी और फिर वहां से वे कहीं चले गए और फिर कभी लौट कर नहीं आए । गवरी बाई ज्ञान–वैराग्य में आगे बढ़ने लगीं । वे सहज समाधिस्थ होने लगीं । प्रारम्भ में एक दिन, फिर बढ़ते–बढ़ते समाधि की अवधि १५ दिन तक पहुँची । समाधि–दशा में वे द्वार बंद करके बैठ जातीं । निर्जल एवं निरन्न दशा में वे एक ही आसन पर अचल स्थिति में बैठी रहती थीं । समाधि से उठने पर गवरी बाई की विधवा भातीजी चतुर बाई उन्हें स्नान करवातीं एवं पूजा–अर्जन मे उनकी सहायता करतीं ।

समाधि सच्ची है या ढोंग, इस संबंध में हरिया नामक एक सेविका के मन में संशय पैदा हुआ । उसने गवरी बाई की जंघा में सुई चुभा दी । समाधिस्थ गवरी बाई मुर्दे की भाँति अचल थीं । उनकी देह न हिली, न कंपी । यह देखकर भयभीत हरिया कहीं भाग गई । समाधि टूटने पर सुई जांघ से बाहर निकाली गई । 'सुई किसने चुभाई ?' पूछ–ताछ करने पर कोई नहीं बोला । कुछ दिनों के बाद हरिया के शरीर में कुष्ठ रोग व्याप्त हो गया । तब हरिया ने गवरी बाई से क्षमा मांगी । गवरी बाई ने कहा कि

१. गवरी कीर्तनमाला, भूमिका, पृ.१७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुष्ठरोग तो तेरे शरीर में बना रहेगा, पर पीड़ा नहीं होगी।[1] गवरीवाई वाक्सिद्ध थीं। वे नये–नये पद बनाकर भगवान् के समक्ष गाया करती थीं। वे सुन्दर थीं। वे हमेशा श्वेत वस्त्र पहनतीं थीं एवं तुलसी की माला के आभूषण पहनती थीं। कपाल में गोपीचंदन का तिलक लगाया करती थीं। जब से वे सहज समाधिस्थ रहने लगी थीं तब से उन्होंने अन्न ग्रहण करना छोड़ दिया था। इसके पश्चात् शेष जीवन उन्होंने दुग्धाहार करके ही व्यतीत किया। संवत् १८६० में गवरी बाई अपने ठाकुरजी को साथ लेकर डुंगरपुर छोड़कर वृन्दावन यात्रा के लिए निकल पड़ीं। यात्रा में उनके साथ चतुर बाई तथा अन्य कुछ व्यक्ति भी थे। गवरी बाई जयपुर के निकट पहुंचीं तब वहां के तत्कालीन महाराजा प्रतापसिंह ने बड़े आदर से ५०० सोना मुहरें भेंट करके उनका स्वागत किया। सोना मुहरें गवरी बाई ने ब्राह्मण–साधुओं में बँटवा दीं। महाराजा साहब ने सुन रखा था कि गवरी बाई को भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। एक दिन गोविन्दजी के द्वार बंद करके उन्होंने गवरी बाई से कहा—'आप भगवान् के श्रृंगार का वर्णन करें।' गवरी बाई ने क्षुब्ध होकर कहा कि आपको हम साधुओं की इस प्रकार परीक्षा नहीं करनी चाहिए। फिर गवरी बाई ने गोविन्दजी के श्रृंगार का वर्णन गाया, जिसमें भगवान के सिर पर मुकुट नहीं है, ऐसा भी गाया। द्वार खोलने पर ठीक श्रृंगार वैसा ही निकला। मुकुट पुजारी की लापरवाही से ठीक से धारण नहीं करवाया गया था, अतः पीछे की ओर गिर पड़ा था। प्रतापसिंहजी ने गवरी बाई को अपने राज्य में रहने के लिए आग्रह किया। गवरी बाई ने अपने ठाकुरजी, वहीं स्थापित करके आगे यात्रा करने का विचार प्रकट किया। राजा ने ठाकुरजी की सेवा–पूजा की व्यवस्था करवा दी।

इसके पश्चात् गवरी बाई काशी गईं। उन दिनों काशी के राजा सुन्दरसिंह थे। उन्होंने गवरी बाई का उत्तम आतिथ्य किया और ५०००० रुपये भेंट किए। गवरी बाई ने सारा धन दान कर दिया। काशी में नागरों में झगड़े थे, उन्हें भी भोजन देकर मिटाया। गवरी बाई प्रायः समाधिस्थ तो रहा ही करती थीं। एक बार सात दिन की समाधि बाद चतुर बाई से कहा कि मेरा देहत्याग करने का समय निकट है। इसलिए यमुना तट पर जाकर रामनवमी के दिन दोपहर के समय देहत्याग कर प्रभु में लीन होना चाहती हूँ। महाराज सुन्दरसिंहजी ने गवरी बाई के लिए पालकी की व्यवस्था कर दी। अपने कहे अनुसार समाधि की स्थिति में योग द्वारा संवत् १८६५, चैत्र शुक्ल ९ मध्याह्न के समय पचास वर्ष की आयु में गवरी बाई ब्रह्मलीन हुईं।[1]

काव्य : गवरी बाई ने हिन्दी, गुजराती एवं राजस्थानी में पद लिखे हैं। उनका एक संग्रह जिसमें ६१० पद संग्रहीत हैं—'गवरी कीर्तनमाला' के नाम से प्रकाशित हैं।[2] इनके कीर्तनों की एक हस्तलिखित प्रति 'गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, अहमदाबाद में सुरक्षित है, जिसमें ६५२ पद संग्रहीत हैं।

गवरीवाई के पद स्फुट हैं, मुक्तक हैं। 'गवरी कीर्तनमाला' के ६१० पदों का विषय की दृष्टि से इस प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है—

(१) कृष्णलीला के पद	२२६	(६) ब्रह्मानुभूति के पद	२१
(२) रामभक्ति के पद	४१	(७) समाधि विषयक पद	४
(३) शंकरभक्ति के पद	३	(८) आत्मदैन्य विषयक पद	५१
(४) नीति–उपदेश के पद	११९	(९) धुन के पद	४४
(५) वेदान्त–अध्यात्म के पद	२१	(१०) आरती के पद	२

१. गवरी कीर्तनमाला, पृ. ३५

२. गवरी कीर्तनमाला, प्रकाशक : कमलाशंकर गोपालशंकर भचेच, एलिसब्रिज, दिलहर द्वार, संवत् १९९४, सन् १९३७, शोधक : 'मस्त' कैर ऑफ क. गो. भचेच।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(११) सामान्य विषयों से सम्बद्ध पद ९

(१२) निम्नलिखित ७ पद 'गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी की हस्तलिखित प्रति में नहीं हैं एवं अन्य निम्नलिखित स्रोतों से उपलब्ध हैं–

(अ) गवरीबाई और सुन्दरसिंह के विषय में पद ४

(आ) शोधक को अपनी बड़ी फूफी से प्राप्त पद १

(इ) शोधक को अपने पिता से प्राप्त पद २

उपर्युक्त पदों में विस्तार की दृष्टि से १४ पद बड़े हैं एवं ५९५ साधारण पद जैसे होते हैं, वैसे हैं।

कृष्ण एवं राम की श्रृंगारलीला के पदों मे कवयित्री ने तुलसीदास की भाँति मर्यादा में रहकर स्वल्प मात्रा में श्रृंगार रस का वर्णन किया है। कृष्ण की बाललीला के दो सौ भी अधिक पद इन्होंने लिखे हैं। अधिकांश पद शांतरस से सम्बद्ध, ब्रह्म, आत्मज्ञान एवं अध्यात्म विषयक हैं। यद्यपि काव्यकला की दृष्टि से ये पद मीरां की भाँति उत्तम काव्य की कोटि में नहीं आते, फिर भी भक्तिभावपूर्ण हैं। कवयित्री ने पद १२४ में 'राग छतीसुँ सुणवाने' लिखा है, 'इस पर से प्रतीत होता है कि इन्होंने प्रचलित छत्तीस राग-रागनियों का प्रयोग किया है। कुल ६१० पदों में २५९ पद ऐसे हैं,' जिन पर किसी राग विशेष का नाम नहीं दिया गया है। शेष जितने पद जिस राग में गाए जाते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—(१) आरती ४, (२) आसावरी ४, (३) कनड़ी १, (४) कल्याण ९, (५) कानड़ो १, (६) काफी २, (७) खमायची ११, (८) गरवी २९, (९) गोड़ी २१, (१०) जंगलो १, (११) जंगलाती १, (१२) जेजेवंती ८, (१३) टोडी २, (१४) देवगांधार १, (१५) धनासरी १, (१६) धमाल १७, (१७) धोल १, (१८) नट ४, (१९) पद ३, (२०) पुरवी ७, (२१) प्रभाती ६१, (२२) पंजाब १, (२३) विभास ३, (२४) वेहागड़ो, (२५) भैरव १५, (२६) मल्हार ३०, (२७) मारू ४, (२८) मारू सोयणी २, (२९) मेवाड़ो ३, (३०) रामकली ११, (३१) रेखतो, (३२) ललित २, (३३) बसंत ३१, (३४) बिलावल ४, (३५) साखी ५, (३६) सारंग १५, (३७) सोरठा ३, (३८) संकेत १, (३९) हिंडोलो ४, यों कुल ६१० कीर्तन और राग संख्या ३९ होती हैं। यदि जंगलो और जंगलाती, कनडी और कानडो, मारू और मारू सोयणी एक गिने जाएँ तो 'राग छतीसुँ सुणवाने' कथन यथार्थ सिद्ध हो जाता है। इन ६०१ पदों में ४ पद गवरी बाई सुन्दरसिंह के, १ पद शोधक को अपनी बड़ी फूफी गोविंद कुंवर से प्राप्त, २ पद शोधक को अपने पिता से प्राप्त, १ पद प्रश्नोत्तर और एक श्लोक यों कुल ६१० 'गवरी कीर्तनमाला' के होते हैं।

गवरी बाई के उपर्युक्त समस्त पद-साहित्य का अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि ये महायोगी, सच्ची ईश्वरभक्त, ज्ञानी, बहुश्रुत, विदुषी एवं कवयित्री थीं। ये ज्ञानी होने पर भी कबीर की भाँति निरक्षर नहीं थीं। इन्होंने भाषा एवं काव्यशास्त्र का विधिवत् अध्ययन-अनुशीलन किया था। ये सगुण की उपासिका होने पर भी अंतिम तत्त्व के रूप में ये अखंड, अद्वैत, निराकार, समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त परब्रह्म को ही मानती थीं। सगुण भक्तिमार्ग उनके लिए ब्रह्मज्ञान का बाह्य एवं मानसिक साधन मात्र था। शंकर के अद्वैत वेदान्त का ही निरूपण इनके अधिकांश पदों में हुआ है, फिर भी संसार की असारता रसरूप ब्रह्म की आनंदाभूति इत्यादि के रूप में इनके पदों में शुद्धाद्वैत वेदान्त के विचार भी निरूपित हुए हैं। गुजरात में अखा प्रखर वेदान्ती कवि हुआ है। अखा के पश्चात् इस क्षेत्र में गवरी बाई की गणना की जाती है।

संक्षेप में गवरी के पदों की विशेषता इस प्रकार है—

(१) इनके पदों में मर्यादित श्रृंगार, भक्ति एवं वेदान्त का निरूपण हुआ है।

(२) इनके पद हिन्दी, गुजराती एवं राजस्थानी तीनों भाषाओं में उपलब्ध हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) ईश्वर को इन्होंने सर्वव्यापक माना है। इन्होंने उसे सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों में माना है। वह एक होकर भी अनेक है और अनेक होकर भी एक है।

(४) प्रभु की प्राप्ति के लिए उन्होंने मनःशुद्धि, सत्संग एवं ध्यान को आवश्यक माना है।

(५) जो परमानंद का विषय है। उसका सतत ध्यान, स्मरण एवं पुनरावर्तन सहज एवं स्वाभाविक है। गवरी बाई ने ईश्वर को आनंद का कारण मानकर जीवन के हर क्षण में उन्हों ने मनसा, वाचा एवं कर्मणा उसे दुहराया है। हर पद में उसका स्मरण किया है और हर क्षण वह उन्हें नव-नवनीत, सद्यः एवं आनंददायी प्रतीत हुआ है। उस परम प्रीति पात्र के स्मरण में न ऊब है, न थकान हैं, केवल वहाँ अनिर्वचनीय आनंद है एवं उत्साह है।

मीरांबाई एवं गवरी बाई दोनों के व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व में पर्याप्त साम्य है। दोनों राजस्थान की थीं और दोनों ने कृष्ण भक्ति के पद गाए हैं। दोनों मध्यकाल में हुई थीं। दोनों को दुर्भाग्य से वैधव्य प्राप्त हुआ था। दोनों ने हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती में पद लिखे हैं। दोनों ने परमात्मा के सगुण एवं निर्गुण दोनों विषयों के पद गाए हैं। दोनों को हिन्दी एवं गुजराती साहित्य में स्थान प्राप्त है। जैसा कि कुछ लोगों की मान्यता है। मीरां द्वारका के रणछोडरायजी में समा गईं तो गवरी बाई ने यमुना के किनारे समाधिस्थ होकर योग द्वारा अपनी आत्मा को परमात्मा में लीन कर दिया। दोनों में यत्किंचित् अंतर भी है। वह यह कि मीरां राजवंश में उत्पन्न हुई थीं तो गवरी बाई ब्राह्मण वंश में।[1] मीरां ने गिरधर गोपाल की प्रीति के अधिक पद लिखे तो गवरी बाई ने अध्यात्म के। गवरी बाई ने राम एवं शंकर की भक्ति के भी पद लिखे हैं, जब कि मीरां में इसका अभाव है। एक सबसे अधिक ध्यानपात्र अंतर यह है कि मीरां का काव्य भावपूर्ण एवं उत्तमकोटि का है, जब कि गवरी बाई के काव्य में भाव-निरूपण की अपेक्षाकृत कमी है। काव्य में उपदेशात्मकता का आधिक्य होने से शुष्क-सा प्रतीत होता है।

वेदान्त : गवरी बाई के पद साहित्य में सगुण के साथ-साथ निर्गुण विषयक विचार भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। सगुण में उन्होंने राम, कृष्ण एवं शंकर की अनेक रूपों में स्तुति की है। उन्होंने योग द्वारा लभ्य ब्रह्म एवं अद्वैत वेदान्त से सम्बद्ध निर्गुण ब्रह्म विषयक विचार व्यक्त किए हैं। गवरी बाई के काव्य में इस मात्रा में वेदान्त विषयक विचार निरूपित हुए हैं। यह एक स्वतंत्र शोध का भी विषय हो सकता है। मीरां के काव्य में काव्यत्व का अंश अधिक है तो गवरी बाई में काव्यत्व स्वल्प मात्रा में हैं, पर दर्शन, वेदान्त एवं संसार के मिथ्यात्व पर इन्होंने पर्याप्त लिखा है। इसी कारण मीरां की भाँति गवरी बाई के पद लोक-भोग्य न हो सके। गवरी बाई के पास काव्यानुभूति है, ब्रह्मानुभूति है, संवेदनशीलता है, पर अभिव्यक्ति में मीरां की तुलना में इनके काव्य में काव्यत्मकता का अभाव है।

ब्रह्म : गवरी बाई नें शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुरूप श्रीकृष्ण को परब्रह्म 'त्रिगुणातीत' 'हरि', 'रसरूप हरि', 'अन्तर्यामी', 'वृन्दावनविहारी', 'पुरुषोत्तम', 'उपनिषद्', को सार 'श्रीकृष्ण', 'पूर्णब्रह्म', इत्यादि रूप में निरूपित किया है। गवरी बाई ने मीरां की भाँति शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार **'नटवर नागर'** श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम माना है तथा जीव एवं जगत् को उनका ही स्वरूप कहा है। ब्रह्म ने रिरंसा भाव से विलास के लिए ही स्वयं में से गोपिकाएँ, गोप, तरु, तमाल, पुष्प-फल, सुगंध, भोगी इत्यादि के रूप में परिणमन किया है। स्वयं ब्रह्म ही वाद्य बजा रहे हैं एवं गोपिकाओंके रूप में वे स्वयं ही नृत्य कर रहे हैं। स्वयं ब्रह्म ही सकल जीव-जगत् में व्याप्त हैं। रस रूप भी स्वयं ब्रह्म ही हैं एवं रस के भोक्ता

---

१. मेवाड़ और डूंगरपुर दोनों राजवंशों का बिरुद रावल है। डूंगरपुर बड़े भाई का राजवंश होने से महारावल एवं मेवाड़ छोटे भाई का राजवंश होने से 'रावल' विरुद से सुप्रसिद्ध है -वीरविनोद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी वे ही हैं। वे ही सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। वे अगाध माहात्म्य संपन्न हैं। अगम-निगम भी जिनका पार नहीं पा सकते, ऐसे वे 'अविगत' अविनासी' हैं और वे ही पूर्ण पुरुषोत्तम हैं—

पुरुषोत्तम पूरण अवीनास, आपे रमण विलास रे।
आपे गोपी, आपे गोपाल, आप आप रमे रास रे।
बहुनामी हु' नाम कहावु', इच्छा अखंडानन्द रे।
एक अनन्त रूपे थइ विलस्या; नटवर नागर नन्द रे।
आपे तरु, तमाल ने पान, आपे फुल-फल वास रे।
आपे भोगी प्रीतम प्यारा, नौतन रचीया ठाढ़ रे।
आपे गावे, आपे वजावे, आप सकल में वसीयो रे।
आप आनंद हे, आप चन्द हे, आपे रस ले रसीयो रे।
अगम-निगम जाको पार न पावे, अविगत अविनासं रे।
'गवरी' कहे प्रभु नटवर नागर, पुरे भक्तन की आस रे। गवरीकीर्तनमाला, पद-४३५

मीरां एवं गवरी वाई का साम्य तुलनीय है। मीरां कहती हैं—'मीरां के प्रभु गिरधर नागर' और गवरी बाई लिखती हैं 'मीरां के प्रभु नटवर नागर'। 'एक अनंत रूपे थइ विलस्या' पंक्ति के द्वारा एवं **'एकोऽहं बहुस्याम्'** का वेदान्त तथ्य प्रकट हुआ है। ब्रह्म ही विलास के लिए एक से अनंत हुआ। यही गवरी बाई का प्रतिपाद्य है। नरसी मेहता कहते हैं—**'ब्रह्म लटकां करे ब्रह्म सामे'**। जगत् में जीवन है वह ब्रह्म का ही स्वरूप है। अतः ब्रह्म ही ब्रह्म के साथ व्यवहार कर रहा है। पिता भी ब्रह्म है, पुत्र भी ब्रह्म है। राजा भी ब्रह्म है एवं उसका सेवक भी ब्रह्म है। यही नरसी एवं गवरो वाई कहना चाहते हैं। 'बहुनामी हुं नाम कहावुं' 'मैं हूँ एक पर नामरूपात्मक जगत् में विविधरूपों में विलसित हो रहा हूँ।' यहां शुद्धाद्वैत वेदान्त का अविकृत परिणामवाद निरूपित हुआ है। जब ब्रह्म ही तरु, तमाल, फल-फूल, गोपी-गोप सभी कुछ है तो वह स्वयं शुद्ध होने से उसका संपूर्ण परिणमन भी **'कनक-कुण्डलवत्'** शुद्ध ही हुआ। **'विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु'** अग्नि में से निकले विस्फुलिंग अग्नि के ही विशुद्ध अविकृत अंश हैं, वैसे ही स्वयं ब्रह्म में से आविर्भूत हुए तरु, तमाल, गोपी-गोप एवं समस्त चराचर जीव-जगत् भी ब्रह्म के ही अविकृत अंश हैं।

गवरी बाई ने श्याम एवं राम को अभिन्न माना है। दोनों ही विष्णु के अवतार हैं तथा दोनों नाम-रूप से भिन्न होने पर भी एक हैं। ये वास्तव में पूर्णब्रह्म ही हैं। आकाश, अंबर, पवन, अवनी, तेज, फल, सुगंध, कर्ता, हर्ता, 'सरजनहार' सागर, सरिता, लहर, फेन बाहर, भीतर, स्थावर-जंगम सभी इसी के रूप हैं—

रामा पुरणब्रह्म भरपूर, तुंहीं एक जाना हो।
तुंहीं अंबर, तुंहीं अंबु पवन, अवनी तेज पहचाना हो।
तुंहीं फल, तुं हीं वास, पातपात मांही प्रभु समाना हो।
तुंहीं करता, तुंहीं हरता, तुंहीं सरजनहार प्रकट, कहुं छिपाना हो।
तुंहीं सागर, तुंहीं सरिता, तुंहीं तरंग, लेहरी, तुंहीं अरु फेन हो।
तुंहीं बाहिर, तुंहीं भीतर, स्थावर, जंगम मांहीं चोषाना हो।
'गवरी' रामरंग दीवानी, आतम सिंधु मांहे, सहजे समाना हो। गवरीकीर्तनमाला, पद-५१७

सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से किस प्रकार हुई, इसे समझाने के लिए सूर ने जल एवं बुदबुद का उदाहरण प्रस्तुत किया है। गवरी बाई ने यही तथ्य सागर एवं तरंग द्वारा प्रस्तुत किया है। जैसे सागर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का तरंग अविकृत रूप है वैसे ही सृष्टि की उत्पत्ति कों लेकर अविकृत परिणामवाद है। यही शुद्धाद्वैत वेदान्त का सृष्टि की उत्पत्ति को लेकर अविकृत परिणामवाद है। अंतिम पंक्ति में गवरी बाई ने परमात्मा को सिन्धु कहा है, जिसमें स्वयं की आत्मा सहज ही में समा गई है जैसे सागर में बूंद। ईश्वर सर्वव्यापी है, वह विभु है। वह सृष्टि के अणु–अणु में व्याप्त है। वह घट–घट बासी है। यही गवरी बाई यहाँ कहना चाहती है।

यह सृष्टि सविकार एवं त्रिगुणात्मिका है, पर हरि त्रिगुणातीत है। वह जिस स्थान पर शाश्वत रूप में निवास करता है, बहां अखंड वसंत है और वहां वह अविनाशी अखंड रूप में रासलीलाएँ किया करता है। उस परब्रह्म को मन से अहर्निश देखो, स्मरण करो, अजपा 'जाप' करो, प्रीति की पिचकारी हाथ में लेकर प्रेम रंग से रंग दो। लोक–लज्जा त्याग करके काम–क्रोध छोड़कर के केवल उसे ही भजो—

चालो जइए सखीयो, हरी की पास, आयो रे रत वसंत मास।
अखंड बसंत, अखंड निवास, अखंड रमे ज्यों अविनाश।
ध्यान गोपाल, अगर आसंन, चौवा चन्दन, चरच मन।
त्रिगुणातीत, पेखो आप, निसदिन, समरो, अजपा जाप।
प्रीत पिचकारी, भरी हाथ, भाव भक्ति मलीं चलोरी साथ। गवरीकीर्तनमाला, पद–५

शुद्धाद्वैत वेदान्त में परब्रह्म को रसरूप कहा है। गवरीवाई ने भी हरि को रस की खान कहा है। कुंजबिहारी, गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण ही पूर्णब्रह्म एवं अन्तर्यामी हैं। वे ही देवाधिदेव, अखंड अविनाशी हैं। उन्होंने ही व्रज–नारियों को मोहित किया था। वे ही मुकुटधारी, मुरलीधर, गोकुल के 'गोचारी' हैं। वे ही नंदलाल एवं पांचाली के प्रतिपाल हैं। वे ही कंसारि, मुरारि तथा निर्गुण होने के कारण उनकी गति न्यारी ही है। वे सगुण होते हुए भी अन्ततः निर्गुण हैं। भक्तों के 'काज' के लिए हा उन्होंने यहाँ भूतल पर अवतार लिया था—

जे जे पुरव ब्रह्मस्वामी, जे जे पुरण ब्रह्मस्वामी।
करता, हरता, करुणासागर, तमे अंतरजामी।
गोवरधनधारी, कुंजविहारी, व्रन्द्रावनवासी, हरि वृन्दावासीं।
तुम देवन के देव दयानिधि, अखंड अविनासी,
मुगटधर, मुरलीधर, गोकुल गौचारी, हरि गोकुल गौचारी।
मोटे मुनीजन मोहे तुमकुं मोही, व्रीजनारी,
नन्दलाला, प्रतिपाला, महिमा गावत नीगम रे जाकी,
दासी पंचाली की प्रभुजी लज्या रे राखी।
कंसारी, मोरारी, निरगुन, गत तेरी न्यारी, हरि गत तेरी न्यारीं।
कहे 'गवरी' भक्तन के काजे प्रगट्या मोरारी। गवरीकीर्तनमाला, पद–११

शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार हरि ही पूर्ण ब्रह्म, सच्चिदानंद एवं विश्व में सर्वत्र बाहर–भीतर व्याप्त हैं। वे अगाध माहात्म्य संपन्न हैं। उनके माहात्म्य को ब्रह्मा चार मुख से, शेष सहस्र मुख से, निगम अंत में 'नेति–नेति' कहकर बखानते हैं। सनकादि ऋषि, व्यास, शुकदेव, नारद सभी जिनका यश गाते रहे पर भेद न समझ सके। वे पूर्णब्रह्म सनातन हरि ही हैं। उन्हीं के चरण–कमलों में चित्त लगाना चाहिए—

हरि पुरणब्रह्म रामैया, आद्य अंत केणे ना लैया,
सच्चिदानन्द, अखण्ड बहुनामी, बाहिर–भीतर रमैया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार मुख, पंचमुख रहत है, सहस्त्र मुख सें लैया ।
निगम निरंतर नेती वखाणे, भेद कोई कहीं दैया ।
सनकादिक, शुक, व्यास, वखाणे, नारद भेद भुलैया ।
ध्रुव प्रह्लाद तो ध्यान ध्यावे, पार कोई नहीं लैया ।
नित्य है मंगल, नित्य वसंत है, घटवध नहीं कंई जैया ।
'गवरी' कहे प्रभु ब्रह्म सनातन, चरण कमल चित दैया । गवरीकीर्तनमाला, पद-७२

सभी उपनिषदों के समन्वय-सार रूप वादरायण व्यास रचित ब्रह्म-सूत्र हैं । जिन्हें वेदान्तसूत्र भी कहते हैं । इस प्रकार उपनिषद् एवं वेदान्त शब्द एक दूसरे के पर्याय हुए । गवरी वाई ने श्रीकृष्ण को उपनिषदों का सार कहा है अर्थात् श्रीकृष्ण वेदान्त स्वरूप हैं । अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद इत्यादि वेदान्तधाराओं में वर्णित ब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं । वे ही यशोदोत्संग लालित हैं । उन्होंने ही स्वेच्छा से ही नन्दरानी के ऊखल का बंधन स्वीकार किया था । वेद ऐसा कहते हैं कि वे ही सचराचर में व्याप्त हरि हैं । उन्हीं को निगम 'नेति-नेति' कहते हैं । वे हा हरि अहीर के घर माखन की चोरी करते हैं । गवरी वाई कहती हैं कि वे ही प्रभु सनातन ब्रह्म हैं--

अविगत गति, को नहीं पावे, सचराचर में हरि वेद बतावे ।
निगम निरंतर नेति वखाणे, ताकुं जसोदा हरखे हलरावे ।
उपनिषदनो सार, श्रीकृष्ण, वाकुं समर्या बंधन कट जावे,
सो हरि नीको, नंदरानी में कर जोरी उखल बंधावे ।
अज, सिव, वाको पार न पावे, जोतरूप जोग, ध्यानी धावे ।
सो हरी अहीर के घर चोर, चोर राधे माखन कुं खावे ।
अजर अमर अगम अगोचर, अखंडानन्द अविनासी कहावे ।
'गवरी' के प्रभु ब्रह्म सनातन, तेरी गति में प्रभु तुंहीं ज पावे । गवरीकीर्तनमाला, पद-१३२

हे मन, ब्रह्म तुझ में ही विद्यमान है । तू उसे दूर देखता है, इसीलिए वह तुझे मिल नहीं रहा है । यह जगत् मृगतृष्णा है, स्वप्नवत् है । जैसे जल में तरंग उठती है तो वह जल से भिन्न नहीं है, वैसे ही तू भी परमात्मा से अलग नहीं है । सारे ब्रह्माण्ड में और घट-घट नें केवल एक उसी का चिदानंद प्रकाश व्याप्त है—

तव तन में जु ब्रह्म, हे मन !
दुर निहारत, ते थुं नहीं पाय समझत नहीं क्युं भरम ।
या जग सकल, सुपनवत, मानं, मृगतृष्णा देख्यं ।
जैसे जल में देखो तोरंगा, सो नीर नहीं है जुदं ।
'गवरी' के प्रभु चितानन्द मइ प्रकासी सदा तु स्वयं । गवरीकीर्तनमाला, पद-२१०

इस पद में भगवान् शंकर के अर्धनारीश्वर स्वरूप की भाँति केवलाद्वैत एवं शुद्धाद्वैत दोनों वेदान्त के तत्त्वों का समन्वय हुआ है । जगत् मिथ्या है, स्वप्नवत् है, एवं ब्रह्म आत्मा के रूप में प्रत्येक घट में विद्यमान है, यह आचार्य शंकर का केवलाद्वैतवाद है । तरंग जैसे जल से अलग नहीं है, दोनों का अभेद संबंध है, वैसे ही जीव-जगत् ब्रह्म के ही परिणमन है एवं अभेद रूप हैं । यह पंक्ति शुद्धाद्वैत वेदान्त के अविकृत-परिणामवाद की ओर संकेत करती है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म ने रिरंसा भाव से इच्छा की कि मैं अखंड हूं, पर क्रीड़ा के लिए अनेक रूपों में परिणत हो जाऊँ। इस प्रकार की इच्छा के साथ ही जैसे सागर में से तरंगे, बीज में से जैसे वटवृक्ष उत्पन्न होता हैं वैसे ही अपनी अगाध शक्ति संपन्ना माया द्वारा ब्रह्म ने अखिल ब्रह्माण्ड का परिणमन किया है। जैसे सूर्य में से सूर्य का प्रकाश अद्भूत होता है, वैसे परब्रह्म ने इस पंचभूतात्मक जगत् को स्वयं अपने विराट् वपु में से ही परिणत किया है। शाखाएँ, मूल, वृक्ष, फूल, सुगंध से सभी अनिर्वचनीय ब्रह्म के ही अविनाशी स्वरूप हैं। अविद्या माया से आवृत होने के कारण ही वह जीव कहलाया, नहीं तो वह स्वयं हा आत्मा है, ब्रह्म है। इस प्रकार अपने एक साधारण से कटाक्ष मात्र से ही ब्रह्म ने माया में प्रतिबिंबित होकर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र एवं ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकट होकर विलास करना प्रारंभ किया—

एक अखंडित ब्रह्म है, ताको नहीं हे अंत, आप इच्छायेथी रचे, उपजावे बहु जंत।
सागरथी तरंग बहु, बीज थकी ज्यूं वट, 'गवरी' ब्रह्म ब्रह्माण्ड यूं, रच्यो हे माया पट॥
पंचभूत परिब्रह्म के, ज्यूं हे सूर प्रकास, डाल, मूल सब वृक्ष के, फल, फूल अरु वास॥
अनिर्वचनी ब्रह्म हे, अविनाशी अरूप, माया, अविद्या में पर्यो, याते भयो जीव रूप।।
ईश्वर के कटाक्ष ते, पर्यो प्रतिबिंब भास, ब्रह्मा विष्णु रुद्र त्युं, कीयो माया विलास।।

गवरीकीर्तनमाला, पद–४००

यहां वेदान्त का सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में निरूपित बिंबप्रतिबिंबवाद निरूपित हुआ है। माया–दर्पण में ब्रह्म का प्रतिबिंब पड़ा और वही यह सृष्टि का विस्तार है। जीव एवं आत्मा दोनों हैं एक ही, पर शरीरस्थ आत्मा जीव है। जब आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो जाएगा और स्वयं को वह शरीर से अलग समझने लगेगी तब वह आत्मा हो जाएगी, शुद्ध ब्रह्म रूप हो जाएगी। पिप्पल की एक शाखा पर दो पक्षी बैठे हैं। एक फल खा रहा है और दूसरा तटस्थ भाव से बैठा हुआ उस फल भोक्ता पक्षी को देख रहा है। यह तटस्थ पक्षी ही आत्मा है एवं भोक्ता जीव है। जीव अविद्या माया से आवृत है तब तक वह संसार लिप्त है वह जब स्वयं को संसार के भोगों से स्वयं को मुक्त कर लेगा तब वह आत्मा के रूप में ब्रह्म रूप हो जाएगा। यही विदेह स्थिति है। इसी तथ्य को गवरी बाई ने 'माया, अविद्या में 'पर्यो जाते भयो' जीव रूप द्वारा प्रकट किया है। ब्रह्म निर्गुण से सगुण कैसे हुआ और क्यों हुआ? इसीका इस पद में निरूपण हुआ है। शुद्धाद्वैत–वेदान्त भी सृष्टि विस्तार का निरूपण इसी रूप में करता है।

निर्गुण ब्रह्म ही सगुण रूप में अवतरित हुआ। निर्गुण ब्रह्म अगम्य, अनिर्वचनीय है। देखा हो, सुना हो, तो कोई उसका वर्णन कर सकता है, पर अदृष्ट निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को तो कोई बिरला ज्ञानी ही अपने अन्तःकरण में, समाधि अवस्था में अनुभूति का विषय बना सकता है। वह तो 'अचख्या' रस है। बुद्धि से 'अगोचर' है, 'अविनाशी' है। वहाँ तक मन एवं वाणी की पहुँच नहीं है। इसी कारण 'अरूप' ब्रह्म 'रूपवान्' बना। बिंब का ही प्रतिबिंब माया दर्पण में गिरा, इसी कारण वह 'अरूप' प्रतिबिंब होकर नाना रूपों में विलसित हुआ है। वही पूर्ण ब्रह्म है। वही पूर्ण ब्रह्म गुरु की कृपा से गवरी बाई के लिए स्वानुभूति का विषय बना है—

तारो निरगुण ब्रह्म कहावे, एनो पाप कोई नव पावे।
देख्यु, सुण्यु सहु कोइ वखाणे, कोक अद्रष्ट उर राखे।
अनुभवीजन आतमना, दरसी, अचख्या रसकुं चाखे।
बुद्धि थी अगोचर अविनासी, पोंचे न मन ने वाणी।
अरूप में थी रूप बनायु निर्लेप ए निरवाणी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिंब प्रतिबिंब दरपण भास्यु', दिस्ये ए जुदो–जुदो ।
लक्ष अलक्षनी मांहे समातां, नाहीं ए दुजो–दुजो ।
एक अनंतरूपे करी विलस्यो, पुरणब्रह्म बहुनामी ।
'गवरी' अनुभव स्वयं प्रकाश्या, मिलीया सतगुरु स्वामी । गवरीकीर्तनमाला, पद-४२५

कबीर जैसे ज्ञानी संतों ने द्वैताद्वैत–विलक्षण परब्रह्म के माहात्म्य का वर्णन किया है, जो अगम है, अगोचर है, अनहद नाद में सुरत लगाने पर ही जो अनुभूति का विषय हो सकता है । गवरी बाई को गुरु की कृपा से ऐसे ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान हुआ है ।[1]

गवरी बाई की एक आध्यात्मिक निर्गुण ब्रह्म की मन, सत्संग, ध्यान की आरती भी है । जिसके द्वारा साधक को ब्रह्मानुभूति होती है । जिससे प्रकट होता है कि गवरी बाई पर तत्कालीन संतों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा था ।[2]

जगत् : गवरी बाई ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के, अनुसार जगत् को ब्रह्मरूप कहा है—'आपे तरु, आपे तमाल ने पान, आपे फुल–फल वास रे ।[3] ब्रह्म ही विलास के लिए तरु, तमाल, फल–फूल, पशु–पक्षी–मानव इत्यादि के रूप में परिणत हुआ है । ब्रह्म ही अंबर, अंबु, पवन, तेज, फल तथा पात–पात में विद्यमान है । वही सर्वव्यापी एवं विश्वरूप है । सागर–सरिता लहर सभी कुछ तो वही है, ऐसा गवरीबाई ने कई स्थानों पर निरूपण किया है ।[4] इस प्रकार गवरी बाई ने शुद्धाद्वैत–वेदान्त के अनुसार ही ही जगत् को **'प्रपंचो भगवत् कार्यः तद्रूपो मायायाभवत्'** कहा है । अर्थात् जगत् भगवत् कार्य है एवं भगवद्रूपा माया द्वारा उसका परिणमन हुआ है, ऐसा उन्होंने निरूपण किया है । इसके विपरीत कहीं–कहीं गवरी बाई ने जगत् को संसार का पर्याय मानकर उसे मिथ्या, क्षणिक, नश्वर, रात्रि का स्वप्न, मोहकारी, ओस की तरह दूर से मोती की तरह जगमगाने वाला पर पास में जाकर छूने पर कुछ नहीं, सीप से बना हुआ वह रुपैया जो चाँदी के जैसा दीखता है, पर बाजार में उसका कोई भी मूल्य नहीं–रज्जू में सर्प की भ्रांति की तरह मायावी, मृगजल की भाँति केवल भटका–भटका कर प्यासा ही मार देनेवाला भी कहा है । जगत् की सभी चीजें, सभी संबंध माता–पिता, कुटुम्ब इत्यादि सूत्रधारिणी अविद्या की माया है । जैसे मुट्ठी में भरा धुंआ मिथ्या है, वैसे ही यह देह भी झूठी है । गवरी बाई कहती हैं कि गोविंद को ही गाओ क्योंकि यह काया रूपी घर तो घास–फूस की छाया है । वह कभी भी आग-आंधी और पानी में जल सकता है, विखर सकता है और बह सकता है—

जगत तुं, देख रे झुठा जैसा हे, रेन का सपना ।
काहु पे मोह ना करना, मुंसे रामनाम कुं जपना ।
सुपन में धन बहु पाया, भुवन भूषन हे खासा ।
देखा जीव जाग के जब ही कोडी एक, ना मिली पासा ।
जेसा हे, उसका मोती, दुर से झगमगे जोती ।
निकट जब लेनेकुं धाया, कछु नहीं हाथ में आया ।
जैसा है सीप का रूपा, उनसे न आयेगा पेसा ।
रज्जु में भुजंग हे झुठ़ा, जगत यह जान रे पेसा ।

---

१. गवरीकीर्तनमाला, पद १२, २. गवरीकीर्तनमाला, पद–१२ ३. गवरीकीर्तनमाला, पद–४३५
४. गवरीकीर्तनमाला, ५१७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृगजल, देख के हरखाया, उनसे ना मिटती तरसा।
भोजन चूरेल के राचया॰ मूढ मन, होय नहीं साचा।
समर मन है सरजन हारा, उतरोगे उनसे पारा।
मात तात कुटुम्ब रे काया, अविद्या सूत की माया।
जैसी धुंआ की रे मुठी, तेसी यह देह हे झूठी।
'गवरी' गोविन्द ले गाइ, कायाधर, पुरु की छांहीं। गवरीकीर्तनमाला, पद–३०४

जगत् सीप के रुपये की भाँति फूटी छदाम के जितनी भी कीमत का नहीं है, तथा जगत् के विषयों में लिप्त होना धुंए को मुठ्ठी में वन्द करने जैसा व्यर्थ का पागलों जैसा प्रयत्न है। ये दोनों उपमाएँ एवं उदाहरण बड़े ही मार्मिक एवं मौलिक रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। स्वप्न में कोई संपत्तिशाली हो जाता है, पर जागने पर उसके पास एक कोड़ी भी नहीं होती, वैसे ही जगत् का जीवन है। मृत्यु के समय उसके पास कुछ नहीं होता। बंदी मुठ्ठी आया था और खुली मुट्ठी जा रहा है। यही जगत् की उपलब्धि का सार है, टोटल है।

विना भगवद् भजन के जीवन व्यर्थ है। यह धुंए जैसा 'धवल' है पर हाथ में कुछ नहीं रहता। जगत् तृष्णा से भरा हुआ 'दरिया' है, जिसमें दूर से पानी भरा दीखता है। निकट जाने पर प्यास नहीं बुझती, पर प्राण गँवाने होते हैं। कुत्ता जैसे सार समझकर हड्डी को चूसता है पर वह मूर्ख यह नहीं समझता कि वह अपने मुँह का खून ही चूस रहा है। जगत् के लोग भी विषय रूपी हड्डी को कुत्ते की भाँति ही चूस रहे हैं। पर वास्तव में वह उन्हीं के अंग का अंश है। गवरी बाई कहती है कि गोविंद के भजन से ही परम पद प्राप्त हो सकता है—

भजन बिना, मिथ्या जनम गमावे।
आ संसार धुंआ जैसा धवला, हाथ कछु नहीं आवे।
मृगतृष्णा के सरोबर भरीया, दूर सें नीर दरसावे।
नजीक गये जब, प्यास न जावे, उलटा प्रान गमावे।
जैसे श्वान हे हाडकुं चुसता, जीभ्या इन्द्रीकुं वडावे।
आपको लोही आपकुं खावे, मुरख मन नहीं पावे।
सुपने में निरधन धन पायो, जाग्यो तो संगी न जावे।
'गवरी' कहे, भज ले गोविन्द कुं, याते परमपद पावे। गवरीकीर्तनमाला, पद–३२४

जगत् चार दिनों का ठाठ है। जगत् के लोग पागल होकर विषयों में अनुरक्त हैं। यह तो स्वप्न की माया है। इसे लुप्त होते देर नहीं लगेगी। सोदागर सोदा खरीदने आया है, जो ज्ञानी है। वह सोदा खरीदेगा, पुण्य करेगा, भजन करेगा और मूर्ख अपना जन्म व्यर्थ ही वरबाद कर देगा। इस संसार में लोग बँधी मुट्ठी लेकर आए थे और हाथ पसार कर जाएँगे। गवरी बाई कहती है कि भगवान् के चरण-कमलों में चित्त लगाना चाहिए—

सुन समझ, सुमत बिचारी, या तेरा भुवन बेराना।
दिनु चार के ठाठ बनाया, क्या देखी फुल्यो भारी।
या संसार सुपन की संपत, छीलातां नहीं वारी।
सोदे आयो सोदागर रे, मुरख चल्यो भुल सें हारी।
बाँधी मूठे आयो, कछु कहा कमायो, जायगो हाथ पसारी।
दास 'गवरी' कहे भजो भगवाना, चरण-कमल चित धारी। गवरीकीर्तनमाला, पद–३५५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस जगत् में अखंडानंद सच्चिदानंद गिरधर का भजन ही सार है। संसार तो स्वप्न है, 'बाजीगर' का खेल है। मनुष्य की आयु अति अल्प है तथा यौवन चंचल है। वह क्षण में ही विलुप्त हो जाएगा। संसार आकाश की बदली के जैसा है––

संसार सुपन रे संतो, संसार सुपन छे। जागी ने जोयुं में तो, मिथ्या रे आ तन छे॥

× × ×

साचो एक अखंडानंद ज्यां लागी लगन छे। 'गवरी'ने गिरधर मलींया, निरखीने मगन छे॥

गवरीकीर्तनमाला, पद-३५६

हे मानव ! तू इस कच्ची काया पर अभिमान मत कर। पिप्पल के पत्ते की तरह यह कहीं हवा में उड़ जाएगी। बड़े राजा–महाराणा अपना राज–छत्र यहीं छोड़कर चले गए। तेल जल जाता है और दीपक बुझ जाता है। वैसे ही एक दिन तेरा शरीर मिट्टी में मिल जाएगा। बावन बाजार, 'चोर्यासी चोहट्टे' और सातों समुद्रों की दीवारवाला रावण भी युद्ध में मारा गया। हीरे, मोती, पान–सुपारी मलमल, जामा, सभी श्मशान में चलें जाएंगे। इसलिए हे मनुष्य ! तू राम को अपने दिल में रख ले––

मतकर मन मगरुर गुमान।
काची काया छीन में उड जाये, जैसे पीपल का रे पाना।
राज पाट, अरु छत्र सिंघासन, छोड़ चले राजा राना।
जल गया, तेल बुझाइ गई मिट्टी, मिट्टी में मिल जाना।
बावन बाजार, चोरासी चोवटां, सात समुन्दर कोट कहाना।
सोइ रावण रण में रोलाया, ठाम नहीं रे ठिकाना।
हीरा मोती, आभूषण प्हेनते, लविंग, सोपारी पान खाना।
झीणा मलमल, जामा प्हेनते, सो चल रे मसाना।
आवे देखन में, जाये जीन्ने, रूप ने नाम धराना।
'गवरी' राम रुदे नहीं जान्या, दुनिया भूली रे दिवाना। गवरीकीर्तनमाला, पद–३२६

गवरी बाई ने इस प्रकार विविध उपमानों, दृष्टान्तों, रूपकों एवं उदाहरणों के द्वारा जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है। इनकी शैली कबीर, दादू, एवं रैदास का स्मरण करवाती है। सीधी बात सीधे ढंग से कही गई है। कबीर की तरह कहीं–कहीं वाणी में कठोरता भी है।

माया : गवरी बाई ने विद्या माया के साथ–साथ अविद्या माया का भी वर्णन किया है। विद्या माया के द्वारा ब्रह्म ने जगत् का विस्तार किया है पर यह अविद्याजन्य अहंता–ममतात्मक संसार मोह रूप है, 'मोटी फांसी' है। प्रभुजी गिरधरलाल से प्रीति जोड़ने पर इस माया से मुक्ति मिल सकती है––

प्रीत तो, प्रभुजी सें जोरी–
कोइ निंदों, कोइ वंदो, लोक लज्जा तोरी।
माया मोहनी, मोटीं फाँसी, गिरधरलाल ने छोरी।
गिरधर मात, गिरधर तात, गिरधर कुंटुब मोरी।
'गवरी' के प्रभु गिरधर नागर, लगी निरंतर दोरी। गवरीकीर्तनमाला, पद–५०

हे मति मंद, तेरा मन मलिन है। वह चारों तरफ भटकता फिरता है। वह मोह की मदिरा पीकर उन्मत्त हो उठा है। उसकी दुर्गन्ध चारों ओर फैल रही है। अनेक प्रकार के स्नेह से वह बंध गया है और माया के फँदे में फँस चुका है। तू कुमति है, कुलक्षण है, कपटी है, निष्ठुर है, जन्म–जन्म से पापी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और प्रपंची है। तू विषय विकार से लिपटा हुआ है। इसी कारण संसार के फँदे में फँसा हुआ है। गवरी बाई कहती हैं, हे नंद के नंद गिरधरलाल, आप हमारे अज्ञान, माया, राग-द्वेष, अविद्या को दूर करें-

मन मेलुं मति मंद।
किसबिध बस करूं मनमोहन, भटकत है सब खंड।
मोह, मदिरा, पी के छकीयो, बासत बहु दुरगंध।
नाना प्रकार के नेहे बंधायो, पर्यो माया के फंद।
कुमती, कुलक्षण, और कपटी, निष्ठुर निरदे झुंड।
जनम-जनम को पापी प्रपंची, कछु न भज्या गोविंद।
विषय विकार बासनाये लिपायो, माते पर्यो भव फन्द।
'गवरी' कहे प्रभु, राग-द्वेष विद्या दूर करो नन्द-नन्द। गवरीकीर्तनमाला, पद-३३३

यहाँ विद्या से अविद्या माया का प्रयोजन है।

'गवरी'बाई स्पष्ट शब्दों में कहती हैं कि हे राम, आपके बिना मेरी कौन खबर लेगा। आपके बिना मुझे अविद्या माया से कौन मुक्त करेगा—

तुम विना को राम मेरे मोकुं ले उधारी।
माया, अविद्या की परी, मोपे मोह पासी। गवरीकीर्तनमाला, पद-३४८

मीरां की भाँति गवरी बाई ने रहस्यवाद से सम्बद्ध पद भी लिखे हैं। इन पदों में मीरां की ही भाँति परोक्ष सत्ता के प्रति विरह के भाव व्यक्त हुए हैं। गवरी बाई कहती हैं कि हे हरि! आप मेरे मंदिर में पधारिए। मुझे अपनी थोड़ी-सी झलक दिखा जाइए। मैं आपके स्वागत में तेल, 'फुलेल' 'चोवा चंदन' तैयार रखती हूँ। हे नाथ! मैं आपको अच्छे 'खासे' पलंग पर पोढाऊँगी। हे नाथ! आप अंतर्यामी है। मैं आपको अर्न्तदृष्टि से देख रही हूं। मैं आपके लिए मोतियों से चोक पुराऊंगी और ज्ञान का दीपक पधराऊंगी। मैं अपने तन-मन के मोतियों के थाल भर करके आपका स्वागत करूंगी। हे हरि! अब आप विलंब न करें और मुझे अपनी बना लीजिए--

हरी, मारे ते मंदिर आवो रे।
मंदिर आवो ने मनमोहन, टुंक दरस बतावो रे।
पाकां तेल फुलेल प्रभुजी, प्रीते करी मंगावुं रे।
चौवा चन्दन, चित्त करी ने हरी ने अंगे लगावुं रे।
पलंग खासे नाथ, प्रेम पोढाडी, तमने गरीब हुं महालुं रे।
अंतरजामी, आतम आपने अन्तर द्रष्टे निहालुं रे।
चोक पुरावी, मोतीडे थी, ज्ञानदीपक पधरावुं रे।
तन, मन, मोतींयां थाल, भरीने, हरी ने हरखे वधावुं रे।
विलंब न कीजे, विट्ठल व्हाला, मोकुं दरसन दीजे रे।
'गवरी' दास आप चरन की, अपनी अब कर लीजे रे। गवरीकीर्तनमाला, पद-५८२

गवरी बाई के प्रियतम आध्यात्मिक हैं। यह 'अन्तर्यामी' एवं 'ज्ञान-दीपक पधरावुं' प्रयोगों से स्पष्ट है।

गवरी बाई हिन्दी की कवयित्री हैं एवं संत-भक्त परंपरा में इनका स्थान है। हिन्दी-साहित्यकारों को इस अपरिचित प्रतिभा से परिचित करवाने के लिए ही इन्हें हमने अपने अध्ययन का विषय बनाया है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४-भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :

जीवन : भारतेन्दु हिन्दी साहित्य जगत् के सर्वतोमुखी प्रतिभा-संपन्न साहित्यकार थे । ये आधुनिक खड़ीबोली हिन्दी गद्य के पिता होने के साथ-साथ हिन्दी गद्य-साहित्य एवं पद्य-साहित्य दोनों के श्रेष्ठ सर्जक थे । इनका कवित्व एवं इनकी सर्जन-शक्ति अद्‌भुत थी । ये साहित्यकार होने के साथ-साथ पत्रकार भी थे । 'कविवचनसुधा' और 'हरिश्चन्द्रचंद्रिका' इन दोनों पत्रिकाओं के ये संपादक थे । गद्य के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु ये पद्य के क्षेत्र में भी अग्रदूत रहे । पद्य में इन्होंने देशभक्ति को भी प्रमुखता प्रदान की है । डॉ. नगेन्द्र इनकी काव्य संस्तुति करते हुए लिखते हैं—'अपनी ओजस्विता, सरलता, भाव-मर्मज्ञता और प्रभविष्णुता में इनका (भारतेन्दु का) काव्य इतना प्राणवान् है कि उस युग का शायद ही कोई कवि उनसे अप्रभावित रहा हो ।'[1] "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अल्पायु में ही अपनी सर्वतोमुखी काव्य-प्रतिभा का ऐसा परिचय दिया कि तत्कालीन पत्रकारों एवं साहित्यकारों ने ई. सन् १८८० में आपको 'भारतेन्दु' के विरुद से विभूषित किया । भारतेन्दु का जन्म ई. सन् १८५० में वाराणसी में इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीरचन्द की वंश परंपरा में हुआ । आपके पिता का नाम गोपालचंद्र 'गिरधरदास' था । गिरधरदास भी अपने समय के सुप्रसिद्ध कवि थे ।

काव्य : भारतेन्दु ने अपनी पूर्ववर्ती प्रायः समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियों को जिस उदारता के साथ आत्मसात् किया, महाकवि तुलसीदास को छोड़कर दूसरा कोई कवि इस क्षेत्र में इनकी तुलना में नहीं ठहरा सकता । इनकी कृतियों में चारण कवियों की जातीय भावना, वैष्णव कवियों की एकनिष्ठ कृष्णभक्ति एवं रीति कवियों की श्रृंगारिकता का त्रिवेणी संगम हुआ है ।

कृष्ण-भावना के निरूपण में भी भारतेन्दु ने अनेक नवीन उद्‌भावनाएँ की हैं । इस तरह इनके साहित्य में कृष्ण प्राचीन एवं नवीन दोनों रूपों में निरूपित हुए हैं । भारतेन्दु के कृष्ण पुष्टि-सम्प्रदाय के भक्तों के अनुग्रहकर्ता भगवान्, रससिद्ध वैष्णवों के नट नागर रासरसेश्वर, श्रृंगार-भक्ति के रसिकों के रसिया, स्वच्छंद प्रेमियों की भांति अनेक नायिकाओं में अनुरक्त प्रेमी-महबूब, रीतिबद्ध कवियों के काम-नायक तथा तत्कालीन युग की आवश्यकतानुसार राष्ट्रोद्धारक हैं । भारतेन्दु रीतिकाल एवं आधुनिक नवजागरणकाल की युग-संधि में हुए थे । इसी कारण इनके साहित्य में कृष्ण का नायकत्व प्राचीन एवं नवीन दोनों का संपोषक बना है । इन्होंने भक्ति, श्रृंगार, देश-प्रेम, सामाजिक परिवेश और प्रकृति के विभिन्न अंगोपांगों को लेकर पद्य एवं गद्य दोनों में प्रचुर साहित्य लिखा है । इनकी काव्यकृतियों की संख्या सत्तर है । समस्त रचनाओं में 'प्रेमचन्द्रिका', 'प्रेमसरोवर', 'गीतगोविंदानन्द', 'वर्षाविनोद', 'विनयप्रेमपचासा', 'प्रेम फुलवारी', 'वेणुगीत' विशेषतः उल्लेखनीय हैं । 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' प्रथम भाग में इनकी सभी काव्य-रचनाएं संग्रहीत हैं । इनकी नाटक, निबंध आदि की गद्य रचनाएं भी खड़ीबोली की गद्यशैली के लिए आदर्शरूप रही हैं । कृष्ण-प्रेम से संबंधित भारतेन्दु की लगभग २५ छोटी-बड़ी रचनाएं और कुछ स्फुट पद मिलते हैं । इनके अतिरिक्त इनकी 'चन्द्रावली' नाटिका भी पद्य प्रधान है, जो कृष्ण विषयक है । जिसमें सभी स्त्री पात्र हों, ऐसी रूपक-रचना को नाटिका कहते हैं । 'चन्द्रावली' नाटिका में कृष्ण भी स्त्री-वेश में आते है ।

कृष्ण-लीला की दृष्टि से इनकी काव्य-रचना का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है—

(१) पूर्ण कृष्ण-लीला : इसके अंतर्गत 'प्रेम-मालिका' (सं. १९२८), 'प्रेम-तरंग', 'प्रेम-माधुरी', 'प्रेम-प्रलाप', 'राग-संग्रह' के पद तथा स्फुट कविताएँ आती हैं ।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ. ४७३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) स्फुट शृंगार-लीला : इसमें राधा-कृष्ण की शृंगार क्रीड़ाएं आती हैं। इस वर्ग के अंतर्गत 'प्रेमाश्रु-वर्णन', 'प्रेम-फुलवारी', 'कृष्ण-चरित्र' इत्यादि रचनाएं आती हैं।

(३) ऋतु-उत्सव लीला : इसमें विभिन्न ऋतुओं के कृष्ण के परिवेश में जो उत्सव, पर्व-त्यौहार आदि मनाये जाते हैं, उनका चित्रण किया गया है। कार्तिक स्नान, श्रीपंचमी, होली, इत्यादि से सम्बद्ध उत्सवों का वर्णन इस वर्ग के अन्तर्गत आएगा।

(४) सैद्धान्तिक रचनाएं : 'प्रेमसरोवर' (सन् १९३०), 'विनय प्रेम पचासा' इत्यादि रचनाएँ इस वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। 'प्रेमसरोवर' के दोहों पर रसखान की 'प्रेमवाटिका' का प्रभाव स्पष्ट है।

(५) साम्प्रदायिक रचनाएं : 'भक्तिसर्वस्व', (सं. १९२७) 'श्रीनाथस्तुति', 'भक्तमाल' 'गीतगोविंदानंद, 'सतसई सिंगार' इत्यादि रचनाएँ इस वर्ग के अन्तर्गत आएंगी।

(६) पारसी-प्रेम और राष्ट्र-प्रेम समन्वित कृष्णकाव्य : में 'फूलों का गुच्छ' आदि रचनाएँ आएँगी। इसके अंतर्गत प्रेमी एवं राष्ट्रोद्धारक कृष्ण के दोनों रूप आएंगे।

भारतेन्दु ने अपने पूर्ववर्ती समूचे कृष्ण-साहित्य का भलीभाँति अवगाहन किया था। उसी का परिणाम है कि वे कृष्ण-चरित के विभिन्न स्वरूपों का बड़े अधिकार के साथ आकलन कर सके। भारतेन्दु ने अपनी प्रेम-उमंग एवं शृंगारी रुचि के अनुकूल कृष्ण की शृंगार-लीलाओं का सुविस्तृत चित्रण किया है। भारतेन्दु वल्लभ संप्रदाय के थे। अतः बालकृष्ण की वात्सल्य भावना का अंकन भी उनसे नहीं छूट सका है। कृष्ण के लीलावर्णन में भारतेन्दु का कहीं तो भक्त-हृदय की तन्मयता तो कहीं शृंगारिक कवि की काम-विदग्धता तो कहीं फारसी प्रेम के जैसी तड़प चित्रित हुई है तो कहीं लोक-जीवन की निश्छल प्रेम भावना के साथ-साथ राजसी प्रेम की चमक एवं राष्ट्रीय-प्रेम की प्रखरता मुखरित हुई है।

वेदान्त : ब्रह्म : भारतेन्दु पुष्टि-संप्रदाय से सम्बद्ध होने के कारण उनके काव्य में यत्र-तत्र वेदान्त के तत्त्व भी निरुपित हुए हैं। भारतेन्दु बाबू वल्लभ कुल के अनन्य वैष्णव थे। अतः उनकी कविता में शुद्धाद्वैत वेदान्त के तत्त्वों का निरूपण होना स्वाभाविक है। उन्होंने स्वयं को वल्लभ कुल के घर का दासानुदास कहा है। उन्होंने राधावर श्रीकृष्ण को अपना स्वामी और स्वयं को उनका चाकर कहा है। उन्होंने श्रीराधा को माता एवं श्रीकृष्ण को पिता के रूप में मानकर उनके प्रति दास्यभाव प्रकट किया है। साथ ही श्रीकृष्ण को परब्रह्म मानकर उनके प्रति अनन्य भक्ति-भाव प्रकट किया है। वे हैं तो केवल श्रीकृष्ण के हैं। न ब्रह्मा के हैं, न वे शंकर के—

> **हम तो मोल लिए यार के।**
> **दास-दास श्रीवल्लभकुल के, चाकर राधावर के।**
> **माता श्रीराधिका पिता हरि, बंधु दास गुनकर के।**
> **'हरीचंद' तुम्हरे ही कहावत, नहिं विधि के नहिं हर के।**

जैसे वर्षा से नवनीर बरसता है, धरती हरी हो जाती है। वैसे ही श्रीकृष्ण के अनुग्रह की वर्षा हो जाने पर जीवन स्नेहपूर्ण हो जाता है। जैसे घन को देखकर मयूर नृत्य करने लगता है, वैसे ही किसी घनश्याम रूप अपूर्व घन को देखकर हरिश्चन्द्र का मन-मयूर नाच उठता है। अपूर्व घन यहाँ श्रीकृष्ण हैं। ध्वनि के रूप में यहां कवि ने भगवद-अनुग्रह का वर्णन किया है—

> **भरित नेह नवनीर नित, बरसत सुरस अथोर।**
> **जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥** व्रजमाधुरीसार, पृ. ३२२

घन बरसता है, यह उसका धरती के लिए अनुग्रह है, वैसे ही अपूर्व घन श्रीकृष्ण की भारतेन्दु पर अनुकंपा रूपी वर्षा हुई है। भारतेन्दु बाबू ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही श्रीकृष्ण को 'अन्तर्यामी' एवं

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ऋषीकेश' कहा है। शुद्धाद्वैत-वेदान्त में परमात्मा को अन्तर्यामी कहा गया है एवं उसीको ईश भी कहा गया है। जो इन्द्रियों का स्वामी है और माया का अधिपति है, वही ईश है। श्रीकृष्ण वृन्दावनचंद्र हैं। उन्होंने अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए वृन्दावन में अवतार लिया है एवं भक्तों का कष्ट हरा है—

जय वृन्दावनचंद्र, चन्द्रवदनी-मनरंजना। जय गोपति, गोपति, गोपति, गोकुल सरना।
जय कष्ट हरन, करुनाभरनं, जय श्रीगोवर्धन-धरन।

× × ×

हरीचंद्र यह भलो निबेर्यौं, ह्वैकै अंतरजामी। चोरनि छांड़ि, छाँड़ि कै, डारौ उलटी घन कौ स्वामी॥

इस पद में 'गोपति' शब्द तीन बार आया है। 'गो' का अर्थ इन्द्रियां हैं। इन्द्रियों के स्वामी होने से श्रीकृष्ण 'गोपति' अथवा 'ऋषीकेश' कहे जाते हैं। अन्य कृष्ण-कवियों की भांति भारतेन्दु बाबू ने भी निर्गुण एवं ज्ञान की अपेक्षा सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण की महत्ता प्रतिपादित की है। मनमोहन रोम-रोम में रम रहा है। फिर नीरस तार्किक ज्ञानवाद अथवा निर्गुण निराकार के लिए स्थान ही कहाँ? एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। जिन नेत्रों में मनमोहन विराजमान हैं। वे निर्गुण का ध्यान कैसे कर पाएंगे? जिसने अमृत फल खा लिया है। वह कड़वे इन्द्रायण के फल को खाकर मूर्ख क्यों बनेगा? हे उद्धव! तुम निर्गुण का उपदेश कितना भी करो, तुम्हारी बात पर यहां कोई विश्वास नहीं करने वाला है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कहते हैं, 'ब्रज तो कदली वन है, उसको जितना काटेंगे उतना ही फूलेगा। अर्थात् ज्ञान के शस्त्र से जितना कोई प्रहार करेगा उतना ही अधिक सगुण प्रेम ब्रजवासियों के अन्तःकरण में अभिवर्द्धित होगा—

रहैं क्यों एक म्यान असि दोय।
जिन नैनन में हरि-रस छायौ, तिहिं क्यों भावै कोय।
जा तन-मन में रमि रहे मोहन, तहां ग्यान क्यों आवै।
चाहो जितनी बात प्रबोधौ, ह्यां को, जो पतियावै।
अमृत खाइ अब दखि इन्द्रायण को, मूरख जो भूलै।
'हरिचन्द' ब्रज को कदली-बन, काटौ तो फिरि फूलै। ब्रजमाधुरीसार, पृ. ३२६

श्रीकृष्ण को किस प्रकार रिझाया जा सकता है। जप-तप से, ज्ञान-ध्यान से, वेदों और पुराणों ने भी जिसकी महिमा का पार नहीं पाया है और कहा तो, कुछ का कुछ परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन कर बैठे। गणिका में कौन-सा तप किया, जटायु ने कौन-सा दान किया, नियम और ज्ञान पर चलने वाले कभी उन्हें नहीं पा सकते। वे ज्ञान और योग से लभ्य नहीं। लोग उन्हें पाने के लिए मनमानी करने लगते हैं। परन्तु वे केवल अपने भक्तों पर हीं अनुग्रह करते हैं। एकांगी भाव से जो उन्हे भजता है। गोविंद उस पर अनुग्रह करते हैं—

न जानों गोविन्द कासों रीझौ।
जपसों, तपसों, ग्यान-ध्यान सों कासों रिसि करी खीझैं।
वेद-पुरान भेद नहिं पायौ, कह्यो आन की आन।
कह जप तप लीन्हों गनिका ने गीध कियौ कह दान।
नेमी ग्यानी दूर होत हैं, नहिं पावत लहुं ठाम।
ढीठ लोक-वेदहुं ते निन्दित, घुसि घुसि काज कलम।
कहुं उलटी लहुं सीधी चालै, कहुं दोउन तें न्यारी।
'हरीचंद' काहूं नहिं जान्यौ मन की रीति निकारी॥ ब्रजमाधुरीसार, पृ. ३२८, ३२९

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत् : भारतेन्दु बाबू ने एक छन्द में शुद्धाद्वैत–वेदान्त के अनुसार ही ब्रह्म लीला करने के लिए जीव एवं जगत् के रूप में आविर्भूत हुआ है, इसका निरूपण किया है। किस प्रकार **'एकोऽहं बहुस्याम्'** ऐसी जब ब्रह्म की इच्छा हुई तब सत् एवं चित् (जगत्–जीव) के रूप में ब्रह्म विलसित हुआ। भारतेन्दु बाबू ने वेदान्त के इस तत्त्व का निरूपण विशेष रूप में किया है। वे लिखते हैं : 'हे राधे ! तेरे सुहाग की छाया से ही जग का सौभाग्य उदित हुआ है। राधा का सुहाग श्रीकृष्ण है। वे ही जगत् के रूप में आविर्भूत हुए हैं। कवि यह कहना चाहता है कि हे राधा ! तेरे ही अनुराग को पाने के लिए श्रीकृष्ण जगत् एवं जीव के रूप में आविर्भूत हुए हैं। सत् एवं चित् तुझसे ही लीला के लिए अलग हुए हैं। भारतेन्दु के इस पद में काव्य एवं वेदान्त के तत्त्वों का सुभग समन्वय हुआ है। इस आशय का एक भी पद अन्य कृष्ण कवियों में हमें उपलब्ध नहीं हुआ है—

राधे, तुव सुहाग की छाया, जग में भयौ सुहाग।
तेरौ ही अनुराग छटा हरि, सृष्टि करत अनुराग।
सत् चित् तुव कृत सों बिलगाने, लीला प्रिय जन भाग।
पुनि ! 'हरिचन्द' अनंत होत लहिं, तुव पद–पदुम पराग। व्रजमाधुरीसार, पृ. ३२९

इस पद में शुद्धाद्वैत वेदान्त के तत्त्व निरूपित हुए हैं। आधिभौतिक अर्थात् जगत् रूपी परब्रह्म पुरुषोत्तम के अविकृत सद् अंश से जड़ का निर्गमन होता है अर्थात् आविर्भाव होता है, तथा उनके अविकृत चिद् अंश से जीव का आविर्भाव होता है। इस प्रकार सद् और चित् दोनों ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। परब्रह्म जो आनन्द स्वरूप है। उसका जगत् एवं जीव में अभाव है। जिस पर उसका अनुग्रह होता है उसी को वह अपनाता है। उपर्युक्त पद की तीसरी पंक्ति में यह कहा गया है : हे राधा, सत् एवं चित् रूप ब्रह्म तेरे लिए ही ब्रह्म से विभक्त हुए हैं। ब्रह्म लीला करके तुझे सुख देना चाहते हैं। इसीलिए कृपा करके परब्रह्म ने सृष्टि का विस्तार किया है। कवि ने संक्षेप में शुद्धाद्वैत वेदान्त के अविकृत परिणामवाद का यहाँ काव्यात्मक शैली में निरूपण किया है।

माया : माया ब्रह्म का ही स्वरूप है। वह ब्रह्मवशा है एवं ब्रह्म की शक्ति है। यहां उसी को राधा नाम दिया गया है। राधा ही सृष्टि का सुहाग है। राधा के ही प्रेम–वश होकर परब्रह्म श्रीकृष्ण ने सृष्टि का विस्तार किया है। 'पद्मपुराण' में राधा को प्रकृति एवं कृष्ण को पुरुष कहा गया है—

'पुरुष प्रकृतिस्त्वाद्यौ राधावृन्दावनेश्वरौ।'

भारतेन्दु जी ने इस पद में राधा के माहात्म्य का वर्णन करते हुए, उसे भगवान् की अभिन्न शक्ति बताया है। यही बात 'पद्मपुराण' में है। भारतेन्दु बाबू का यह पद काव्यत्व की दृष्टि से ही नहीं, तत्त्वचिन्तन की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

भारतेन्दु बाबू ने भगवद् अनुग्रह का वर्णन अनेक रूपों में किया है। वे कहते हैं कि जगत् के झूठे मोह ने और स्वर्ग जैसे स्वादों ने मुझे ललचा दिया है। जगत् के सोना और लोहा दोनों में कोई अधिक अन्तर नहीं। एक पाप है तो दूसरा पुण्य है, पर दोनों किसी न किसी रूप में जगत् के विषयों के साथ बाँधे रखते हैं। जगत् में स्वार्थ और परमार्थ दोनों लोभ पर पर आधारित हैं। केवल नाम में ही अंतर है। इनमें फंस करके हे कृपा के सागर, तुम्हारे चरण कमलों का अर्चन मैं भुला बैठा हूँ। मोह में इधर–उधर भटकता हुआ मेरा जीवन व्यर्थ व्यतीत होता जा रहा है। मुझसे मोह छूटा नहीं है। हमेशा मैं हाय–हाय करता रहा हूँ। मैंने अपनी उम्र के सभी दिन जगत् की ज्वालाओं में सुलगा रहा हूँ। हे केशव, आप हम पर कृपा कीजिए और जग के जाल से मुक्ति दिलवाइए। मैं हरिश्चन्द्र दीन–हीन हूँ। आपका दास हूँ। मुझ पर अनुकंपा करके आप मुझे शीघ्र अपना लीजिए—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहो ! इन झूठन मोंहि भुलायौ ।
कबहु जगत् के कबहु स्वर्ग के, स्वादनि मोंहि ललचायौ ।
मले होइ किन लोह हेम की, पुन्य पाप दोउ वेरी ।
लोभ भूल परमारथ स्वारथ, नामहिं में कछु फेरी ।
इनमें भूलि कृपानिधि तुम्हरे, चरन-कमल बिसरायौ ।
तुम बिनु भटकत फिर्यौं जगत में, नाहक जनम गंवायौ ।
हाय-हाय करि मोह छांड़िकै, कबहु न धीरज धार्यौं ।
या जग जगनी जोर अगनि में, आयसु दिन सब जार्यौं ।
करहु कृपा करुनानिधि केसव, जग कौ जाल छोड़ाई ।
दीन-हीन 'हरिचन्द' दास कौं, वेगि लेहु अपनाई । व्रजमाधुरीसार पृ. ३२१

पद में 'दीन-हीन 'हरिचन्द' दास...' के प्रयोग से स्वामी-सेवक भाव प्रकट हुआ है, जो विशिष्टाद्वैतवाद से सम्बद्ध भक्त कवियों के साहित्य में निरूपित हुआ है । 'रामचरितमानस' में तुलसी ने ऐसी ही दास्य भाव की भक्ति का निरूपण किया है । 'स्वामी-सेवक भाव विनु, भव न तरिय उरगारि' यह कथन 'रामचरितमानस' के उत्तरकांड का है ।

संसार : शुद्धाद्वैत की दृष्टि से जगत् ब्रह्म स्वरूप और संसार अविद्या माया रूप है । भारतेन्दु बाबू ने 'अहो इन झूठन मोंहि भुलायौ' इस उपर्युक्त पद में जगत् का उल्लेख संसार के रूप में ही किया है । भगवदनुग्रह के अभाव में मोह, लालच में व्यक्ति फँसता है एवं उसका जीवन निरर्थक हो जाता है । इस तरह इस पद में भारतेन्दु ने अविद्या-माया का भी वर्णन किया है ।

मोक्ष : 'लीला-अनुभव' पुष्टि-भक्ति का चरम फल है । शुद्धाद्वैत के अनुसार जीव पर जब भगवान् का अनुग्रह होता है तभी वह आनंद में मग्न होकर लीला का अनुभव करता है । इसमें श्रीकृष्ण के प्रति अनन्यता परम अपेक्षित है । हरिश्चन्द्र कहते हैं कि घनश्याम का अनुग्रह हो जाए तो जगत् के दुःख तृण के समान जल जाएँ और जीव को क्षण में लीला की अनुभूति होने लगे—

हमहु कबहु सुख सों रहते ।
छांड़ि जाल सब निसि-दिन मुखसों केवल कृष्ण हिं कहते ।
सदा मगन लीला-अनुभव में, दृग दोउ अविचल बहते ।
'हरीचन्द' घनस्याम विरह इक, जग-दुःख तृन सम दहते । व्रजमाधुरीसार, पृ. ३३१

जैसे जहाज का पक्षी इधर-उधर उड़कर अन्य शरण के अभाव में पुनः जहाज पर ही शरण पाता है, उसी तरह यह जीव संसारी झंझटों में फंसा होने पर भी परमात्मा की शरण में जाने पर ही शान्ति पा सकता है । भारतेन्दु बाबू कहते हैं कि हे परमात्मा, जीवन में तुम नहीं हो तो जैसे बिना नमक का भोजन फीका लगता है वैसे ही जीवन में भी कोई स्वाद नहीं रह जाता । तात्पर्य यह है कि मोह छोड़कर परमात्मा का अवलम्बन ग्रहण करना आवश्यक है । संसार के अपने पराये सभी संबंध स्नेह युक्त होने पर भी व्यर्थ हैं । तुम्हारी कृपा होने पर ही इस कठिन मोह की 'फांस' से मुझे मुक्ति मिल सकती है—

सब गुन होयं जुपै तुम नाहीं, तौ बिनु लौन रसोई ।
ताही सों 'जहाज-पच्छी' सम, गयौ अहो मन होई ।
अपने और पराये सबहीं जदपि नेह अति लावै ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पै तिनसों सन्तोष होत नहिं, बहु अचरज जिय गावै ।
जानत भलै तुम्हारे बिनु सब, बादिहिं बीतत सांसै ।
'हरीचन्द' नहिं छूटति तऊ यह, कठिन मोह की फांसे । व्रजमाधुरीसार, पृ. ३३३

परब्रह्म श्रीकृष्ण की निकुंज व्रज-लीलाओं के दर्शन के लिए ही ऋषि-मुनियों ने व्रज में पशु-पक्षियों का रूप धारण किया है । रसखान की भाँति भारतेन्दु बाबू ने भी वृन्दावन-वासियों के जीवन को धन्य कहा है क्योंकि वे सभी श्रीहरि के कृपापात्र हैं । शुद्धाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार परब्रह्म जब लीला करने के लिए आविर्भूत होता हैं तब वह जो कुछ करता है वह अपने अनुकंपा प्राप्त भक्तों के लिए ही करता है । वह स्वयं रसरूप है। उसे रस की अपेक्षा नहीं है । केवल भक्तों को अपनी लीलाओं का रसास्वाद कराने के लिए वह यहां अवतरित होता है । इस पद में व्रज एवं व्रजवासियों के प्रति जो प्रेम कवि ने प्रकट किया है, वह रसखान की अपेक्षा किसी भी भाँति कम नहीं है—

धनि ये मुनि वृन्दावनवासी ।
दरसन हेतु विहंगम ह्वै रहे, मूरति मधुर उपासी ।
नव कोमल दल पल्लव द्रुम पै, मिलि बैठत है आई ।
नैननि मूंदि त्यागि कोलाहल, सुनहिं वेनु-धुनि भाई ।
प्राणनाथ के मुख की बानी, करहिं अमृत-रसपान ।
'हरीचंद' हमकों सोउ दुरलभ, यह विधि की गति आन । व्रजमाधुरीसार, पृ. ३३४-३३५

उद्धव ने गोपिकाओं को उपदेश दिया कि ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है । जल-स्थल सभी में वही विद्यमान है । गोपिकाओं ने उद्धव के इस उपदेश को, ज्ञान की इस बात को सहर्ष स्वीकार किया । उन्होंने उद्धव से कहा कि ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है । यह हम जानती हैं, पर हम क्या करें ? नन्दलाल के दर्शन के बिना हम बेहाल हैं । हे उद्धव, तुम मथुरा जाकर उनसे यही कहना कि हे प्यारे श्रीकृष्ण, तेरे दर्शन के बिना गोपियों की दुःखी आंखें मानती नहीं हैं । इस पद में गोपिकाओं ने उद्धव के ब्रह्म विषयक अद्वैत वेदान्त के विचार मान्य किए हैं । यहां तक कि गोपिकाओं ने स्वयं को इस वेदान्त विषयक विचार से पूर्व परिचित बताया है—

व्यापक ब्रह्म सबै थल पूरन, है हमहु पहचानती हैं ।
पै बिना नंदलाल बिहाल सदा, 'हरिचन्द' न ग्यानहिं ठानती हैं ॥
तुम ऊधौ ! यहै कहियौ उनसों हम और कछू नहिं जानती हैं ।
पिय प्यारे तिहारे, निहारे बिना, अंखियां दुखियां नहिं मानती हैं ॥ व्रजमाधुरीसार, पृ.३३५

(५) मैथिलीशरण गुप्त

जीवन : गुप्तजी (१८८६-१९६४) का जन्म चिरगांव (झाँसी) में हुआ था । ये वैश्य थे और इनका संपूर्ण परिवार परम आस्तिक है । इनके लघु भ्राता सियारामशरण गुप्त भी हिन्दी के कवि थे । जिनका 'सुनंदा' खंडकाव्य सुप्रसिद्ध है ।

काव्य : मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग के सर्वाधिक लोकप्रिय एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा-संपन्न कवि थे । लोक एवं राष्ट्रसेवा के क्षेत्र में जैसे राष्ट्र-नेता सुभाष चिरस्मरणीय रहेंगे वैसे ही लोक एवं राष्ट्रसेवा के लिए प्रेरणास्रोत के रूप में 'भारतभारती' के स्रष्टा मैथिलीशरण अविस्मरणीय रहेंगे । गुप्तजी परम आस्तिक एवं रामभक्त कवि थे । इनका 'साकेत' महाकाव्य रामकथा से संबद्ध है, जो इनकी अखंड रामभक्ति का परिचायक है । फिर कवि का नाम भी तो मैथिलीशरण है । राम परिवार में भी जनकात्मजा मैथिली,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
उर्मिला, कैकेयी, एवं कौशल्या के प्रति कवि का क्यों विशेष पक्षपात है, यह एक अलग शोध का विषय है। 'विष्णुप्रिया' नामक खंडकाव्य के मंगलाचरण में राम के समस्त कर्तृत्त्व, क्रियाकलाप एवं लीला का श्रेय कवि मैथिली की करुणा, सहिष्णुता एवं त्याग को ही समर्पित करता है—

इष्ट वही व्यष्टि, जय उस शुभशीला की, अपने दृगम्बु से, समष्टि को जो धोती है।
मांग भर पातीं राम, क्या तुम्हारी लीला की, मैथिली की करुणा न देती, उसे मोती जो॥

'साकेत' महाकाव्य में उर्मिला महत्त्वपूर्ण है। राम–सीता–लक्ष्मण वन में गए और उर्मिला 'साकेत' में ही रही। अतः कवि ने उर्मिला के साकेतस्थ राजभवन को ही समस्त रामकथा का केन्द्र बनाकर महाकाव्य का नाम 'साकेत' रखा। 'साकेत' के नवम सर्ग में कवि ने उर्मिला के विरह का वर्णन किया है। जैसे 'श्रीमद्भागवत' का प्राण श्रीकृष्ण लीलाएं एवं उनसे संबद्ध दशम स्कन्ध है, वैसे ही 'साकेत' का प्राण नवम स्कन्ध है। 'साकेत' के अतिरिक्त गुप्तजी ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक इत्यादि विषयों पर निम्नलिखित खण्डकाव्य लिखे हैं—(१) रंग में भंग, (२) जयद्रथवध, (३) शकुंतला, (४) किसान (५) शक्ति, (६) सैरंध्री, (७) वकसंहार, (८) वन–वैभव, (९) पंचवटी, (१०) यशोधरा, (११) सिद्धराज, (१२) नहुष, (१३) कर्बला, (१४) अजित, (१५) हिडिंबा, (१६) विष्णुप्रिया, (१७) द्वापर।

काव्यत्व की दृष्टि से 'साकेत' का नवम सर्ग एवं 'द्वापर' का कुछ अंश महत्त्वपूर्ण हैं। यों रस की दृष्टि से 'साकेत' में श्रृंगार, हास्य, करुण,शांत इत्यादि का चित्रण बड़े ही सहज रूप में हुआ है। उर्मिला के विरह का 'साकेत' के नवम सर्ग में कवि ने वर्णन किया है। दशम स्कन्ध जैसे 'भागवत' का प्राण है, वैसे ही नवम सर्ग 'साकेत' का प्राण है। कवि ने उर्मिला के माध्यम से विप्रलंभ श्रृंगार की सभी मनःस्थितियों का बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रण किया है। उर्मिला के हृदय पर अवधिशिला का गुरुतर भार पड़ा है। उसे वह अपने आँसुओं के क्षार से तिल–तिल काट रही है। कैसी वेदना है विरह—अवधि–शिला की !

इनके अतिरिक्त **'प्लासी का युद्ध'**, **'मेघनाद'** और **'वृत्रसंहार'** ये तीन इनकी अनुदित रचनाएं हैं। **'तिलोत्तमा'**, **'चन्द्रहास'** और **'अनघ'** नामक तीन नाटक भी गुप्तजी ने लिखे हैं। गुप्तजी ने सभी प्रकार के प्रगीत एवं मुक्तक भी लिखे हैं। अपनी उत्तम काव्य रचनाओं के द्वारा जिन आधुनिक कवियों ने हिन्दी खड़ीबोली को सरस एवं मधुर प्रांजलता प्रदान की है, उनमें गुप्तजी का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुप्तजी भारतीय संस्कृति के संस्तोता हैं। इनके काव्य की सर्वाधिक विशेषता यह कि उसमें प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं के चित्रण के साथ–साथ युगधर्म का स्वर भी मुखरित हुआ है। गांधीवादी विचारधारा का बड़े ही सहज ढंग से इनके काव्य में निरूपण हुआ है। सादगी, श्रम, सत्य, अहिंसा इत्यादि गांधीवादीं विचारधारा के स्तंभ हैं। इनके काव्य में सर्वत्र इनका चित्रण हुआ है।

वेदान्त : मैथिलीशरण गुप्त के कृष्ण–काव्य में दर्शन एवं वेदान्त विषयक विचार यत्र–तत्र स्वल्प मात्रा में उपलब्ध होते हैं। जैसे भक्त का संबंध भक्ति के साथ होता है, वैसे ही यदि कवि का संबंध वेदान्त के साथ हो तो उसका साहित्य वह शाश्वत स्रोतस्विनी लोक–माता बन जाता है, जो दोनों किनारों तक तो भरी–भरी बहती ही रहती है, पर उसके गहरे उदर में भी अनंत–अनंत शाश्वत क्षीर–नीर स्रोत भी प्रवाहमान रहते हैं। गुप्तजी मानवता को प्रधान मानते हैं फिर भी वे परोक्ष तत्त्व को लोकहित के साथ संयुक्त करने के पक्ष में हैं। यों वे राम–भक्त होने के कारण[1] विशिष्टाद्वैत–मत को ही प्रमुखता देते हैं पर यह उनके व्यक्तिगत जीवन और आन्तरिक श्रद्धा का ही विषय है। तात्पर्य यह है कि गुप्तजी परोक्ष–सत्ता की चिंता करना व्यर्थ समझते हैं। आधुनिक युरोपीय दर्शन भी यही सोचता है एवं विवेकानंद भी

१. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. ७९

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव में ईश्वर के दर्शन को ही सच्चा दर्शन मानते हैं ।[1] यही बात हमारे भारतीय दर्शन भी कहते हैं– 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् । 'साकेत' में लक्ष्मण कहते हैं—

अलक्ष्य की बात अलक्ष्य जाने, समक्ष को ही हम क्यों न मानें ।
रहे वही प्लावित प्रीतिधारा, आदर्श ही ईश्वर है हमारा ॥ –द्वापर, पृ. १७७

इतना होने पर भी गुप्तजी के 'द्वापर' काव्य में 'गोपी' नामक प्रसंग में योग, ज्ञान, ब्रह्म, निर्गुण–निराकार से संबद्ध विचार व्यक्त हुए हैं । देखा जाए तो यह प्रसंग उद्धव गोपी संवाद ही है । उद्धव ने ज्ञान विषयक चर्चा जब गोपियों के समक्ष प्रस्तुत की तब एक गोपी ने उनसे कहा—

आत्मज्ञान हीन वह मुग्ध, वही ज्ञान तुम लाए ।
धन्यवाद है बड़ी कृपा की, कष्ट उठाकर आए ॥

इसी अध्याय में 'उद्धवशतक' के संदर्भ में निरूपित वेदान्त के विचारों से यह तथ्य पर्याप्त साम्य रखता है । गोपिकाएं उद्धव से कहती हैं कि हमारा वियोग तुम्हारे ज्ञान–योग से अच्छा है । हमारे इस कृष्ण वियोग में भी आकृति, प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य, कवित्व कला इत्यादि विद्यमान हैं–

ज्ञान–योग से हमें हमारा, यही वियोग भला है ।
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य, कवित्व कला है ॥

ब्रह्म : अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निर्गुण एवं निराकार है । उद्धव जिस ज्ञान का उपदेश दे रहे हैं, वह अद्वैत–वेदान्त ही है । जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण कुछ नहीं है । आकृति, प्रकृति आदि सभी सगुण ब्रह्म के रूप हैं । उपर्युक्त पंक्तियों में गोपियों ने ज्ञान–योग के प्रति उपेक्षा एवं सगुण ब्रह्म रूप श्रीकृष्ण के प्रति आस्था प्रकट की है । कृष्ण की समस्त सगुण लीलाएँ आकृति, प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य इत्यादि में समाविष्ट हो गए हैं ।

जगत् : जगत् को शंकर ने मिथ्या कहा है, माया एवं विवर्त कहा है किन्तु शुद्धाद्वैत वेदान्त में इसे भगवत् कार्य कहा है । ब्रह्म के आधिभौतिक रूप से जगत् एवं जीव का आविर्भाव हुआ है । परमात्मा एकाकी रूप में प्रसन्न न रहकर स्वयं को ही प्रकृति, जीवात्मा, एवं अन्तर्यामी आत्मा में विभाजित करता है । परमात्मा की इच्छा से ही प्रकृति में चित् एवं आनन्द का अभाव रहता है और जीवात्मा में केवल आनंद का अभाव रहता है और परमात्मा के अन्तर्यामी स्वरूप में सत्, चित् और आनन्द ये तीनों तत्त्व पूर्णरूप में विद्यमान रहते हैं । सच्चिदानंद भगवान् के अविकृत सद् अंश से जड़ का निर्गमन होता है, तथा अविकृत चिद् अंश से जीव का आविर्भाव होता है । इस प्रकार शुद्धाद्वैत में जगत् एवं जीव ब्रह्म के ही रूप माने गए हैं। जगत् एवं जीव अन्त में ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, जिसे तिरोभाव कहते हैं । जब उद्धव जगत् के मिथ्या घोषित करते हैं तब गोपिकाएं उत्तर में कहती हैं कि माया, मिथ्या है, ऐसा भाव उद्धव तुम में कैसे जागा ? सच्चा ज्ञान यही है कि हम–तुम अनन्त ब्रह्म के ही स्वरूप हैं । माया कैसे मिथ्या हो सकती है ? जब तक कि मायावी (परब्रह्म श्रीकृष्ण) विद्यमान हैं । वह हम तुम में सर्वत्र विद्यमान है । वह नटखट है । अलग–अलग व्यक्तियों में वही संघर्ष उत्पन्न कर रहा है । उसको यदि इस प्रकार का प्रपंच ठीक लगता है तो हमें क्यों लज्जा आनी चाहिए और निर्गुण ब्रह्म ही केवल रह जाए तो जगत् की क्रीडाएं (लीलाएं) कैसे पूर्ण होंगी–

राम राम ! मिथ्या माया के, भाव कहां से जागे ।
सच्चे ज्ञान, अनन्त ब्रह्म के जीव आप तुम आगे ।

२. To see God in man is the real God vision, man is the grratest of all being.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदूयमान सब विगत क्यों न हो, किन्तु समाज न भावी।
मिथ्या कैसे है माया भी, जब तक वह मायावी ?
हम में-तुम में एक ब्रह्म, पर वह कैसा नटखट है ?
बोल, दो घरों में दो वाले, करा रहा खटपट है।
उसको यही प्रपंच रुचे तो, हमें कौन-सी व्रीडा ?
एकमात्र यदि वहीं रहे तो, चले कहां से क्रीडा ? द्वापर, पृ. १८०

गोपिकाएं कहती हैं कि हे उद्धव ! तुम उस छली कृष्ण को निर्गुण-निराकार बताकर अन्तर्दृष्टि से देखने का उपदेश दे रहे हो, पर हमने उसके गुण-रूप सब देखे हैं। उसने हमारे साथ वृन्दावन की कुंज कुटीरों में और यमुना की कछार में काम क्रीड़ाएँ की हैं तो जब तक हमारे ये चर्म-चक्षु विद्यमान हैं तब तक हम उसे निर्गुण-निराकार मानकर अन्तर्दृष्टि से क्यों देखें ? गोपिकाओं का उत्तर प्रशस्य है। यही तो शुद्धाद्वैत वेदान्त का आधार है। सगुण ब्रह्म ही श्रेष्ठ है। अक्षर ब्रह्म अर्थात् ज्ञान रूप ब्रह्म में आनन्द की मात्रा कम है, वही निर्गुण निराकार है। 'द्वापर' में गोपिकाएं उद्धव से इस प्रकार कहती हैं-

होगा निर्गुण, निराकार, वह छली तुम्हारे लेखे, हमसे पूछो तुम, उसके गुण-रूप हमारे देखे।
अंतर्दृष्टि मिले तो हम भी शून्य देख लें अब के, पर जब तक है, कहो क्या करें, चर्म-चक्षु हम सबके ?

उद्धव ! तुम यह पूछ रहे हो कि कृष्ण कहां हैं ? पर हमें ऐसा कोई स्थान नहीं दिखाई देता, जहां वह न हो। अभी वह मन भाया मनमोहन हमारे ध्यान में ही था किन्तु ज्ञान की माया बीच में आकर खड़ी हो गई सो वह दिखाई नहीं दे रहा है। अद्वैत वेदान्त माया को आवरण कहता है। उसके कारण ही ब्रह्म दृष्टि गोचर नहीं होता है माया का आवरण ज्ञान से दूर होता है। पर यहां शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार इसके ठीक विपरीत बात कही गई है। यहां ज्ञान अज्ञान का आवरण बन गया है, अवरोध बन गया है, विघ्न बन गया है। इसी कारण गोपिकाओं को ध्यान में कृष्ण के दर्शन नहीं हो पा रहे हैं। गुप्तजी की यह उद्भावना अपने आप में मौलिक एवं अप्रतिम है। कहना वे यही चाहते हैं कि ज्ञान की अपेक्षा सगुण श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं—

कहां हमारा कृष्ण हाय ! हम यह क्या तुम्हें बतावें,
और नहीं दिखलाई पड़ता, उसको जहां बतावें।
अब तक यहां ध्यान में तो था, वह मोहन मन-भाया।
किन्तु आ खड़ी आज बीच में, कूद ज्ञान की माया। -द्वापर, पृ. १७९

'बीच में में ज्ञान की माया कूद कर खड़ी हो गई है', यह कथन कितना सहज एवं स्वाभाविक है। गोपिकाओं ने ज्ञान को माया कहकर वास्तव में उसे अज्ञान का नाम दिया है।

उद्धव की ज्ञान निर्गुण संबंधी बातें गोपिकाओं को अच्छी नहीं लगीं और वियोगिनी राधा के संबंध में जो कुछ उद्धव ने कहा वह भी उन्हें उचित नहीं लगा। राधा वियोगिनी है। अब योगिनी बनकर योग की साधना करे, ज्ञान की अग्नि में वह दृश्यमान श्रीकृष्ण को भस्म करके उस भस्म को लगाकर वन में योगिनी बनकर विचरण करे, जब कि उसका योगिराज-श्रीकृष्ण मथुरा राजभवन में सुशोभित हो रहा है। 'सूरदास' के 'उद्धव-गोपी संवाद' में गोपिकाएं उद्धव को उत्तर देती हैं परन्तु इतना हृदय-स्पर्शी उत्तर वे नहीं दे पाती हैं। जीवित को मार कर उसे जलाना और फिर उसकी राख मलना कितना अनुचित है ? उद्धव के ज्ञान को स्वीकार करना गोपिकाओं के लिए जीवित कृष्ण को जलाने के जैसा है—

चाहे क्या राधा वियोगिनी, स्वयं भोग लाये तुम।
आहा ! क्या ज्ञानाग्नि-रूप में, भाग्य-भोग लाये तुम।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृश्यमान का भस्म लेप कर, फिरे योगिनी वन में ।
उसका योगिराज वह राजे, मथुरा राज-भवन में । द्वापर, पृ. १२०

बिहारी के एक दोहे में वेदांत संबंधी चर्चा है । जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं । ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, पर जैसे हम अपनी आँखों से अपनी ही आँखें नहीं देख सकते हैं वैसे ही सर्वव्याप्त ब्रह्म को भी हम नहीं देख पाते हैं । गुप्तजी ने भी 'उद्धवगोपी-संवाद' में इस तथ्य को अपनी विशेष काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया है । गोपिकाएं उद्धव से कहती हैं कि हम अपनी आँखों से अपनी ही आँखों को न देख पाएं तो क्या भय है ? सभी में हम उस प्रिय श्रीकृष्ण को देख लें, बस इसना ही हमारे लिए पर्याप्त है—

देख न पावें आप आपको, ये आंखें तो भय क्या ?
सबमें उस अपने को देखें, तब भी कुछ संशय क्या ? द्वापर, पृ. १८०

कृष्ण साकार हैं एवं परब्रह्म हैं । गोपिकाओं के लिए वे सर्वस्व हैं । उनके अन्तर्यामी एवं विभु कृष्ण व्रज से मथुरा क्यों गए ? इसका बड़ा ही व्यंगपूर्ण उत्तर गोपिकाएं उद्धव को दे रही हैं । कृष्ण व्रज में रहता तो उसे गोचारण के लिए जाना पड़ता, व्रजवासी गोप-ग्वाले जैसा नाच नचाते, वैसा नाचना पड़ता । इधर-उधर माखन चुराकर लुका-छिपी करनी पड़ती । इस तरह के अनेक कष्ट उसे यहाँ व्रज में उठाने पड़ते । वहां मथुरा में क्या है ? राजनीति के दावपेंच हैं । बुद्धि की पैंतराबाज़ी है । कोई शारीरिक श्रम नहीं है । इस तरह हमारा साकार कृष्ण मथुरा में जाकर निराकार हो गया है सो उचित ही है । गोपिकाओं ने ज्ञान का उपदेश लेकर आए उद्धव से यह कहना चाहा है कि तुम निराकार और ज्ञान का उपदेश दे रहे हो सो ठीक है । यह भी राजनीति के छल-छद्म की तरह हा कपटाचार है । 'सूक्ष्म' बुद्धि पद में व्यंग है । जहां बुद्धि की प्रधानता होती है वहाँ भावनाएं समाप्त हो जाती हैं और छल-छंद शुरू हो जाते हैं । आधुनिक कवि नरेश मेहता कहते हैं—

राजनीति देव-कन्या की नहीं, विष-कन्या की आत्मजा है । —महाप्रस्थान

'द्वापर' में गुप्तजी की गोपियां राजनीति के इसी विषाक्त रूप की ओर संकेत कर रही हैं—

गायें यहां घेरनी पड़तीं, नाच नाचना पड़ता ।
वह रस-गोरस कभी चुराना, कभी जांचना पड़ता ।
राजनीति का खेल वहां है, सूक्ष्म बुद्धि पर सारा ।
निराकार-सा हुआ ठीक ही, वह साकार हमारा । द्वापर, पृ. १८१

सूर की गोपिकाओं से भी व्यंग वचन में गुप्तजी की गोपिकाएं अधिक तीव्र हैं । मथुरा से वेदान्त का ज्ञान लेकर उद्धव बड़ी उमंग से व्रज में आए । उन्हें यह अपेक्षा रही कि व्रज में हमारे वेदान्त को सुनने वाले अधिकाधिक श्रोता मिलेंगे, पर उद्धव का अनुमान असत्य सिद्ध हुआ । उद्धव ने तो वेदान्त का उपदेश देना आरंभ किया पर कोई श्रोता ही उनके ज्ञान को सुनने को तैयार नहीं हुआ । उद्धव की इस विवशता का गोपिकाएं बड़ा ही अच्छा आनन्द लेती हैं । गोपिकाएं स्वयं को निर्गुण एवं निपट-निरीह बताती हैं । यहां निर्गुण शब्द का अर्थ गुण-रहित या बुद्धिहीन किया गया है तथा निपट निरीह से उन्होंने स्वयं को एकदम ऋजु बताया है । इसी कारण वे कहती हैं कि हम जैसी गुणरहित स्त्रीजनों के लिए तो अब शेष जीवन निराकार ही निराकार है । तात्पर्य यह है कि जीवन में साकार कृष्ण के साथ पुनः लीलाएं वे कर सकेंगी या नहीं इसमें उन्हें संदेह है । इसीलिए उन्होंने अपने जीवन को निराकार अर्थात् नीरस कहा है । गोपिकाएं इतना होने पर भी राधा के प्रति अधिक सदय हैं । वे उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! तुमने हमको तो ज्ञान के हीरे चुगने को कहा है, पर कहीं तुम ये हीरे राधा को न चुगा बैठना ।[1]

१. द्वापर, पृ. १८३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्धव ने गोपिकाओं से कहा कि कृष्ण का मोह छोड़ो। परब्रह्म का वास्तविक स्वरूप तो निराकार है। वह अरूप और अगोचर है। इसका भी वे उद्धव को ठीक उत्तर देती हैं। वे कहती हैं 'मन मोहन से हमें मोह है और उसी श्याम का हमें लोभ है क्योंकि वह हमारा जीवन-धन है। तुम्हारा ज्ञानयोग तो एक प्रकार की सुषुप्ति है। उसे तुम सिखाने के लिए आए हो, जो जाग्रत की समाधि, निद्रा या स्वप्न दिखाने जैसा है। कोई जाग रहा हो उसे यह कहना कि तुम इस समय सो रहे हो, स्वप्न देख रहे हो, पर इस तरह के कथन मात्र से जाग्रत व्यक्ति निद्राधीन नहीं होता, स्वप्न नहीं देख रहा होता, क्योंकि वह जाग्रत है। ब्रह्म गोपिकाओं के लिए नाममात्र है। उद्धव जैसे ज्ञानी के लिए वह फलदायक हो सकता है, पर निरीह गोपिकाओं के लिए तो नटवर, नागर, नायक श्रीकृष्ण ही फलदायक हैं—

> **ज्ञानयोग लेकर सुषुप्ति ही, तुम न सिखाने आए ?**
> **जाग्रत को समाधि-निद्रा का, स्वप्न दिखाने आए।**
> **नाम-मात्र का ब्रह्म तुम्हारा, रहे तुम्हें फल-दायक।**
> **उद्धव, नहीं निरीह हमारा, नटवर; नागर-नायक।** द्वापर, पृ. १८४

गोपिकाओं ने साकार वंशीधर कृष्ण को अपने जीवन में पूर्णतः अपनाकर स्वयं को कृत-काम माना है। कृष्ण उन गोपीजनों के जीवन में ऐसे उल्लास-विलास के रूप में आए जैसे जीवन में यौवन आता है और यौवन में मधुमास आता है। जिसमें व्यक्ति इस प्रकार सोलह कलाओं से खिल उठता है कि उस सुख के समक्ष मोक्ष एवं परमपद भी अतीव तुच्छ प्रतीत होते हैं। साकार ब्रह्म का प्रतिपादन गोपियों के शब्दों में कवि ने किस प्रकार किया है, यह दर्शनीय है—

> **क्या बतलावें, वह वंशीधर, कैसा आया हम में ?**
> **ताल न आया होगा ऐसा, कभी किसी की सम में।**
> **जीवन में यौवन-सा आया, यौवन में मधु-मद-सा।**
> **उस मद में भी, छोड़ परम पद, आया वह गद्गद्-सा** —द्वापर, पृ.१८६

गोपियों ने कृष्ण के विराट् सगुण रूप की उपासना ही श्रेष्ठ मानी है। निर्गुण, निराकार की उपासना उनके लिए बड़ी कठिन है। गोपिकाओं ने उस उपासना को सूक्ष्म की उपासना कहा है। सूक्ष्म की उपासना में केवल ध्यान करना होता है। किसी विन्दु पर दृष्टि स्थिर करके समाधि लगानी होती है, पर गोपिकाओं के लिए सूक्ष्म की आराधना संभव नहीं है। गोपिकाओं ने विराट् के लिए 'निज' का प्रयोग किया है। विराट् उनका अपना है। श्रीकृष्ण उनका अपना है। सूक्ष्म जो निर्गुण-निराकार है वह उनका अपना नहीं है। उनसे वे सिर नहीं मारना चाहतीं। अनपेक्षित से जब व्यवहार का अवसर आए और जो मनःस्थिति हो, वैसी ही मनःस्थिति गोपिकाओं की है। वे उद्धव से कहती हैं—

> **निज विराट् को छोड़ सूक्ष्म से, कौन यहां सिर मारे ?**
> **धार सके उसको जो जितना, जी भर-भर कर धारे।** द्वापर, पृ. १८५

गोपिकाएं उद्धव से कहती हैं कि हम सान्त हैं, ससीम हैं। हमारा संबंध अनन्तता से कैसे संभव है ? हम अन्तवन्त हैं तो अनन्तता हम कहां से लाएं ? हम तो इस शरीर में ही परमात्मा के चिन्मय स्वरूप श्रीकृष्ण से मिलना चाहती हैं—

> **अन्तवन्त हम हन्त ! कहां से, वह अनन्तता लावें।**
> **इस मृण्मय में ही निज चिन्मय, पति तो हम पावें।** —द्वापर, पृ. १८५

जीव एवं जगत् ब्रह्म के आधिभौतिक स्वरूप से आविर्भूत हुए हैं एवं परब्रह्म उनके अणु-अणु में व्याप्त है। कृष्ण परब्रह्म हैं। गोपिकाओं के पंचभौतिक शरीर में प्राणरूप में वे विद्यमान हैं। 'पीताम्बर'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अस्तित्व के कारण ही अग्नि में नया तेज, जल में नवल उज्ज्वलता, आकाश में नव्य नीलिमा, पवन में नया रंग तथा पृथ्वी नवीन गुण–गन्धवती बनी है। तात्पर्य यह है कि जगत् और जीवन में जो कुछ चेतना का हास–विलास है वह श्रीकृष्ण ही है–

नई अरुणिमा जगी अनल में, नवलोज्ज्वलता जल में।
नभ में नव्य नीलिमा नूतन, हरियाली भूतल में।
नया रंग आया समीर में, नया गन्ध–गुण छाया।
प्राण रूप पाचों तत्त्वों में, वह पीताम्बर आया। –द्वापर, पृ. १२७

गोपिकाओं ने निवृत्ति परक योग–मार्ग को वेद–विपरीत एवं अनुचित माना है। वेद–मार्ग में निवृत्ति परक अकर्मण्य जीवन की अपेक्षा प्रवृति परक जीवन को श्रेष्ठ माना है। गोपिकाएं सौ वर्ष जीना चाहती हैं। यह आशा लेकर कि कृष्ण से फिर कभी मिलन होगा। कृष्ण इस जीवन में उन्हें कभी न कभी तो अवश्य मिलेंगे। इस छन्द में निर्वेद मार्ग अर्थात् योग मार्ग के प्रति उपेक्षा प्रकट की गई है–

वेद मार्गियों में आ पहुंचा, यह निर्वेद कहां से ?
लौटा ले जाओ, हे उद्धव ! लाये इसे जहां से।
हम सौ वर्ष जियेंगी, अपनी, आशा लेकर उर में।
वह प्रसन्नता से प्रमोदरत, रहे प्रतिष्ठित पुर में। –द्वापर, पृ. १९८

गोपियां योग शब्द का संयोग से अर्थ लेती हैं और वे कहती हैं कि श्रीकृष्ण के साथ हमारा योग–वियोग तो हो चुका है। रस की लूट का समय गया अब संधि–विग्रह एवं नियम–निग्रह का समय आया है। हमारे प्रेम की कसौटी का समय अभी है। जिस योग के नियम का पालन करने के लिए योगियों को कठिनाई महसूस होती है वह हमारे जीवन का स्वाभाविक अंग बन जायेगा। अब हम मुरली नहीं सुनेगीं, स्वयं शंख बजाएंगीं। यहां गोपिकाएँ कहना चाहती हैं कि अब हमारे लिए योगसाधना सहज हो जाएगी—

योग–वियोग हो चुके उद्धव, चले संधि–विग्रह अब।
रस की लूट हुई मनमानी, पलें नियम–निग्रह अब।
मुरली तो बज चुकी बहुत अब, शंख फूंकेगे सीधे।
दूर मयूर, पलेंगे रण में, गीध गुणों के गीधे। द्वापर, पृ. २००

तात्पर्य यह है कि सूर की भांति गुप्तजी भी मुख्यतः एक परम अस्तिक कवि हैं। काव्य सर्जन उनका मुख्य उद्देश्य है फिर भी वेदान्त के तत्त्व उपर्युक्त रूप में उनके ग्रंथ 'द्वापर' में मिलते हैं। वेदान्त से संबद्ध गुप्तजी ने गोपिकाओं के माध्यम से जो कुछ कहलाया है, उसका सार यही है कि निर्गुण की अपेक्षा गोपिकाओं के लिए सगुण साकार की उपासना ही श्रेष्ठ है। शुद्धाद्वैत वेदान्त में अक्षर ब्रह्म की अपेक्षा आधिभौतिक परब्रह्म अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें आनंद की मात्रा अधिक है। विषय की दृष्टि से 'द्वापर' का यह प्रसंग 'भ्रमरगीत' प्रसंग ही कहा जाएगा। इसमें सूर, नंददास इत्यादि कृष्ण–कवियों की भांति निर्गुण की अपेक्षा सगुण ब्रह्म की श्रेष्ठता ही स्थापित की गई है।

मोक्ष : गोपिकाएँ परब्रह्म श्रीकृष्ण की सामीप्य, सायुज्य, रूपा लीलास्थ मुक्ति ही चाहती हैं। वे सदा–सर्वदा श्रीकृष्ण के साथ उनकी विभिन्न लीलाओं में साथ रहना चाहती हैं। 'द्वापर' में शुद्धाद्वैत वेदान्त से सम्बद्ध ब्रह्म विषयक विचार निरूपित हुए हैं। शुद्धाद्वैत वेदान्त में परब्रह्म श्रीकृष्ण पूर्ण सच्चिदानन्द हैं। वे ही पूर्ण रस रूप हैं तथा आध्यात्मिक अक्षर ब्रह्म (ज्ञान ब्रह्म, निर्गुण ब्रह्म) तथा आधिभौतिक जगत् ब्रह्म (जगत्) की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं अर्थात् आध्यात्मिक ब्रह्म (निर्गुण) की अपेक्षा सगुण–आधिदैविक परब्रह्म ही श्रेष्ठ हैं ऐसा गुप्तजी यहां प्रतिपादित कर रहे हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६ जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

जीवन : हिन्दी कृष्ण कवियों में रसखान के पश्चात् 'रत्नाकर' एक ऐसे सहृदय कवि हुए हैं, जिन्हें खड़ीबोली हिन्दी गद्य-साहित्य के युग में ब्रजभाषा, ब्रजभूमि और ब्रजपति की लीलाओं से बेहद प्रेम है। द्विवेदी युग में महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण 'गुप्त', अयोध्यासिंह 'उपाध्याय', 'हरिऔध', श्रीधर पाठक जैसे कवि ब्रजभाषा को भूलकर नव-नवीन छन्द शैलियों में खड़ीबोली हिन्दी को समलंकृत कर रहे थे, उस समय प्राचीन परंपरा के उपासक 'रत्नाकर' ने ब्रजभाषा में ब्रजपति की लीलाओं का गान किया। कृष्णभक्ति की विह्वलकारिणी मधुर परंपरा को अक्षुण्ण बनाए रखने के उद्देश्य से कवित्त, रोला जैसे छन्दों में 'रत्नाकर' ने जो ब्रजभाषा में साहित्य लिखा, वह गरिमा की दृष्टि से आधुनिक युगीय ब्रजभाषा काव्य में अन्यतम है। 'रत्नाकर' सागर का नाम है, जिसमें से रत्न पाने के लिए गोताखोरी अपेक्षित है। कवि जगन्नाथदास को साहित्य-सागर में डूबकर प्राचीन अनर्घ रत्न निकालने के उपलक्ष्य में तो कहीं 'रत्नाकर' के बिरुद से विभूषित नहीं किया गया है? यदि यह सत्य है तो आपके लिए **'यथानामस्तथागुणः'** उक्तिपूर्ण रूप से चरितार्थ हुई कही जाएगी।

काव्य : प्रयागस्थ 'रसिकमंडल' ने 'रत्नाकर' के ग्रन्थ 'उद्धवशतक' को प्रकाशित करके स्वयं को कृतार्थ समझा है। 'रत्नाकर' ने अपने ग्रंथ 'उद्धवशतक' को प्रकाशित करने की 'रसिकमंडल' प्रयाग को अनुमति प्रदान की, तब उनके आभार में अपने निवेदन में साहित्य मंत्रि ने कहा—'साहित्यमर्मज्ञ ब्रजभाषाचार्य महाकवि श्री बाबू जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' के परम प्रतिभावान् रुचिर-रत्नों का यह अनुपम हार (उद्धवशतक) हमें उदारतापूर्ण उपकार के रूप में प्राप्त हुआ हैं।'[1] इससे अधिक कवि की क्या संस्तुति हो सकती है? 'उद्धवशतक' भ्रमरगीत परंपरा का ब्रजभाषा में निबद्ध काव्य है। काव्य-रूप की दृष्टि से विचार करते हुए रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने इसे प्रबंध-काव्य और मुक्तक-काव्य दो का सुन्दर समन्वित रूप कहा है।[2] यह प्रबंधकाव्य इसलिए है कि इसमें कृष्णकथा से संबद्ध एक महत्त्वपूर्ण घटना-'उद्धवगोपी-मिलन संवाद' वर्णित है। कथा में एक क्रम है, इसीके कारण इसे 'प्रबंधकाव्य' कहा गया है तथा इसमें मुक्तककाव्य के गुण भी हैं। 'उद्धवशतक' का प्रत्येक कवित्व भाव की दृष्टि से अपने आप में पूर्ण है एवं सूर इत्यादि कवियों के पद की भाँति प्रत्येक पद में 'कहे रतनाकर' इस प्रकार की छाप है। अंगूर का हर एक दाना जैसे रस की स्वतंत्र इकाई होता है, वैसे ही 'रत्नाकर' के 'उद्धवशतक' के रस भरें पद भी सगुण श्रीकृष्ण लीला-रस की स्वतंत्र इकाई हैं।

समीक्षक श्री रसालजी ने 'उद्धवशतक' का समीक्षण किया है। उन्होंने इसे चित्रोपम सत्काव्य भी कहा है। प्रत्येक पद एक स्वतंत्र चित्र है। पद पढ़ने के साथ ही पाठक के मस्तिष्क में चित्र (बिंब) बनते चले जाते हैं, यही चित्रोपमता-गुण है।[3] 'उद्धवशतक' 'रत्नाकर' की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें लगभग १२१ कवित्त हैं। रस एवं भाव की दृष्टि से प्रत्येक कवित्त रस का सागर है। दार्शनिक विचारों का निरूपण 'उद्धवशतक' में स्थान-स्थान पर हुआ है। शंकर के मायावाद से संबद्ध अद्वैत वेदान्त, आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत वेदान्त सांख्य, योग, दर्शन इत्यादि के तत्त्वों का ग्रंथ में यथास्थान निरूपण हुआ है। इस पर हम आगे

---

१. उद्धवशतक, 'रत्नाकर' प्रकाशक : रसिक मंडल, प्रयाग, पृ. १, दो शब्द

२. उद्धवशतक, प्राक्कथन, पृ. २०

३. उद्धवशतक, रत्नाकर, पृ. २१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार करने वाले हैं। 'रत्नाकर' का जन्म ई. सन् १८६६ एवं अवसान १९३२ में हुआ। इनके पूर्वज हरियाणा राज्य के प्रसिद्ध सफीयों नामक कस्बे के रहनेवाले थे। जो कई पीढ़ी पहले काशी में जा बसे थे। 'रत्नाकर' के पिता भारतेन्दु बाबू के अंतरंग मित्र थे। अपने घर पर प्रायः साहित्यिक गोष्ठियाँ हुआ करती थीं, इसी कारण 'रत्नाकर' को भी कविता करने की प्रेरणा मिली। 'रत्नाकर' संगीत, आयुर्वेद, ज्योतिष, पुरातत्त्व इत्यादि विषयों के भी मर्मज्ञ थे। ये संस्कृत फारसी, उर्दू, प्राकृत, अपभ्रंश, मराठी एवं बंगला भाषाओं के ज्ञाता थे। ब्रजभाषा के तो ये आचार्य थे ही। आधुनिक ब्रजभाषा कवियों में आपको मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। भावों की रमणीयता के साथ-साथ इनके काव्य में शैलीगत अलंकरण भी मिलता है। किंतु यह अलंकार-प्रयोग कहीं भी काव्य के रसास्वादन में व्याघात उत्पन्न नहीं करता है। 'रत्नाकर' जैसी सूक्ष्म, अनूठी सूझ, उक्ति-वैचित्र्य तथा चित्रोपम शैली हिंदी साहित्य में विरल है। शुद्ध, प्रांजल एवं प्रौढ़ ब्रजभाषा के प्रयोग में ये भक्ति एवं रीतिकालीन ब्रजभाषा के कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। **'उद्धवशतक'** आपकी सन् १९२९ की काव्य रचना है। इसके अतिरिक्त आपके **'गंगावतरण'** (१९२७), **'शृंगार-लहरी'**, **'हरिश्चंद्र हिंडोर'** काव्य रचनाएं सुप्रसिद्ध हैं।

वेदान्त : 'उद्धवशतक' भ्रमरगीत परंपरा का काव्य है। आधुनिक काल में इस परंपरा में 'रत्नाकर' के अतिरिक्त एक और 'भ्रमरगीत' से संबद्ध काव्य लिखा गया है और वह है कवि रत्न सत्यनारायण का 'भंवरदूत' काव्य। 'रत्नाकर' के उद्धवशतक' में कवित्व, भक्ति एवं दर्शन तीनों की त्रिवेणी बही है। एक ओर जहां यह उत्तम कोटि का भावपूर्ण काव्य है, जिसमे गोपिकाओं का कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम व्यक्त हुआ है, वहां दूसरी ओर दर्शन, वेदान्त एवं भक्ति के भाव इसमें भी बड़े ही विशुद्ध रूप में व्यक्त हुए हैं। ज्ञानी उद्धव का जड़त्व भी गोपिकाओं की प्रेमाभक्ति की ऊष्मा पाकर द्रवित हो उठता है और वे भी गोपियों की भाँति भक्ति में विह्वल हो उठते हैं। 'उद्धवशतक' को भ्रमरगीत परंपरा का काव्य हमने इसलिए कहा कि इसमें कवि ने ज्ञान और योग पर सगुण भक्ति और प्रेम की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। सूरदास, नन्ददास आदि कवियों ने जो 'भ्रमरगीत' लिखे हैं, उनका भी मुख्य प्रतिपाद्य यही रहा है। 'रत्नाकर' के 'उद्धवशतक' में 'भ्रमर' नहीं आता है। सूरदास, नन्ददास इत्यादि कवियों के इस प्रसंग में 'भ्रमर' आता है। जिसको लक्ष्य करके गोपियां कृष्ण एवं उद्धव को उपालंभित करती हैं। 'उद्धवशतक' में 'रत्नाकर' ने उद्धव-गोपी संवाद में कई स्थानों पर दार्शनिक विचारों का समन्वय भी बड़े मौलिक ढंग से किया है और कहीं-कहीं तो कवि की नवीन उद्भाववाएं भी श्लाघनीय हैं।

कृष्ण ने यमुना में एक म्लान कमल बहता हुआ देखा! कृष्ण ने उसे नासिका से लगाया और सुगन्ध साम्य से उन्हें राधा की याद हो आई। वे बेसुध हो गए। फिर एक कीर ने 'राधा-राधा' कहा तो कृष्ण संज्ञा में आए। उद्धव अपने मित्र कृष्ण को संभाले हुए थे। किसी तरह अपने मित्र उद्धव के कंधे का सहारा लेकर कृष्ण चलने में समर्थ हुए। कृष्ण की स्थिति को देखकर कवि 'उद्धवशतक' (पद-२) में लिखता है, कृष्ण यमुना में क्या नहाने गए, मानो स्नेह की नदी में नहा आए हों—

कान्ह गए यमुना नहान नए सिर सौं, नीकैं तहां नेह की नदी में न्हाइ आए हैं॥

कृष्ण का 'नेह नदी' में नहाना यह इस काव्य का बीज है तो उद्धव का प्रेम-भक्ति में विह्वल होना फल।

कृष्ण ने उद्धव से गदगद् वाणी में कहा कि हे उद्धव, ब्रजवास के दिनों को मैं आज भी नहीं भूल पाया हूँ। काँटे की तरह वियोग मुझे कष्ट दे रहा है। मेरे नेत्रों में आठों याम ब्रज ही घूम रहा है। इस तरह कहकर कृष्ण उद्धव के समक्ष नन्द, यशोदा, गोपी, ग्वाले राधा सभी के प्रेम का वर्णन करते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म : वियोग-संतप्त कृष्ण को उद्धव ज्ञान का उपदेश देते हैं। यहीं से इस काव्य में दर्शन की भूमिका प्रारम्भ होती है। उद्धव कृष्ण से कहते हैं कि सब कुछ ब्रह्ममय है—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्मः', 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति', 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** तत्त्वज्ञान की इस प्रकार की बातें उद्धव कृष्ण के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। एक प्रकृत व्यक्ति की भाँति प्रेम में कातर होना उन्हें कृष्ण की दुर्बलता लगती है। वे कहते हैं कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इनके योग से जगत् का निर्माण हुआ है। इन पाँचों तत्त्वों में परमात्मा की सत्ता ही विद्यमान है। वेदों ने भी इस तत्त्वज्ञान के महत्त्व को स्वीकार किया है। जो कुछ भेद दिखाई देता है, वह तो बाहरी है। कनक और कुण्डल में क्या अंतर है ? केवल आकार का ही अन्तर है। अंत में तो कुण्डल कनक ही है। इस तरह गोपियों में, कृष्ण तुम में, सभी में एक ही परम तत्त्व की सत्ता विद्यमान है फिर वियोग और संयोग में भी समभाव ही होना चाहिए। मिथ्या मोह को छोड़ देना चाहिए—

पांचौ तत्त्व मांहिं एक सत्त्व की ही सत्ता सत्य, याही तत्त्वज्ञान कौ महत्त्व स्रुति गायौ है।
तुम तौ विवेक 'रत्नाकर' कहौ क्यों पुनि, भेद पंच भौतिक के रूप में रचायौ है॥
गोपिनि मैं आप मैं वियोग और संयोग हूँ मैं, एकै भाव चाहिए सचोप ठहरायौ है।
आपु ही सौं आपु कौ मिलाप और बिछोह कहा, मोह यह मिथ्या सुख दुःख सब ठायौ है॥

'उद्धवशतक' पद–५

परमात्मा जब अणु-अणु में विद्यमान हैं, सभी में समाया हुआ है, तो उसका वियोग ही असंभव है। स्वयं से स्वयं का वियोग कभी हो ही नहीं सकता। उद्धव कृष्ण को यह कहना चाहते हैं कि मोह छोड़ो और ज्ञानी बनो। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे 'गीता' के कृष्ण यहां उद्धव हों और 'गीता' का अर्जुन यहां कृष्ण हो। वहां अर्जुन मोहग्रस्त है यहां कृष्ण मोहग्रस्त हैं। वहां ज्ञान द्वारा कृष्ण अर्जुन का मोह दूर करते हैं, यहां मानों वही कार्य उद्धव संपन्न करना चाहते हैं। प्रारंभ कुछ ऐसा ही है। यों इस काव्य के अंत में चौबेजी छब्बेजी बनने गए तो दूबेजी हो गए के रूप में उद्धव स्वयं प्रेमी हो गए हैं, पर यह बाद की बात है।

उद्धव ने जगत् को स्वप्नवत् मिथ्या बताया है। शंकर के मायावाद का यही मुख्य आधार है। संसार मिथ्या है स्वप्नवत् है। इसके पश्चात् उद्धव कृष्ण से कहते हैं कि तुम तो स्वयं ज्ञानी हो। तुमको ब्रह्म-ज्ञान के बारे में कहना सूरज को दीपक दिखाना है पर लौकिक लगाव के कारण तुम्हारी यह स्थिति हुई है। संसार असार है, सभी जन भ्रमित हैं। जगत् की किसी वस्तु की प्राप्ति इस तरह मिथ्या है जैसे स्वप्न में किसी वस्तु की प्राप्ति—

दिपत दिवाकर कौं दीपक दिखावै कहा, तुमसे न ज्ञान कहा जानि कहिबौ करैं।
कहै 'रतनाकर' पै लौकिक लगाव मानि, परम अलौकिक की चाह थहिबौ करैं।
असत असार या पसार मैं हमारो जान, जन भरमाए सदा ऐसे रहिबौ करैं।
जागत और पागत अनेक परपंचनि मैं, जैसे सपने मैं अपने कौं लहिबौ करैं।

उद्धवशतक, पद–१६

उद्धव की बात सुनकर कृष्ण ने कहा कि एक बार तुम गोकुल जाकर आ जाओ फिर हमको तुम ज्ञान की बात सिखाना। हम तुम्हारी बात मान लेंगे।

'उद्धवशतक' एक ऐसा काव्य है। जिसमें काव्य और दर्शन की धाराएं साथ-साथ बही हैं। उद्धव को ज्यों ही ब्रज की हवा लगती है त्यों ही उनके हृदय में प्रेम के भाव अंकुरित होने लगते हैं। उनके ज्ञान की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गठरी करील कुंजों में उलझ कर बिखरने लगती है । व्रज के प्रेममय वातावरण का प्रभाव उद्धव के मन पर ऐसा पड़ता है कि वे व्रज पहुंचने से पहले ही मार्ग में ही प्रेम-रसाक्रान्त होकर लड़खड़ाने लगते हैं । उनका अंतःकरण जो ज्ञान के मार्तण्ड से शुष्क हो गया था मानों वहां घनश्याम रूपी मेघ छा गए हैं । गोकुल की गली में पहुंचते ही उद्धव कुछ और ही हो गए । उद्धव से गोपिकाएं उद्धव का आना सुनकर उनसे मिलने के लिए दौड़ पड़ीं । उद्धव से गोपिकाएं कृष्ण का संदेश पूछती हैं । उद्धव फिर अपने ज्ञान का प्रकाश फैलाने लगते हैं । वातावरण का क्षणिक प्रभाव जो उन पर पड़ा था, वह लुप्त हो जाता है । यहीं से इस ग्रंथ में दार्शनिक भावों का श्रीगणेश हुआ है । ज्ञानी ऊद्धव ने गोपिकाओं से कहा, 'यदि तुम्हें श्याम-सुन्दर का संयोग प्राप्त करना है तो योग के द्वारा अन्तर्दृष्टि करो और हृदयरूपी कमल पर जगने वाली ब्रह्म ज्योति में ध्यान लगाओ तो वहां तुम्हें कृष्ण का संयोग प्राप्त होगा । आत्मा को परमात्मा में लीन करो क्योंकि उस परमात्मा के द्वारा ही जड़ एवं चेतन विलसित एवं विकसित हुए हैं । मोह के कारण ही तुम सभी ने कृष्ण को अपने से अलग समझ रखा है, पर वे निरंतर तुम्हारे अन्दर ही विद्यमान हैं । उद्धव गोपिकाओं से यह कहना चाहते हैं कि कृष्ण परमात्मा हैं । वे सभी के अन्तर में निवास करते हैं । योग द्वारा ही तुम्हें उन्हें अन्तर में देखना चाहिए । बाह्य स्थूल कृष्ण का विचार करना मोह-माया है'-

चाहत जौ स्वबस संयोग स्याम-सुंदर कौ, जोग के प्रयोग मैं हियौ तौ विलस्यौ रहै ।
कहै 'रतनाकर' सु-अंतर-मुखी है ध्यान, मंजु हिय-कंज-जगी जोति मैं धस्यौ रहै ।
ऐसै करौ लीन आतमा कौं परमात्मा मैं, जामैं जड़-चेतन-विलास विकस्यौ रहै ।
मोह-बस जोहत विछोह जिय जाकौ छोहि, सो तौ सब अंतर-निरंतर बस्यौ रहै ।

ऊद्धवशतक, पद-३०

उद्धव ने गोपिकाओं से कहा कि पंच तत्त्वों से निर्मित इस संसार में एकमेव सच्चिदानन्द की ही सत्ता है । अर्थात् सच्चिदानद स्वरूप ही सब में विद्यमान है । इस तरह हम तुम सभी में वह समान रूप में विद्यमान है । पंचभूतों की विभूति ही सभी में विद्यमान है, एक-सी-व्याप्त है । यह जो दिखाई दे रहा है, वह तो जैसें दर्पण में एक के अनेक रूप दिखाई देते हैं वैसे ही समझ लेना चाहिए । उद्धव इतना कह कर गोपिकाओं से कहते हैं कि तुम भ्रम का आवरण हटाकर ज्ञान की आँखों से देखो तो कृष्ण सभी में और सभी में कृष्ण दिखाई देंगे-

पंच तत्व मैं जो सच्चिदानन्द की सत्ता सो तौ, हम तुम उनमैं समान ही समोई है ।
कहै 'रतनाकर' विभूति पंच-भूत की, एक ही-सी सकल प्रभूतनि मैं पाई है ।
माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै, काँच-फलकनि ज्यौं अनेक एक सोई है ।
देखौ भ्रम-पटल उघारि ज्ञान आंखिनि सौं, कान्ह सब ही मैं कान्ह ही मैं सब कोई है ।

उद्धवशतक, पद ३१

इस छन्द में उद्धव ने गोपिकाओं से कहा है कि भ्रम के पटल को हटाओ और ज्ञान की आँखों से देखो । यह योगाभ्यास से ही संभव है । **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** चित्त की वृत्तियों का निरोध करो और आत्मा को परमात्मा के साथ संलग्न करो । परमात्मा सब जगह दीखेगा । ऐसा उद्धव का कहना है । उद्धव के उपदेश में सर्वत्र योग-दर्शन एवं सांख्यदर्शन की ज्ञानात्मिका निवृत्ति के दर्शन होते हैं ।

कृष्ण सभी में हैं और कृष्ण में सभी हैं । इस अनेकत्व में एकत्व के दार्शनिक सिद्धांत की पश्चिम के दर्शन के ग्रंथों में 'Unity in diversity and diversity in unity' कहा गया है । यह भी योग की ही एक विशेष स्थिति है । हमारे गुजरात के आदि कवि नरसी महेता ने एक छन्द में कहा है-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखिल ब्रह्माण्डमां एक तुं श्रीहरी जूजवे रूपे अनन्त भासे।
देहमां देव तुं, तेजमां तत्त्व तुं, शून्यमां शब्द थई वेद वासे ।
पवन तुं, पाणी तुं भूमि तुं भूधरा, वृक्ष थई फूली रह्यो आकाशे ।
विविध रचना करी, अनेक रस लेवाने, शिव थकी जीव थयो एज आशे ।
वेद तो एम वदे, श्रुति स्मृति शाख दे, कनक-कुण्डल विषे भेद ना होय ।
घाट घडिया पछी नाम रूप जूजवां, अंते तो हेमनुं हेम होय ।

कवि नरसी ने अनेकत्व में एकत्त्व के परमोच्च दार्शनिक सिद्धांत को इस छन्द में प्रकट किया है । वही बात कवि 'रत्नाकर' ने उपर्युक्त पद में प्रकट की है । 'रत्नाकर' ने 'कान्ह को' सर्वव्यापी बताया है तो नरसी ने 'श्रीहरि' को और यों देखा जाए तो दोनों संबोधन एक दूसरे के पर्याय ही हैं ।

उद्धव गोपियों से यह कहते हैं कि उन्हें योग के द्वारा अन्तर्यामी भगवान् से मिलना चाहिए । वह अन्तर में ही निवास करता है । उसे योग द्वारा ही अन्तर में देखना चाहिए । घट-घट में कृष्ण विद्यमान है । कृष्ण में और तुममें कोई अन्तर नहीं है । जैसे बादल और बूंद में कोई अन्तर नहीं है और जो भेद दिखाई देता है वह बाहरी है । वैसे ही कृष्ण से तुम्हारे वियोग का विचार भ्रम है । यदि तुम कृष्ण से अखंड संयोग चाहती हो तो विलाप को छोड़ो, चीखना-चिल्लाना छोड़ो, योग साधना करो, ज्ञान रूपी धन प्राप्त करो और जीवात्मा को परमात्मा में लीन करो । ऐसा करने से परमात्मा कृष्ण यहीं, इसी समय तुम्हें अपने अन्तर में दिखाई देंगे—

सोई कान्ह तुम सोई तुम सोई सबही हैं लखौ, घट-घट अन्तर अनन्त स्यामघन कौं ।
कहैं 'रतनाकर' न भेद भावना सौं भरौ, बारिधि 'औ' बूंद कौं के विचारि बिछुरन कौं ।
अविचल चाहत मिलाप तौ विलाप त्यागि, जोग-जुगती करि जुगातौ ज्ञान-धन कौं ।
जीव-आतमा कौं परमातमा मैं लीन करौ, छीन करौं तन कौं न दीन करौ मन कौं ।

उद्धवशतक, पद-३२

कृष्ण के वियोग में अपना तन क्षीण करना, मन दीन करना व्यर्थ है । उद्धव ने योग और ज्ञान की, ध्यान और समाधि की जो बात कहनी थी सो कह दी । योग दर्शन के संबंध में हम तृतीय अध्याय में लिख चुके हैं । योग का अंतिम तत्त्व ईश्वर है, जिसकी अनुभूति व्यक्ति समाधि के द्वारा, ध्यान के द्वारा प्राप्त कर सकता है ।

उद्धव के वचन सुनकर गोपिकाएं कृष्ण वियोग में और भी अधिक बिलखने लगती हैं । उद्धव के उपदेश का प्रभाव उन पर उलटा पड़ा । गोपिकाएं उद्धव को जो उत्तर देती हैं, वह स्वाभाविक है । साधारणतः स्त्रियां दर्शनशास्त्र के अनेकत्व में एकत्व के तथा ब्रह्म की सर्वत्र व्याप्ति के गंभीर सिद्धान्त को कैसे हृदयंगम कर सकती हैं । उन्होंने तो ब्रह्मज्ञान एवं योग का नाम तो कभी सुना ही नहीं था । वे सहज रूप में उद्धव से यही पूछती हैं कि हम कब श्याम का सलौना रूप आंखों से देख सकेंगी । उद्धव ने जो ज्ञान की बातें कहीं, गोपिकाओं ने उस पर व्यंग करते हुए कहा कि उद्धव तुम कृष्ण के दूत हो कि ब्रह्म के दूत हो ? वे कहती हैं कि योग-साधना करने से हमारा शारीरिक सौन्दर्य नष्ट हो जाएगा । सुन्दर वेणियां जटाजूट में परिणत हो जाएंगी । फिर हम प्रियतम कृष्ण को कैसे रिझा सकेंगी । उद्धव ने गोपिकाओं से कहा कि वे योग के द्वारा विश्वव्यापी ब्रह्म को अपनी त्रिकुटी में अपने अंतःचक्षुओं से देखें । गोपिकाएं कहती हैं कि निराकार, अनंत, अलख, विश्वव्यापी ब्रह्म त्रिकुटी में कैसे देखा ज़ा सकता है ? आंखें बंद करके किसी को देखना तो संभव नहीं है । चिन्तामणि को छोड़कर शरीर में धूली लगाना, वियोग की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्नि को शीतल करने के लिए प्राणायाम करके हवा का भक्षण करना, कैसे विपरीत एवं शुष्क प्रयोग हैं ? जो रूप-रस हीन है, उसका ध्यान करके आनन्द कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? जिस ब्रह्म को सारे ब्रह्माण्ड में तुम व्याप्त बताते हो, उसको नेत्र बंद करके त्रिकुटी में कोई कैसे देख सकता है ?

चिन्तामनि मंजुल पँवारि धूरि धारन मैं, कांच-मन-मुकुर सुधारि रखिबौ कहौ ।
कहै 'रतनाकर' वियोग-आगि सारन कौं, उधो हाय हमकौं बयारि भखिबौ कहौ ।
रूप-रस-हीन जाति निपट निरूप चुकै, ताको रूप ध्याइबौ औ रस चाखिबौ कहौ ।
एते बड़े बिस्व मांहिं हेरैं हूँ न पैयै जाहि ताहि त्रिकुटी मैं नैन मूँदि लखिबौ कहौ ।

उद्धवशतक, पद ३९

गोपिकाएँ उद्धव से कहती हैं कि हम तुम्हारी यह बात मान भी लें कि कन्हैया और ब्रह्म एक ही हैं तो भी हमें तुम्हारी बात अच्छी नहीं लग रही है । जैसे बूँद समुद्र में ही मिल जाएगी तो समुद्र का तो कुछ नहीं बिगड़ेगा पर बूँद का जो स्वतंत्र अस्तित्व है, वह समाप्त हो जाएगा । अतः हम तुम्हारे अद्वैत ब्रह्म को पसंद नहीं करने वाली हैं । इससे तो हमारा अस्तित्व ही भय में है । हमें तो लगता है कि तुम कृष्ण के दूत नहीं किंतु ब्रह्म के दूत बनकर आए हो और हम ब्रजवासियों की प्रतिज्ञा और बुद्धि को विपरीत करने आए हो, पर तुम प्रीति की रीति से अनभिज्ञ हो; इसलिए तुम हमें अनीति सिखा रहे हो । 'रत्नाकर' ने इस पद में इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत किया है कि सगुण भक्ति में भगवान् और भक्त दो भिन्न-भिन्न ही हैं—

कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म दूत ह्वै पधारे आप, धारे प्रन फेरन को मति ब्रजबारी की ।
कहै 'रतनाकर' पै प्रीति-रीति जानत ना, ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की ।
मान्यो हम कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम, तौ हूँ हमैं भावति ना भावना अन्यारी की ।
जै है बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की, बूँदता बिलै है बूँद बिबस बिचारी की ।

उद्धवशतक, पद-३९

योग साधना में शरीर को तपाना होता है, कृश करना होता है । प्राणायाम इत्यादि करने होते हैं । गोपिकाओं ने उद्धव से कहा कि यह सब हम से संभव नहीं है । हमने जिन अंगों पर आनंदपूर्वक चंदन लेप किया है, उन पर हम धूल नहीं लगाएंगीं । जिन केशों को रस-रत्नाकर श्रीकृष्ण ने स्नेहपूर्वक संवारा है, उनको हम जटा-जूटाकर के विगाड़ेंगी नहीं । जिन मुखों को ब्रजचन्द्र ने चन्द्र कह कर सराहा था, उनको हम विगाड़कर कौए की चोंच जैसा भद्दा नहीं बनाएंगीं और जिन हृदयों को तुमने व्यंग वचनों से छलनी जैसा बना दिया है ; बताओ, उनमें हम धीरज रूपी जल को कैसे रोक सकेंगीं ? हृदय तो छलनी हो चुका है, उसमें धीर-नीर कैसे ठहरेगा ?—

चोप करि चंदन चढायौ जिन अंगनि पै, तिनपै बजाइ तूरि धूरि दरिबौ कहौ ।
रस 'रतनाकर' सनेह निरवार्यौ जाहि, ता कच कौं हाय जटाजूट बरिबौ कहौ ।
चंद अरबिंद लौं सराह्यौ ब्रजचंद जाहि, ता मुख कौं काक चञ्चवत करिबौ कहौ ।
छेदि-छेदि छाती छलनी कै बैन-बाननि सौं, तामैं पुनि ताइ धीर-नीर धरिबौ कहौ ।

उद्धवशतक, पद-३९

उद्धव योग का उपदेश देते हैं और विश्वव्यापी ब्रह्म को त्रिकुटी में देखने को कहते हैं । भौंहों के बीच के भाग को त्रिकुटी कहा जाता है । जहां दो दल वाला आज्ञाचक्र है । त्रिकुटी में ब्रह्म को देखना योग की साधना के अन्तर्गत एक स्थिति है । श्वास निरोध के द्वारा कुंडलिनी को जगाकर मेरूदण्ड के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीतर जो छः चक्र हैं—(१) मूलाधार चक्र (२) स्वाधिष्ठान चक्र (३) मणिपुर चक्र (४) विशुद्धाख्य चक्र (५) आज्ञा चक्र (त्रिकुटी चक्र) और (६) सहस्रार चक्र—कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करके उसे नाड़ी मार्ग से ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जाता है और उपर्युक्त विभिन्न चक्रों में गति शील एवं स्थित करते हुए कुंडलिनी को शीर्षस्थ सहस्रार चक्र तक लें जाया जाता है। कुंडलिनी वास्तव में मूल शक्ति है। उसे योग साधनाओं द्वारा जाग्रत किया जाता है। फिर उसे ऊपर की ओर प्रेरित किया जाता है। कुंडलिनी सर्पिणी के आकार की होती है। यह मेरुदण्ड के निम्नतम बिंदु जो पायु (मलद्वार) और उपस्थ (लिंग) के मध्य भाग में है और स्वयंभू लिंग कहलाता है, उसके त्रिकोणाकार अग्निचक्र में यह 'कुंडलिनी शक्ति' साढ़े तीन कुंडलियाँ मारकर सोती हुई है, इसीलिए इसे सांपिन या नागिन भी कहते हैं। जब तक यह सोती रहती है, तब तक सारा तेज नीचे क्षरित होता रहता है और जिससे प्राण शक्ति क्षीण होती रहती है, पर जब योगी इसे जगा देते हैं, तब यह मेरुदण्ड के सभी चक्रों से गुजरती हुई सहस्रार चक्र तक पहुँचती है। सहस्रार चक्र को शून्यचक्र, शून्यमंडल, गगनमंडल या आकाश मंडल भी कहते हैं। यहां शिव का निवास होने से इसे कैलास भी कहते हैं। इसी को मानसरोवर भी कहते हैं, जिसमें चित्त रूपी हंस निवास करता है।

शरीर में हजारों नाड़ियाँ हैं पर सुषुम्ना नाड़ी ही शक्तिग्राहिका है। इस कारण इसको शांभवी भी कहते हैं। सुषुम्ना से ही कुंडलिनी ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। सुषुम्ना, वज्रा, चित्रिणी और ब्रह्मनाड़ी इन तीनों नाड़ियों से बनी है। वज्रा ऊपर है, चित्रिणी उसके भीतर है। ब्रह्मनाड़ी चित्रिणी के भीतर है। कुंडलिनी नाड़ी का मार्ग ब्रह्मनाड़ी से ही है। सुषुम्ना के बाईं ओर इडा और दाहिनी ओर पिंगला है। वाम नासापुट का श्वास प्रवाह इडा से होता है और दक्षिण नासापुट का प्रवाह पिंगला से होता है। इन तीन नाड़ियों का अर्थात् इडा, पिंगला और सुषुम्ना का संगम ब्रह्मरन्ध्र में होता है। इसी को दशमद्वार कहा गया है। योगी के प्राण इसे भेद कर निकलते हैं। शरीर के नौ द्वार सदा खुले रहते हैं और यह दशमद्वार ब्रह्मरन्ध्र बन्द रहता है। साधना के द्वारा इसे खोलना पड़ता है। इसके खुलते ही सहस्रारचक्र से अमृतरस झरने लगता है और योगी को इससे अमरकाय (अमरत्व) की उपलब्धि होती है। योगी के प्राण (आत्मा) अन्त में समाधि की स्थिति में उसी की इच्छा से ब्रह्मरन्ध्र को भेदकर महाप्राण (परमात्मा) से मिल जाते हैं। इसका वर्णन महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' के प्रथम सर्ग में भी इस प्रकार किया है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणां। वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

रघुवंशी शैशव काल में विद्याभ्यास करते हैं, युवावस्था में विषयरसों का आनंद लेते हैं, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति से वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करते हैं तथा अन्त में योग द्वारा समाधिस्थ होकर ब्रह्मरन्ध्र को भेदकर अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ सर्वदा के लिए जोड़ देते हैं।

उद्धव जिस त्रिकुटी की बात कर रहे हैं, उसके अन्तर्गत उपर्युक्त सभी चक्रों, नाड़ियों इत्यादि की हठयोग की साधनाएँ आ जाती हैं। यहां इसलिए हमने नाड़ी—चक्रों स्पष्टता की है कि योग की साधना कोई साधारण साधना नहीं है। यम—नियमादि द्वारा मन स्थिर करके कुंडलिनी जाग्रत करना और फिर अमृत प्राप्ति तक पहुँचना कोई बच्चों का खेल नहीं है। गोपिकाओं के लिए यह सब अत्यंत दुष्कर कार्य है। गोपिकाएँ आगे एक—एक करके सभी बातों का उद्धव को बराबर उत्तर देती हैं। वे सर्व प्रथम योग को संयोग के अर्थ में लेती हैं।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद भारतीय जन मानस को छू तक नहीं सका, क्योंकि उसका ब्रह्म निर्विशेष, निर्गुण, निराकार होने से अमूर्त रहा। फलतः जनमानस की बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकी। साथ ही उन्होंने ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निर्गुण बताया और सगुण ब्रह्म को उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से उपासना के लिए ही योग्य बताया है। उनका मत है कि श्रुतियों में जहां कहीं सगुण ब्रह्म का वर्णन किया गया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, वह केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपासना के हेतु ही समझना चाहिए । शंकर ने संन्यास को भी आवश्यक माना है । शंकर का कथन है कि कर्म आवश्यक है, परन्तु अंत में कर्म का त्याग कर के संन्यास ग्रहण करना भी अनिवार्य है, क्योंकि सभी वासनाओं और कर्मों का त्याग किए बिना ब्रह्मज्ञान असंभव है । शंकर का यह सिद्धान्त निवृत्ति मार्गी है । इसी को निवृत्ति-मार्ग, संन्यास-निष्ठा या ज्ञान-निष्ठा भी कहते हैं । शंकर के अद्वैतपरक मायावादी सिद्धांतों की प्रतिक्रिया में दक्षिण में आचार्य रामानुज, आचार्य मध्व, आचार्य निम्बार्क एव आचार्य विष्णु स्वामी हुए, जिन्होंने शंकर के मायावाद का तीव्र स्वर में खंडन किया और साथ ही निर्गुण की अपेक्षा सगुण की उपासना को श्रेष्ठ सिद्ध किया । ये आचार्य दक्षिण में उत्तरी भारत के भक्ति आंदोलन के जन्म के पूर्व आविर्भूत हुए थे । दक्षिण से ही भक्ति की लहर उत्तर भारत में आई और उत्तरभारत में आचार्य वल्लभ, चैतन्य महाप्रभु, हितहरिवंश इत्यादि ने अलग-अलग संप्रदायों की स्थापनाएं कीं । जिसका निष्कर्ष यही था कि ज्ञान की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है एवं निर्गुण की अपेक्षा सगुण श्रेष्ठ है । आचार्य वल्लभ की छत्र-छाया तले पुष्टि संप्रदाय पल्लवित एवं पुष्पित हुआ । उसकी मूल भावना भी सगुण कृष्ण भक्ति का प्रस्थापना ही रही है । सूर, नन्ददास इत्यादि पुष्टिभक्त कवियों के उद्धव-गोपी संवाद से संबद्ध 'भ्रमरगीत' प्रसंग का मूल आधार भी यही है कि ज्ञान की अपेक्षा भक्ति एवं निर्गुण की अपेक्षा सगुण श्रेष्ठ है । कवि रत्नाकर का **'उद्धवशतक'** ग्रंथ भी इसी परंपरा का एक श्रेष्ठ रत्न है । इसमें भी ज्ञान, योग, निर्गुण तथा हठयोग इत्यादि को भक्ति के संदर्भ में अपेक्षाकृत गौण बताया है ।

उद्धव ने जब गोपिकाओं को योग का उपदेश दिया तब गोपिकाओं ने बड़े ही स्वाभाविक ढंग से उद्धव को उत्तर दिया । उन्होंने योग का अर्थ संयोग से लिया और कहा कि उद्धव तुम हमें मथुरा से यहां योग अर्थात् संयोग सिखाने के लिए आए हो तो फिर हमारे सामने योग की बातें क्यों कर रहे हो ? तुम्हारे वचन पत्थर की तरह हमारे मन-मुकुर को खंड-खंड कर रहे हैं । हमारे मन-मुकुर को एक मन-मोहन ने मन में बसा कर तोड़ दिया है । अब मन-मुकुर के जितने टुकड़े होंगे, उनमें उतने ही मन-मोहन आकर बसेंगे तो हमारी क्या दशा होगी ?

आए हौ सिखावन कौं जोग मथुरा तैं तौपै, ऊधौ ये वियोग के वचन बतरावौ ना ।
कहे 'रतनाकर' दया करि दरस दीन्यौ, दुख दरिबै कौं तौपै अधिक बढ़ावौ ना ।
टूक-टूक ह्वै है मन-मुकुर हमारौ हाय, चुकि हूं कठोर बैन पाहन चलावौ ना ।
एक मन-मोहन तौ बसि कै उजार्यौ मोहिं, हिय मैं अनेक मन-मोहन बसावौ ना ।

उद्धवशतक, पद-४०

गोपिकाओं की वचन चातुरी श्लाघ्य है । ज्ञान शुष्क हैं एवं भक्ति रसपूर्ण है । परमात्मा श्रीकृष्ण रस-रूप हैं और भक्ति में वे पूर्णतः रसेश्वर के रूप में विद्यमान रहते हैं । आचार्यों ने भक्ति को स्वतंत्र रस मानकर इस संबंध में पर्याप्त विचार किया है । दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य ये सभी भक्ति के स्थायी भाव हैं एवं स्वतंत्र रूप से रसरूप में परिणत होते हैं । अंतिम माधुर्यभाव को उज्ज्वल भाव कहा गया है क्योंकि परमात्मा श्रीकृष्ण का सगुण रूप परमोज्ज्वल है ।

निम्बार्काचार्यकृत 'वेदान्तपारिजात' की 'सिद्धान्तरत्नांजलि' टीका में प्रेमभक्ति पांच भावों से पूर्ण बताई गई हैं । वे हैं-शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं उज्ज्वल । यह उज्ज्वल ही माधुर्य भाव है । ये पाँचों रस रूप में परिणत होते हैं । 'सिद्धांत-रत्नांजलि' में इसका पूर्ण परिचय दिया गया है । इस संबंध में आचार्य रूप गोस्वामी रचित ग्रंथ **'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु'** दर्शनीय है । यह संस्कृत का एकमेव उत्तमोत्तम भक्ति-लक्षण ग्रंथ है । डॉ. नगेन्द्र की इस पर हिन्दी व्याख्या एवं भाष्य प्रकाशित हो चुके हैं । हिन्दी में इस प्रकार का कोई स्वतंत्र ग्रंथ है, ऐसा हमारे ध्यान में नहीं आया ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोपिकाएं उद्धव से कहती हैं कि जब हमने कुल की लज्जा एवं मर्यादा के बंधन को ही तोड़ दिया हैं फिर हम नियम, व्रत और संयम के पिंजरे में क्यों बंद होने चलीं ? श्वास रोक कर योग रूपी समुद्र में क्यों डूबने चलीं ? हमारे सामने तो सगुण भक्ति का सीधा मार्ग है । हमने जब मोहनलाल पर मन रूपी माणिक्य निछावर कर दिया है तब मुक्ति रूपी मोती का मूल्य ही हमारे सामने क्या है अर्थात् मुक्ति तो हमारे सामने तुच्छ है—

नेम व्रत संजम के पींजरें परे को जब, लाज-कुल-कानि प्रतिबंधहिं निवारि चुकीं ।
कौन गुन-गौरव कौ लंगर लगावै जब, सुधि-बुधि ही का भार टेक करि टारि चुकीं ।।
जोग 'रतनाकर' मैं सांस घूंटी बूड़ै कौन, ऊधौ हम सूधौ यह बानक बिचारि चुकीं ।
मुक्ति-मुकता को मोल माल ही कहा है जब, मोहनलला पै मन-मानिक ही वारि चुकीं ॥

उद्धवशतक, पद-४२

'योग' रतनाकर (समुद्र) है, श्वास रोक कर प्राणायाम करना समुद्र में गोता लगाना है एवं गोता लगाकर मुक्ति रूपी मोती प्राप्त करना है। इस तरह के सांग रूपक द्वारा कवि ने अपने प्रतिपाद्य को और भी अधिक स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक बना दिया है । इन पंक्तियों में काव्य एवं दर्शन का समन्वय प्रशस्य है। मोती की अपेक्षा माणिक्य श्रेष्ठ एवं बहुमूल्य होता है । इस तरह कवि ने अपनी बहुज्ञता का परिचय दिया है । 'रत्नाकर' में भी श्लेष है । कवि का नाम भी 'रत्नाकर' है एवं समुद्र यहां 'रत्नाकर' का दूसरा अर्थ है ।

निर्गुण अरूप है, अलख है । वह रूप रंग और अंगरहित है । इस प्रकार वह अनंग हुआ । गोपिकाएँ कहती हैं कि उद्धव तुम्हारा ब्रह्म अनंग है तो हम उसकी आराधना नहीं करना चाहतीं, क्योंकि एक अनंग (कामदेव) से ही हमारे बुरे हाल हो गए हैं तो दूसरे अनंग से तो हमारी और भी गत बिगड़ जाएगी । एक अनंग ही हमें विरहानल में इतना जला रहा है तो दूसरे अनंग की हम क्यों कर आराधना करेंगी । गोपिकाओं ने यहां बड़े ही वाक्चातुर्य से निराकार का उपहास किया है—

रंग-रूप रहित लखात सबही हैं हमैं, वैसो एक और ध्याइ धीर धरिहैं कहा ।
कहै 'रतनाकर' जरी हैं बिरहानल मैं, और अब जोति कौं जगाइ जरिहैं कहा ॥
राखौ धरि ऊधौ उतै अलख अरूप ब्रह्म, तासौं काज कठिन हमारे सरिहैं कहा ।
एक ही अनंग साधि साध सब पूरीं अब, और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा ।।

उद्धवशतक, पद-४५

गोपिकाएं निर्गुण ब्रह्म का उपहास करती हुई कहती हैं कि वह बिना हाथों के हमारी गाय कैसे दुहेगा ? बिना पैरों के थिरक-थिरक नाच कर हमें कैसे रिझायेगा ? वह बिना मुख के माखन कैसे चखेगा ? बाँसुरी कैसे बजाएगा ? गायों को कैसे बुलाएगा ? बिना आँख और कान के वह भोले व्रजवासियों की विपत्तियों को कैसे दूर करेगा ? ऐसा कहकर गोपियाँ उद्धव को स्पष्ट सुना देती हैं कि उद्धव तुम्हारा अलख अरूप ब्रह्म हमारे किस काम आएगा ?-

कर-बिनु कैसैं गाय दुहिहै हमारी वह, पद बिनु कैसैं नाचि थिरकि रिझाइहै ।
कहै 'रतनाकर' बदन-बिनु कैसें चाखि, माखन बजाइ बेनु गोधन-गवाइहै ।
देखि सुनि कैसें दृग स्त्रवन बिनाहीं हाय, भोरे ब्रजवासिनि की बिपति बराइहै ।
रावरो अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म, ऊधौ कहौ कौन धौं हमारैं काम आइहै ।

उद्धवशतक, पद-४६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोपिकाओं ने योगियों से भी वियोग-भोगियों को श्रेष्ठ बताया है । दोनों की तुलना करती हुई वे कहती हैं कि योगी तो केवल वस्त्र रंगाते हैं पर बियोगी अपना मन भी रंगते हैं । योगी भस्म लगाते हैं तो वियोगी स्वयं ही भस्मीभूत हुए होते हैं । योगी प्राणायाम में श्वास रोकते-छोड़ते (कुंभक-रेचक) बहुत दिन व्यर्थ व्यतीत करते रहते हैं तो वियोगी की प्रत्येक श्वास एक नया जन्म होती है । योगी जग से मुक्त होकर विरक्त होकर मुक्ति की कामना करता है पर वियोगी के लिए मुक्ति और भुक्ति दोनों ही विष के समान होते हैं । इस प्रकार वियोगी किसी भी स्थिति में योगी से कम नहीं है—

वे तौ बस बसन रंगावै मन रंगत ये, भसम रमावैं वे ये आपु हीं भसम हैं ।
सांस-सांस माहिं बहु बासर वितावत वे, इनकैं प्रतेक साँस जात ज्यौं जनम है ॥
ह्वै कै जग-मुक्ति सौं बिरक्त मुक्ति चाहत वे, जानत ये भुक्ति-मुक्ति दोऊ बिस-सम हैं ।
करिकै विचार ऊधौ सूधौ मन माहिं लखौ, जोगी सौं वियोग-भोग भोगी कहा कम हैं ॥

उद्धवशतक, पद-४७

गोपिकाएं आवेश में आकर उद्धव से कहती हैं कि हम तो दुःख-सुख से निवृत्त हो चुकी हैं । योग और समाधि हमारे लिए कोई महत्त्व की वस्तु नहीं हैं । हमने न यमराज का कुछ जमा किया है और न इन्द्र की संपत्ति हम चाहती हैं । हम कोई ब्रह्म के बाबा की चेरी नहीं हैं । हम तुमसे एक ही बात कहती हैं कि हम तो केवल कृष्ण की 'कमेरी' (दासी) हैं—

जोग को रमावै औ' समाधि को जगावै इहां, दुख-सुख साधनि सौं निपट निबेरी हैं ।
कहैं "रतनाकर' न जानैं क्यौं इतै धौं आइ, सांसनि की सासना की बासना बखेरी हैं ॥
हम यमराज की धरावतिं जमा न कछू, सुरपति-संपति की चाहतिं न ढेरी हैं ॥
चेरी हैं न ऊधो ! काहू ब्रह्म के बबा की हम, सूधौ कहे देतिं एक कान्ह की कमेरी हैं ॥

उद्धवशतक, पद-४८

गोपिकाएं उद्धव से कहती हैं कि हमें न स्वर्ग की अपेक्षा है, न मोक्ष की । भोग और मोक्ष दोनों से हम विरक्त हो चुकी हैं । उद्धव ! तुम्हारा योग भी हमें रोग लगता है । हम तो कृष्ण की एक ही मुसकान में लोक और परलोक दोनों का आनंद प्राप्त कर लेती हैं । इसीलिए तो यह वियोग का दुःख भी हमारे लिए ऐसा कुछ अनिर्वचनीय सुख है, जिसको पाकर ब्रह्म के सुख में भी हम दुःख मानती हैं—

सरग न चाहैं अपवरग न चाहैं सुनो, भुक्ति-मुक्ति दोऊ सौं विरक्ति उर आनैं हम ।
कहै 'रतनाकर' तिहारे जोग रोग मांहि, तन-मन सांसनि की सांसति प्रमानैं हम ॥
एक व्रजचंद कृपा-मंद-मुसकानि हीं मैं, लोक-परलोक को आनंद जिय जानैं हम ।
जाके या वियोग-दुख हू सुख मैं ऐसौ कछू, जाहि पाइ ब्रह्म-सुख हू मैं दुख मानैं हम ॥

उद्धवशतक, पद-४९

उद्धव ने गोपिकाओं को आचार्य शंकर के ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' सिद्धांत को प्रस्तुत करते हुए कहा कि जगत् स्वप्नवत् है । गोपिकाओं ने इसके उत्तर में उद्धव से कहा-'उद्धव ! तुम्हें जगत् स्वप्नवत् दिखाई दे रहा है । लगता है कि तुम स्वयं सो रहे हो और जो सोया हुआ है, उसकी बात को कौन सुनेगा ? वह तो स्वप्न में स्वयं ही कहता और स्वयं ही सुनता है । जैसे सोते समय स्वप्न देखता हुआ व्यक्ति स्वयं को जाग्रत समझता है वैसे ही तुम अपने आपको सुखी, ज्ञानी समझ बैठे हो । तुम क्या ब्रह्म को जानो, जोग को जानो । तुम तो व्यर्थ बहक कर बकवाद कर रहे हो'—

जग सपना सौ सब परत दिखाई तुम्हैं, तातै तुम ऊधौ हमैं सोवत लखात हौ ।
कहै 'रतनाकर' सुनै को बात सोवत की, जोई मुंह आवत सो विवस बयात हौ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोवत मैं जागत लखत अपने कौं जिमि, त्यौं हीं तुम आपहीं सुज्ञानी समुझात हौ ।
जोग-जोग कबहूं न जानैं कहा जोहि जकौ, ब्रह्म-ब्रह्म कबहूं बहकि बररात हौ ॥

उद्धवशतक, पद-५०

यह छन्द 'रत्नाकर' का मौलिक एवं रोचक है। गोपिकाओं का यह उत्तर उद्धव को निरुत्तर करने के लिए पर्याप्त है। जो स्वप्न देख रहा हो, उससे क्या बात की जाए? जाग्रत हो, उससे बात की जा सकती है। ऐसा कहकर गोपिकाओं ने स्वयं को जाग्रत और उद्धव को सोया हुआ बताया है। तात्पर्य यह है कि भक्ति जाग्रत अवस्था है और ज्ञान सुषुप्तावस्था है। कथन में विरोध होने पर भी यहाँ विरोध नहीं है, क्योंकि जागना और सोना हृदय एवं मन की क्रियाएँ हैं। गोपिकाएँ परमात्मा में स्वयं को लीन करके अपने अस्तित्व को, अपनी स्वतंत्र सत्ता को मिटाना नहीं चाहतीं। उनके लिए ज्ञान की बातें बकवास हैं? इसलिए वे उद्धव से तर्क करके कुतर्क में उलझना नहीं चाहतीं। उन्हें आशा है कि श्यामसुन्दर किसी न किसी जन्म में तो मिलेंगे ही। इसलिए वे प्राणायाम द्वारा श्वांस को खोना व्यर्थ समझती हैं एवं ज्ञान की ज्योति ज्वाला में गिरना नहीं चाहतीं। उन्हें तो अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक श्रीकृष्ण को ही पाना है। यदि वे योग को अपना लेंगीं और उद्धव के कथनानुसार मोक्ष मिल जाएगा तो पुनः जन्म नहीं होगा और फिर कभी कृष्ण की उपलब्धि नहीं होगी। गोपिकाओं के लिए यह बड़ा अनर्थ हो जाएगा—

उधौ यह ज्ञान कौ बखान सब बाद हमैं, सूधौ बाद छाड़ि बकवादहिं बढ़ावै कौन ।
कहै 'रतनाकर' बिलाय ब्रह्म काय माहिं, आपने सौं आपुनौ आपुनौ नसावै कौन ॥
काहू तौ जनम मैं मिलैंगी स्याम सुन्दर कौं, याहू आस प्रानायाम-साँस मैं उड़ावै कौन ।
परि कै तिहारी ज्योति-ज्वाल की जगाजग मैं, फेरि जग जाइबे की जुगती जरावै कौन ॥

उद्धवशतक, पद-५१

गोपिकाओं ने ब्रह्म ज्योति को सूर्य की तीव्र जलानेवाली किरणें कहा है और कृष्ण के मुख को चन्द्र कहा है। जिनकी किरणें वे चकोरियाँ बन कर पी रहीं हैं। इसी कारण तो वियोग की चिनगारियों का वे भक्षण कर पा रही हैं—

वाही मुख मंजुल की चहतिं मरीचैं सदा, हमकौं तिहारी ब्रह्म-ज्योति करिबौ कहा ।
कहै 'रतनाकर' सुधाकर उपासिनि कौं, भानु की प्रभानि कैं जुहारि जरिबौ कहा ॥
भोगी रहीं बिरचे बिरंचि के संयोग सबै, ताके सोग सारन कौं जोग चरिबौ कहा ।
जब ब्रजचंद कौ चकोर चित चारु भयौ, बिरह-चिंगारिनि सौं फेरि डरिबौ कहा ॥

उद्धवशतक, पद-५२

गोपिकाओं ने श्रीकृष्ण के प्रेम को गंभीर रत्नाकर एवं स्वयं को उसमें सुखपूर्वक विचरने वाली मछलियाँ कहा है। भवसागर को उन्होंने गोपद की भाँति तुच्छ कहा है। प्राणायाम करना और बारम्बार स्वास रोकना, वे मृत्यु के सदृश मानती हैं। स्वास रोकना तो बिना मृत्यु के ही मानों मरना है। वे कहती हैं कि जग में योगी-भोगी-वियोगी कोई भी नहीं रहेगा। न सुख के दिन रहेंगे न दुःख के। प्रेम के नियम को छोड़कर हे उद्धव, तुम हमें ज्ञान की बातें सिखा रहे हो, पर यहाँ दीवारें ही नहीं रहेंगी तो छत कैसे टिकेगी। कृष्ण की कृपा हुई तो यहां केवल हमारी प्रेम की बातें रह जाएँगी। गोपिकाओं ने इस छन्द में संसार के शाश्वत सत्य का उद्घाटन किया है। संसार में सब-कुछ नश्वर है तो फिर प्रेम को ही क्यों न अपनाया जाए? क्योंकि उससे संसार में अपनी बातें तो रह जाएंगी। कहावत के रूप में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी अज्ञात कवि की ये पंक्तियाँ यहाँ तुलनीय हैं—'रह जात वासना, बिलाय जात फूल' फूल मुरझा जाता है, मिट्टी में मिल जाता है, पर उसकी महक रह जाती है। मानव चला जाता है, पर उसके सत्कर्मों की यश-सुगंध सदैव वातावरण को मदगंधी बनाए रखती है।

गोपिकाएं कहती हैं कि जो हृदय वियोग के कारण भी विदीर्ण नहीं हुआ, उस कठोर कलेजे पर तुम्हारे योग के 'जन्त्र-मंत्र' कैसे उत्कीर्ण होंगे। हम विरहानल में जलने को प्रस्तुत हैं पर हमें तुम्हारे ब्रह्म की ज्योति नहीं जंची। चकोरियाँ ब्रजचंद्र की प्रभा में ही चहकेंगी, नाचेंगी पर ज्ञान की प्रभा में वे स्तब्ध हो जाएंगी अर्थात् उनमें जड़त्व आ जाएगा। हमने तो अपने हृदय को श्याम रंग में भिगो दिया है इसलिए अब हम योगी का भेष नहीं बनाएँगी—

कठिन करेजौ जो न करक्यौ वियोग होत, तापर तिहारौ जंत्र-मंत्र खंचिहै नहीं।
कहै 'रतनाकर' बरी हैं विरहानल मैं, ब्रह्म की हमारैं जिय जोति जंचि है नहीं॥
ऊधौ ज्ञान-भान की प्रभाति ब्रजचंद बिना, चहकि चकोर चित चोपि नचिहै नहीं।
स्याम-रंग-रांचे हिय हम ग्वारिनि कैं, जोग कीं भगौंहीं भेष-रेख रंचिहै नहीं॥ उद्धवशतक, ५५

हमने अपने मनमंदिर में सुकुमार नंदकुमार को वसाया है। पुलकावलि और वरौनियों को हमने खस कीं टट्टी बनाकर नेत्रों के नीर से उसे शीतल कर रखा है। जिससे कि विरहानल की लपटें मनमंदिर में विराजमान कृष्ण तक न पहुंचे। उस मन-मंदिर को तपाने के लिए क्या आपके कहने से हम भीतर ब्रह्मकी ज्योति जलाएं? ऐसा करना तो सुकुमार कृष्ण के प्रति विश्वासघात होगा। इस प्रकार की मौलिक उद्भावना 'रत्नाकर' के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है—

नैननि के नीर औ उसीर सौं पुलकावलि, जाहि करि सीरौ सीरी बातहिं बिलासैं हम।
कहै 'रतनाकर' तपाई विरहातप की, आवन न देतिं जामैं विषम उसासैं हम॥
सोई मन-मंदिर तपोवन के काज आज, रावरे कहे तैं ब्रह्म-जोति लै प्रकासैं हम।
नन्द के कुमार सुकुमार कौं बसाइ यामैं, ऊधौ अब आइ कै बिसास उदबासैं हम॥

उद्धवशतक, पद-५६

जिस अंतःकरण में कृष्ण बिराजमान हैं, उसमें निर्गुण ब्रह्म को बिठाना अनुचित भी है एवं विश्वास-घात भी है। यहां निर्गुण की अपेक्षा सगुण श्रेष्ठ है, ऐसा स्पष्ट प्रतिपादित किया गया है। गोपिकाएं कहती हैं कि श्याम की अभिराम चमक ने हमारे चित्त को चमत्कृत कर रखा है, आह्लादित कर रखा है। वहां हम ब्रह्म की ज्योति जलाकर क्या करेंगी? विरह में हम स्वयं मृगछाला बन गई हैं तो फिर दूसरी मृगछाला हम कैसे धारण कर सकेंगी? उद्धव, तुम हमारे सिर व्यर्थ क्यों मुक्ति की माला मंढ रहे हो? कृष्ण के अतिरिक्त हम किसी का भी मन मोहित करने की इच्छुक नहीं हैं। गोपिकाओं का यहां कृष्ण के लिए एकांगी प्रेम प्रकट हुआ है—

ऊधौ मुक्तिमाल बृथा मढ़त हमारे गरें, कान्ह बिना तासौं कहौ काकौ मन मोहैंगी। उ.श., प. ५७

'उद्धवशतक' में प्रेम एवं वेदान्त दोनों के भाव-विचार निरूपित हुए हैं। प्रथम उद्धव गोपिकाओं को ज्ञान का उपदेश देते हैं। इसके पश्चात् गोपिकाएँ ज्ञान, योग, निर्गुण ब्रह्म इत्यादि की अपेक्षा सगुण साकार परब्रह्म लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं ऐसा सिद्ध करती हैं। 'उद्धवशतक' में 'रत्नाकर' ने अपनी मौलिक कल्पना शक्ति के आधार पर बड़ी ही स्वाभाविक शैली में निर्गुण की अपेक्षा सगुण की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। विविध उपमानों द्वारा कवि ने अपनी एक ही बात विविध रूपों में प्रस्तुत की है। गोपिकाएँ कहती हैं-'हे उद्धव! तुम अपने ज्ञान-भानु का प्रकाश गिरिश्रृंगों पर करो। गिरिश्रृंग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से तात्पर्य है, बड़े-बड़े महानुभाव ऋषि-तपस्वी। व्रज में तुम्हारी कला का कोई स्थान नहीं। तुम कुछ भी करो हमारे प्रेम का वृक्ष कभी नहीं सूखेगा और न इसकी शाखाएँ-पत्ते कभा कम होंगे। हमारी जिह्वाएँ चातकी बन गई हैं। वे 'पी-पी' पुकारा ही करेंगी और हमारे 'हिये' से घनश्याम कभी हटेंगे नहीं'-

कीजै ज्ञान भानु कौ प्रकास गिरि-सृंगनि पै, ब्रज मैं तिहारी कला नैंकु खटिहैं नहीं।
कहै 'रतनाकर' न प्रेम-तरु पैहै सूखि, याकी डार-पात तृन-तूल घटिहैं नहीं॥
रसना हमारी चारु चातकी बनी है ऊधौ, पी-पी की बिहाइ और रट रटिहैं नहीं।
लौटि-पौटि बात कौ बवंडर बनावत क्यौं, हिय तैं हमारे घनस्याम हटिहैं नहीं॥

उद्धवशतक, पद-५८

दर्शन की दृष्टि से ही नहीं, अपितु काव्यकला की दृष्टि से भी यह छन्द महत्त्वपूर्ण है। घनश्याम में श्लेष है। चातकी के पक्ष में बादल एवं गोपिकाओं के पक्ष में श्रीकृष्ण, यों घनश्याम शब्द श्लिष्ट है।

यदि कृष्ण मिल सकें तो गोपिकाएँ उद्धव की हर बात को मानने के लिए प्रस्तुत हैं। नियम, व्रत, संयम, अखंड-आसन, प्राणायाम सब कुछ करने को वे प्रस्तुत हैं। वे अपने शरीर पर धूलि मलने को भी तैयार हैं। उद्धव का हृदय भी हिल जाए, ऐसा वे पंचाग्नि तप करने को प्रस्तुत हैं, पर शर्त यह कि इतना करने पर भी क्या कृष्ण मिल सकेंगे?--

नेम व्रत संजम कै आसन अखण्ड लाइ, सांसनि लौं घूंटि हैं जहां लौं गिलि जाइगौ।
कहै 'रतनाकर' धरैंगी मृगछाला अरु, धूरि हू धरैंगी जऊ अंग छिलि जाइगौ॥
पांच आंचि हू की झार झेलिहैं निहारि जाहि, रावरौ हूं कठिन करेजौ हिलि जाइगौ।
सहिहैं तिहारे कहैं सांसति सबै पै बस, एती कहि देहु कै कन्हैया मिलि जाइगौ॥ उद्धवशतक-६१

योग के कठिन से कठिन साधन हम करने को प्रस्तुत हैं पर क्या उसके फलस्वरूप हमें ब्रह्म प्राप्त होगा? यदि ब्रह्म प्राप्ति से नन्दलाल मिल जाएँ तो हे उद्धव! हम तुम्हारी बात मानने को तैयार हैं—

ब्रह्म मिलिबै तै कहा मिलिबै बतावौ हमैं।
ताकौ फल जब लौं मिलै ना नन्दलाल हू। उद्धवशतक, पद-६२

गोपिकाएं कहती हैं कि हम समाधि में बैठेंगी। तुम्हारे ब्रह्म की आराधना करेंगी और इस प्रकार करती हुई हम सभी प्रकार के कष्ट सहन करेंगी। हम अपने प्राणपट-पर मन-मोहन का चित्र बनाकर ब्रह्म के साथ उसे मिलाएंगी। यदि वह हू-ब-हू मनमोहन से मिल गया तो हम दौड़कर मिलेंगी, नहीं तो हम ब्रह्म के पास से भागकर व्रज में पुनः लौट आएँगी—

जैहैं प्रान पट लै सरूप मनमोहन कौ, तातैं ब्रह्म रावरे अनूप कौं मिलिहैं हम।
जौंपै मिल्यौ तौ तौ धाइ चाय सौं मिलैंगी पर, जौ न मिल्यौ तौ पुनि इहां ही लौटि ऐहैं हम।

उद्धवशतक, पद-६३

उद्धव ने गोपिकाओं को ज्ञान का उपदेश दिया। इसके उत्तर में गोपिकाएँ उनसे कहती हैं कि उद्धव! एकबार हमारी आँखों से कान्ह को देख लेते तो फिर कभी तुम्हें ब्रह्मज्ञान की बातें नहीं सूझतीं। तात्पर्य यह कि ब्रह्मज्ञान की अपेक्षा कृष्ण का प्रेम अनंतगुना महान् है। काश, उद्धव उसे पा सकते पर उसे पाने के लिए गोपिकाओं की प्रेम भरी आँखों से उसे देखना पड़ेगा--

ऊधौ ब्रह्म-ज्ञान कौ बखान करते न नैंकु, देख लेते कान्ह जौ हमारी अंखियानि तैं। उ.श प. ६५

हे उद्धव! तुम बड़े चाव से योग की चर्चा तो चला रहे हो, पर हमारा अन्तःकरण कृष्ण-प्रेम के प्रवाहों से परिपूर्ण है, जिसे कोई बड़े से बड़ा अगस्त्य भी सुखा नहीं सकता--

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह वह सिन्धु नाहिं सोखि जो अगस्त्य लियौ,
ऊधौ यह गोपिनि के प्रेम को प्रवाह है । उद्धवशतक, पद–६६

गोपिकाओं ने उद्धव पर यह दोषारोपण भी किया है कि वह योग के कठिन कुठार से और विषम वात से हमारी प्रेम नौका को डुबाना चाहते हैं । मथुरा से उद्धव उन्हें कृष्ण से सदा के लिए अलग करने के लिए ही आए हैं––

सोऊ तुम आइ बात विषम चलाइ हाय, काटन चहत जोग–कठिन कुठार तैं । उद्धवशतक, पद–६८

गोपिकाएं कृष्ण पर भी दोषारोपण करती हैं और व्यंग करती हुई कहती हैं कि कुब्जा का योग पाकर कृष्ण योगी हो गए हैं और आप उन्हीं योगी के गुरु हैं या फिर उनके चेले हैं––

वे तौ भए जोगी जाइ पाइ कूबरी कौ जोग, आप कहैं उनके गुरु हैं, किधौं चेला हैं ?
उद्धवशतक, पद–७०

गोपिकाएं उद्धव पर झूठ बोलने का दोषारोपण करती हैं । वे कहती हैं कि तुम सुन्दर–सलौने श्यामसुन्दर के दूत बनकर आए हो, पर यह उनका संदेश नहीं है । तुम्हें अपने ज्ञान का अभिमान है और तुम भोले–भाले लोगों को ठगते फिरते हो । कृष्ण के दूत बनकर रसिक शिरोमणि कृष्ण को व्यर्थ ही बदनाम कर रहे हो । हमें ते‍ा लगता है कि तुम्हें क्रूर कूबड़ी ने भेजा है––

सुघर सलोने स्यामसुन्दर सुजान कान्ह, करुना–निधान के बसीठ बनि आए हौ ।
प्रेम–प्रनधारी गिरधारी के‍ा सनेसौ नाहिं, होत है अदेश झूठ बोलत बनाए हौ ॥
ज्ञान–गुन–गौरव–गुमान–भरे फूले फिरौ, बंचक के काज पै न रंचक बराए हौ ।
रसिक–सिरौमनि कौ नाम बदनाम करौ, मेरी जान ऊधौ क्रूर कूबरी पठाए हौ ॥ उद्धवशतक, पद–७४

गोपिकाओं ने योग के‍ा वात्याचक्र (बवंडर) कहा है । उद्धव की योग की बातें बवंड़र हैं । उनसे वियोग की अग्नि कभी शांत नहीं होने वाली हैं, अपितु और भी अधिक भड़कने वाली हैं । उद्धव की बातें सुनकर गोपिकाएं स्पष्ट रूप से उन्हें उपालंभित करती हुई कहती हैं कि हे उद्धव ! तुम कुब्जा के पक्ष के हो । तुमके‍ा कंस ने ही हमारे पास भेजा है । पहले अक्रूर आए जिन्होंने हमारे तन से कृष्ण को अलग कर दिया, और अब तुम हमारे मन से भी कृष्ण के‍ा दूर कर देने का प्रपंच कर रहे हो––

आए कंसराइ के पठाए प्रतच्छ तुम, लागत अलच्छ कुबजा के पच्छवार हौ ।
कहै 'रतनाकर' वियोग लाइ–लाई उन, तुम जोग बात के बवंड़र पसारे हो ॥
कोऊ अबलानि पै न ढरकि, ढरारे होत, मधुपुरवारे सब एकै ढार ढारे हौ ।
ले गए अक्रूर क्रूर तन तैं छुड़ाइ हाय, ऊधौ तुम मन तैं छुड़ावन पधारे हौ ॥
उद्धवशतक, पद–७७

गोपिकाओं ने प्रेम और योग दोनों के‍ा एक दूसरे का विरोधी कहा हैं । जन्म–कुण्डली में छठे एवं आठवें स्थान के ग्रह एक दूसरे के विरोधी होते हैं, वैसे ही प्रेम और योग भी एक दूसरे के विरोधी हैं, एक दूसरे के शत्रु हैं । प्रेम हीरे की भाँति मूल्यवान है ते‍ा योग काँच की तरह कौड़ियों में भी मिल सकता है । गोपियों के‍ा तीन गुण, पाँच तत्त्व इत्यादि योग विषयक उद्धव की बातें तीन पाँच लगती हैं । वे उद्धव से कहना चाहती हैं कि वे अपनीं 'तीन–पाँच' बंद करें, क्योंकि हीरा और कांच दोनों साथ नहीं रह सकते–

प्रेम अरु जोग मैं है जोग छटैं–अठैं पर्यौ, एक ह्वै रहैं क्यों दोऊ हीरा अरु कांच ह्वै ।
तीन गुन पांच तत्त्व बहकि बतावत सो, जैहै तीन–तेरह तिहारी तीन–पाँच ह्वै ॥

उद्धवशतक, पद–७८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्धव ने जो योग और ज्ञान की बातें गोपिकाओं से कहीं। गोपिकाएँ ऐसा मानती हैं कि वे वास्तव में योग की बातें नहीं हैं अपितु उद्धव की मनगढन्त बातें हैं। उद्धव कृष्ण से उनको अलग करना चाहते हैं, पर उद्धव जितना कृष्ण को दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं कृष्ण उनके मन में उतने ही गहरे धंसते चले जा रहे हैं--

चाहत निकारत तिन्हैंजो उर-अन्तर तै, ताकौ जोग नाहिं जोग मन्तर तिहारे मैं।
कहै 'रतनाकर' बिलग करिबे मैं होति, नीति बिपरीत महा कहति पुकारे मैं॥
तातै तिन्हैं ल्याइ लाइ हिय तै हमारे बेगि, सोचियै उपाय फेरि चित्त चेतवारे मैं।
ज्यौं-ज्यौं बसे जाव दूरि-दूरि प्रिय प्रान मूरि, त्यौं-त्यौं धंसे जात मन मुकुर हमारे मैं॥

उद्धवशतक, पद-८०

उद्धव ज्ञान का उपदेश देने व्रज में आए हैं पर गोपिकाएं ऐसा मानती हैं कि अक्रूर हमसे मूल धन ले गए और उद्धव आज प्राण रूपी व्याज उगाहने आए हैं। कृष्ण सुख के मूलधन हैं और हमारे प्राण ही व्याज हैं। कवि की यह कल्पना कितनी सहज एवं भव्य है--

लै गयौ अक्रूर क्रूर तब सुख-मूर कान्ह, आए तुम आज प्रान-व्याज उगहन कौं।

उद्धवशतक, पद-८२

ब्रह्मज्ञान की बातें, कहीं बरसाने तक न पहुंच जाएँ। राधा ने कहीं इनका कुछ अंश 'आधे-कान' भी सुन लिया तो अनर्थ हो जाएगा। गोपिकाएं इस तरह कह कर उद्धव को सावधान कर देती हैं कि अब तुम आगे बोलना बंद करो, नहीं तो तुम्हारा 'ब्रह्मद्रव' कहीं 'उपद्रव' न खड़ा कर दे--

कहै 'रतनाकर' त्रिलोक-ओक मंडल मैं, बेगि ब्रहमद्रव उपद्रव मचावै ना।

× × ×

फैले बरसाने मैं न रावरी कहानी यह, बानी कहूं राधे आधे कान सुनि पावै ना।

ऊद्धवशतक, पद-८४

गोपिकाएँ उद्धव के ब्रह्मज्ञान की बड़ी हंसी उड़ाती हैं। वे ज्ञानी उद्धव को निरा फिसड्डी और अव्यावहारिक मानती हैं। वे उद्धव से कहती हैं कि उद्धव दीपावली आ रही है। इन्द्र ने गत वर्ष जैसी कहीं कृपा कर दी तब पता चल जाएगा कि ब्रह्म और ब्रह्मज्ञान क्या है। यदि कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को धारण करके व्रज को नहीं बचा लिया तो हमारी विरह व्यथा के साथ-साथ तुम्हारा ब्रह्मज्ञान भी पूरी तरह से बह जाएगा-

आतुर न होहु ऊधौ आवति दिवारी अबै, वैसियै पुरंदर-कृपा लौ लहि जाइगी।
होत नर ब्रह्म-ब्रह्म-ज्ञान सौं बतावत जो, कछु इहिं नीति की प्रतीति गहि जाइगी॥
गिरिवर धारि जौ उबारि ब्रज लीन्यौ बलि, तौ तौ भांति काहूं यह बात रहि जाइगी।
नातरु हमारी भारी विरह बलाय-संग, सारी ब्रह्म-ज्ञानता तिहारी बहि जाइगी॥

उद्धवशतक, पद-८५

गोपिकाएं कहती हैं कि उद्धव मन-मोहन के समझाने पर भी तुम नहीं समझे तो हमारे समझाने का तुम पर क्या प्रभाव हो सकता है। जैसे मकड़ी अपने ऊपर स्वयंजाला तान लेती है वैसे ही तुम भी ज्ञान का काल्पनिक ताना-बाना बुनते रहो। तुम किसी के प्रेमाश्रुओं से भीगे नहीं हो तो फिर तुम जैसों का 'प्रेमसागर' में तैरना तो महा दुष्कर है। ब्रह्म को तुम नहीं जानते हो, इसीलिए तुम उसे अदृष्ट कहते हो, ऐसी स्थिति में प्रेम जो प्रत्यक्ष है, उसे तुम कैसे जान सकते हो--

माने जब नैंकु ना मनाऐं मनमोहन के, तो पै मन मोहिंनि मनाए कहा मान तुमौ।
कहै 'रतनाकर' मलीन मकरी लौं नित, आपुहीं आल अपने हीं पर तानौ तुम॥

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबहूं परे न नैन-नीर हूं के फेर माहिं, पैरिबौ सनेह-सिन्धु मांहि कहा ठानौ तुम ।
जानत न ब्रह्म हूं प्रमानत अलच्छ ताहि, तोपै भला प्रेम कौं प्रतच्छ कहा जानौ तुम ।।

उद्धवशतक, पद-९३

गोपिकाएं ज्ञान योग कुछ नहीं चाहतीं । वे तो केवल जैसी भी हैं उस रूप में केवल कृष्ण की ही परिचारिकाएँ हैं । ज्ञान-योग का उपदेश देने आए उद्धव से वे कहती हैं--

ऊधौ यहै सूधौ सौ संदेस कहि दीजौ एक, जानति अनेक न बिबेक ब्रज-बारी हैं ।
× × ×
भली हैं बुरी हैं औ सलज्ज निरलज्ज हु हैं, जो कहै सो हैं ॰ परिचारिका तिहारी हैं ।

उद्धवशतक, पद-९६

इस प्रकार गोपिकाओं के प्रेम भरे वचन को सुनकर उद्धव का ज्ञानतम विनष्ट हो गया । उन्हें प्रेम मूला सगुण-भक्ति की महानता का भास हुआ । वे योग को भूल गए और फिर बड़े ही संकोच के साथ उन्होंने वहाँ से विदा ली--

दीन्यौ प्रेम-नेम-गुरुवाई गुन ऊधव कौं, हिय सौं हमेव हरुवाई बहिराइ कै ।
कहै 'रतनाकर' त्यौं कंचन बनाई काय, ज्ञान-अभिमान की तमाई बिन साइ कै ।।

उद्धवशतक, पद-१०१

उद्धव वैराग्य की तूंबी में प्रेमरस भरकर और ज्ञान की गूदड़ी में अनुराग का रत्न लेकर लौटे । प्रेममद में उनके पैर डगमगा रहे थे--

प्रेम-रस रुचिर विराग-तूमड़ी मैं पूरी ।
ज्ञान-गूदड़ी मैं अनुराग सौ रतन लै । उद्धवशतक, पद-१०५

'उद्धवशतक' काव्य का अंतिम काव्यांश भी शुद्धाद्वैत-वेदांत-दर्शन एवं काव्य का सुभग समन्वित रूप है । उद्धव ब्र : से चले तब वे प्रेम में मग्न होकर कृष्ण के समक्ष पहुंचे और कृष्ण से कहा कि हे कृष्ण ! तुमने हमें गोपिकाओं को योग एवं ज्ञान का उपदेश देने भेजा था पर हमारा तो ज्ञान का अभिमान ही नष्ट हो गया है । ज्ञान के गुमान की गठरी हमारी ब्रज में खुलकर बिखर गई है । प्रेम धूलि लेकर मैं यहां आया हूं ।

'उद्धवशतक' में जो दर्शन के विचार हैं वे भक्ति को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए ही निरूपित हुए हैं । जिस प्रकार भक्तों ने और मुख्यतः वैष्णव भक्तों ने ज्ञान, योग एवं दर्शन की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ माना है वैसे ही कई भक्त ऐसे भी हैं जो भक्ति की अपेक्षा दर्शन एवं वेदांत को अधिक महत्ता प्रदान करते हैं । परमात्मा भक्ति से ही लभ्य हैं कुछ ऐसा मानते हैं तो 'गीता' में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं: 'मुझे ज्ञानी ही प्राप्त कर सकते हैं : **'ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'**

यथार्थ यह है कि साधक के लिए भक्ति प्रारंभिक दशा है एवं अंतिम दशा निर्गुणोपासना है । यह बात लगभग बहुसंख्यक आचार्य मानते हैं और वस्तु-स्थिति भी यही है । संप्रदायों में जो भक्त आबद्ध हैं, उन्होंने संप्रदाय की मर्यादा में रहते हुए पद गाए हैं, पर जो संप्रदाय मुक्त रहे हैं वे संत एवं भक्त अंत में ज्ञानी, दार्शनिक एवं वेदान्ती हो गए हैं जैसे कबीर, मीरां, नरसी मेहता । मीरां ने अंत में अविनाशी ब्रह्म की उपासना की है एवं गुजरात के आदि वैष्णव कवि नरसी ने भी अंत में वेदान्त से ही संबद्ध पद गाए हैं ।

निष्कर्ष यह है कि योग-दर्शन की साधनापरक मुक्ति, सांख्यदर्शन की ज्ञानात्मिका निर्गुण मुक्ति की अपेक्षा शुद्धाद्वैत वेदान्त के रसरूप आधिदैविक परब्रह्म सच्चिदानंद सगुण साकार श्रीकृष्ण की परमोज्ज्वला रागानुगा, प्रेमलक्षणा भक्ति ही गोपिकाओं एवं सर्व सामान्य सांसारिकों के लिए वरेण्य है । शुष्क निर्गुण भक्ति गोपिकाओं के लिए अव्यावहारिक एवं अग्राह्य है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७. द्वारकाप्रसाद मिश्र :

जीवन : द्वारकाप्रसाद मिश्र भी जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की भांति प्राचीन शैली की काव्य-परंपरा के पोषक हैं। इनका जन्म ५ अगस्त सन् १९०१ में पडरी गाँव, जिला उन्नाव (उत्तर प्रदेश) में हुआ।[1] इनके पिता का नाम अयोध्याप्रसाद मिश्र है। मिश्रजी कान्य-कुब्ज ब्राह्मण हैं। आजकल इनका परिवार मध्यप्रदेश में रहने लगा है। मिश्रजी का सामाजिक जीवन भी मध्यप्रदेश में ही प्रारंभ हुआ। आपने बी.ए., एल्.एल्.बी., तक शिक्षा प्राप्त की। इसके पश्चात् आप मध्यप्रांत में कांग्रेस में सम्मिलित हो गए। आप एम्.एल.ए., मध्यप्रदेश के गृहमंत्री, कई वर्षों तक सागर विश्वविद्यालय के उपकुलपति इत्यादि पदों पर कार्यरत रहे हैं। आप साहित्य एवं हिन्दी पत्रकारिता में प्रारंभ से ही रुचि रखते हैं। आप भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के एक निष्ठावान् सैनिक एवं श्रद्धेय सेनानी रह चुके हैं। आपने स्वतंत्रता युद्ध-यज्ञ में भाग लेने के निमित्त कई बार जेल-यात्राएं कीं। आपने अपने जेल-जीवन में ही सन् १९४२ में 'कृष्णायन' नामक सुप्रसिद्ध महाकाव्य की रचना की।[2] यह कैसी सुभग संगति है कि कृष्ण का जन्म भी कंस के कारागार में हुआ था और कवि द्वारकाप्रसाद मिश्र को भी 'कृष्णायन' लिखने की प्रेरणा एवं 'कृष्णायन' महाकाव्य लिखने का सौभाग्य कारागार में ही मिला। इस प्रकार भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में 'कृष्णायन' का सर्जन भी एक अनुष्ठान बन गया।

'कृष्णायन' भगवान् कृष्ण के जीवन पर लिखा गया महाकाव्य है। 'रामचरितमानस' के समानान्तर मिश्रजी ने 'कृष्णायन' काव्य लिखा है। मिश्रजी ने भाषा एवं शैली दोनों दृष्टियों से तुलसीदास का अनुकरण किया है। 'कृष्णायन' की भाषा अवधी है एवं अवधी भाषा के उपयुक्त दोहा-चौपाई की शैली में ही यह काव्य लिखा गया है। श्रीगोपालसिंह 'क्षेम' ने मिश्रजी को तुलसीकाव्य-परंपरा का एक आधुनिक संस्करण कहा है।[3] 'क्षेमजी' ने लिखा है—'रामचरित के समानान्तर कृष्णचरित देकर मिश्रजी ने भारतीय चिंताधारा एवं विराट् जीवन की बहुरूपता को एक सुघट इकाई प्रदान की है।'[4] 'कृष्णायन' में कवि ने कृष्ण के जीवन द्वारा कर्म, भोग, आदर्श, व्यवहार, क्षमा, दण्ड, योग एवं क्षेम का पूर्ण व्यापक रूप प्रस्तुत किया है। हिन्दी के भक्ति एवं रीतिकालीन कवियों ने कृष्ण की मधुर व्रजलीलाओं का ही गान किया है। 'महाभारत' ने योगीराज कर्मवादी एवं राजनीतिज्ञ कृष्ण का संस्तुवन किया है। इस तरह कहीं कृष्ण परमात्मा हैं, कहीं रसिक नायक हैं, और कहीं योगी, कर्मवादी एवं कुशल राजनीतिज्ञ भी हैं। कृष्ण के इस बिखरे जीवन-वैभव को द्वारकाप्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' महाकाव्य में समेटा है। भगवान कृष्ण का जीवन इस प्रकार विविध एवं परस्पर विरोधी तत्त्वों एवं परिस्थितियों में आबद्ध रहा है। उसे समेट कर सुचारु रूप देना अत्यंत दुष्कर कार्य है। इसी कार्य को मिश्रजी ने 'कृष्णायन' में रूपायित करने का सफल प्रयास किया है। रीतिकाल में गुमानी मिश्र नामक एक कवि १८२६ में हुए। उन्होंने 'कृष्ण-चन्द्रिका' काव्य में कृष्ण के समूचे व्यक्तित्व को समेटने का प्रयत्न अवश्य किया था, पर वे सफल न हो सके। इस कार्य में द्वारकाप्रसाद मिश्र कितने सफल हुए हैं, देखिए—'उद्देश्य की महत्ता, जीवन समग्रता को समेटने की विराट् दृष्टि, राष्ट्रव्यापी महाप्राणता एवं युगयुगान्तर-परक दूरदर्शिता के कारण अब तक के सभी प्रयासों में मिश्रजी 'कृष्णायन' के प्रणयन में सफल हुए हैं।[5] 'रामचरितमानस' की भांति सात काण्डों में

---

१. हिन्दीसाहित्यकोश, भाग-२, पृ. २५२

२. हिन्दीसाहित्यकोश, पृ. २५२, भाग-२, ३. हिन्दीसाहित्यकोश, पृ. २५१, भाग-२

४. हिन्दीसाहित्यकोश, भाग-२, पृ. २५२ ५. हिन्दीसाहित्यकोश, भाग-२, पृ. २५२,

३७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभक्त 'कृष्णायन' अपने आप में आधुनिक युग का एक सफल महाकाव्य है । वर्तमान युग में व्रजभाषा में लिखने वाले ते। कई कवि हुए पर अवधी भाषा परम उपेक्षिता रही । वास्तव में व्रज के रसिक कृष्ण के। मिश्रजी ने युगानुरूप रूप देने में जो सफलता प्राप्त की है, वह परम स्तुत्य है। मिश्रजी का एक और ग्रंथ है, जिसका नाम है–'हिन्दुओं का स्वातंत्र्य–प्रेम'[1]

'कृष्णायन' का कथानक अष्टाधिक सर्गों में विभक्त न होकर 'रामचरितमानस' की तरह सात काण्डों में विभक्त है । धीरोदात्त श्रीकृष्ण इसके नायक हैं । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से धर्म की प्राप्ति इसका मुख्य उद्देश्य है । 'कृष्णायन' में मिश्रजी ने भारत की प्राचीन संस्कृति तथा नूतन युग की राष्ट्रीय चेतना के। पूर्णतया मुखरित किया है । इसका कृष्णचरित संबंधी कथानक प्रशस्त और व्यापक है । 'कृष्णायन' में जीवन के विविध अंगों के। स्पर्श करने की क्षमता है । चरित्र–योजना महाकाव्योचित गरिमा के। लिए हुए है और उसकी भाषा–शैली में भी प्रौढ़ता तथा हृदय ग्राहकता है । पंचम (गीता) काण्ड तथा सप्तम (आरोहण) काण्ड में मिश्रजी ने कृष्ण द्वारा अध्यात्म तथा वेदान्त के तत्त्वों का निरूपण करवाया है । द्वारका के। पाण्डव–राज्य के अधीन करके स्वर्गारोहण की इच्छा से श्रीकृष्ण वन के। प्रस्थान करते हैं और वन में एक व्याध के बाण से घायल हे। जाते हैं । इतने में मैत्रेय कृष्ण के पास पहुंच जाते हैं । कृष्ण मैत्रेय के। उपदेश देते हुए अपने भौतिक शरीर के। त्यागकर स्वर्गारोहण करते हैं । मिश्रजी के काव्य में वेदान्त निरूपण होने के कारण हमने इनके काव्य के। अपने अध्ययन का विषय बनाया है ।

'कृष्णायन' महाकाव्य की रचना का उद्देश्य है, श्रीकृष्ण के चरित का सर्वांगीण निरूपण करना । कृष्ण–चरित का फलक अतीव विराट् है । 'श्रीमद्भागवत', 'महापुराण, 'महाभारत', 'हरिवंशपुराण', 'गीता', 'सूर-सागर' इत्यादि में श्रीकृष्ण के चरित का विभिन्न रूपों में चित्रण मिलता है । 'कृष्णायन' में बालकृष्ण, राधिका और गोपियों के प्राणप्रिय कृष्ण एवं कर्मयोगी कृष्ण, इस प्रकार कृष्ण के इन तीनों रूपों का सविस्तार चित्रण हुआ है ।

वेदान्त : 'कृष्णायन' में कवि ने यथास्थान दार्शनिक विचारों का निरूपण किया है । भारतीय–दर्शन त्याग एवं भोग दोनों का संपोषक रहा है । जहां चार्वाक जैसे भोगवादी दार्शनिक हुए हैं, वहां पतंजलि, एवं बादरायण व्यास जैसे योगी एवं ब्रह्मज्ञ भी हुए हैं । दोनों प्रकार की विचारधाराओं का समन्वय 'कृष्णायन' में हुआ है । भारतीय चिन्ताधारा के त्यागमय भोग और भोगमय त्याग की महत्ता के। 'कृष्णायन' ग्रंथ में समुचित आलोक मिला है ।

ब्रह्म : द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कृष्ण के। ब्रह्म का अवतार माना हैं । पृथ्वी का भार हरण करने के लिए, सज्जनों के परित्राण के लिए, एवं दुष्कृतजनों के विनाश के लिए तुलसी के राम की ही भांति कृष्ण ने भी अवतार लिया है—

जबहिं म्लेच्छ भारत चढि आवहिं, संस्कृति, धर्म, सुनीति नशावहिं ।
हरिहिं पुकारति भारत माता, तव तव जनम लेत जन–त्राता । कृष्णायन, अवतरणकाण्ड, पृ. २

जब धर्म, संस्कृति और सुनीति नष्ट हे। जाती है, तब भारत माता हरि के। पुकारती है । तब श्रीहरि श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लेते हैं । श्रीकृष्ण का अवतार ब्रह्म का सोलह कलाओं से पूर्ण अवतार हैं–

भयेउ कला षोडश सहित, कृष्णचन्द्र अवतार, पूर्ण ब्रह्म हरि यश विमल, बरनहुं मति अनुसार ।

× × ×

असुर विनासन जन हितकारी । नाम कृष्ण–विष्णुहि अवतारी ।। २–कृष्णायन, आरोहणकाण्ड, पृ. ५००

१. हिन्दी साहित्यकोश, भाग–२, पृ, २५२ २. हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, पृ. ३१८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कृष्णायन' में मिश्रजी ने कृष्ण को पूर्ण अवतार माना है और ब्रह्म के रूप में उनका चित्रण किया है। प्रस्तुत महाकाव्य में 'गीताकाण्ड' एवं 'आरोहणकाण्ड' इन दो काण्डों में दर्शन एवं वेदान्त से संबद्ध विचार विशेष रूप में व्यक्त हुए हैं। 'गीता-काण्ड' में दोहा क्रम १०७ से अंत तक लगभग 'गीता' के ही भाव अनूदित हैं। जिनमें निष्काम कर्मयोग का दार्शनिक मत एवं सांख्य दर्शन की ज्ञानात्मिका निवृत्ति के विचार निरूपित हुए हैं। यों सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी है। यह बात इस शोध-प्रबंध के तृतीय अध्याय में स्पष्ट की जा चुकी है। 'कृष्णायन' के 'आरोहण-काण्ड' में भारतीय दर्शन के तत्त्वों का ललित एवं सुबोध भाषा में निरूपण हुआ है। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ से कृष्ण लौटकर आते हैं। वहां वे द्वारका में विलास-प्रियता और गृह-कलह देखकर स्वर्गारोहण का निश्चय करते हैं। कृष्ण के पांव के तलवे में एक व्याध का बाण लगता है। ठीक इसी समय वहां मैत्रेय ऋषि उपस्थित होते हैं। कृष्ण मैत्रेय ऋषि को उपदेश देते हैं। इस उपदेश में ही भारतीय दर्शन के तत्त्व सन्निहित हैं। इसके पश्चात् योग द्वारा कृष्ण, अपनी इह लीला समाप्त करते हैं।

'श्रीमद्भागवत्' में भी मैत्रेय ऋषि उपस्थित होते हैं, पर वहां उन्हें श्रीकृष्ण उपदेश नहीं देते पर यहां 'कृष्णायन' में ऋषि मैत्रेय भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! आप मुझे कुछ पावन ज्ञान दीजिए—

चहत मह्यं प्रभु ! पावन ज्ञाना, वंचित करहु न मोहिं भगवाना। कृष्णायन, आरोहणकाण्ड, पृ.५०२

श्रीकृष्ण ऋषि मैत्रेय से कहते हैं कि मैं सब में हूं। सबके अन्तःकरण में विद्यमान हूं और मैं सर्वान्तर्यामी हूं। यहां शुद्धाद्वैत का ब्रह्मवाद निरूपित हुआ है—

दूरि न पै ईश्वर अतिपासा, उर-उर मुनिवर तासु निवासा। कृष्णायन, आरोहणकाण्ड, पृ. ५०३

परमात्मा सब जगह विद्यमान है पर जो उन्हें बाहर ढूंढ़ता है उसे वे नहीं मिलते, पर जो ध्यानस्थ होकर अन्तर में खोजता है, उसे वे अंतर में मिलते हैं अर्थात् अहंकार से मुक्त होने पर ही व्यक्ति हृदय-स्थित परमात्मा को अन्तःकरण में पा सकता है। 'कृष्णायन' में कृष्ण कहते हैं—

खोजत निज उर जे न अभागी, मैं अज्ञेय तात तिन लागी। कृष्णायन, आरोहण-काण्ड-५०२

× × ×

श्रेष्ठ मुक्ति पथ सोइ मुनिरायी। सकहि जो अहं समूल नसायी। कृष्णायन, आरोहणकाण्ड-५०६

जहां 'अहं' तंह भक्ति-अभावा, सकत न रहि इक संग दोउ भावा। कृष्णायन, आरोहणकाण्ड-५०७

निर्गुण-सगुण : 'कृष्णायन' में ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों का वर्णन हुआ है। श्रीकृष्ण स्वयं ऋषि मैत्रेय से कह रहे हैं कि जैसे पवन से निस्पंद भिन्न नहीं है वैसे ही मेरा सगुण सच्चिदानंद रूप निर्गुण से भिन्न नहीं है। ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है। ऐसा आचार्य वल्लभ ने भी माना है। सगुण ब्रह्म को ईश्वर कहते हैं और ईश्वर रूप सगुण समष्टि की व्यष्टि को ही जीव कहते हैं। जीव स्वयं ईश्वर का ही अंश है पर जब तक उसमें अहं है तब तक उसे अपने ईश्वरांश होने का ज्ञान नहीं होता। जैसे जाल में पड़ी मछली तड़पती है वैसे ही अपने स्वरूप को भूला हुआ अज्ञानी जीव संसार रूपी महासागर में तड़पता रहता है। जीव स्वयं सच्चिदानन्द का स्वरूप है, पर वह अहंकार के जाल से मुक्त होने पर ही मुक्ति पा सकता है। विश्व का यह सृष्टि-यज्ञ मेरे ही द्वारा चल रहा है। 'यजुर्वेद' के 'पुरुष-सूक्त' में जिस प्रकार सृष्टि-यज्ञ का वर्णन हुआ है, वैसे हीं मेरे द्वारा अनादि काल से यह सृष्टि-यज्ञ चल रहा है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सृजन-यज्ञ यह मोर कहावा, पुरुष-सूक्त महं श्रुति जंहि गावा ।
भिन्न नाहिं निस्पंद ते, यथा पवन सस्पन्द ।
निर्गुण ते तिमि भिन्न नहिं, सगुण सच्चिदानंद ।
सगुण-समष्टि कहावत ईश्वर, तासु व्यष्टि ही जीव मुनीश्वर ।
जब लगी अहंकार अभिमाना, निज ईशत्व जीव नहिं जाना ।
अब्धि असीमित विहरनै हारि, जाल-बद्ध जिमि मीन दुखारि ।
तिमि यहि जीव सच्चिदानंदा, आपु निबद्ध अहं कृति-फन्दा ।
श्रेष्ठ मुक्ति-पथ सोइ मुनिरायी, सकहि जो 'अहं' समूल नसायी । कृष्णायन, आरोहणकाण्ड-५०६

सगुण मायिक एवं निर्गुण परम तत्त्व :

यद्यपि 'कृष्णायन' में ब्रह्म के निर्गुण सगुण, दोनों रूपों का वर्णन किया गया है फिर भी उसमें सगुण की अपेक्षा ज्ञानस्वरूप निर्गुण ब्रह्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है । आचार्य शंकर का मत भी ऐसा ही है । उन्होंने सगुण को सोपाधि कहा है, मायिक कहा है । जगत् की भाँति मिथ्या कहा है । सूर ने जहां 'भ्रमरगीत' में निर्गुण की अपेक्षा सगुण का श्रेष्ठत्व प्रतिपादित किया है, वहां 'कृष्णायन' में कवि ने श्रीकृष्ण के श्रीमुख द्वारा सगुण की अपेक्षा निर्गुण की श्रेष्ठता प्रतिपादित करवाई है--'मनुष्य का मोक्ष सगुण से नहीं, किन्तु निर्गुण ज्ञान से ही संभव है, पर सांसारिकों के लिए सहसा 'अलख' निराकार को अपनाना कठिन है । इसीलिए मानव साकार की उपासना की तरफ शीघ्र ही प्रवृत्त होता है । श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो कामना से परे होकर निष्काम होकर ज्ञान-स्वरूप मुझमें श्रद्धा रखता है, वही मोक्ष प्राप्त करता है'--

अन्तिम निष्ठा निर्गुण-ज्ञाना, लहि तेहिं लहत मनुज निर्वाणा ।
पै सहसा भव दृश्य विहायी, सकत न नर अलखहिं अपनायी ।

× × ×

कामहि यह मानव साकारा, रंगे कामना सर्व विचारा ।
निखिल मानुषिक ज्ञान सकामा, श्रद्धहु तीव्र कामना-नामा ।
हृदय-कामना नाहिं जेहि माहीं, उपजति श्रद्धा तेहि महं नाहिं । कृष्णायन, आरोहणकाण्ड, ५०४

शुद्धाद्वैत वेदान्त : 'शुद्धाद्वैत' वेदान्त के अनुसार यह नामरूपात्मक जगत् सुवर्ण से कुण्डल की भाँति ब्रह्म में से ही परिणत हुआ है । सुवर्ण से जैसे नाना प्रकार के कंकण आदि आभूषण निर्मित होते हैं और उनका आधार शुद्ध सुवर्ण ही होता है वैसे ही नामरूपात्मक समस्त जगत् ब्रह्म की ही परिणति है । वह कहीं घट के रूप में है तो कहीं पट के रूप में । तत्त्व एक ही है जो समस्त विश्व में व्याप्त है । ब्रह्म का मूल स्वरूप अविकृत है और जगत् भी अविकृत है । यह शुद्धाद्वैत वेदान्त का अविकृत-परिणामवाद है । जैसे जल से लहर अलग नहीं होती वैसे ही ब्रह्म से जगत् भिन्न नहीं है । श्रीकृष्ण ऋषि मैत्रेय को उपदेश देते हुए कहते हैं—

(अ) पै जिमि कंकण नामाकारा, सम्भव विनु न स्वर्ण आधारा ।
नामरूपमय तिमि समस्त भव, विनु सत्ता-सामान्य न सम्भव ।
मूल-स्वरूप तासु अविकारी, नाना रूप सकति पै धारी ।
सोइ कहुं, घट कहुं, पट आकारा, तत्त्व एक बहु रूप पसारा । कृष्णायन, आरोहणकाण्ड-५०४

(आ) जल ते विलग वीचि जिमि नाहीं, भवहु तिन तिमि मोहि माहीं । कृष्णायन, आरोहण काण्ड-५०२

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर ने भी ब्रह्म को जल एवं जगत् को बुद्बुदे के रूप में निरूपित किया है।[1] यह सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में शुद्धाद्वैत वेदान्त का अविकृत परिणामवाद सिद्धांत ही है। नरसी मेहता ने इसी अविकृत-परिणामवाद को 'कृष्णायन' की ही भांति कनक-कुण्डल के उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया है। जैसे कनक से कुण्डल परिणत होता है वैसे ही ब्रह्म से जीव जगत् परिणत हुए हैं और ये अविकृत हैं।[2]

शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार जैसे ब्रह्म को अन्तर्यामी कहा गया है वैसे ही 'कृष्णायन' में भी ब्रह्म को अन्तर्यामी एवं सर्वत्र व्याप्त कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'मैं आकाश की भांति सर्वत्र व्याप्त हूँ, इसलिए लोग मुझे पत्थर के रूप में भी पूजते हैं'—

सर्व वस्तु महं व्याप्त मुनि ! मैं आकाश समान, ताते पूजत भक्त मोहि, पूजत हूं पाषाण।

कृष्णायन, आरोहणकाण्ड-५०४

ऋषि मैत्रेय को उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि जैसे सरिता-सागर में लीन होकर एक हो जाती है वैसे जब ब्रह्मज्ञानी स्वयं ब्रह्म हो जाए, ज्ञाता और ज्ञेय जब एक हो जाए, अर्थात् ज्ञानी जब स्वयं ही भगवान् हो जाए, तब समझो कि उसे मुक्ति मिल गई है, उसे कैवल्य प्राप्त हो चुका है, उसे निर्वाण प्राप्त हो गया है। सूर्य से भी अधिक हृदय रूपी आकाश में दिव्य आत्मा का प्रकाश हो जाए तब समझो कि साधक मोक्ष का अधिकारी हो गया है। वह मुझसे अभिन्न हो गया है। यह वास्तव में जीव ब्रह्म की एकता है। शंकर के अद्वैत मत का यहां निरूपण हुआ है। 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' यह सिद्धांत यहां प्रतिपादित हुआ है। कृष्ण यहां मैत्रेय से कह रहे हैं—

(अ) यह पुरुषार्थ-अवधि मुनिरायी, ब्रह्महि ब्रह्मविदहु ह्वै जायी।
होति सरित जिमि सागर लीना, तिमि मुक्तहु मोहि अहं-विहीना।
ज्ञाता-ज्ञेय आपु तेहि जाना, आपुहि भव, आपुहि भगवाना।
यहहि मुक्ति, यह गति हु निदाना, यह कैवल्य चाहहिं निर्वाणा। कृष्णायन, आरोहणकाण्ड-५०८

(आ) रवि ते अधिक हृदय-आकाशा उदित दिव्यतम आत्म प्रकाशा। कृष्णायन, आरोहणकाण्ड ५१०

'गीता' में देह को क्षेत्र कहा गया है। क्षेत्र इसलिए कहा गया है कि इसमें सभी प्रकार के धर्म कर्म रूपी बीज उत्पन्न होते हैं। अर्थात् मनुष्य शरीर से काम करता है, और काम के अनुसार फल पाता है। मनुष्य का काम करना ही बीज बोना है। इस शरीर रूपी क्षेत्र को जो ज्ञान से प्रत्यक्ष करता है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ही सभी क्षेत्रों में विद्यमान क्षेत्रज्ञ हूँ—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥१॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यतज्ज्ञानं मतं मम॥२॥

गीता, अध्याय-१३

'कृष्णायन' में भी भगवान् श्रीकृष्ण मैत्रेय ऋषि से यही बात कहते हैं कि देह क्षेत्र है और मैं क्षेत्रज्ञ हूँ। जगत् दृश्य है और मैं द्रष्टा हूँ। संसार ज्ञेय है और मैं ज्ञाता हूँ—

देह-क्षेत्र संचालक ये ही 'मैं' क्षेत्रज्ञ, क्षेत्रपति, देही।
जगत् दृश्य मैं देखनहारा, ज्ञाता यह हि ज्ञेय, संसारा। कृष्णायन, आरोहणकाण्ड, पृ. ५०३

पिंड में, शरीर में सारा ब्रह्मांड सूक्ष्म रूप में विद्यमान है। दर्शन का यह सिद्धांत भी 'कृष्णायन' में निरूपित हुआ है। इसके लिए एक कथन भी प्रसिद्ध है—'पिण्डे सो ब्रह्माण्डे'।

ब्रह्माण्ड तुमहं पिण्ड समाना, तिन सर्वत्र ताहि पहिचाना। कृष्णायन, आरोहणकाण्ड, पृ. ५०३

---

१. सूरसागर, पृ.५९५   २. न. म. का. सं. पृ. ४८५

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार्वाक का लोकायत दर्शन :

'कृष्णायन' में चार्वाक दर्शन के तत्त्व भी निरूपित हुए हैं। चार्वाक दर्शन सांख्य एवं पूर्वमीमांसा की भांति निरीश्वरवादी हैं। इसको जड़वाद अथवा लोकायत मत भी कहते हैं। लोक में आयत अर्थात् विस्तृत रूप में फैला होने से यह लोकायत कहलाता है। इस मत में प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना गया है। 'शब्द' और 'अनुमान' जैसे अप्रत्यक्ष प्रमाणों को यह दर्शन नहीं मानता। इन्द्रिय ग्राह्य प्रत्यक्ष को ही यह प्रमाण मानता है। 'कृष्णायन' में इन्द्रिय ग्राह्य वस्तुओं का ही अस्तित्व बताते हुए चार्वाक मुनि धर्मराज से कहते हैं—

'इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तु जो नाहीं, अस्तित्व तासु नाहीं भव मांही'

ईश्वर कहीं नहीं है। न कहीं विधाता है। मरने पर पुनः कोई जन्म नहीं लेता है। जो चिता में जला दिया जाता है उसका फिर से जन्म कैसे संभव है? पुनर्जन्म और परलोक की बात मिथ्या है। यह शरीर ही सत्य है और यह लोक ही सत्य है। इस लोक में जो बलवान है वह स्वामी है और वही सुख का अधिकारी भी है। श्रुतियां आत्मा का वर्णन करती हैं पर किसने और कब आत्मा को देखा है? प्रत्यक्ष जगत् को असत्य बताकर पुरुषार्थ रहित आलसी अकिंचन, दीन-हीन ब्राह्मण कपट वाणी द्वारा धनिकों और भोले-भाले लोगों को ठगते हैं और उनका धन हरण करते हैं। उनका धन हरण करके उनको अनशन करवाते हैं और स्वयं षड्रस पकवान डकारते हैं और अपनी पूजा करवाते हैं। श्रुतियों की रचना पाखंडियों ने की हैं। ये श्रुतियां प्रमाणभूत नहीं हैं। शास्त्र-पुराण भी धूर्तों की वार्ताएं हैं—

आत्मा कर श्रुति करति बखाना, कब केहि कहां लखेऊ कस जाना।
इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तु जो नहीं, नहिं अस्तित्व तासु भव मांहीं।
कहुं न ईश, न कतहुं विधाता, जन्मत पुनि न जीव मृत ताता।
जरत चिता पै जो जनु हीरी, सकत कि लौटि सो जीव बहोरी।
मिथ्या पुनर्जन्म, परलोका, यह तनु सत्य, सत्य यह लोका।
यहि लोकहु महं जो बल धारी, सोइ स्वामी, सोइ सुख-अधिकारी।

× × ×

पौरुष रहित, अकिंचन, दीना विप्र चाट-पटु, कपट-प्रवीणा।
जग प्रत्यक्ष असत्य बतायी, वंचत धनिन स्वर्ग-गुण गायी।
हरिधन तासु करावत अनशन, आपु पचावत षट्रस व्यंजन।
नित्यग्रन्थ, नव पंथ बनावत, सुर-पूजा मिस आपु पुजावत।
श्रुति पाखंड हि. नाहिं प्रमाणा, धूर्तन-वार्ता शास्त्र-पुराणा। कृष्णायन, आरोहणकाण्ड, पृ.४०६

सांख्य : 'कृष्णायन' में निरीश्वरवादी 'सांख्य-दर्शन' के तत्त्व भी विद्यमान हैं। सांख्य के अनुसार पुरुष और प्रकृति इन दो तत्त्वों से सृष्टि की रचना होती है। पुरुष निःसंग, निष्क्रिय एवं अविकारी है तथा प्रकृति सत्त्व, रजस्, तमस् के योग से त्रिगुणात्मिका है। 'कृष्णायन' में पुरुष-प्रकृति के संयोग से चराचर जगत् की उत्पत्ति बताई गई है—

उपजत जगत् चराचर जेते, प्रकृति-पुरुष संयोजन तेते। कृष्णायन, आरोहणकाण्ड पृ-३३४

'सांख्य-दर्शन' के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण जीव के बंधन का निर्माण करते हैं। इसलिए इनको गुण कहा जाता है। गुण रज्जु को कहते हैं। 'कृष्णायन' में इस सिद्धांत का प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्त्व रजस्, तमस् ये त्रयगुण, प्रकृतिहिं, ते उपजत ये अर्जुन ।
आत्मा जदपि विकार-विहीना, बांधि देह ये करत अधीना ।। कृष्णायन, आरोहणकाण्ड, पृ-३३५

'गीता' में कृष्ण अर्जुन को प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों की मीमांसा करते हैं। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन ! सत्त्व, रजस् और तमस् प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं। सत्त्व गुण सुख में लगाता है। रजोगुण कर्म में लगाता है तथा तमोगुण ज्ञान का आच्छादन करके प्रमाद में लगाता है। रजोगुण तथा तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है। रजोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है तथा तमोगुण और सतोगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः । निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।५।।
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत । ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।।९।।
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत । रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।।१०।।
गीता, अध्याय-१४

'कृष्णायन' के गीताकांड (पृ. ३३५) में सांख्य का ठीक यही सिद्धांत इस प्रकार निरूपित हुआ है—

निर्मल, अतः प्रकाश-पद, दोषहु तेहि महं नाहिं ।
बांधि लेत अस सत्त्व गुण, जीव ज्ञान-सुख मांहि ।।
रागात्मक इन मांहिं रजोगुण, तृष्णा रति, रति उपजावत अर्जुन ।
कर्मासक्ति ताहि ते होई; बांधत जीवन कर्महिं सोई ।
तामस गुण अज्ञान प्रजाता, डारत सबहिं मोह मंह ताता ।
निद्रालस, प्रमाद उपजायी, करत निबद्ध, जीव-समुदायी ।
होत सत्त्व ते सुख मंह रागा, रज ते धर्म माहिं अनुरागा ।
करत तमोगुण ज्ञानाच्छादन, होत पार्थ ! कर्तव्य विस्मरण ।
पराभूत करि रज तम दोउ गुन, पावत वृद्धि सत्त्व गुण अर्जुन ।
विजित सत्त्व-तम-रज अधिकायों, जीति सत्त्व-रज-तम बढ़ि जायी ।

सांख्य ने सत्कार्यवाद को माना है। सत्कार्यवाद का तात्पर्य है, कार्य अपनी अभिव्यक्ति के पूर्व कारण में विद्यमान रहता है। सत्कार्यवाद दो प्रकार का होता है—परिणामवाद और विवर्तवाद। सांख्य सत्कार्यवादी दर्शन है। वह यह मानता है कि कार्य वास्तव में कारण का रूपान्तर हैं। भ्रम या विवर्त मात्र नहीं है। सत्कार्यवाद का समर्थन किंचित् भिन्न शब्दों में 'कृष्णायन' में इस प्रकार हुआ है—

विद्यमान कर नाहिं अभावा, नाहिं अभाव कर सम्भव भावा । कृष्णायन, पृ. ३०४
इसी सिद्धांत का निरूपण 'गीता' (अध्याय-२ श्लोक-१६) में इस प्रकार हुआ है—
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।

योग : 'कृष्णायन' में महर्षि पतंजलि के योग दर्शन के तत्त्वों का भी यत्किंचित् निरूपण हुआ है। योग भारत के प्राचीन दर्शनों में से एक है। सांख्य और योग दोनों में केवल इतना ही भेद है कि सांख्य ईश्वर को नहीं मानता है जब कि योग ईश्वर को मानता है। योग दर्शन एक प्रकार से सांख्य दर्शन का ही एक व्यावहारिक एवं क्रियात्मक रूप है। सांख्य जहाँ तत्त्वज्ञान को महत्त्व देता है वहां वह योगाभ्यास को भी उसका आवश्यक साधन मानता है। आत्मशुद्धि के लिए योग में योग साधनाओं को पर्याप्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। उपनिषदों, पुराणों, तंत्रों आदि में भी यौगिक प्रक्रियाओं का उल्लेख मिलता है। हिन्दी-साहित्य में भी संतों ने योग का निरूपण किया है। 'कृष्णायन' में भी योगी के लक्षणों एवं आचरणों का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उल्लेख मिलता है, पर यह निरूपण मौलिक न होकर 'गीता' पर आधारित है। 'कृष्णायन' के 'गीताकांड' में योगाभ्यासी के लिए क्या आचरणीय है, इसका निरूपण हुआ है। योगाभ्यासी पवित्र स्थान पर आसन बिछाकर उस पर कुश एवं मृगचर्म या फिर अन्य आसन डालकर चित्त तथा इन्द्रियों की क्रिया का संयमन करके या फिर मन को एकाग्र करके, फिर उस आसन पर समाधीन होता है और अंतःकरण को शुद्ध करने के लिए योग का अभ्यास करता है। वह तन, सिर एवं ग्रीवा को समरेखा में करके तथा अचल-स्थिर-होकर नासाग्र को देखता है। उस समय उसकी दृष्टि स्थिर रहती है। वह शान्तात्मा एवं भय मुक्त होता है। वह ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ सब प्रकार से मन को संयमित कर लेता है तथा ईश्वर में चित्त लगाकर स्थिर रहता है। इस प्रकार सतत अभ्यास करने से उसका मन वश में हो जाता है और उसे निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। न योगी अतिभोजी होता है और न अनाहारी, न अधिक सोनेवाला होता है और न अधिक जागने वाला। जब मन संयमित होकर निज आत्मा में स्थापित हो जाता है तथा भोगेच्छा की निवृत्ति हो जाती है तब मन भोग मुक्त हो जाता है। जो चित्त के संयम का अभ्यास करता है, उसका मन वायुहीन स्थान में स्थापित दीप-ज्योति के समान स्थिर हो जाता है और वह ब्रह्म का स्पर्श पाकर परम आनन्द में लीन हो जाता है—

योगाभ्यासी शुचि थल पायी, चिर आसन निज लेहि बनायी।
नहि अति उच्च, न निम्न बनावहिं, कुश, मृगछाला बसन बिछावहि॥
करि चित्तेन्द्रिय-क्रिया संयमन, मन एकाग्र निवासि तेहि आसन।
अन्तःकरण विशुद्धि हि लागी, करहिं योग-अभ्यास विरागी॥
करि तनु, शीर्षग्रीव सम-रेखा, अचल स्थिर नासाग्रहिं देखा।
दृष्टि बहोरि न इत-उत जायी, शान्तात्मा भय-भीति विहायी॥
ब्रह्मचर्य व्रत करि परिपालन, करि सब भांति संयमित निज मन।
पार्थ! मोहिं मंह चित्त लगायी, मोहिं अनुरक्त युक्त ह्वै जायी॥
करत सतत अभ्यास अस जान स्ववश मन आय।
शान्ति मोरि निर्वाणदा, लेत योगिजन पाय॥
अतिभोजी या बिनु आहारा, अति सोवत, अति जागन हारा।
सधत योग दोउन ते नाहीं, वर्जित 'अति' योगीजन मांहीं॥
नियत जासु आहार-विहारा, नियमित कर्म-आचरण सारा।
परिमित निद्रहु जासु जागरण, तेहि हित होत जोग दुःख नाशन॥
ह्वै जब मन यहि भांति संयमित, होत निजात्महिं महे जब थापित।
एकहु भोग नाहिं जब भावत, योग-युक्त नर तबहिं कहावत॥
वायुहीन थल दीपक-ज्योति, विचलित यथा कबहुं नहिं होती।
वैसे हि निश्चल मानस तासू, करत जो संयत-चित अभ्यासू॥
योगाभ्यास निरुद्ध चित, लहत जहां विश्राम।
आत्मा लखि, आत्मा लहति, आत्मतोष जेहिं ठाम॥ कृष्णायन, गीताकाण्ड, पृ. ३१६,३१७

हिन्दी कृष्ण-काव्य में प्रबंध-काव्य की दृष्टि से 'कृष्णायन' महत्त्वपूर्ण है। सूर जैसे कवियों ने कृष्ण के बाल एवं श्रृंगार लीलावाले जीवन का ही पदों में निरूपण किया है और उनके निरूपण में कृष्ण परब्रह्म हैं एवं व्रजविहारी हैं, पर 'कृष्णायन' में भगवान् श्रीकृष्ण अनेक रूपों में निरूपित हुए हैं। वे धर्म-संस्थापक हैं, कुशल राजनीतिज्ञ हैं, देश के नेता हैं, दार्शनिक हैं एवं वीर हैं। इस प्रकार का सर्वांगीण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्ण-चरित्र वर्णन हिन्दी साहित्य में दुर्लभ है। अधिकांश हिन्दी एवं हिन्दीतर प्रदेश के कृष्णकवियों ने कृष्ण के रसिक रूप का ही वर्णन किया है। कहीं कृष्ण श्रृंगार के आलंबन के रूप में निरूपित हुए हैं तो कहीं विष्णु के अवतार के रूप में लीला करने के लिए अवतरित हुए हैं। अधिकांश कवियों ने श्रीकृष्ण, राधा एवं गोपिकाओं को लेकर लोक में जिसे अनीतिपरक कहा जाए वैसे नंगे घोर अश्लील श्रृंगार का वर्णन किया है। सूर ने चीर-हरण-लीला, दान-लीला, हिण्डोला-लीला, खंडिता-प्रकरण में घोर अश्लील श्रृंगार का वर्णन किया है। उन्होंने 'सूरसागर' में विपरीत-रति एवं सुरतान्त तक का भी खुलकर वर्णन किया है। विपरीत-रति का अर्थ है संभोग-काल में पुरुष के थक जाने पर पुरुष नीचे और स्त्री ऊपर रहकर संभोग करती है एवं सुरतान्त का अर्थ है संभोग कर लेने के बाद की पुरुष-स्त्री के आनंद-शिथिल होने की चेष्टाएं एवं मनोदशा। हमारी दृष्टि से सूर का श्रृंगार-वर्णन 'वात्स्यायनमुनि के काम-सूत्र का ही महद् अंश में काव्यात्मक, वर्णन है। दुःख की बात यह है कि इन धार्मिक कवियों-भक्तों ने कृष्ण को नायक मानकर संभोग-वर्णन किया है। इसके स्थान पर यदि दुष्यन्त-शकुन्तला या ढोला-मारू को लेकर वर्णन किया होता तो कृष्ण भगवान् को लेकर दूसरे धर्म वाले लोग जो भद्दे तानें मारते हैं, उससे हिन्दुत्व बच जाता। ऐसे अश्लील वर्णनों को पढ़कर 'दिनकर' जैसे महाकवि ने इसे आचार-च्युत साधुओं की कल्पना कहा है। महाकवि द्वारकाप्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' में राधा-कृष्ण एवं गोपिकाओं के प्रेम को सात्त्विक रूप प्रदान किया है। उसमें स्वच्छंदता नहीं है। उसमें लोकप्रेम की भावना व्यक्त हुई है। तात्पर्य यह है कि कृष्ण के चरित्र के साथ विलास एवं श्रृंगार का वर्णन करके 'भागवत' एवं गीतगोविंदकार तथा अष्टछाप के कवियों ने एवं इतर कवियों ने कृष्ण के चरित्र को जहां लोक व्यवहार दृष्टि से गिराया है वहां 'कृष्णायन' में कृष्ण का आदर्श, श्रेष्ठ व्यक्तित्व पुष्प की भांति सात्त्विक रूप में ऊपर उठ आया है। चीर-हरण जैसी लीलाओं को भी 'कृष्णायन' में नया उपदेशात्मक रूप दिया गया है। कृष्ण वहां विलासी नहीं है किन्तु समाज सुधारक हैं। गोपिकाएँ जल में नग्न नहा रही थीं, उन्हें श्रीकृष्ण कहते हैं कि जल में भगवान वरुण निवास करते हैं, इसलिए नंगी होकर जल में इस प्रकार स्नान करना उचित नहीं। 'कृष्णायन' (अवतरणकाण्ड) में मिश्रजी लिखते हैं—

वारि मांहिं निवसन वरुण तिनकै लाज बिहाय।
लोक लाज हु त्यागि तुम धसत नग्न जल जाय ॥

इस प्रकार 'कृष्णायन' में वेदान्त की दृष्टि से शुद्धाद्वैत-वेदान्त, अद्वैत-वेदान्त तथा दर्शन की दृष्टि से सांख्य-दर्शन, योग-दर्शन, निष्काम कर्मयोग, चार्वाक-दर्शन के तत्त्वों का यथा स्थान निरूपण हुआ है।

हिंन्दी कृष्ण-काव्य में वेंदान्त निरूपण के लिए हमने हिन्दी भाषी क्षेत्र के शताधिक कृष्ण कवियों में से उपर्युक्त कवियों को ही महत्त्वपूर्ण मानकर अपने अध्ययन का विषय बनाया है, इससे यह न मान लेना चाहिए कि इनके अतिरिक्त अन्य कवियों के काव्य में सर्वथा वेदान्त निरूपण का अभाव है। तुलसीदास, बिहारी, देव 'हरिऔध', 'दिनकर' इत्यादि अनेक कवि ऐसे हैं, जिन्होंने कृष्णकाव्य लिखा है और शोधदृष्टि से प्रयत्न किया जाए तो उनमें वेदान्त के विचार यत्र-तत्र अवश्य निरूपित मिलेंगे। बिहारी के कई दोहों में भी वेदान्त के तत्त्व निरूपित हुए हैं पर विस्तार भय से हमने हिन्दी के विशाल कृष्ण-काव्य-सागर में से उपर्युक्त कवियों के ही जीवन, काव्य, भक्ति एवं का वेदान्त पर यहां पर विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त विशेष कवियों के अतिरिक्त देव, बिहारी, हरिऔध एवं रामधारीसिंह 'दिनकर' के कृष्णकाव्य में भी यत्र-तत्र दर्शन एवं वेदान्त विषयक विचार निरूपित हुए हैं इसलिए हम संक्षेप में केवल इनके काव्य का भी भक्ति एवं वेदान्त निरूपण को दृष्टि से यहां सिंहावलोकन कर लेना उचित समझते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८. देव : वेदान्त निरूपण : ब्रह्म :

रीतिकाल के बहुमुखी प्रतिभासंपन्न, 'प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः', लोक संपर्क में अधिकाधिक आने के कारण 'सर्वदर्शी', आचार्य–कवि देव ने अपने कई पंदों में कृष्ण को परब्रह्म के रूप में निरूपित किया है तथा उनके विराट् रूप की स्तुति की है । आधिभौतिक परब्रह्म अपने सत्, चित् एवं आनंद स्वरूप में भक्तों को आनंद देने के लिए व्रज में अवतरित हुए । अपने शाश्वत परम मोक्ष धाम को छोड़कर भाद्र पद की अंधेरी रात में लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण देवकी के उदर में बिराजे और वहां से शिशु के रूप में माता यशोदा की क्रोड़ में लीलाएँ करने के लिए प्रकट हुए । उनके आविर्भाव से पूर्व प्रकृति प्रसन्न हो उठी, नदियों का जल स्वच्छ हो गया, सागर हर्ष के ज्वार में उछलने लगा और मथुरा की गलियाँ, मुनियों की महिमा और दिगीशों की संपत्ति और नवनिधियों का केन्द्र बन गईं । साधारण से राजा के यहां राजकुमार जन्म ले, उस समय भी राजमहल एवं नगर हर्ष से भर जाता है तो यह तो संपूर्ण ब्रह्माण्ड के कारण पूर्ण पुरुषोत्तम देवकी के गर्भ में आविभू त हुए हैं, तब कितना हर्ष हो सकता है ? इसका वर्णन वास्तव में अनिर्वचनीय है । देव ने परब्रह्म के आविर्भाव का निरूपण इस प्रकार किया है––

> सूनो कै परम–पदु, ऊनो कै अनंत मदु, दूनो कै नदीस नदु, इन्दिरा फुरै परी ।
> महिमा मुनी सन की सम्पत्ति दिगीसन कीं, ईसन की सिधि व्रज–बीथीं बिथुरै परी ॥
> भादौं की अंधेरी अधराति, मथुरा के पथ, आई मनोरथ देव देवकी दुरै परी ।
> पारावार पूरन, अपार परब्रह्म रासि, जसुदा के कोरे एक बारक कुरै परी ॥ व्र.मा.सार, ३०२

देव ने इसके बाद कृष्ण के माहात्म्य एवं नंद के घर के महोत्सव का वर्णन किया है । कृष्ण की बाल–क्रीड़ाओं, गोपियों के साथ की मधुर लीलाओं का उल्लेख करके, विदुर की भाजी और द्रौपदी के चीर–हरण का संकेत किया है । इसके पश्चात् ब्रह्म के विराट् रूप की प्रकृति के विराट् उपादानों से अखंड पूजा का वर्णन किया गया है । नभ ही विशालतम मंदिर है । पृथ्वी के समस्त सागर, नदियां और मेघों का जल उनका सतत अभिषेक करता रहता है और उस अभिषेक से जीव और जगत् रूप में ब्रह्म हर्षित एवं विलसित होता रहता है । कवि देव पृथ्वी के समस्त मूल, फल–फूल और सुगन्धित पदार्थों को उनको अर्पित कर रहा है । अनन्त अग्नियों से वह धूप करना चाहता है और सूर्य रूपी अखंड दीपक उसकी पूजा में प्रस्तुत करना चाहता है । जितना भी अन्न है, जल है, वह सब कुछ उसी परब्रह्म कृष्ण को नैवेद्य के रूप में प्रस्तुत करना चाहता है । पवन वह कर वह उसके चंवर डुला रहा है । इस तरह अखंड प्राकृतिक उपादानों द्वारा देव विराट् परब्रह्म की अखंड अर्चा करना चाहता है । वास्तव में अनादि काल से यह सब कुछ हो ही रहा है क्योंकि जीव–जगत् के रूप में परब्रह्म ही तो सर्वत्र व्याप्त है । अखंड विराट् पूजा से तात्पर्य है अखंड जीवन एवं जगत् का प्रतिपालन––

> देव नभ मंदिर में बैठायौ पुहुमि पीठ, सिगरि सलिल अन्हवाये उमगत हौं ।
> सकल महीतल के मूल, फल–फूल दल, सहित सुगन्धन चढ़ावन चहत हौं ॥
> अगिनि अनन्त धूप, दीपक अखण्ड जोति, जल, थल, अन्न दे प्रसन्नता लहत हौं ।
> ढारत समीर चौंर कामना न मेरे और, आठौ जाम, राम, तुम्हें पूजत रहत हौं ॥

व्रजमाधुरीसार, पृ. ३०३

देव ने समस्त जगत् के अणु–अणु में व्याप्त ब्रह्म के दर्शन करके ब्रह्म के अमित माहात्म्य का वर्णन किया है । जगत् पांच तत्त्वों से निर्मित हुआ है और ये पाँचों तत्त्व भी ब्रह्म के ही स्वरूप हैं । यह सृष्टि सत्, रज एवं तम रूपा होने से त्रिगुणात्मिका है । ये तीनों गुण भी ब्रह्म–स्वरूप हैं ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके स्वरूप में ब्रह्म ही विलास कर रहा है। विलास एक भाव है। संभोग शृंगार के अन्तर्गत दस भाव हैं, उनमें से एक विलास भी है। ब्रह्म जो सृष्टि के रूप में फैला हुआ है, वह विलास करने के लिए, आनन्द करने के लिए ही फैला है। **'सः एकाकी न रमते द्वितीयमैच्छत्'** के रूप में उसने आनन्द–क्रीड़ा के लिए ही शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार अपने भीतर से अग्नि के स्फुलिंगों की भाँति जगत् का आविर्भाव किया है। कवि देव जगत् ब्रह्म का लीला–विलास ही देख रहा है। गुजरात के आदि वैष्णव कवि नरसी महेता कहते हैं कि जाग्रत (ज्ञान) अवस्था में देखता हूं तो जगत् नहीं दिखाई देता, परब्रह्म ही दिखाई देता है। **'जागीने जोऊं तो जगत दीसे नहिं।'** इस प्रकार देव सृष्टि के अणु–अणु में परब्रह्म को ही व्याप्त देख रहा है—

तु ही पंच तत्त्व, तु हीं सत्त्व, रज, तम तु हीं, थावर औ जंगम जितेक भयौ भव में।
तेरे ये विलास लौटि ती हीं में समान्यौ कछू, जान्यौ न परत पहिचान्यौ जब जब में॥
देख्यौ नहीं जात तु हीं देखियतु जहां तहां, दूसरो न देख्यौ 'देव' तु हीं देख्यौ अब में।
सब की अमर मूरि भारि सब धूरि कहै, दूरि सब ही तें भारि पूरि रह्यो सब में॥ ब्र.पृ.३०४

माया : देव ने अविद्या माया का वर्णन भी किया है। ज्ञान की अग्नि से अज्ञान के अंतःकरण के भीतरी वन को जला देना देना चाहिए, ऐसा देव कहते हैं। भीतर जो कुवासनाएँ हैं, कुविचार हैं, वे ही अज्ञान के रूप में अंधकार हैं और वही अविद्या माया है। आंखों पर से उसका पर्दा हटा दें और सबको स्नेह की दृष्टि से देखें, ऐसा करने पर सब कुछ उस परब्रह्म का ही प्रकाश दीखेगा। ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होने पर ऐसा प्रतीत होगा कि जड़, पहाड़, नाग, नर, किन्नर असुर–सुर प्रेत, पक्षी सभी कुछ ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। त्रिगुणात्मिका माया से ही सब कुछ आविर्भूत होते हैं और तिरोहित होते हैं। परमात्मा ही सब रूपों में यहां विलसित हो रहा है। आहार करने वाला भी वही है, दृष्टि भी वही है जो कुछ देख रहा है, वह भी वही है। पंडित भी वही है, मूर्ख भी वही है, शस्त्र भी वही है और शस्त्र से मरनेवाला भी वही है। कहार भी वही है और पालकी में बिराजमान भी वही है। इस प्रकार जगत् में जो कुछ भी हो रहा है यह विविध रूपों में ब्रह्म द्वारा ही अभिनीत अर्थात् रूपायित हो रहा है––

(अ) मूढ़ रह्यो है गूढ़ गति क्यों न ढूंढ़त है, गूढ चर इन्द्रिय अगूढ़ चार मारि दै।
बाहर हू भीतर निकारि अंधकार सब, ग्यान की अगिनि सों अग्यान वन बारि दै॥
नेह भरे भाजन में, कोमल अमल जोति, ताकी हू प्रकास चहुं पुंजन पसारि दै।
आवै उमड़ा–सो मोह मेह घुमड़ा–सो देव, माया कौ मड़ा–सो अंखियन ते उघारि दै॥
ब्रजमाधारीसार, पृ. ३०४

(आ) अग नग नाग नर किन्नर, असुर सुर, प्रेत पसु, पच्छी, कोटि–कोटिन कढयौ फिरै।
माया-गुन तत्त्व उपजत, बिन सत सत्त्व, काल की कला को ख्याल खाल में मढयौ फिरै॥
आप ही भखत, भख, आप हीं अलख लख, 'देव' कहूं मूढ, कहूं पंडित पढयौ फिरै।
आप ही हथ्यार, आप मारत, मरत आप, आप ही कहार, आप पालकी चढ़्यौ फिरै॥
ब्रजमाधुरीसार, पृ. ३०४

इसी तथ्य को नरसी महेता ने **'ब्रह्म लटकां करे ब्रह्म सामे'** काव्य–पंक्ति द्वारा व्यक्त किया है।

अद्वैत–वेदान्त : देव ने एक पद में अपनी काव्यात्मक शैली में अद्वैत वेदांत का निरूपण किया है। जीव ब्रह्म का ही स्वरूप है। जीव जो कुछ कर रहा है वह वास्तव में ब्रह्म ही कर रहा है। देव कहते हैं कि हे मानव! तेरे घर में आठों सिद्धियां सदा आठों पहर निवास करती हैं। नौं निधियाँ तेरे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग्य में लिखी हुई हैं । तू महाराजाओं का भी अधिराज है । तेरी सुमति उसी की कीर्ति का गुण-गान करती है । वह तेरे अन्दर वही विराजमान है । ऐसी स्थिति में तू दीन-मलीन होकर द्वार-द्वार क्यों भटक रहा है । तू अपने ही भीतर झांक । वहां परमात्मा है जो सारे जगत् का सर्जक है । मानव ब्रह्म का ही स्वरूप है, ब्रह्म ही है, फिर वह दीन-हीन बनकर क्यों भटकता फिरता है । यदि उसे इस प्रकार अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो जाए तो उसकी दीनता तत्काल समाप्त हो जाए--

> **तेरो घर घेरें आठों जाम रहें आठों सिद्धि, नवों निधि तेरे विधि लिखिए ललाट हैं ।**
> **'देव' सुख-साज महाराजनि कौ राज तु हीं, सुमति सु सोचे तेरी कीरति के भाट हैं ॥**
> **तेरे ही अधीन अधिकार तीन लोक कौ सु, दीन भयौ क्यों फिरै मलीन घाट-बाट हैं ।**
> **तो में जो उठत बोलि, ताहि क्यों न मिलै दोरी, खोलिए हिये में दिए कपट-कपाट हैं ॥**

ब्रजमाधुरीसार, पृ. ३०४

रासक्रीडा की आध्यात्मिकता : एक कवित्त में देव ने रासक्रीड़ा का आध्यात्मिक दृष्टि से वर्णन किया है । कवि देव ने अपने ही तन को ब्रह्म एवं वृन्दावन का निवास कहा है । तरंगायित यमुना भी इस तन में ही विद्यमान है। सुन्दर सघन वन, राधा-कृष्ण एवं गोपिकाओं के विहार के लिए लीलाभूमि वंशीवट यमुना-तट सब कुछ अपने तन में ही अखंड रूप में विद्यमान हैं । अखंड रास-विलास की अखंड वंशी की ध्वनि इसी में गुंजित हो रही है । राधाकृष्ण एवं गोपिकाओं की रासलीलाओं से उसका संपूर्ण तन मुखरित हो रहा है । रास-क्रीड़ा के समय चूड़ियों की झंकार और नूपुरों का क्वणन भी उसके अन्दर ही ध्वनित हो रहा है । कवि देव का यह पद भाव की दृष्टि से अत्यन्त गहन एवं अनुपम है । हमारा शरीर ही ब्रज है और हमारे शरीर की समस्त चेष्टाएँ ही कृष्ण की ब्रज लीलाएँ हैं । कवि का इस प्रकार का निरूपण अनुपम है । इस पद में वेदान्त एवं काव्यत्व का मणिकांचन योग हुआ है । ऐसा प्रतीत होता है कि मानों कवि ने स्वयं ही ब्रह्मभाव में निमग्न होकर अपने भीतर कृष्ण-लीलाओं की अनुभूति की हो--

> **हौं ही ब्रज-वृन्दावन मोहि में बसत सदा, जमुना तरंग स्याम रंग अवलीन की ।**
> **चहुं ओर सुन्दर सघन बन देखियतु, कुंजनि में सुनियतु गुंजनि अलीन की ॥**
> **बंसीवट-तट नट नागर नटतु मो में, रास के विलास की मधुर-धुनि बीन की ।**
> **भरि रही भनक, बनक ताल-तानन की, तनक तनकता में झनक चुरीन की ॥**

ब्रजमाधुरीसार, पृ. ३०५

मानसो शिव-पूजा से सम्बद्ध एक छंद इसी आशय का है-हे शिव ! तू ही मेरी आत्मा है, मेरी बुद्धि है भगवती परान्बा गिरिजा है । सहचर प्राण ही तेरा मंदिर है । मेरी विषयोपभोग की समस्त चेष्टाएँ तेरी पूजा है, मेरी निद्रा समाधि है । जिसमें मैं तेरा ही ध्यान किया करता हूं । मैं जितना संचरण करता हूं वह तेरी ही प्रदक्षिणा है । जितनी वाणी मैं उच्चरित करता हूं वह सभी तेरे स्तोत्र हैं । इस भाँति हे शंभु ! जो कुछ मैं करता हूं, वह तेरी ही आराधना के लिए कर रहा हूं--

आत्मा त्वं गिरिजामतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं, पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
संचारः पदयोर्प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वागिरो यद् यद् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भोतवाराधनम् ॥

देव रीतिकाल के रीतिबद्ध आचार्य थे पर वे आचार्य होने के साथ-साथ एक रससिद्ध कवि भी थे । **'काव्यसार शब्दार्थ को रसतिहि काव्या सार'** । शब्द और अर्थ का सार काव्य है तो काव्य का सार रस है । यह काव्य एवं रस परिभाषा काव्य सूत्र आचार्य देव का ही है । आचार्य देव की कविता में वेदान्त के तत्त्वों का निरूपण उल्लेखनीय एवं प्रशस्य है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देव को उचित आश्रयदाताओं के अभाव में आर्थिक विफलता के कारण रसभोग के प्रति विरक्ति हो गई थी। इन्द्रियों के सभी विषयों के प्रति उनके अन्तःकरण में वैराग्य का भाव जाग्रत हो गया था और उन्होंने आत्मनिरीक्षण करके अपने ही मन से कहा : 'हे मन, मैं ऐसा जानता कि तू विषयों के संपर्क में आएगा और मेरी ऐसी दुर्गति करेगा तो मैं पहले से ही तेरे हाथ-पाँव तोड़ देता। तू मुझे जानता नहीं' मैं कौन हूं ? मैंने राजा-महाराजाओं को भी तृणवत् तुच्छ समझा है। मैं तुझे इतना चंचल समझता तो चेतावनी के चाबुक मार-मार कर तेरे मुँह को कुमार्ग से सुमार्ग की ओर मोड़ देता और भारी प्रेम रूपी पत्थर तेरे गले में बांधकर ढ़िंढोरा पीटकर राधा के वर भगवान् श्रीकृष्ण के यश रूपी समुद्र में तुझे डुबा देता। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन भर रीति-कालीन श्रृंगार विषयक कविता करने के पश्चात् अपने अंतिम काल में कवि को अपनी भूल महसूस हुई हो और वह मानो पश्चात्ताप के रूप में अपने मन को ही उपालंभित कर रहा हो—

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग, एरे मन मेरे, हाथ-पांव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नर नाहन की नाहीं सुनी, नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो॥
चलन न देतो देव, चंचल अचल करि, चाबुक चिता उनीनि मारि मुंह मोरतो।
भारी प्रेम-पाथर नगारो दै गरे ते बांधि, राधावर-विरद के वारिधि में बोरतो॥ ब्र.मा.सा.,३०५

अध्यात्म के चार सोपान : देव ने तत्त्वज्ञान के चार सोपान माने हैं। उनमें से प्रथम जगत्-दर्शन है अर्थात् जगत् की वास्तविकता को समझना है। जगत् माया से आच्छन्न है। ऐसी स्थिति में उसके जो विभिन्न नाम-रूप हैं और जो वह शत-शत आकर्षणों से मानव मन को वशीभूत कर लेता है। यह सब कुछ माया का ही चमत्कार है। माया की शक्ति अपार है। माया केवल मायापति के वश में है और वह मायापति है श्रीकृष्ण। आद्य शुद्धाद्वैत वेदान्ताचार्य विष्णु स्वामी लिखते हैं—**'स ईशो यद्वशे माया...'** जिसके वश में माया है, वह ईश्वर है। जीव-माया के वश में होकर कष्ट पाता है। उसे शुद्धाद्वैत-वेदान्त में अविद्या-माया नाम दिया गया है। उस माया के प्रभाव में कवि देव कहता है कि एक पुरुष-पुराण, दो अश्विनी कुमार, तीन दानव, चार युग, पांच भूत, छः ऋतुएं, सात सिंधु, आठ वसु, नव ग्रह, दस दिशाएं, एकादश ईश (रुद्र), द्वादश सूर्य, त्रयोदश चंद्र, चौदह भुवन सभी इस माया के वशीभूत हैं। संपूर्ण ब्रह्माण्ड में एक मात्र माया का ही शासन है तो बेचारे मनुष्य की तो शक्ति ही क्या ? मनुष्य इस माया से आच्छन्न रहता है। भगवान् के अनुग्रह से जब माया का आवरण हट जाता है, तब उसे संसार की वास्तविकता का पता चलता हैं। संसार क्षणभंगुर है। उसका राशि-राशि सौन्दर्य सभी क्षणिक है। मनुष्य का रूप, गौरव, उसकी शक्ति अहंकार सभी क्षणभंगुर हैं और अपनी क्षणभंगुरता में मानव एकदम विवश है। कवि देव ने यहां अद्वैत-वेदान्त के तत्त्वों का निरूपण किया है—

जाहीं की सकति एक पुरुष पुराण, दोऊ अस्विनी कुंवर, तीन्यौ दानव दुवन वह।
चार्यो जुग पांचौ भूत, छहों ऋतु सातों सिंधु, आठौं वसु, नवो ग्रह, निग्रह उपन पर॥
दसहू दिगीस ईश एकादस दिनकर द्वादस, त्रयोदस, समुद्र के सुवन पर।
मानत प्रमान देव माया जू की आन आन, आन चरचा न चलै चौदहों भुवन पर॥

देव ने यह स्पष्ट कहा है कि परमात्मा के अनुग्रह से सब कुछ सुलभ हो जाता है। प्रभु के अनुग्रह से अनहोनी बातें भी होकर ही रहती हैं। एक कवित्त में देव कहते हैं कि हे परमात्मा, आपके अनुग्रह से स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल ये तीनों सुई के छेद में से भी निकल सकते हैं। चौदह भुवनों को एक साधारण छोटा-सा कीड़ा भी खाकर पचा सकता है। चींटी के अण्डे में संपूर्ण ब्रह्माण्ड समा सकता है। एक जल की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बूंद में सातों समुद्र लहरा सकते हैं। संसार की बड़ी से बड़ी तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु तथा पृथ्वी, पवन अग्नि, आकाश, जल-थल सभी में तू ही तो निवास कर रहा है। हे प्रभु ! तेरो कृपा हो जाए तो राई में भी सुमेरु के दर्शन हो सकते हैं-

नाक भू, पाताल, नाक, सूची तें निकसि आए, चौद हौं भुवन् भूखे, भुनगा कौ भयौ हित ।
चींटी अंड भंड में समान्यौ, ब्रह्म अंड सब, सप्पत समुद्र वारि बूंद में हिलौरे लेत ।।
मिलि गयो मूल-थूल सूच्छम समूल कूल, पंच भूत गन अनुवन में कियौ निकेत ।
आप ही तें आप हीं सुमति सिखराई, 'देव', नखसिख राई में सुमेरु देखराई देत ।।

केवलाद्वैत एवं शुद्धाद्वैत वेदान्त का समन्वय : इस प्रकार देव के काव्य में शुद्धाद्वैत वेदान्त एवं केवलाद्वैत वेदान्त दोनों वेदान्त धाराओं के तत्त्वों का सुभग समन्वय हुआ है। देव ने अन्य कृष्ण कवियों की भांति केवलाद्वैत के माया मत का खंडन करके शुद्धाद्वैत मत के सगुणत्व की स्थापना नहीं की है, किन्तु सहज रूप में ही दोनों वेदान्त-धाराओं के तत्त्वों का काव्य के माध्यम से वर्णन किया हैं। देव का यह वर्णन हमें माहात्म्य एवं गरिमा की दृष्टि से गुर्जरधरा के परम वेदान्ती वैष्णव कवि नरसी महेता के **'निरखने गगनमां कोण घूमि रह्यो, तेज हु तेज हु शब्द बोले'**[1] पद का स्मरण दिलाता है। इस तरह के कुछ पदों को लेकर नरसी को विश्व में अप्रतिम कहा गया है, जिन्होंने काव्य के माध्यम से वेदान्त की परम ब्रह्मानुभूति को बड़े ही सहज रूप में व्यक्त किया है, जो अपने आप में अनुपम है।

९. बिहारी : बिहारी रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ रीतिमुक्त कवि हैं। यद्यपि उन्होंने अपने दोहों में मुख्यतः राधा-कृष्ण की रति का ही निरूपण किया है, फिर भी उनमें यत्र-तत्र दर्शन एवं वेदान्त विषयक विचार भी व्यक्त हुए हैं। एक भक्त के अन्तःकरण में कृष्ण की मोहन मूर्ति विराजमान है, पर एक अति अद्‌भुत बात यह है कि अन्तःकरण नें विद्यमान श्याम जगत् के अणु-अणु में प्रतिविंबत हो रहा है। कवि बिहारी की कल्पना देखिए। अभिधा में हम सोचें तो कवि यह कहना चाहता है कि प्रत्येक के भीतर और बाहर सब जगह परमात्मा श्रीकृष्ण व्याप्त हैं। वह अन्तःकलण में भी है, और वह बाहर भी सर्वत्र व्याप्त है। कवि ने काव्यात्मक शैली में इसी वेदान्त के तत्त्व को एक विशेष आश्चर्य से समन्वित कर दिया है जो वस्तु भीतर बंद है उसका वाहर प्रतिविंवित होना संभव नहीं है, पर जो श्याम है उनकी अद्‌भुत बात है। वे वसते हैं प्रत्येक के चित्त में पर वे प्रतिविंवित हो रहे हैं जगत् के प्रत्येक पदार्थ में। कवि के इस लघु छन्द में भक्ति एवं वेदान्त का अद्‌भुत समन्वय हुआ है। वेदांत इस रूप में कि **'सर्वं खलु इदं ब्रह्मः'** एवं भक्ति इसलिए कि जिसके अन्तःकरण में परमात्मा हैं उसे सब कुछ परमात्मामय दृष्टिगोचर होता है। बिहारी यही बात सतसई (दे. १६१) में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

मोहन मुरति स्याम की, अति अद्‌भुत गति जोई। बसत, सुचित अन्तर तऊ, प्रतिबिंबितु जग होई।

बिहारी कृष्णभक्त कवि हैं। उनका कृष्ण-भक्ति का फलक इतना व्यापक है कि जिसमें सभी सांप्रदायिक एवं दार्शनिक मत समाहित हो जाते हैं। सिद्धांत की दृष्टि से अनेक वेदान्तियों ने इन्हें शुद्धाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद इत्यादि दृष्टिकोणों से देखा है। पुष्टि-संप्रदाय, निम्बार्क-संप्रदाय, सखी-संप्रदाय, राधावल्लभीय-संप्रदाय इत्यादि साम्प्रदायिक भक्ति मतों में विविध रूपों में श्रीकृष्ण की पूजा आराधना की जाती है। बिहारी ने (सतसई दे. १८१) सभी साम्प्रदायिक वादों एवं दार्शनिक-मतों को एक तरफ करके केवल नन्दकिशोर को ही अपने अन्तःकरण में उच्चतम स्थान दिया है—

१. नरसीमहेताकृतकाव्यसंग्रह, इच्छाराम सूर्यराम देसाई

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं समझ्यौ निरधार, यह जगु कांचौ कांच सौं । एकै रूपु, अपार प्रतिविम्बित लखियतु जहां ॥

कवि बिहारी का मुख्य भाव यह है कि संसार के लोग भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक देवों की उपासना करते हैं, कोई वैष्णव है, कोई शैव है, कोई शाक्त है और इनमें भिन्न-भिन्न संप्रदाय हैं-जैसे द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत इत्यादि । ये सभी अपने-अपने पूजा-विधान में या मत के समर्थन में लीन हैं । ऐसा करना व्यर्थ शोर मचाना है । देखा जाए तो ये सभी भिन्न-भिन्न देवोपासक एवं संप्रदाय दार्शनिक किसी न किसी रूप में नन्द-किशोर की ही सेवा कर रहे हैं । कवि यह कहना चाहता है कि अखिल ब्रह्माण्ड नन्दकिशोरमय है ।

साधना की गहनता की दृष्टि से विचार करें तो भक्ति का अगला सोपान ही दर्शन है । भक्त जब भक्ति की गहराई में उतरता है, तब सब कुछ उसे असत्य भासित होने लगता है । जगत् उसे ब्रह्ममय दृष्टिगत होता है, कांच के समान उसे कच्चा दिखाई देता है तथा एक ही ईश्वर की सत्ता उसे अनंत रूपों में सर्वत्र व्याप्त दृष्टिगोचर होती है । ब्रह्म सत्य है एवं जगत् मिथ्या है । आचार्य शंकर का यह मायावाद यद्यपि विहारी के इस दोहे में स्पष्ट हुआ है पर आचार्य शंकर से भी आगे बढ़कर कवि विहारी ने सर्वत्र ब्रह्म की व्याप्ति देखी है । यहां भी भक्ति एवं वेदान्त दोनों का मणिकांचन योग हुआ है । कवि ने इस (सतसई, दो-५८१) के छोटे से छन्द में वेदान्त के उच्चतम विचार किस प्रकार भर दिए हैं, देखिए--

अपने-अपने मत लगे, वादि मचावत सोर । त्यौं-त्यौं सबकी सेइबो, एकै नन्द किसोर ॥

परमात्मा चिन्मय है । संपूर्ण जगत् उसी के द्वारा जाना जाता हैं । सबका आधार वही है, पर अहंकार विमूढ़ात्मा व्यक्ति उस चिन्मय परमात्मा को जो उसके अन्तःकरण में स्थित है, नहीं जान पाता है । कवि ने यहां अविद्या माया को आवरण के रूप में बताया है । अविद्या माया से आवृत्त जीव की स्थिति ऐसी ही होती है । कवि ने अपने कथन को बड़ी सुन्दर उपमा के द्वारा स्पष्ट किया है । व्यक्ति आँखों से सब कुछ देखता है पर वह अपनी आँखों से अपनी आँखों को ही वह नहीं देख पाता है । इसी तरह व्यक्ति संपूर्ण जगत् ब्रह्म के द्वारा ही जानता है, पर बड़े खेद की बात हैं कि उस ब्रह्म को ही वह नहीं जान पाता है । जैसे हम आँखों से सब कुछ देखते हैं पर अपनी आँखों से हम अपनी आँखों को नहीं देख पाते हैं--

जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाहिं ।
ज्यौ आंखिनु सबु देखिये, आंखिन देखी जाँहिं ॥ बिहारी सतसई, दोहा-४१

कवि बिहारी ने एक स्थान पर सगुण की अपेक्षा निर्गुण की उपासना को अधिक महत्त्व दिया है । सगुणोपासना में साधक और भक्त भगवान् की भक्ति करते समय स्तुति करते हैं, पर भक्त जितनी स्तुति करेंगे परमात्मा उतने ही समीप नहीं किन्तु दूर भागेंगे । जैसे पतंग चढ़ाते समय जितनी डोरी छोड़ेंगे उतनी ही पतंग आकाश में दूर जाएगी, वैसे ही सगुणोपासना में गुणों का विस्तार होता है । ईश्वर वास्तव में वैभव से दूर रहता है । उसका सही रूप तो निर्गुण-निराकार ही है । यदि निर्गुण के रूप में उसकी उपासना की जाए तो वह निकट ही है । जैसे पतंग हाथ में ही रहती है क्योंकि हमने उसे उड़ाई नहीं है । ठीक इसी प्रकार निर्गुण में दूर जाने की आवश्यकता नहीं होती । वह अन्तःकरण में ही है क्योंकि वह सर्वव्यापी है-

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन विस्तारन-काल ।
प्रकटत निर्गुन निकट रहि, चंग रंग गोपाल ॥ विहारी सतसई दो. ४२८

इसके विपरीत गोपियों के द्वारा विहारी ने सगुण आराधना को भी महत्त्वपूर्ण बताया है । सगुण-आराधना के सामने मुक्ति को भी कुछ नहीं समझा है । उद्धव से गोपियां कहती हैं कि हे प्रिय, कृष्ण न मिलें तो ऐसी मुक्ति भी हमारे लिए मिट्टी के समान है । यदि वे हमारे साथ हों तो नरक को भी हम घर बनाएंगी ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह 'भ्रमरगीत' से संबद्ध संवाद है। कृष्णोपासक कृष्ण को ही ब्रह्म मानते हैं और बिहारी कृष्णोपासक थे। उनके लिए कृष्ण ही ब्रह्म थे। कई समीक्षक बिहारी को राधा-वल्लभीय संप्रदाय का भी मानते हैं—

जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति मुंह दीन।
जौ लहियै संग सजन तौ, धरक नरक हूं कीन॥ बिहारी सतसई, दोहा-७५

बिहारी एक अन्य छंद में परमात्मा श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हैं कि अनेक पापियों को जैसे आपने मोक्ष दिया वैसे ही आप मुझे भी मोक्ष प्रदान करें और मोक्ष नहीं देना हो और बंधन में ही रखना हो तो आप मुझे अपने गुणों में बाँध कर रखें। यहां भी बिहारी ने सगुणोपासना की ही बात कही है। गुण में श्लेष है। वस्तु को बांधने के अर्थ में गुण का अर्थ रस्सी होगा एवं परमात्मा की आराधना के पक्ष में गुण का अर्थ सगुण परमात्मा होगा—

मोहूं दीजे मोषु, ज्यों अनेक अधमनु दियौ। जौ बाँधे ही तोषु, तौ बांधौ अपने गुननु॥ वि-स., २६१

बिहारी ने इस प्रकार ब्रह्म के सर्वव्यापी सच्चिदानंद, सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म का बड़ा ही तात्त्विक वर्णन किया है। सूर और तुलसी जैसे कवियों ने विस्तारपूर्वक बड़े-बड़े छन्दों में ब्रह्म की स्तुति की है वहां बिहारी ने दोहे जैसे एक लघु छंद में गागर में सागर भर दिया है। बिहारी ने एक उच्चतम स्थिति तक पहुंचे हुए वेदान्ती की भांति संसार की माया की बड़ी ही भर्त्सना की है। जीव को उन्होंने कुरंग कहा है और संसार के विषयों को एवं ममत्व को जाल कहा है। जाल में फँसा हुआ कुरंग ज्यों-ज्यों छूटना चाहता है त्यों-त्यों उलझता चला जाता है। वैसे हीं संसारी जीव ज्यों-ज्यों विषयों से एवं माया से मुक्त होने का प्रयत्न करता है त्यो-त्यों उसमें अधिकाधिक फँसता चला जाता है। यह एक अन्योक्ति है। कवि का यह कहना है कि माया-जाल में फँसे जीव रूपी कुरंग के हाथ-पैर मारने से कोई छुटकारा नहीं मिलने वाला है--

को छुट्यौ इहिं जाल परि, कत, कुरंग अकुलात।
ज्यों-ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत त्यों-त्यों उरझत जात॥ बिहारी सतसई दो. ६७१

इस कथन से यह ध्वनित होता है कि परमात्मा की कृपा से ही व्यक्ति माया से मुक्त हो सकता है। कवि बिहारी माया से मुक्ति का एक दूसरा उपाय बताते हुए गीता की स्थितप्रज्ञ स्थिति को हमारे सामने रखते हैं। स्थितप्रज्ञ के लिए दुःख-सुख, लाभ-अलाभ, विजय-पराजय, सभी स्थितियां समान हैं। वह सभी परिस्थितियों में समभाव में रहता है। वह न दुःख में दीर्घ श्वास लेता है और न सुख में परमात्मा को ही भूलता है। ऐसा व्यक्ति ही वास्तव में संसार से ऊपर उठा हुआ कहा जाएगा। कवि बिहारी अपनी सतसई (दो. ६७) में एक तटस्थ द्रष्टा के रूप में हमारे सामने आते हैं—

दीरघ सांस न लेहु दुख, सुख साईं हिं न भूलि, दई दई क्यों करतु है, दई-दई सु कबूलि॥

इस प्रकार बिहारी ने माया के प्रभाव से जीव कैसे मुक्त हो सकता है और वह ममत्व से ऊपर उठकर कैसे परम शान्त भाव से रह सकता है, इसका बड़ी गहराई के साथ तात्त्विक वर्णन किया है।

१०. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' :

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'प्रिय प्रवास' सत्रह सर्गों में निबद्ध आधुनिक युगीय महाकाव्य है। इसके षोडश सर्ग में कुछ छंद ऐसे हैं, जिनमें दर्शन एवं वेदान्त के तत्त्व निरूपित हुए हैं। उद्धव राधा को ज्ञान एवं योग का उपदेश देते हैं तब राधा अतीव नम्र भाव से उनके ज्ञानोपदेश को स्वीकार करती हैं। वे कहती हैं कि उद्धव आपको देखकर और आपके संदेश को श्रवण कर, ज्ञान की आभा

CC-0. Gurukul Kangri Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाकर मेरे उर का तिमिर विनष्ट हुआ है। मुझे ज्ञान का प्रकाश मिलने से उचित मार्ग दृष्टिगोचर हो रहा है। सब कुछ होते हुए भी मैं स्त्री हूँ। मेरे पास संवेदनशील, तरल हृदय है एवं मैं प्रियतम श्रीकृष्ण से वंचित हूँ। इस कारण मेरा विकल होना, विमन होना, विचित्र नहीं है। श्रीकृष्ण के यहां से चले जाने के कारण हमारा ब्रज प्रदेश श्रीहीन हो गया है। जैसे चन्द्र के डूबने से रात्रि और भी अंधकारमयी हो जाती है, वसंत के चले जाने पर वाटिका शोभाहीन हो जाती है, वैसे ही हम श्रीकृष्णचन्द्र की कान्ति से वंचित हो जाने के कारण श्रीहीन हो गए हैं। हम ही नहीं समस्त ब्रज प्रांत म्लान एवं निस्तेज हो गया है। यह हम जानती हैं कि जो ज्ञानी होते हैं और जो पंडित होते हैं, उन्हें मोह नहीं होता पर हम तो स्त्रियां हैं। हम नित्य ही स्वस्थ और संयत होने का प्रयत्न करती हैं. पर श्याम की याद आते ही हम व्यथित हो जाती हैं। उनके रूप का मोह भी कैसे छोड़ें? कामदेव को पंचशर कहा गया है। वह भी तो श्रीकृष्ण का ही स्वरूप है। वह जब हमारे अंतःकरण को बेधता है तब हम अधीर हो जाती हैं।[1]

हे उद्धव, जो इन्द्रियातीत है, जो अव्यक्त है और जो अनिर्वचनीय है, उसे हम अबुध अबलाएं कैसे जान पाएँगी। हमारे लिए तो साकार ब्रह्म ही उपासनीय है। जो भावों का विषय बन सकता है, जो बुद्धि का विषय बन सकता है और जो इन्द्रियों का विषय बन सकता है वही सगुण ब्रह्म हमारे लिए उपास्य है—

जो आता है न जन-मन में जो परे बुद्धि के है, जो भावों का विषय न बना, नित्य अव्यक्त जो है।
है ज्ञाता की न गति जिसमें, इन्द्रियातीत जो है, सो क्या है, मैं अबुध अबला, जान पाऊं उसे क्यों॥

राधा ब्रह्म के विराट् स्वरूप का वर्णन स्वयं करती है। वेद में विराट् ब्रह्म का वर्णन 'पुरुषसूक्त' में किया गया है। वह विराट् ब्रह्म हजारों सिर एवं हजारों आंखों वाला है—'**सहस्रशीर्ष पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपातः।**' यहां सहस्र से तात्पर्य है अनंत। 'गीता' में कृष्ण ने अर्जुन को जिस विराट् रूप का दर्शन कराया है उसकी कल्पना का आधार भी 'पुरुषसूक्त' ही है। राधा कहती है कि शास्त्रों में प्रभु के अमित शीश एवं अमित लोचन कहे गए हैं। उनके पाद, एवं हस्त भी अनेक हैं। परब्रह्म स्वयं मुख, नेत्र इत्यादि इन्द्रियों से रहित होने पर भी खाता है, देखता है, छूता है, सुनता है, सूंघता है, सो उसका तात्पर्य यह यह है कि वह जगत् एवं जीवन रूप में व्याप्त होकर विषयों का ग्रहण कर रहा है। अर्थात् जो कुछ जीव विषयोपभोग कर रहा है, इन्द्रियोपभोग कर रहा है, वह वास्तव में ब्रह्म ही कर रहा है, क्योंकि वेदांतियों ने सृष्टि का रहस्य यही बताया है कि सारे प्राणी परमात्मा की ही मूर्तियां हैं इसलिए उस परमात्मा को अमित शीश वाला, अमित आंखों वाला कहा गया है—

शास्त्रों में है कथित प्रभु के, शीश और लोचनों की।
संख्याएं हैं अमित पग और हस्त भी हैं अनेकों॥
सो हो के भी रहित मुख से नेत्र, नासादिकों से।
छूता, खाता, श्रवण करता, देखता, सूंघता है॥ प्रियप्रवास, पृ. २५४

परमात्मा इन्द्रियों से रहित है, निराकार है, पर वही जब विषयों की इच्छा करता है तब एक से अनेक हो जाता है। इस तरह जो कुछ है, वह परमात्मा का ही अंश है। निर्गुण निराकार रूप, नासा, दृग, रसना, इत्यादि रहित होने पर भी वह जीवों के रूप में प्रकट होकर सूंघता है, देखता है, स्वाद लेता है। शुद्धाद्वैत-वेदान्त का यह अविकृत-परिणामवाद है। तारों में, सूर्य और चन्द्र में वह्नि एवं

१. 'प्रिय प्रवास', पृ. २४५-२४६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्युत् में, नाना रत्नों में विविध मणियों में ब्रह्म का ही प्रकाश व्याप्त है। पृथ्वी, जल, पवन, अग्नि, वृक्ष, पक्षी इन सभी में परब्रह्म ही व्याप्त है। वृक्ष पक्षी इन सभी में परब्रह्म ही व्याप्त है। इस प्रकार जगत् ब्रह्म का ही स्वरूप है—

निष्प्राणों की विफल बनतीं सर्व गात्रेन्द्रियां हैं, है अन्या शक्ति कृति करती वस्तुतः इन्द्रियों की।
औ है नासा न दृग रसना आदि ईशांश ही है, होके नासादि रहित अतः सूंघता आदि सो है॥
ताराओं में तिमिर हर में, वह्नि विद्युल्लता में, नाना रत्नों: विविध मणियों, में विभा है उसीकी।
पृथ्वी, पानी पवन नभ में, पादपों में, खगों में, मैं पाती हूं प्रथित-प्रभुता विश्व में व्याप्त की ही॥

जगत् परमात्मा की ही नित्य लीला है। 'लीला' मुख्यतः संभोग श्रृंगार के दस प्रकार के भावों में से एक है। पर यहां 'लीला' शब्द से जगत् का विस्तार अर्थ लिया गया है। जगत् का विस्तार एवं उसमें जीवन का विलास ही परब्रह्म की लीला है। परब्रह्म की इस लीला के राधा ने स्नेह-युक्त परम मधु पवित्र, उच्चतम, सरस, ज्ञानगर्भा, मनोज्ञा, परमपूज्या, एवं अन्तःकरण को आनंद देनेवाली कहा है। राधा का यह कहना है कि परब्रह्म ने आनंद के लिए ही जगत् एवं जीव का विस्तार किया है। इसलिए हमें जगत् एवं जीवन के भी आनंदमय देखना चाहिए। राधा आगे यह भी कहती है कि परब्रह्म विश्व रूप है और प्रियतम श्रीकृष्ण में ही मैंने उस परब्रह्म के दर्शन किए हैं। श्रीकृष्ण ही जगत् पति हैं, परब्रह्म हैं। यहां भीं शुद्धाद्वैत वेदान्त सें संबद्ध विचार निरूपित हुए हैं। शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार श्रीकृष्ण के ही परब्रह्म माना गया है, वे ही आधिभौतिक परब्रह्म हैं—

प्यारी-सत्ता जगत-गत की, नित्य लीलामयी है, स्नेहोपेता परम-मधुरा, पूतता में पगी है।
ऊंची-न्यारी-सरल-सरसा, ज्ञान-गर्भा मनोज्ञा, पूज्या मान्या हृदय-तल की, रंजिनी उज्ज्वला है॥
मैंने की हैं कथन जितनी, शास्त्र-विज्ञान बातें, वे बातें हैं प्रकट करनी, ब्रह्म है विश्वरूपी।
व्यापी है विश्व प्रियतम में, विश्व में प्राण-प्यारा, यों ही मैंने जगत्-पति को श्याम में है विलोका॥

तात्पर्य यह है कि 'प्रियप्रवास' में राधा के द्वारा कवि ने एक ही बात की ओर बार-बार संकेत किया है कि परमात्मा विश्वात्मा है। वह परम प्रभु है। समस्त प्राणी, समस्त सरिताएँ, लताएँ, वृक्ष, जीव इत्यादि सब उसी के स्वरूप हैं—

विश्वात्मा जो परम प्रभु है रूप तो हैं उसी के। सारे प्राणी सारे गिरि लता वेलियाँ वृक्ष नाना॥

यहां शुद्धाद्वैतवाद का ब्रह्मवाद निरूपित हुआ है। 'प्रियप्रवास' कीं राधा सूर एवं 'रत्नाकर' की राधा से भिन्न है। वह स्त्रीकार करती है कि मैं मोहमग्ना हूं। विश्व में व्याप्त जीव रूपी ब्रह्म की मैं तनुजा सेवा सुश्रूषा करूंगी। यही मेरा आजन्म व्रत रहेगा। वे उद्धव से कहती हैं कि आप मथुरा जाकर श्रीकृष्ण से इतना ही कहें कि वे एक बार अपने गोप-गोपिकाओं के एवं अपने माता-पिता के मुंह दिखा आएँ। उद्धव राधा के नम्रतापूर्ण वचन सुनकर अति द्रवित हुए तथा उन्होंने राधा की चरण रज लेकर अतीव शांति प्राप्त की—

(अ) गोपी गोपों विकल ब्रज की, बालिका बालकों को।
आके पुष्पानुपम मुखड़ा, प्राण प्यारे दिखावें॥
बाधा कोई न यदि प्रिय के, चारु-कर्त्तव्य में हो।
तो वे आके जनक जननी, की दशा देख जावें॥

(आ) चुप हुई इतना कह मुग्ध हो, ब्रज विभूति विभूषण राधिका।
चरण की रज ले हरिबंधु भी, परम शान्ति समेत बिदा हुए॥ प्रियप्रवास, पृ. २५९

इस प्रकार जहां कहीं कृष्ण कथा आती है, कवि प्रायः किसी न किसी अंश में वहां दर्शन एवं वेदान्त की ओर ढलता हुआ-सा दृष्टिगत होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११. रामधारीसिंह 'दिनकर' :

आधुनिक युग के राष्ट्रीय कवि रामधारीसिंह 'दिनकर' का 'रश्मिरथी' एवं 'कुरुक्षेत्र' काव्य 'महाभारत' की कथा से संबद्ध है। इन दोनों काव्यों के साथ श्रीकृष्ण का चरित्र जुड़ा हुआ है। कृष्ण 'महाभारत' के युद्ध के सूत्रधार थे। उन्होंने न केवल अर्जुन के रथ की ही वागडोर सम्हाली, थी अपितु उस महायुद्ध के संधि-विग्रह के उलझे-बिखरे सूत्र भी उन्होंने अपने हाथ में ले लिए थे।

'दिनकर' ने अपने ग्रंथ 'संस्कृति के चार अध्याय' में इस तथ्य को प्रस्तुत किया है कि कृष्ण की व्रज-लीलाएँ कल्पित हैं एवं उनमें अश्लील शृंगार को संयुक्त करने वाले कवि भ्रांत एवं भक्त आचार-युत हैं। बात सत्य है। क्या ब्रह्म इस प्रकार की अश्लील लीलाएँ करने के लिए प्रकृत जन जिस लिंग-योनी जैसे अधोमार्ग से संसार में आता है, उस मार्ग से आएगा ? विदेशी बुद्धिजीवी जब श्रीकृष्ण की भागवतीय शृंगार-लीलाओं के संबंध में हमसे प्रश्न करते हैं, तब हम निरुत्तर ही नहीं हो जाते, अपितु मारे शर्म के हम ऊपर आँख तक नहीं उठा पाते हैं।

'दिनकर' ने 'रश्मिरथी' में कृष्ण के 'महाभारत' के धार्मिक वीर एवं दार्शनिक चरित को ही प्रस्तुत किया है, जो आंशिक ऐतिहासिक है। 'रश्मिरथी' काव्य कर्ण के चरित को लेकर लिखा गया है, पर इसमें कृष्ण के दिव्य एवं विराट् व्यक्तित्व का भी 'दिनकर' ने बड़े ही सहज रूप में गुंफन किया है।

जगत् विराट् ब्रह्म का ही स्वरूप है। 'ऋग्वेद' में इसी विराट् ब्रह्म को 'पुरुष' नाम दिया गया है। 'यजुर्वेद' का ३१ वाँ अध्याय 'पुरुषसूक्त' है। 'पुरुषसूक्त' का तात्पर्य है ब्रह्म के विराट् स्वरूप की स्तुति। २२ मंत्रों में ब्रह्म के विराट् स्वरूप की स्तुति की गई है। विराट् ब्रह्म कों पुरुष कहकर यजुर्वेद में उसके हजारों नेत्र, असंख्य पाद बताकर उसे व्यापक जगदीश्वर कहा गया है। उसे सर्वत्र व्याप्त कहा गया है तथा पाँच स्थूल भूत एवं पांच सूक्ष्म भूत उसके अवयव बताए गए हैं।

'रश्मिरथी' में भगवान् श्रीकृष्ण ने अन्य सन्दर्भ में अपना विराट् रूप बताया है। श्रीकृष्ण दूत बनकर दुर्योधन के पास गए। महाराज धृतराष्ट्र की उपस्थिति में एवं समस्त कौरवों की राज्य सभा में उन्होंने दुर्योधन को समझाया कि पांडवों को वह आधा राज्य और नहीं तो कम से कम पाँच गांव ही दे दे। पर दुर्योधन नहीं माना। सुई के अग्र भाग के जितनी भूमि देना भी उसने स्वीकार नहीं किया और जब भगवान् श्रीकृष्ण वहां से चलने को प्रस्तुत हुए तब वह उनको बंधन में डालने को प्रस्तुत हुआ। उस समय भगवान् ने भीषण हुंकार करके अपने स्वरूप का विस्तार किया। भगवान् कुपित हुए। उनके भीषण स्वरूप को देखकर दिग्गज डोलने लगे। भगवान् ने अपना विराट् स्वरूप दुर्योधन को दिखा कर कहा कि देख, आकाश मुझ में लय है, पवन मुझ में लय है, समस्त संसार मुझ में लय है। जीवन और संहार दोनों का कारण मैं हूँ-

> **हरि ने भीषण हुंकार किया, अपना स्वरूप विस्तार किया।**
> **डगमग-डगमग दिग्गज डोले, भगवान कुपित होकर बोले॥**
> **जंजीर बढ़ाकर साध मुझे, हां-हां दुर्योधन बांध मुझे।**
> **यह देख, गगन मुझमें लय है, यह देख पवन मुझमें लय है॥**
> **मुझमें विलीन झंकार सकल, मुझमें लय है संसार सकल।**
> **अमरत्व फूलता है मुझमें, संहार झूलता है मुझ में॥** रश्मिरथी, पृ. २९

हे दुर्योधन, उदयाचल मेरा भाल है, पृथ्वी मेरा विशाल वक्ष-स्थल है। मेरे मुख के अन्दर सभी ग्रह-नक्षत्र प्रकाशित हो रहे हैं। तेरी आंखों में शक्ति हो तो देख। चर-अचर रूपी जीव क्षर-अक्षर सारा जगत् नश्वर मानव और देवता सभी मुझ में हैं। सैंकड़ों सरिताएं मुझ में हैं और सैकड़ों समुद्र और पर्वत मुझ में हैं। सैकड़ों विष्णु, ब्रह्मा, शंकर, कुबेर, वरुण, लोकपाल सभी मुझ में हैं-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदयाचल मेरा दीप्त भाल, भूमंडल वक्षस्थल विशाल ।
भुज परिधि बन्ध को घेरे हैं, मैनाक मेरु पग मेरे हैं ॥
दिपते जो ग्रह-नक्षत्र-निकर, सब हैं मेरे मुख के अन्दर ।
दृग हों तो दृश्य अकाण्ड देख, मुझमें सारा ब्रह्माण्ड देख ॥
चर-अचर जीव, जग क्षर, अक्षर, नश्वर मनुष्य, सूरं जाति अमर ।
शत कोटि सूर्य शत कोटि चन्द्र, शत कोटि सरित, सर, सिन्धु, मन्द्र ॥
शत कोटि विष्णु, ब्रह्मा, महेश, शत कोटि विष्णु, जलपति धनेश ।
शत कोटि रुद्र, शत कोटि काल, शत कोटि दण्डधर लोकपाल ॥ रश्मिरथी, पृ. ३०

हे दुर्योधन ! जगत् का प्रारंभ भी मुझमें देख, पृथ्वी, पाताल भी मुझमें देख, भूत और भविष्य भी मुझमें देख, और यह भूमि मृत लोगों से पटी हुई है, इसमें तू भी मरा हुआ पड़ा है, पहचान तू अपने आप को देख आकाश में मेरे केश फैले हुए हैं । मेरे पैरों के नीचे पाताल है । भूत, भविष्य वर्तमान तीनों काल मेरी मुट्ठी में हैं । सभी मुझसे जन्म लेते हैं और सभी मुझमें लौट आते हैं ।

शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप ऐसा ही है । परब्रह्म जो आधिभौतिक ब्रह्म है, वही जगत् एवं जीव का आविर्भाव का कारण है एवं जगत् एवं जीव उसी में पुनः तिरोहित होते हैं । यह जो इन्द्रिय गोचर है एवं वह सभी ब्रह्म का ही स्वरूप है । श्रीकृष्ण ने अपने विराट् रूप में यही आविर्भाव एवं तिरोभाव बताया है—

भूलोक, अतल, पाताल देख, गत और अनागत काल देख ।
यह देख, जगत का आदि-सृजन, यह देख, महाभारत कारण ॥
मृतकों से पटी हुई भू है, पहचान, कहां इसमें तू है ।
अम्बर में कुन्तल-जाल देख, पद के नीचे पाताल देख ॥
मुट्ठी में तीनों काल देख, मेरा स्वरूप विकराल देख ।
सब जन्म मुझी से पाते हैं, फिर लौट मुझी में आते हैं । रश्मिरथी, पृ. ३०

हे दुर्योधन ! मेरी जिह्वाओं से ज्वालाएँ निकल रही हैं, और उन्हीं से सारा विश्व ऊष्मा पाता है और जीवन पाता है । मेरे श्वास से पवन जन्मा है । सारे संसार में जीव जो श्वास ले रहे हैं जन्म ले रहे हैं, वे मेरे द्वारा ही । मैं जिधर देखता हूं उधर सृष्टि हंसने लगती है और जब मैं आँखें बंद कर लेता हूं तो चारों तरफ विनाश का साम्राज्य छा जाता है, जगत् श्मशान हो जाता है । हे दुर्योधन ! मेरे इस विराट् स्वरूप को, विकराल स्वरूप को क्या तू बांध सकेगा ?[1]

इन उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त हिन्दी कृष्ण-कवियों में हिन्दी की स्वच्छंद काव्यधारा के सर्व श्रेष्ठ कवि घनानंद, तथा कविवर सत्यनारायण, धर्मवीर भारती, इत्यादि भी महत्त्वपूर्ण हैं पर इनके काव्य में वेदान्त के तत्त्वों का निरूपण नहीं हुआ है ।

घनानंद रीतिकाल में हुए । इनके छोटे-बड़े कृष्ण संबंधी ३५ ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें राधा-कृष्ण के स्वच्छंद प्रेम का ही मुख्यतः निरूपण हुआ है । घनानंद की सर्वाधिक विशेषता यह कि प्रत्येक कृष्णलीला में उन्होंने एक सखी के रूप में स्वयं को उपस्थित बताया है जो हिन्दी साहित्य में हमारा दृष्टि से अद्वितीय है । गुजरात के आदि वैष्णव कवि नरसी ने भी स्वयं को कृष्ण की समस्त मधुरतम लीलाओं में उपस्थित बताया है । अपने इष्टदेव के प्रति इतना तादात्म्य एवं दबंग भाव परम स्तुत्य है ।

कवि सत्यनारायण के 'भ्रमरदूत' काव्य में श्रीकृष्ण की भक्ति के साथ-साथ स्वदेश प्रेम का स्वर अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता से मुखरित हुआ है । तो धर्मवीर 'भारती' की 'कनुप्रिया' में एकमात्र राधा-कृष्ण का मधुर मदगंधी रसोल्लास ।

१. रश्मिरथी-पृ. ३१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठ अध्याय

हिन्दीतर प्रदेश के हिन्दी कृष्ण–काव्य में वेदान्त

* हिन्दी भाषा जब से अपभ्रंश से विकसित हुई, तभी से उसका विकास अखिल भारतीय स्तर पर हुआ है। इसकी अभिवृद्धि में हिन्दी प्रदेश के ही नहीं, अपितु हिन्दीतर प्रदेश के **गुजरात महाराष्ट्र, पंजाब, कश्मीर, बंगाल, असम, उड़ीसा, तमिलनाडु, कर्णाटक, आन्ध्र** प्रदेश के विभिन्न साहित्यकारों, लेखकों, धार्मिक–सामाजिक–राष्ट्रिय नेताओं ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

* हिन्दीतर प्रदेशों में हिन्दी का जो विपुल साहित्य सर्जित हुआ है, उसमें गुजरात मूर्धन्य है। डिंगल, व्रज, अवधी, खड़ीबोली हिन्दी के ये विविध रूप हैं। इन सभी रूपों में गुजरात के कवि एवं साक्षर–वर्ग ने प्रचुर–साहित्य लिखा है। पन्द्रहवीं सदी से लेकर आज तक गुजरात में शताधिक हिन्दी कवि हुए हैं।

* हिन्दीतर प्रदेश के हिन्दी कृष्ण–कवियों में 'हिन्दी कृष्ण–काव्य में भक्ति एवं वेदान्त' निरूपण की दृष्टि से गुजरात का मध्यकालीन कवि **दयाराम** एक ऐसी समर्थ प्रतिभा हुई है कि इस क्षेत्र में हिन्दी एवं हिन्दीतर प्रदेश ही क्या विश्व का कोई भी हिन्दी एवं हिन्दीतर कृष्ण–कवि इसकी तुलना में ठहर नहीं सकता।

* राजस्थानी हिन्दी की उपभाषा है तो गुजराती भी तो राजस्थानी एवं हिन्दी की बहन है। हिन्दी, राजस्थानी एवं गुजराती तीनों का जन्म एवं विकास एक ही अपभ्रंश से हुआ है फिर हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने क्यों नहीं गुजराती भाषा एवं साहित्य से अपना संबंध जोड़ा ?

* भारत स्वतंत्र होने के पश्चात् राष्ट्र के कई नेता भाषा, रहन–सहन, आचार–विचार की समानता देख कर गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ एवं राजस्थान को जोड़कर एक ही राज्य बना देना चाहते थे, पर दुष्ट ग्रहों (स्वार्थी राजकीय नेताओं) के कारण यह काम सफल न हो सका–क्योंकि **'राजनीति देवकन्या की नहीं, विष–कन्या की आत्मजा है।'**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

।। ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ।।

षष्ठ अध्याय

हिन्दीतर प्रदेश के हिन्दी कृष्ण-काव्य में भक्ति एवं वेदान्त

गत अध्याय में हम अष्टछापेतर हिन्दी कृष्ण काव्य में वेदान्त विषय पर विचार कर चुके हैं। इस अध्याय में हम हिन्दीतर प्रदेश के हिन्दी कृष्ण काव्य में वेदान्त विषय पर विचार करेंगे।

हिन्दी भारत की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा :

प्रारंभ से ही अर्थात् जब से हिन्दी भाषा अपभ्रंश से विकसित हुई है, तभी से उसका विकास अखिल भारतीय स्तर पर हुआ है। इसकी अभिवृद्धि में हिन्दीतर प्रदेशों के विभिन्न साहित्यकारों, लेखकों, धार्मिक सामाजिक एवं राष्ट्रीय नेताओं ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इस सम्बंध में डॅा. मलिक मुहम्मद लिखते हैं–

(अ) "राष्ट्रवाणी के रूप में हिन्दी का विकास अधिकांशतः उन चिन्तकों, मनीषियों और भविष्य द्रष्टाओं द्वारा किया गया है, जो अधिकतर हिन्दी प्रदेशों के नहीं थे। किसी भी भाषा की राष्ट्रभाषा के रूप में कल्पना तभी रूपाकार हो सकती है, जब कि उसके बोलने समझने वाले सभी प्रान्तों में विद्यमान हों और उस भाषा के साहित्य-समुद्र में सभी प्रान्तीय भाषाओं की नदियाँ अपना जल अर्पित करती हों।"

(आ) "हिन्दी की प्रगति और विकास में और उसको राष्ट्रवाणी का स्वरूप प्रदान करने में अहिन्दी-भाषी हिन्दी कवियों का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।"

(इ) "प्रारंभ से ही हिन्दी का विकास एक अखिल भारतीय माध्यम के रूप में हुआ है। इसकी संवृद्धि में हिन्दीतर प्रदेशों के विभिन्न साहित्यकारों, लेखकों और राष्ट्रीय नेताओं ने बहुत बडा योगदान दिया है। आज हिन्दी का जो विपुल साहित्य हमें उपलब्ध है, उसके अनगिनत अहिन्दी भाषी साहित्यकारों ने अमूल्य कार्य किया है।"[1]

उपर्युक्त कथन शत प्रतिशत यथार्थ है। हिन्दी का जन्म जिस मध्यदेश की अपभ्रंश से हुआ, उस मध्यदेश की भाषा आदि काल से ही अखिल भारत की संपर्क भाषा रही है। इस कारण गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाड़, कर्णाटक, उड़ीसा, बंगाल, असम, पंजाब इत्यादि सभी भारतीय प्रदेशों के साहित्यकारों ने हिन्दी में साहित्य लिखा है। इस संबंध में प्रभाकर माचवे का मंतव्य भी दृष्टव्य है। 'आज की हिन्दीभाषा और साहित्य की उन्नति केवल हिन्दीभाषा-भाषियों द्वारा नहीं की गई है। हिन्दी की विशेषता यह है कि वह मध्यदेश की भाषा सदियों से रही और उसकी श्री वृद्धि भारत के अन्य भाषा-भाषी प्रान्तों और प्रदेशों के लेखकों, विद्वानों, कवियों उपन्यासकारों द्वारा हुई है। महाराष्ट्र इसमें उपवाद नहीं है।'[2]

भारतीय संस्कृति का निर्माण एवं इसकी विकास यात्रा एक सविशेष देश-काल के परिप्रेक्ष्य में हुई है। भारत में प्रदेश-प्रदेश के बीच साधारण स्थूल विभेदों के होते हुए भी कश्मीर से कन्याकुमारी तक एवं

१. हिन्दी साहित्य को हिन्दीतर प्रदेशों की देन, डॅा. मलिक मोहम्मद, पृ. २७
२. हिन्दी साहित्य को महाराष्ट्र की देन, डॅा. प्रभाकर माचवे पृ. ४१

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कच्छ से कामरूप (असम) तक भारतीय संस्कृति की आत्मा वैदिक काल की प्रत्यूष वेला से अद्यावधि तक 'सूत्रे मणिगणा इव' सूत्र में मणियों की भांति एक ही अन्तःसूत्र में अनुस्यूत रही है। अखिल भारतीय भाषा से तात्पर्य है, वह भाषा जो श्रृंखला के रूप में सभी प्रदेशों को जोड़ती रही हो एवं जो एक प्रदेश का दूसरे प्रदेश के साथ राजनीतिक, सामाजिक एवं व्यावसायिक पत्राचार, विचारों के आदान-प्रदान की भाषा रही हो, साथ ही प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय भाषा के साथ-साथ उसमें भी साहित्य का सर्जन हुआ हो। जैसे गुजरात में गुजराती के साथ-साथ हिन्दी में भी गुजरात के साहित्यकारों ने साहित्य लिखा है।

भारत में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काल तक राष्ट्रभाषा के विकास की परंपरा अक्षुण्ण रूप में रही है। दसवीं शताब्दि के लगभग विविध अपभ्रंशों से आधुनिक आर्यभाषाओं का विकास हुआ। प्राचीन काल की संस्कृत आदि की भांति इस काल में भी संपर्क भाषा के रूप में शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित व्रजभाषा ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस युग में अनेक साधु-संतों एवं पर्यटकों ने सारे भारत में व्रजभाषा का ही संपर्क भाषा के रूप में व्यवहार किया है तथा इस काल में महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, कश्मीर, असम, बंगाल, उड़ीसा इत्यादि भारत के विभिन्न प्रदेशों में व्रजभाषा में कृष्ण संबंधी साहित्य निर्मित हुआ है।

हिन्दीतर प्रदेश का हिन्दी कृष्ण-काव्य

महाराष्ट्र का हिन्दी कृष्ण-काव्य : भारत के वैष्णव संप्रदायों में महाराष्ट्र के वारकारी संप्रदाय का महत्वपूर्ण स्थान है। **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किंचन'** (ब्रह्म एक एवं अद्वितीय है, पर जो कुछ है, वह ब्रह्म ही है।) यही इस सम्प्रदाय का मुख्य आधार भूत सिद्धान्त है। सगुण ब्रह्म की उपासना करने पर भी इस सप्रदाय के संत-भक्तों का चरम लक्ष्य निर्गुण की उपलब्धि ही रहा है। इस मत में परम आनंद की चरमावस्था अद्वैत ही मान्य है। नामदेव, ज्ञानदेव, एकनाथ तुकाराम आदि इसी संप्रदाय के संत थे, जिन्होंने व्रजभाषा में लिखा है। इनके अतिरिक्त भी कई महाराष्ट्री संत-भक्तों ने व्रज-भाषा में कृष्ण भक्ति से संबंधित रचनाएं की हैं। नामदेव महाराष्ट्र के एक श्रेष्ठ कवि थे, जिन्होंने मराठी के साथ-साथ हिन्दी में भी कुछ कृष्णभक्ति से सबंद्ध पद लिखे हैं। नामदेव की रचनाओं को गुरु ग्रंथसाहब में भी स्थान मिला है। उदाहरणार्थ नामदेव का एक पद इस प्रकार है—

जहां तुम चन्दा, तहं हम चकोरा। जहां तुम सरवर, तहं हम माछी।
जहां तुम दीपा, तहं हम बाती।
बेल के पाती शंकर पूजा।[1] नामदेव कहे भाव नहीं दूजा।

उपर्युक्त छन्द में वेदान्त का ब्रह्म भाव स्पष्ट है। हे परमेश्वर, तुम यहां ब्रह्म हो और हम यहां आत्मा हैं, जीव हैं। इस तरह प्रत्येक स्थिति में नामदेव स्वयं को परमात्मा के साथ संबद्ध देखना चाहता है।

छत्रपति शिवाजी के मराठा दरबार में भी व्रज भाषा का बड़ा सम्मान था। व्रज भाषा मराठा दरबार की सहवर्ती भाषा थी।[1] मराठा दरबार में न केवल व्रज भाषा के कवियों को सम्मान दिया जाता था, अपितु स्वयं शिवाजी, शंभाजी, साहूजी इत्यादि राजाओं ने भी व्रज भाषा में काव्य रचना करके इस भाषा के राष्ट्रीय स्वरूप का संवर्द्धन किया था।

पंजाब, कश्मीर, असम, बंगाल, उड़ीसा का हिन्दी कृष्ण काव्य :

इसी प्रकार पंजाब के सिक्खों के गुरु नानक, गुरु अंगद, गुरु गोविंदसिंह, कश्मीर के केशव भट्ट और

---

१. हिन्दी साहित्य को मराठी की देन, प्रभाकर माचवे, पृ. ५१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री लाल झाड़ू, असम के शंकरदेव, माधवदेव इत्यादि, बंगाल के चैतन्य महाप्रभु, ज्ञानदास और गोविंद, उड़ीसा के राय रामानंद, भट्ट नायक, राजकवि प्रताप रुद्रदेव, जगन्नाथदास, आनंददास, उद्धवदास आदि अनगिनत कवि हुए, जिन्होंने व्रजभाषा में साहित्य–सर्जन करके व्रजभाषा के अखिल भारतीय राष्ट्रीय स्वरूप के निर्माण में अमूल्य योग दिया है । इन कवियों में से प्रायः सभी ने कृष्ण से सम्बद्ध कुछ न कुछ अवश्य लिखा है । भारत के असम, बंगाल, तथा उड़ीसा इन पूर्वांचलिक प्रदेशों में व्रजभाषा की एक बोली 'ब्रजबुलि' का प्रचलन रहा, तथा इन प्रदेशों में इस भाषा में पर्याप्त साहित्य भी लिखा गया है, जिसमें कृष्ण संबंधी साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में निर्मित हुआ है ।

तमिलनाडु कर्नाटक, केरल, आन्ध्र इत्यादि दक्षिण भारत के प्रान्तों का हिन्दी कृष्ण–काव्य :

भक्ति का प्रवाह दक्षिण भारत से उत्तर की ओर बहा है । उसके मूल में सर्वाधिक योग दक्षिण के आचार्यों का रहा है । कर्नाटक के आचार्य मध्व, तमिलनाडु के आचार्य रामानुज एवं आन्ध्र के आचार्य वल्लभ इन तीनों आचार्यों द्वारा एवं इनके सम्प्रदायों द्वारा हिन्दी भक्ति आन्दोलन को जो बल मिला है, हिन्दी भक्तिकालीन साहित्य इसका साक्षी है । केरल में हिन्दी को 'गुँसाई–भाषा' के नाम से अभिहित किया जाता था[1] एवं मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के समय दक्षिण के प्रदेशों में इसको बड़ा सम्मान मिला था ।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रारंभ से ही हिन्दी का विकास एक अखिल भारतीय भाषा–माध्यम के रूप में हुआ है । इसके संवर्द्धन एवं परिवर्द्धन में हिन्दीतर प्रदेश के अनगिनत साहित्यकारों, लेखकों एवं राष्ट्रीय नेताओं ने योग दिया है । हिन्दी कवियों में से कई कवियों ने कृष्ण-संबंधी साहित्य भी लिखा है, जिस पर स्वतंत्र रूप से भिन्न–भिन्न प्रदेशों के केवल प्रकाशित–अप्रकाशित हिन्दी कृष्ण–साहित्य पर शोध–खोज की जा सकती है एवं संशोधकों को उसमें पर्याप्त मात्रा में वेदान्त के तत्त्व भी निरूपित हुए उपलब्ध हो सकते हैं । इस प्रकार के कार्य को गुजरात के एक समर्थ समीक्षक इच्छाराम–सूर्यराम देसाई ने **'धूल धोयानो धंधो'** कहा है । बाजार कां गंदे पानी की नालियों में से कीचड़ निकाल कर, स्वच्छ पानी से धो–धोकर उसमें से कुछ कोई काम की चीज ढूंढी जाती है । ऐसा करने वालों को कभी–कभी बहु मूल्य रत्न तक प्राप्त हो जाते हैं । कई लोग बाजार की मिट्टी तक सूप पर लेकर फटकते हैं । यह भी एक प्रकार से ढूंढने का कार्य है । गुजराती में इसीको **'धूल धोयानो धंधो'** कहा जाता है । सशोधक भी यही काम करता है । प्राचीन ग्रंथों में से संशोधन करके वह इसी पद्धति द्वारा उतमोत्तम अमूल्य साहित्यिक–रत्न ढूंढ निकालता है ।

गुजरात का हिन्दी कृष्ण–काव्य :

हिन्दीतर प्रदेश के हिन्दी कृष्ण–काव्य में हमारी दृष्टि से गुजरात का प्रथम स्थान है । गुजरात के अनेक कवियों ने हिन्दी में विपुल कृष्ण–साहित्य लिखा है । अतः इस अध्याय में हम विशेषतः गुजरात के 'हिन्दी कृष्ण काव्य में निरूपित भक्ति एवं वेदान्त' पर ही विचार करना उचित समझते हैं । गुजरात में यों तो कई कृष्ण–कवि हुए ही हैं, पर हिन्दी कृष्ण–काव्य में वेदान्त निरुपण की दृष्टि से दयाराम एक ऐसा समर्थ एवं उत्तम कोटि का मधुर कवि हुआ है कि इस क्षेत्र में सूर, नंददास या कोई भी अन्य हिन्दी कवि इसकी तुलना में ठहर नहीं सकता । इसीलिए हम यहां सविस्तर गुजरात में वैष्णव भक्ति एवं मुख्यतः दयाराम के हिन्दी कृष्ण–काव्य में भक्ति एवं वेदान्त विषय पर विचार करेंगे ।

हिन्दीतर प्रदेश के हिन्दी साहित्य–सर्जन में गुजरात मूर्धन्य :

हिन्दीतर प्रदे ों में हिन्दी का जो विपुल साहित्य सर्जित हुआ है, उसमें गुजरात मूर्धन्य हैं । गुजरात में पन्द्रहवीं शती से लेकर अद्यावधि तक शताधिक हिन्दी कवि हुए हैं । जिनमें से अधिकांश कृष्ण-कवि हैं ।

---

१. हिन्दी साहित्य को हिन्दीतर प्रदेशों की देन पृ. १, २. हि.सा. हि.प्र.दे. पृ.१, ३. हि.सा.हि.प्र.दे.पृ. १

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन कवियों ने स्वमातृभाषा गुजराती में काव्य रचना करने के साथ-साथ हिन्दी में भी पर्याप्त लिखा है। डिंगल, व्रज, अवधी, खड़ीबोली ये हिन्दी के विभिन्न रूप हैं। इन सभी रूपों में गुजरात के कवियों ने साहित्य लिखा है।

हिन्दी एवं गुजराती दोनों भगिनी-भाषाएँ :

हिन्दी एवं गुजराती दोनों भाषाओं में कई दृष्टियों से साम्य है। ये दोनों भाषाएँ एक ही अपभ्रंश से विकसित हुई हैं। दोनों में लगभग ४५ प्रतिशत संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्द समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी की लिपि देवनागरी है तो गुजराती-लिपी देवनागरी के ही प्राचीन रूप कैथी-लिपि से मिलते-जुलते देवनागरी के बिगड़े हुए रूप से लिखी जाती है, जिसे गुजराती-लिपि कहते हैं।[1] दोनों प्रदेश एक दूसरे से सटकर हैं। धार्मिक दृष्टि से गुजरात पर आचार्य वल्लभ के पुष्टि संप्रदाय का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इस कारण भी यहां के अनेक कवियों ने कृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध साहित्य लिखा है। गुजरात में हिन्दी के प्रचार-प्रसार का एक कारण और भी है, और वह है, यहां के क्षत्रिय एवं मुसलमान बादशाहों का हिन्दी के प्रति प्रेम। गुजरात की व्रजभाषा पाठशाला भी गुजरात के हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक सुवर्ण पृष्ठ है। जिज्ञासु व्रजभाषा, काव्यशास्त्र एवं कवि-शिक्षा के ग्रंथों का अध्ययन करके व्रजभाषा का कवि बने, यही इस व्रजभाषा पाठशाला का हेतु था। ऐसा व्रजभाषा-प्रेम गुजरात के अतिरिक्त अन्य हिन्दी एवं हिन्दीतर प्रदेशों में हमें दृष्टिगत नहीं हुआ। गुजरात में हिन्दी में जो विपुल साहित्य निर्मित हुआ, उसमें ये सभी तथ्य कारणभूत रहे हैं।

इसी संदर्भ में हम दो-तीन महत्त्वपूर्ण तथ्य यहां प्रस्तुत करना चाहते हैं। एक तो यह कि राजस्थानी जब हिन्दी की उपभाषा मान ली गई है तब राजस्थानी एवं हिन्दी की ही सगी बहन गुजराती भाषा एवं साहित्य को हिन्दी से सम्बद्ध क्यों नहीं माना गया है? जल्दबाजी में हिन्दी साहित्य के इतिहासकार इस तथ्य को या तो भूल गए हैं या फिर अज्ञानता इसका कारण है। सौराष्ट्र और हिन्दी भाषी प्रदेश राजस्थान भाषा, आचार-विचार, रहन-सहन इत्यादि सांस्कृतिक दृष्टि से इतने निकट हैं कि भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् गुजरात के भूतपूर्व स्वर्गीय मुख्यमंत्री श्री बलवंतभाई महेता, श्री रसिकभाई परीख जैसे कई राष्ट्रीय नेताओं के द्वारा ऐसे प्रयत्न हुए हैं, जिससे गुजरात एवं राजस्थान जोड़ दिए जाएं।[2] पर दुष्ट ग्रहों

१. हिन्दी भाषा और लिपि, धीरेन्द्र वर्मा पृ. ३६

२. "राज्य पुनर्रचना का सवाल सोचा जा रहा था १९५५-५६ में। द्विभाषी बम्बई राज्य बनाने की दरख्वास्त थी। महाराष्ट्र के लोग चाहते थे कि बम्बई के साथ महाराष्ट्र राज्य बने। गुजरात के लोग चाहते थे कि महागुजरात बने। बम्बई शहर का अलग राज्य बनाने का भी आग्रह था।

राष्ट्र के नेता चाहते थे कि केवल भाषा के आधार पर ही राज्य पुनर्रचना करना ठीक नहीं होगा। कम से कम एक राज्य तो द्विभाषी होना चाहिए।

उस समय कई नेताओं को लगा कि राजस्थान और गुजरात की भाषा, संस्कृति एवं अन्य परिस्थितियों में साम्य होने के कारण राजस्थान और गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ का एक राज्य बन सकता हैं। दिल्ली में श्री बलवंत भाई महेता, श्री रसिक भाई परीख और अन्य महाशयों ने इस बात का समर्थन किया था। किन्तु यह बात आगे चल न पाई।'

-जूनागढ़ स्टेट की आरजी हुकूमत (सरकार के विरोध में निर्मित कामचलाऊ जनता सरकार) के सर सेनापति, सौराष्ट्र के भूतपूर्व गांधीवादी कांग्रेस के नेता, भूतपूर्व गुजरातराज्य के मंत्री, वर्तमान राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक श्रीरतुभाई अदाणी द्वारा दि. १०-२-८४ को मेरे गुरु डॉ. भ्रमरलाल जोशी को लिखे पत्र से उद्धृत अंश।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(स्वार्थी राजकीय नेताओं) के कारण यह काम सफल न हो सका, क्योंकि राजनीति देवकन्या की नहीं, विषकन्या की आत्मजा हैं। द्रौपदियों को नंगी करना इसका काम है, इसी कारण चाणक्य ने इसे भेड़िये की सगोत्रीया कहा है।

दूसरी बात यह है कि हिन्दी की ही बड़ी बहन उर्दू को रूढ़िचुस्त इस्लाम–परस्ती साहित्यकार व्यर्थ में ही अरबी एवं फारसी के अस्वाभाविक प्रभाव से ग्रस्त बनाते चले जा रहे हैं। क्या ऐसी स्थिति में उर्दू जो स्वतंत्र भाषा न होकर हिन्दी की एक शैली है–उसे देवनागरी लिपि में लिखा–पढ़ाकर राष्ट्र की एकात्मता को सबल नहीं बनाया जा सकता है? यह ध्यान रहे कि किसी भी भाषा को स्वतंत्र भाषा के रूप में मान्य करने के लिए सर्वनाम एवं क्रियापद उसके अपने होने चाहिएं। कहां हैं उर्दू के पास अपने स्वतंत्र सर्वनाम एवं क्रियापद ? इसीलिए हमने उर्दू को स्वतंत्र भाषा न कह कर हिन्दी की एक शैली कहा है। उसे फारसी से बनी लिपि में लिखना छोड़कर देवनागरी में लिखना–पढ़ना शुरू करने से राष्ट्रीय एकता को बड़ा बल मिलेगा और साथ ही उर्दू साहित्यकारों को भी पाठकों का बड़ा व्यापक दायरा मिल जाएगा।

गुजरात में वैष्णव भक्ति :

गुजरात में वैष्णव भक्ति की परंपरा प्राचीन काल से ही चली आई है।[1] गुजरात के वाल्मीकि, नरसी महेता का कृष्ण–काव्य सूर के टक्कर का ही नहीं अपितु प्राचीनता एवं शुद्धाद्वैत वेदान्त की दृष्टि से तथा केवलाद्वैत-वेदान्त निरूपण की दृष्टि से अपेक्षाकृत श्रेष्ठ हैं।[2] नाभादासजी ने अपने 'भक्तमाल' ग्रंथ में नरसी को गुर्जर–धरा का पावन कर्ता एवं भागवत शिरोमणि कहा है। भक्ति की दृष्टि से गुजरात की भूमि अनुर्वर थी, बंजर थी, ऊसरवाली थी, उसे नरसी ने अपनी मधुर प्रेम–लक्षणा भक्ति–रस से अभिसिंचित कर उर्वर बनाया है–

> **जगत विदित नरसी भगत (जिन) गुज्जर धर पावन करी।**
> **महास्मारत लोग भक्ति लौलेस न जाने।**
> **माला–मुद्रा देखि तासु की निंदा ठानें।**
> **ऐसे कुल उत्पन्न भयो भागोत सिरोमणि।**
> **उसर तें सर कियो खंड दोषहिं खोयो जिनि।**
> **बहुत ठौर परिचौ दियौ रसरीति भक्ति हिरदै धरी।** भक्तमाल, प. १०८

'खंड दोषहि खोयो' यह कथन नरसी के लिए अतीव गौरवास्पद है। भागवत माहात्म्य में भक्ति अपने ज्ञान एवं वैराग्य दोनों पुत्रों को सामने करके नारदजी से आप बीती कहती है।[3]

इससे न केवल नरसी का महत्त्व अपितु यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नरसी से भी पूर्व गुजरात में किसी न किसी रूप में कृष्ण भक्ति विद्यमान रही है। गुजरात के द्वारका एवं डाकोर के रणछोड़राय के प्राचीन मंदिर भी इस तथ्य के प्रमाण हैं। इसी कृष्ण–भक्ति के पुनरुद्धार का श्रेय पुष्टि–सम्प्रदाय के आद्य आचार्य वल्लभ तथा उनके पुत्र गोसाई विट्ठलनाथजी को है। इन दोनों महानुभावों ने गुजरात में अनेक यात्राएँ कीं तथा अनेक स्थानों पर 'श्रीमद्भागवत' के पारायण किए, जो स्थान आज भी 'बैठकों' के नाम से प्रसिद्ध हैं। अहमदाबाद में असारवा में गोसाई विट्ठलनाथजी तथा नरोड़ा में महाप्रभुजी वल्लभाचार्य की बेठकें सुप्रसिद्ध हैं।

गुजरात में वैष्णव भक्ति : ई. सन् की तृतीय शती पूर्व से ई. सन् ७७५ तक :

---

१. हिन्दी साहित्य को गुजरात की देन, पृ. २३०, डॉ. अम्बाशंकर नागर

२. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ३०३, डॉ. भ्रमरलाल जोशी

३. इसी ग्रंथ के पृष्ठ ३४ पर देखिए।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'श्रीमद्भागवत' कल्पित अर्थात् मनगढन्त पुराण है, पर 'महाभारत' का अमुक अंश ऐतिहासिक है। इसमें कई स्थानों पर द्वारका एवं सोमनाथ के उल्लेख मिलते हैं। जिनसे यह स्पष्ट होता है कि सम्राट् अशोक से भी पूर्व एवं ई.सन् की तृतीय शती से भी पूर्व गुजरात में सर्वत्र वैष्णव धर्म का प्रचार था।[२] गुप्तकाल के पश्चात् अर्थात् ई. सन् की चतुर्थ शती के पश्चात् गुजरात में वैदिक धर्म का पुनरुद्धार हुआ। इस काल में यहां वैदिक धर्म के साथ-साथ बौद्ध-धर्म के प्रचार के भी प्रमाण मिलते हैं। गुप्त काल के पश्चात् गुजरात में वल्लभी काल (ई. सन् ४७५-७७५) आता है। वल्लभी के मैत्रक राजाओं के कई ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं।[३] ताम्रपत्रों की वृषभांकित राजमुद्रा से यह प्रतीत होता है कि इन राजाओं के कुलदेव शंकर थे। इस वंश के १९ में से १६ राजाओं ने स्वयं को परम माहेश्वर कहा है। इसी वंश के एक ध्रुवसेन राजा ने स्वयं को परम भागवत (महान् विष्णुभक्त) कहा है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय शैवधर्म के साथ-साथ गुजरात में वैष्णव धर्म भी प्रचलित था।

गुजरात में वैष्णव भक्ति : ९ वीं शती से १५ वीं शती तक :

नवीं शती के भिन्नमाल निवासी माघ कवि ने संस्कृत में 'शिशुपालवध' नामक महाकाव्य का प्रणयन किया। अणहिलपुर पाटण के उत्तर में १५ मील दूर के कसा गाँव में १०वीं शती का एक त्रिमूर्ति मंदिर का भग्नावशेष मिला है।[४] ई. सन् १०७४ का एक ऐसा ताम्रपत्र मिला है जिसका प्रारंभ 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' से किया गया है और तत्पश्चात् क्रोडाकृति भगवान वराह की स्तुति की गई है।[५] १२ वीं शती के उत्तरार्ध में आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'द्व्याश्रय' काव्य के प्रारंभ में गुजरात के प्राचीन राजाओं ने जो विष्णु मंदिर बनवाए थे, उनका उल्लेख किया है।[६] भीमदेव राजा के मंत्री श्रीधर (१२वीं शती) का 'मुररिपु' के मंदिर निर्माण करवाने का उल्लेख मिलता है। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि १३ वीं शती के पूर्व तक गुजरात के विभिन्न भागों में वैष्णव धर्म का प्रचार हो चुका था।

इसके पश्चात् १४ वीं शती धर्म-विध्वंस की थी। उस समय मुसलमानों ने स्वच्छंदता पूर्वक हिन्दू देव-मंदिरों का ध्वंस किया। इसके पश्चात् १५ वीं शती में अनुकूल वातावरण मिलते ही वैष्णवधर्म पुनः प्रारंभ हो गया। गुजरात के आदि कवि एवं परम भागवत वैष्णव कवि नरसी महेता इसी काल (संवत् १४६९-१५००) में हुए।

गुजरात में वैष्णव-भक्ति : १६ वीं शती से १९ वीं शती (दयाराम) तक :

गुजरात में भालण के पश्चात् पाटण के कवि केशवदास (ई. १५३३) एवं अष्टछाप के कवि कृष्णदास अधिकारी कृष्ण भक्त कवि हुए। कृष्णदास अधिकारी गुजरात के चरोतर प्रदेश के पाटीदार थे। मीरांबाई के जीवन के लगभग पन्द्रह वर्ष गुजरात में ही व्यतीत हुए थे। मीरां ने न केवल हिन्दी (पुरानी मेवाड़ी) में अपितु गुजराती में भी पद लिखे हैं। गुजराती साहित्य में मीरां आद्य स्त्री कवयित्री के नाम से सुविख्यात है। यों मेवाड़ के राजवंश के आद्य नृपति बापा रावल गुजरात से ही गए थे। अतः मीरां का गुजरात पर अपना अधिकार भी है। वैष्णव कृष्ण-कवियों में जूनागढ़ निवासी कवि त्रिकमदास (ई.१७३४ १७९९) ने 'डाकोरलीला' और 'रुक्मणीहरण' प्रबंध काव्य लिखे। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके १६० पद व्रजभाषा में भी मिलते हैं।

---

१. श्रीमद्भागवत, गोरखपुर पृ. ५ प्रथम संस्करण सं. १९९७
२. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ७२ डॉ. भ्रमरलाल जोशी
३. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ७२, डॉ. भ्रमरलाल जोशी
४. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ७४ डॉ. भ्रमरलाल जोशी,
५. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ७४, डॉ. भ्रमरलाल जोशी
६. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, पृ ७४, डॉ. भ्रमरलाल जोशी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दयाराम : गुजरात के हिन्दी कृष्ण-कवियों की इस महती सुदीर्घ परंपरा में गुजरात में नर्मदा के तट पर स्थित चांदोद निवासी दयाराम (सन् १९७०–१८५३) का स्थान अन्यतम है। इस कवि के अन्तः-करण में व्रजभाषा, व्रजपति-कृष्ण एवं व्रजपति-भक्ति का सागर लहरा रहा था। यह एकमेव पुष्टिमार्ग का ही शरणापन्न कवि था। यह खेद का विषय है कि गुजरात के इस समर्थ हिन्दी कृष्ण कवि को हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्थान नहीं दिया गया है। कृष्ण-काव्य में वेदान्त निरूपण की दृष्टि से यह कवि हिन्दी साहित्य में ही नहीं, अपितु विश्व साहित्य में श्रेष्ठ है एवं इनकी 'सतसई' कवि बिहारी की विहारी सतसई' से भी तुलनीय है।

गार्सां द तासी ने अपने फ्रांसीसी भाषा में लिखित इतिहास 'इस्तवार द ल लितरेत्यूर ए एंदुस्तानी में दयाराम का उल्लेख किया है[1] तथा हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में व्रजरत्नदास ने भी अपनी खड़ीबोली के 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में भी इस कवि का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है[2] तथा डॉ. रामकुमार वर्मा ने भी अपने आलोचनात्मक इतिहास में साधारण नाममात्र का संकेत किया है।

दयाराम के हिन्दीग्रन्थ : कवि दयाराम ने विभिन्न भाषाओं में कुल १५७ ग्रंथ लिखे, जिनमें ४७ व्रज-भाषा में हैं। तीन ग्रंथ मराठी में है तथा शेष गुजराती में हैं। दयाराम ने व्रज एवं गुजराती के अतिरिक्त मराठी, उर्दू, पंजाबी, सिंधी, मारवाड़ी, विहारी इत्यादि भाषाओं में भी गेय पद लिखे हैं।[3] व्रजभाषा में लिखित ४५ ग्रंथों में से निम्नलिखित १९ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं—

१. दयाराम सतसई
२. रसिकरंजन
३. वस्तुवृंद दीपिका
४. व्रजविलासामृत
५. पुष्टिभक्तरूपमालिका
६. हरिदासमणिमाला
७. क्लेशकुठार
८. विज्ञप्तिविलास
९. वृंदावन-विलास
१०. कौतुक-रत्नावली
११. श्रीकृष्णअकलचरित्रचन्द्रिका
१२. श्रीमद्भावतानुक्रमणिका
१३. पिंगलसार
१४. श्रीकृष्णस्तवनामृत (लघु)
१५. मूर्खलक्षणावली (सप्तदशी)
१६. संप्रदायसार
१७. नामप्रभावबत्रीसी
१८. पुष्टिपथसारमणिदाम
१९. श्रीकृष्णस्तवनचन्द्रिका

शेष अप्रकाशित २८ पुस्तकें निम्नलिखित हैं—

१. श्रीकृष्णचन्द्रकला (स्तोत्र)
२. पुष्टिपथरहस्य
३. प्रस्तावपीयूष
४. श्रीकृष्णनाममाहात्म्यमार्तंड
५. श्रीकृष्णनामचन्द्रिका
६. विश्वासामृतधारा
१०. श्रीकृष्ण अनन्यचंद्रिका
११. मंगलानंदमाला
१२. प्रस्तावचन्द्रिका
१३. चिंतामणि
१४. श्रीकृष्णनामामृतधारा
१५. स्तवनपीयूष
१९. गुरुपूर्वार्ध वहुशिष्य उत्तरार्ध
२०. मायामतखंडन
२१. भगवद्भक्तोत्कर्षता
२२. ईश्वरताप्रतिपादक
२३. भगवद् इच्छोत्कर्षता
२४. श्रीकृष्णनाममाहात्म्य

---

१. 'हिन्दी साहित्य को हिन्दीतर प्रदेश की देन' के अन्तर्गत 'हिन्दी साहित्य को गुजरात की देन' डॉ. अम्बाशंकर नागर, पृ. २३१

२. सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. भ्रमरलाल जोशी

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास (गार्सां दि तासी के ग्रंथ, 'इस्तवार द ल लितरेत्यूर ए एंदुस्तानी', का हिन्दी अनुवाद) पृ. १०६

४. दयाराम सतसई डॉ. अम्बाशंकर नागर पृ. १४

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७. दसमअनुक्रमणिका	१६. चतुरचित्तविलास	२५. शुद्धाद्वैतप्रतिपादन
८. श्रीभागवतमाहात्म्य	१७. हरिस्वप्नसत्यता	२६. सिद्धान्तसार
९. श्रीकृष्णनामरत्नमालिका	१८. अनुभवमंजरी	२७. भक्तिविधान
		२८. स्वल्पापार प्रभाव

इन उपर्युक्त ग्रंथों में 'दयाराम सतसई', एवं 'रसिकरंजन' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों ग्रंथों में दर्शन, वेदान्त, कृष्ण-भक्ति एवं शृंगार रस का सुभग समन्वय हुआ है। यों इन दोनों ग्रंथों के शृंगार निरूपण पर विचार करें तो रीतिकालीन काव्य परंपरा का भी यत्किंचित् प्रभाव इन पर स्पष्ट देखा जा सकता है। दयाराम ने संवत् १८७१ में नर्मदा तट पर स्थित चांदोद (चंडिपुर) में 'सतसई' की रचना की थी।

'सतसई' में कवि ने दर्शन एवं वेदान्त, कृष्णनाम माहात्म्य, दैन्य, भगवदनुग्रह, भक्ति, नायिका-वर्णन त्यादि का निरूपण किया है। कवि ने मंगलाचरण में ही आचार्य वल्लभ, विट्ठलनाथ एवं कृष्ण का इस प्रकार स्तवन किया है—

श्री गुरु वल्लभदेव अरु श्री विट्ठल श्रीकृष्ण। पदपंकज वंदन करन, दुख हर पूरन कृष्ण ॥१॥

कवि ने यहां श्रीकृष्ण को परब्रह्म मानकर उनका वन्दन किया है। पुष्टिमार्ग में श्रीकृष्ण एवं गुरु को अभिन्न माना गया है। इस दृष्टि से भी इस मंगल छन्द में श्रीकृष्ण के साथ-साथ कवि ने गुरु वल्लभाचार्य एवं उनके पुत्र विट्ठलनाथ का वंदन किया है।

ब्रह्म : श्रीकृष्ण गोपीनाथ ही ब्रह्म हैं। वे निर्गुण भी हैं एवं सगुण भी हैं। श्रुतियों, में उपनिषदों में जिनके ब्रह्म स्वरूप का वर्णन करके अंत में जिन्हें अनर्वचनीय मानकर **'नेति-नेति'** कहा, जो मन एवं वाणी से भी अगम्य है, जो सत्त्व, रज एवं तम इन तीनों गुणों से परे हैं, गुणातीत हैं। जो अक्षरातीत हैं, वही साकार रूप में पृथ्वी पर लीला करने के लिए अवतरित गोपीनाथ हैं। कवि उसे अगनितबार अभिवादन कर रहा है। पुष्टि-संप्रदाय में पुरुष केवल श्रीकृष्ण हैं एवं सभी भक्त गोपियां हैं। गोपी भाव से ही भक्त श्रीकृष्ण से अनुग्रह की कामना करता है। अनुग्रह उस कृपा को कहते हैं, जिसमें पात्र कुपात्र नहीं देखा जाता, फिर चाहे वह कैसा भी हो।

अधमाधम होने पर भी भक्त यदि एक भाव से गोपीनाथ को भजता है तो गोपीनाथ उसके गुण-दुर्गुण नहीं, देखेंगे, और अवश्य ही उस पर अनुग्रह करेंगे। इस दोहे में कवि ने शुद्धाद्वैत वेदान्त के ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों स्वरूपों का वर्णन करके सगुण की महत्ता की ओर भी श्रद्धालु भक्तों को संकेत कर दिया है है। जो अक्षरातीत है. वही गोपीनाथ है—

श्रुति नेति, मन-गो-अगम, त्रिगुन, अक्षरातीत। सो श्री गोपीनाथ कों, अभिवादन अगनीत ॥३॥

कवि ने सगुण गोपीनाथ को जिन चार विशेषणों से समलंकृत किया है वे निर्गुण ब्रह्म के हैं— (१) श्रुति-नेति, (२) मन-गो-अगम, (३) त्रिगुन अतीत, (४) अक्षरातीत।

(१) श्रुति-नेति : चारों वेदों का संहिता भाग, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक ग्रंथ एवं उपनिषद् ये चारों मिलकर वेद अथवा श्रुति कहलाते हैं। उपनिषद् भी वेद के ही व्याख्या ग्रंथ हैं। ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन न कर सकने के कारण आर्ष ऋषियों ने अन्त में **'नेति-नेति'** कहा है। कवि ने उसे ही यहां **'श्रुति-नेति'** द्वारा स्पष्ट किया है।

(२) मन-गो-अगम : मन एवं वाणी से भी जो अगम्य है, जिसे न मन द्वारा जाना जा सकता है और न वाणी द्वारा ही जिसके स्वरूप का वर्णन किया जा सकता है। ब्रह्मानुभूति करने के पश्चात् राजर्षि भर्तृहरि लिखते हैं—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये । स्वानुभूत्येक साराय नमः शान्ताय तेजसे ॥

"दिशा, काल आदि से अनवच्छिन्न अनाच्छादित, अर्थात् जिसने दिशा काल आदि को स्वयं में समा रखा है, जो चेतनामात्र स्वरूप है, जो केवल स्वानुभूति का सार रूप है, उस ब्रह्म के शान्त तेज को मैं भर्तृहरि नमस्कार करता हूं ।' यही तेज 'श्रुति-नेति' एवं 'मन-गो-अगम' है । यही स्वानुभूति का एक मात्र सार रूप है अर्थात् जो स्वानुभूतियां हैं, उनमें ब्रह्मानुभूति सर्व श्रेष्ठ है ।

(३) त्रिगुण-अतीत : शुद्धाद्वैत-वेदान्त के अन्तर्गत जगत् एवं संसार दो भिन्न-भिन्न हैं । जगत् का कारण ब्रह्म है तो संसार का कारण सत्त्व, रज, तम रूपा त्रिगुणात्मिका अविद्यामाया है । ब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप है । वह त्रिगुण सत्त्व, रज एवं तम से परे है ।

(४) अक्षरातीत : शुद्धाद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत वल्लभ-संप्रदाय में ब्रह्म के तीन रूप मुख्य माने जाते हैं—(१) आधिदैविक-परब्रह्म, (२) आध्यात्मिक-अक्षर ब्रह्म और (३) आधि भौतिक जगत् ब्रह्म । आधिदैविक परब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप है । वह एक मात्र भक्ति से ही लभ्य है एवं 'तैत्तिरियोपनिषद्' के अनुसार वह '**रसो वै सः**' रस रूप है । मिश्री की डली की भांति वह संपूर्ण रस रूप है । श्रीकृष्ण ही स्वयं रस रूप परब्रह्म हैं । अक्षर ब्रह्म ज्ञानगम्य है । अक्षरब्रह्म में स्वल्प मात्रा में तिरोहित आनन्दांश रहता है । कार्य एवं कारण में अभेद होने के कारण ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण जगत् भी ब्रह्मरूप है, जिसे आधिभौतिक ब्रह्म कहा गया है । यहां अक्षरातीत से तात्पर्य है, आधिदैविक परब्रह्म । जो सच्चिदानंद स्वरूप एवं रसरूप है, एवं वही गोपीनाथ है ।

उपर्युक्त दोहे जैसे लघु छन्द में कवि ने शुद्धाद्वैत-वेदान्त एवं पुष्टि संप्रदाय के निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म के दोनों स्वरूपों का वर्णन कर दिया है । इस छन्द की व्याख्या में और भी कहा जा सकता है, पर विषय प्रतिपादन की दृष्टि से यहां इतना ही पर्याप्त है । कवि ने ब्रह्मांड जिसके उदर में है, उस ब्रह्म को गागर में सागर की भांति दो पंक्तियों में सनाहित कर दिया है । यह कवि की अनुपम सारस्वत-सामासिक काव्य-क्षमता है ।

कवि दयाराम ने अपने काव्य में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार ही किया है । शुद्ध शब्द का अर्थ है, माया रहित । माया के संबन्ध से रहित ब्रह्म ही जगत् का कारण एवं कार्य है । जगत् का कारण ब्रह्म सत्य है तब कार्य जगत् मिथ्या कैसे हो सकता है ? जैसे कंचन से बने कंकण और कुंडल में शुद्ध कंचन ही होता है । यदि प्रपंच (जगत्) को मिथ्या कहेंगे तब तो फिर प्रकृति, ज्ञान एवं अन्य सभी दृश्य-अदृश्य मिथ्या ही होने चाहिए—

ईश्वर कारण सत्य सदा, तब कारज जक्तसु जूठ न होई ।
कंचन तें जस कुण्डल कंकन, कंचन ही वह भेद न कोई ॥
जूठ प्रपंच तनू तब प्राकृत साधन ज्ञान रू मुक्ति हु सोई ।
कहत 'दयो' जग जूठ कहीं जड़, तूं ही तेरो मत डारत धोई ॥ रसिकरंजन, पद-१०

कवि ने जगत् को मिथ्या कहने वाले केवलाद्वैत के मत को मानने वाले ज्ञानवादियों को जड़ कहा है । कवि का कहना है कि ज्ञानवादी ब्रह्म को सत्य कहते हैं, एवं जगत् को मिथ्या पर जगत् मिथ्या होने पर जगत् आधारित प्राकृत साधन, ज्ञान, मुक्ति इत्यादि भी अपने आप ही मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं, इस तरह बड़ी अच्छी युक्तिद्वारा कवि ने ज्ञानवादियों का मुंह बंद कर दिया है । तू **ही तेरो मत डारत धोइ'**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के द्वारा कवि यह कहना चाहता है कि हे ज्ञानवादी ! तू जगत् को मिथ्या कह करके अपने ही मत को, ब्रह्मसत्य होने के मत को तू ही खंडित कर रहा है । इसे 'वदतोव्याघात' दोष कहते हैं अर्थात् अपनी ही बात का, अपने ही कथन द्वारा खडन करना ।

कवि ब्रह्म को सत्य एवं जगत् को मिथ्या मानने वाले अद्वैत वेदान्त के मायावादियों से फिर प्रश्न करता है कि तू जीव को ब्रह्म कहता है, माया के साथ संग करके ब्रह्म ही जीव बना है, तो फिर मैं तुम से पूछता हूं कि ब्रह्म होकर वह किसलिए माया के फंदे में फँसा है । उसे ऐसा करने की क्या आवश्यकता पड़ी ? सूर्य को अंधकार कैसे छू सकता है ? और यदि अंधकार सूर्य को छू जाए तो वह सूर्य ही क्या ? अतः हे मायावादी ! तेरा मत अतीव पूर्वापर दोषों से भरा पड़ा है :

तुं कहि जीवसुं ब्रह्म ही है, करि संग अजा यह जीव व्यौं है ।
बूजत हे हम ब्रह्म हि हौं, धुर फंद अजा महिं कैसे पयौं है ।।
सूरज कौं तम क्यों परसे, परसे तब भानुपनौ हि टय्यौं है ।
कहत 'दयो' पुरवापर बहुत, विरुद्ध तेरो मत दोष भयौं है ।। रसिकरंजन, पद ११

अद्वैत-वेदान्त के मायावाद के खंडन की यह तर्क पूर्ण शुद्ध खंडनात्मक शैली हमें हिन्दी के बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का स्मरण दिलाती है । रत्नाकरजी ने 'उद्धवशतक' में इसी शैली को अपनाया है ।

शुद्धाद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जीव, जगत्, माया सभी को ब्रह्मरूप माना गया है, इसीलिए इसे ब्रह्मवाद भी कहा जाता है। कवि दयाराम ने कृष्ण को ही ईश्वर, अन्तर्यामी, मायापति स्वयंभू, सनातन ब्रह्म, अनूप, अनामय, अंशी, अकामी, अखिल ब्रह्माण्ड का कर्ता-हर्ता एवं पालक कहा है । ब्रह्म के इन धर्मों का सदा ध्यान रखना जीव का कर्तव्य है । नहीं तो जीव 'अघगामी' (पापी) है—

ईश्वर है सर्वज्ञ अलेप सुतंत्र रु काल अजादिक स्वामी ।
है करता हरता सब पालित कृष्ण कृपा पर अंतरजामी ।।
ब्रह्म सनातन आदि स्वयंभू, अनूप अनामय अंशी अकामी ।
ए सब धर्म कहां जिय में कहि देत 'दयो' सम कहै अघगामी ।। रसिकरंजन पद-१२

शुद्धाद्वैत वेदान्त के आद्य प्रवर्तक विष्णुस्वामी ने भी ईश्वर के संबंध में यही मत स्थापित किया है कि जिसके माया वश में है—जो मायापति है, वही ईश्वर है । वह सच्चिदानन्द स्वरूप है और वह अपनी ह्लादिनी संविद् से आश्लिष्ट है । जीव अपनी ही अविद्या माया से आवेष्टित है और वह सर्व क्लेशों का आगार है । माया ईश्वराधीन है एवं जीव माया से आवृत्त है । जीव स्वयं आनंद का अधिकारी है और स्वयं दुःख भोगा करता है। सत्, चित्, नित्य एवं पूर्णनन्दमय ईश्वर को विग्रहधारी नरसिंह भी कहते हैं—

तदुक्तं विष्णु स्वामिना-
ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः । स्वाविद्या संवृतो जीवः संक्लेश निकराकरः ।।
स ईशो यद् वशे माया स जीवो यस्तयार्दितः : स्वाविर्भूत परानन्द स्वाविर्भूत सुदुःखभूः ।।
स्वादृगुत्थविपर्यास भवभेद जती शुचः । यन्मायया जुषान्नास्ते तमिमं नृहरिं नुमः ।।[1]

दयाराम ने अपने काव्य द्वारा एक ओर जहां श्रृंगार-रस का निरूपण किया है वहां दूसरी ओर भक्ति के क्षेत्र में लीला पुरुषोत्तम राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं का मधुररस में वर्णन भी किया है एवं

---

१. 'श्रीमद्भागवत' श्रीधरी टीका, स्कं. ३, १-७-६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह एक हिन्दीतर प्रदेश का समर्थ हिन्दी कृष्ण कवि हुआ है, जिसने दर्शन एवं वेदान्त विषयक ग्रंथों की भी स्वतंत्र रूप से काव्यात्मक शैली में रचनाए का हैं।

दयाराम के कृष्ण विषयक हिन्दी ग्रंथों में दर्शन एवं वेदान्त निरूपण की दृष्टि से 'दयाराम सतसई' एवं 'रसिकरंजन' प्रमुख हैं। इन दोनों ग्रंथों में दयाराम ने ब्रह्म का किस रूप में निरूपण किया है, इस पर अब हम सोदाहरण विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

दयाराम सतसई : 'हिन्दी सतसई' परंपरा के इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ में कवि दयाराम ने सर्वान्तर्यामी, विश्वंभर, अनादि, कर्ता, आत्मा, विभु, अनिर्वचनीय, नेति-नेति, मायापति, अक्षरब्रह्म की अपेक्षा साकार ब्रह्म लीला पुरुषोत्तम रस-रूप श्रीकृष्ण का श्रेष्ठत्व, विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण, निर्गुण की अपेक्षा साकार ब्रह्म श्रीकृष्ण का श्रेष्ठत्व, इत्यादि ब्रह्म के त्रिविध रूपों का वर्णन करके उसे शुद्धाद्वैत-वेदान्त के अनुसार अगाध माहात्म्य संपन्न एवं विभु घोषित किया है।

सर्वान्तर्यामी ब्रह्म : दयाराम परब्रह्म श्रीकृष्ण को सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर, सर्वात्मा, प्रभु, हरि, ईश्वर, भगवान् कहकर उनसे परम दीन भाव से यह याचना कर रहा है कि वह उसे अपना ले और अपनी कृपादृष्टि का दान करे—

सरवेसुर सर्वात्म प्रभु, हरि ईश्वर भगवान्। कीजें कृपाकटाक्ष मम, आत्मसात करि दान ॥४॥

पुष्टि संप्रदाय को शरणागति मार्ग भी कहा गया है। इसमें जीव दीन भाव से ब्रह्म की प्रपत्ति-(शरणागति) स्वीकार करता है। इस छंद में दयाराम ने बड़े ही दैन्य से श्रीकृष्ण की शरणागति की याचना की है। **'पोषणं तदनुग्रहः'** भगवान् के अनुग्रह से ही जीव का दौर्बल्य दूर होता है, और वह पुष्ट होता है। यहां दयाराम ने दीन-हीन भाव से भगवदनुग्रह की याचना की है। दयाराम ने परब्रह्म श्रीकृष्ण के विश्वंभर रूप का वर्णन करते हुए अपने चित्त से कहा है कि हे चित्त! तू चिंता क्यों करता है। श्रीकृष्ण विश्वंभर हैं। वे सारे विश्व का पालन करने वाले हैं। वे इतने दयालु हैं कि समुद्र के बीच रहने वाले शक्करखोर पक्षी को भी शक्कर देते हैं। जिसका जीवनाधार शक्कर है, उसे वे दही को मथ कर उसमें से शक्कर देते हैं—

चिन्ता तु चित क्यों करे, विश्वंभर व्रजपाल। संक्कर सक्करखोर को, दधिमथि देत दयाल ।३४८।

संपूर्ण जगत् कृष्णाधीन है। उनकी इत्सा (इच्छा) के बिना जगत् का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। इसी बात को चित्त में दृढ़तापूर्वक धारण करके रखना चाहिए। यही लाख बातों की एक बात है—

कबहु कृष्ण इत्सा बिना, डोले नहीं इक पात। यही दृढ़ चित राखियो, लक्ष्य बात की बात ॥३५९॥

शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् का कारण ब्रह्म है एवं उसीके संकेत से जगत् के समस्त व्यवहार संपन्न हो रहे हैं। शुद्धाद्वैत वेदांत सिद्धांत पर आधारित पुष्टि भक्ति का एक ही मूलाधार है कि कृष्ण ही महद् आश्रय है। उसे जीव अपनी संपूर्ण शक्ति से, अपने मन से समग्रता के साथ जकड़ ले। आचार्य वल्लभ के 'कृष्णाश्रय' ग्रंथ का यही मूलाधार है। **'नीचाश्रयो न कर्तव्यः कर्तव्यो महदाश्रयः'** 'बड़े शिक्षापत्र' में भी महद् कृष्णाश्रय को ही ग्रहण करने की आज्ञा की गई है। इस छंद में शुद्धाद्वैत वेदांत एवं पुष्टिभक्ति की श्रीकृष्ण शरणागति ये दोनों तथ्य एक साथ प्रकट हुए हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमात्मा स्वयं भू हैं। सभी के कर्ता हैं। उनके समान यहां अन्य कोई नहीं है। वे ही शेष, रमा, शिव, वेद और ब्रह्मा के स्वामी हैं एवं अनादि हैं—

करता सब के स्वयंभू कौन जाकि सम सीस। शेश, रमा, बेद, विधि, पति सु अनादि ईस ॥३७५॥

इस लघु छंद में ब्रह्म की सभी विशेषताओं का कवि ने निरूपण किया है। ब्रह्म सभी का कर्ता है, वह स्वयंभू है एवं अनादि है। वह सभी का स्वामी भी है। वह ब्रह्मा का स्वामी है, अतः ब्रह्मा द्वारा रचित इस मानव सृष्टि का भी वह अपने आप ही स्वामी है। कवि की यह विशेषता है कि वह ब्रह्म का जहां 'कर्ता' एवं 'स्वयंभू' के रूप में प्रतिपादन कर रहा है, वहां वह अपने कथन को सिद्ध करने के लिए उदाहरण भी प्रस्तुत करता जा रहा है। जैसे ब्रह्म कर्ता एवं स्वयं-भू है, क्योंकि वही शेष रमा, वेद, विधि का स्वामी हैं, ईश है एवं कर्ता है।

जैसे सूत्रधार के वश में सभी काष्ठ-पुत्तलिकाएँ होती हैं, वैसे ही संपूर्ण जगत् हरि के वश में है। इसी प्रकार यंत्र, पंजरस्थ शुक, मदारी का बंदर एवं बालक पराये बस होते हैं और इनसे जो खेल करवाए जाते हैं, और ये करते हैं, वैसे ही सारा संसार ईश्वर के अधीन है। जिससे जैसा भगवान् चाह रहे हैं, वैसा ही उससे खेल करवा रहे हैं। यहाँ संसार एक विराट् रंगमंच है एवं समस्त जीव अभिनेता हैं तथा परमात्मा सूत्रधार हैं। जैसे अभिनयकर्ताओं को सूत्रधार अपने इशारे पर नचाता है, वैसे ही समस्त संसार के प्राणियों को परमात्मा अपनी इच्छाधीन खेल करवा रहा है।

श्रीकृष्ण ही जगत् के प्रतिपालक एवं विश्व का भरण-पोषण करने वाले हैं। हे मन! इस बारे में तू थोड़ी भी चिंता न कर। तू विश्वंभर श्रीकृष्ण पर पूरा भरोसा रख। देख उसने पहले चुगा रखकर फिर तुझ चोंच दी है—

नाम विसंभर कृष्ण कों, जिन मन सोचे रंच। न्हेंचे धृड धर करि हरि, चुगना रचिके चंच्र ॥३९९॥

हमारे लोक में प्रसिद्ध है कि परमात्मा ने चोंच दी है तो वह चुगा भी जरूर देगा ही। परमात्मा पर अटल विश्वास का यह सूत्र भारतीय आस्तिक आत्मा का अभिन्न अंग है। यहां शुद्धाद्वैत-वेदान्त के आधार पर कृष्ण को ही कवि विश्वंभर कह रहा है।

परमात्मा आत्मा के रूप में प्रत्येक प्राणी के अन्तःकरण में बिराजमान हैं। जैसे हरे, लाल, पीले, काले इत्यादि विभिन्न रंगों के पदार्थों की छाया सदैव काले रंग की ही पड़ती है, वैसे ही जाति और वर्णन भिन्न-भिन्न होते हुए भी सभी के घट में उसी परब्रह्म अंतर्यामी घनश्याम का आत्मा के रूप में निवास है—

जाती बरन विचित्र पें, सब घट इक घनश्याम।
हरित अरुन सित पित असित, सब परछायों स्याम ॥ 'दयाराम सतसई', दो. ४१८॥

परमात्मा अंतर्यामी एवं घट-घट वासी हैं, ऐसा लोक प्रसिद्ध है। इसी तथ्य को कवि दयाराम ने कैसे अद्भुत एवं लोक-भोग्य उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। सभी तरह के पदार्थों का प्रतिबिंब भी श्याम रंग का पड़ता है वैसे ही सभी के घट में घनश्याम आत्मा के रूप में प्रतिबिंबित हो रहा है। यहां अप्रत्यक्ष रूप से वेदान्त का बिंब-प्रतिबिंबवाद ही ध्वनित हो रहा है। प्राणियों के शरीर में आत्मा घनश्याम रूपी बिंब का ही प्रतिबिंब है।

लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण को श्रीजी क्यों कहते हैं? क्योंकि वे ही सभी की शोभा एवं सभी के बड़प्पन हैं। जिस प्रकार आदि में 'श्री' एवं अंत में 'जी' के बीच सब नामों का विश्राम है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण में भी सारा नामरूपात्मक जगत् समाया हुआ है, इसीलिए उनका नाम श्रीजी है—

CC-0. Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोभा–बड़प्पन सबन कों, जा बिच सब विश्राम । देसे है श्रीकृष्णजू, तातें श्रीजी नाम ॥४२२॥

हम भारतीय सम्मान देने के लिए नाम के प्रारंभ में 'श्री' एवं अंत में 'जी' लगाते हैं। 'श्री' सृष्टि के समस्त सौन्दर्य को कहते हैं एवं 'जी' संस्कृत के जीवतु (जीओ) का अपभ्रंश संक्षिप्त रूप है। उदाहरणार्थ 'श्रीयोगेश्वरजी' ऐसा कहने पर इसका अर्थ होगा, योगेश श्री सम्पन्न हों तथा दीर्घायु हों। पुष्टि–संप्रदाय में श्रीनाथजी के 'श्रीजी' कहते हैं। उसी पर से कवि ने इस प्रकार की कल्पना की है। 'श्रीजी' के संपुट के बीच नाम होने से यह भी स्पष्ट होता है कि हम सभी भीतर बाहर सभी ओर से ब्रह्म द्वारा संपुटित हैं, ब्रह्ममय हैं।

सभी देवताओं में श्रीकृष्ण ही परब्रह्म होने के कारण श्रेष्ठ हैं। प्रत्येक देवता में कुछ न कुछ दोष है। शिव क्रोधी हैं। ब्रह्मा अपूज्य हैं। शशी सकलंक है। सागर खारा है। इस प्रकार सभी देवता सदोष हैं यदि कोई निर्दोष है तो वह परमात्मा श्रीकृष्ण ही—

म्रड मंन्यु, विधि अपुज, ससि लक्ष्य क्षार कंकोस । ऐसे सकल सदोष हैं, हरि एकहिं निरदोस ॥
'दयाराम सतसई'-दो.४९८॥

जैसे मन में उठी बात को हम मन से नहीं छिपा सकते वैसे ही अन्तर्यामी श्रीकृष्ण से भी हम कुछ भी नहीं छिपा सकते क्योंकि वे हमारे अंतर (मन) में रहते हैं। वे अन्तर्यामी हैं—

अंतरजामी तें कछू, दुरें न सत्य असत्य । मन मूस्यों मनसुब न ज्यों, रहि जातें उत्पत्य ॥४८९॥

लोक में जातक (बालक) के जन्म लेने पर ज्योतिषी जन्मपत्रि बनाता है, पर श्रीकृष्ण तो परम (श्रेष्ठ) ज्योतिषी हैं, जिन्होंने सारे संसार की जन्मपत्रि पहले से ही रच रखी है। जातक के जन्म के समय विधाता जो छट्ठी के दिन लेख (भाग्य) लिखता है, वह तो उसका केवल वर्षफल मात्र है—

जनमपत्रि सब जगत की, रचि राखी गोपाल । तामें फिरि अब्दफल, लखत विधाता भाल ॥
'दयाराम-सतसई'–दो.॥५२६॥

कवि ने श्रीकृष्ण को यहां जगत् का कर्ता कहा है एवं यह कहा है कि प्रत्येक प्राणी के लिए वह उसके कर्मों के अनुसार जन्म से पहले ही उसके भावी जीवन की जन्मपत्रि बना लेता है। इसी को प्रारब्ध भी कहते हैं। प्रारब्धवाद भी दर्शन की एक विधा है।

परमात्मा के दर्शन के लिए अनुभवी आंख चाहिए। साधारण आंख से हम संसार के साधारण स्थूल पदार्थों को देखते हैं पर सचराचर में व्याप्त श्रीकृष्ण के दर्शन केवल अनुभव की आंख द्वारा ही किए जा सकते हैं—

अनुभवि सचराचर, बिखे, देखे जुगजीवन्न । अंजनविद्या जाहि पें, सो लखि ज्यों सब धन्न ॥
'दयाराम सतसई'–दो.॥५९५॥

जैसे 'अंजन–विद्या' जानने वाला जमीन में गड़े हुए धन को देख लेता है, वैसे ही अनुभवी अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा समस्त चराचर में व्याप्त श्रीकृष्ण को देख लेता है। यहां शुद्धाद्वैत–वेदान्त के अनुसार ब्रह्मवाद का निरूपण हुआ है। जगत् का नामरूपात्क सब कुछ ब्रह्मरूप है, ऐसा सिद्धांत ब्रह्मवाद कहलाता है। यहां कवि ने इसी ब्रह्मवाद की अनुभूति को प्रकट किया है। जब अविद्या माया दूर हो जाती है एवं विद्या माया का प्रकाश होता है तब व्यक्ति को सभी कुछ ब्रह्ममय दिखाई देने लगता है। नरसी महेता कहते हैं–

जागीने जोऊं तो जगत् दीसे नहिं, उंघमां अटपटा भोग भासे । न.म.कृ.का.सं.

जागकर देखता हूं तो मुझे जगत् नहीं दिखाई देता, पर सर्वत्र ब्रह्म ही व्याप्त दृष्टिगत होता है। यही अनुभवी आंख अथवा दिव्य दृष्टि है, जिसके द्वारा व्यक्ति परमात्मा के दर्शन कर सकता है। इन स्थूल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रियों से कभी परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते । पुराणों एवं अन्य धार्मिक कथाओं में चमत्कार की बातें भगवान् के दर्शन देने की बातें आती हैं, वे सभी असत्य हैं, झूठी एवं गप्पे हैं । सत्य यही हैं कि परमात्मा के दर्शन निर्मल चित्तवाले व्यक्ति को केवल उसकी अनुभूति में अर्थात् उसके अन्तःकरण में हो सकते हैं । व्यक्ति जब निर्मल चित्त होकर परमात्मा के प्रकाश का ध्यान करता है तब उसके अन्तःकरण के पट (केमरे) पर वह परमात्मा के तेज की अनुभूति करता है । यही बात सत्य है और भागवतकार ने परमात्मा के इसी स्वरूप का मंगलाचरण में ध्यान किया है **'सत्यं परं धीमहि'** तथा भर्तृहरि ने भी अपने 'वैराग्यशतक' के मंगलाचरण में इसी तेज का ध्यान किया है ।

शुद्धाद्वैत–वेदान्त के अनुसार ब्रह्म सभी विरुद्धधर्मों का आश्रयस्थान है । वह कभी सर्प से बंध जाता है तो कभी वह सांप को नाथ भी लेता है । कभी वह तुच्छातितुच्छ कालयवन से डरकर भाग खड़ा होता है तो कभी वह महादेव को भी जीत लेता है—

प्रभुकूं कहत बनें न कछु, जाकी गति अकलीत । अहि तें बंधे अहि नथ्यो, भुवन भजे हर जीत ।।
'दयाराम सतसई'-दो. ।।६०३।।

इसमें परमात्मा श्रीकृष्ण की गति–माया–को अकलीत अर्थात् अकल्प्य कल्पनातीत, कहा गया है ।

जैसे घंट में ध्वनि (रणत्कार) व्याप्त है एवं सुमन में सुवास, वैसे हरि नहीं दीखने पर भी सचराचर में व्याप्त हैं—

सचराचर में समुझि यों, कीनों कृष्ण निवास ।
दिखे न पै हैं घंट–रव, अस ज्यौं सुमन सुवास ॥ 'दयाराम सतसई'–दो. ।।६३८।।

यहां भी श्रीकृष्ण को विभु निरूपित किया गया है तथा शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार यहां ब्रह्मवाद का प्रतिपादन हुआ है ।

शुद्धाद्वैत वेदांत के अनुसार वल्लभ–संप्रदाय में ब्रह्म के तीन स्वरूप मुख्य माने गए हैं (१) आधिदैविक परब्रह्म (श्रीकृष्ण) (२) आध्यात्मिक अक्षर ब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म) और आधिभौतिक जगत् ब्रह्म (जगत्) । परब्रह्म श्रीकृष्ण रसरूप हैं तथा आध्यात्मिक अक्षर ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म हैं, जिसमें आनन्दांश स्वल्प मात्रा में तिरोहित रहता है । अतः वह सगुण परब्रह्म श्रीकृष्ण की अपेक्षा महत्ता की दृष्टि से न्यून है । 'भ्रमरगीत' प्रसंग में सूरदास, नंददास इत्यादि ने यही सिद्ध किया है कि ज्ञानगम्य निर्गुण की अपेक्षा लीला पुरुषोत्तम सगुण परब्रह्म श्रीकृष्ण–श्रेष्ठ है अर्थात् प्रवृत्तिपरक जीवन श्रेष्ठ हैं । ब्रह्म निरूपण विषयक इसी वेदांत के सिद्धांत का दयाराम ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

ग्यानादिक तें अनघ भव, हरि न साध्य बिनु राग ।
रवि बिनु जिमि न जिवादि नें, अहर होइ निसि भाग ॥ 'दयाराम सतसई'–दो. ।।६६८।।

सांख्य की ज्ञानात्मिका निवृत्ति या फिर ज्ञान, योग इत्यादि द्वारा मनुष्य शुद्ध निष्पाप हो सकता है और उसे मुक्ति भी मिल सकती है किंतु बिना प्रेम के 'हरि' को प्राप्त नहीं किया जा सकता । जैसे कि सूर्य के बिना नक्षत्र तथा दीपक आदि से प्रकाश तो हो सकता है, पर रात्रि के स्थान पर दिन नहीं हो सकता । जो बात सूर आदि ने 'उद्धवगोपी–संवाद' में गोपिकाओं के द्वारा उद्धव से कहलवाई हैं, उसे ही दयाराम ने यहां बड़े ही संक्षेप में व्यक्त कर दी है । उसने यह भी स्पष्ट रूप से ध्वनित कर दिया है कि निर्गुण की अपेक्षा सगुण ही श्रेष्ठ है अर्थात् संन्यास की अपेक्षा सांसारिक प्रेम-मय जीवन ही श्रेष्ठ है ।

परमात्मा निराकार नहीं, साकार है । यदि परमात्मा के अवयव नहीं हैं तो यह सावयवी संसार कहाँ से आ टपका है–

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निराकार सब कों कहें, ये प्रभु हें साकार। जो अवयव नहि ईस, लह्यों कहां संसार ।।३३०।।

इस छंद में भी कवि ने ब्रह्म के साकार रूप की स्थापना की है। कवि का आशय यह है कि जैसा पिता होगा वैसा ही पुत्र होगा। मनुष्य हाथ–पैर वाला है तो भगवान् भी अवश्य ही हाथ–पैर वाला होना चाहिए।

निर्गुण को मानने वाले ब्रह्म को तेज का गोला कहते हैं, पर वे दूर के निवासी हैं। उन्होंने परमात्मा को निकट से नहीं देखा है। जैसे कि पृथ्वी के लोग सूर्य को गोलाकार बताते हैं, पर सूर्य का सौंदर्य तो उसका सारथि अरुण ही जानता है—

ब्रह्म सु गोलाकार यों, बदे निवासी दूर। वरतुल से सब ज्यों कहे, अरुन लखे छवि दूर ।।३३१।।

कवि यों कहना चाहता है कि ब्रह्म को जो दूर से देखते हैं, उन्हीं को वह तेज का गोला दिखाई देता है. यदि उसे निकट से देखा जाए तो वह साकार ही दृष्टिगत होगा।

कृष्ण सगुण साकार हैं। इसका कवि दयाराम ने अनेक छन्दों में, अनेक दृष्टांतों एवं उदाहरणों के द्वारा प्रतिपादन किया है। यदि जगत् के धाम पुरुषोत्तम का कोई रूपाकार नहीं है तो फिर कर्तव्यता कैसे संभव है और यदि ऐसा कहें कि कर्तव्यता नहीं है तो **'एकोऽहं बहुस्याम्'** यह श्रुतिवचन मिथ्या सिद्ध होता है और श्रुतिवचन कभी मिथ्या सिद्ध हो नहीं सकता—

जो न रूप जगधाम, क्यों संभव करतव्यता। एकोहं बहुसाम, श्रुति निषेध करत न बने ।।३३३।।

हरि में समस्त जगत् है एवं जगत् में ही हरि हैं। जैसे कि समुद्र में लहर और लहर में ही समुद्र है—

हरिही में सब जक्त हें,जग में हरि यों मांनि।
जलनिधि में सब वीचि ज्यों, वीचि जलनिधि जानि 'दयाराम–सतसई' ।।६८७।।

सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में शुद्धाद्वैत–वेदान्त में अविकृतपरिणामवाद मान्य है। चराचर सृष्टि के अणु–अणु में व्याप्त ब्रह्म को सूर ने जल में उठे बुद्‌बुदों के द्वारा समझाया है तो दयाराम इसीको जलनिधि एवं तरंग द्वारा समझा रहे हैं। जलनिधि ब्रह्म है एवं तरंग जगत् तथा जीव हैं। जैसे तरंगे जलनिधि का अविकृत रूप हैं वैसे ही जगत् एवं जीवन भी हरि के अविकृत रूप हैं। जैसे दीपक में अग्नि एवं अग्नि में दीपक है वैसे ही हरिजन में हरि हैं एवं हरि में हरिजन हैं—

हरिजन में हरि जांनि लें, हरि जन हरि के मांहि।
दीपक में ज्यों ब्रहि हें, दीप वहिं में आंहि ।। 'दयाराम–सतसई', दो. ।।६८६।।

निरीश्वरवादी पूर्वमीमांसाकार जैमिनी की भी कवि दयाराम ने कठोर शब्दों में प्रताड़ना की है। कवि ने निरीश्वरवादी मीमांसकों को उल्लुओं का समूह कहा है। जैसे उल्लुओं का समूह सूर्य की उपस्थिति को नहीं पहचान पाता पर सूर्य तो उपस्थित रहता ही है, वैसे ही मीमांसक ईश्वर को नहीं पहचानते पर ईश्वर तो विद्यमान है ही—

कहें मिंमासक ईस नां, सुनि मन जिन धरि खांच।
घू घू घनें न जानहीं, तद्दु ज्यों सुर हें सांच ।। 'दयाराम-सतसई', दो. ।।६६०।।

षड् आस्तिक दर्शनों में दो दर्शन ईश्वर को नहीं मानते हैं। एक है, पूर्वमीमांसा दर्शन और दूसरा है सांख्य। सांख्य ज्ञानात्मिका निवृत्ति में विश्वास रखता है तो पूर्वमीमांसा कर्म में। इन दोनों निरीश्वरवादी दर्शनों के विचारों का कवि दयाराम ने यहां सोदाहरण खंडन किया है।

भगवान् श्रीकृष्ण तो कल्पवृक्ष के समान दानी हैं। यह सारा संसार पुरुषोत्तम की प्रजा है और सभी पर उसका समान रूप से प्रेम है। शरणागत पर भगवान् का अधिक प्रेम है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। भगवान् तो कल्पवृक्ष के समान यथेच्छ दानी हैं—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब जग पुरुषोत्तम प्रजा, सब पे प्रेम समान । अधिकों लगें प्रपन्न पें, कल्पद्रुम ज्यों दान ।।६७५।।

इस छंद में 'प्रपन्न' शब्द द्वारा शरणागति की महत्ता प्रकट की गई है ।

रसिकरंजन : दयाराम का व्रजभाषा में निबद्ध 'रसिकरंजन' ग्रंथ शुद्धाद्वैत वेदान्त से संबद्ध स्वतंत्र ग्रंथ है । इसमें कवि ने काव्यात्मक शैली में शुद्धाद्वैत-वेदांत विषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है! इस प्रकार का ग्रंथ हिन्दी प्रदेश के हिन्दी साहित्य में हमारे ध्यान में नहीं आया । यों दयाराम ने गुजराती में भी शुद्धाद्वैत-वेदान्त विषयक ग्रंथ लिखा है जो 'रसिकवल्लभ' के नाम से सुप्रसिद्ध है ।

'रसिकरंजन' स्वयं आधिदैविक परब्रह्म लीला पुरूषोत्तम रस स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र हैं, जिनके सैद्धान्तिक स्वरूप को शुद्धाद्वैत-वेदांत द्वारा तथा व्यावहारिक स्वरूप को पुष्टि-भक्ति द्वारा समझा जा सकता है । 'रसिकरंजन' ग्रंथ के रस स्वरूप **'रसो वै सः'** श्रीकृष्ण ही प्रतिपाद्य है । यह ग्रंथ १७ प्रकरणों में विभक्त है (१) अनन्यता, (२) भगवदाश्रय (३) दीनता (४) कृपा (५) ईश्वरता (६) भगवदिच्छा (७) विज्ञप्ति-प्रार्थना (८) स्तुति (९) हरिनामोत्कर्षता (१०) चिंताहरण-समाधान (११) भक्तिप्रेमोत्कर्षता (१२) भक्तोत्कर्षता (१३) शृंगाररहस्य (१४) अभिलाषा(१५) उरांनो (१६) शिक्षा (१७) मायामत खंडन ।

इस प्रकार संपूर्ण ग्रंथ दर्शन, पुष्टि-भक्ति एवं शुद्धाद्वैत वेदान्त से ही सम्बद्ध है । भगवान् श्रीकृष्ण को उज्ज्वलनीलमणि एवं 'रसिकरंजन' कहा गया है । जो स्वयं साक्षात् शुद्धाद्वैत वेदान्त के श्रीविग्रह हैं । यहां हम 'रसिकरंजन' में से दयाराम के ब्रह्म विषयक विचार प्रस्तुत करते हैं ।

ब्रह्म : दयाराम ने श्रीकृष्ण की अनन्यता प्रकट करते हुए उन्हें पूर्ण ब्रह्म अनंतगुण-विभूषित, पुरुषोत्तम, त्रिगुणातीत, निगम जिसे **नेति-नेति** कहते हैं ऐसा एवं ब्रह्मा की भी बुद्धि जिसके मर्म को मोहवश नहीं जान पाती है, ऐसा कहा है—

श्रीकृष्ण पूरणब्रह्म, ब्रह्मा जाने नहीं मर्म, नेति-नेति निगम सदा सुने हैं पुकारते ।
अनन्त गुणग्यानी, शीश शंकर पद-पानी । सेवे बानी श्रीरानी, रहे देव प्रान वारते ।।
पुरुषोत्तम अवतारी, त्रिगुनाक्षर परे जाकी । प्रकरण-१, छंद-३

परब्रह्म श्रीकृष्ण अक्षर से भी परे, कालातीत, मायापति, विश्व को नाच नचानेवाले हैं । वे शेष, महेश, विधि, श्रुति, शारदा, देव, मुनि सभी के 'सरदार' हैं । वे कर्ता भी हैं एवं अकर्ता भी हैं, कर्म करते हुए भी कर्म से अलिप्त हैं, इस प्रकार ब्रह्म सभी विरुद्ध धर्मों का आश्रय स्थान है—

शेष महेश विधी श्रुति शारद, देव मुनी सब कों सिरदारो ।
अक्षर तें पर काल अजापति, विश्वकुं नाच नचावन वारो ॥
आप करेहु भरे हु हरे फिर, आप अखिल रहे फिर न्यारो ।
कहत 'दयौ' व्रत एहि सदा सुहि, ठाकुर नन्दकुमार हमारे ।। प्रकरण-१, छंद-३

श्रीकृष्ण पूर्णानन्द, रसस्वरूप हैं एवं अन्य सभी अपूर्णानन्दी हैं । राजा की अपेक्षा चक्रवर्ती का आनंद शतगुना है । चक्रवर्ती की अपेक्षा स्वर्ग का आनंद शतगुना है, इसी प्रकार महः लोक, जन लोक, तपः लोक एवं सत्य लोकों का आनंद उत्तरोत्तर शत-शत गुना अधिक है । इनसे शतगुना आनंद शिव लोक में है तथा उससे भी शतगुना आनन्द मोक्ष में है एवं मोक्ष से भी ब्रह्मानंद में शतगुना आनन्द अधिक है । इन सभी से श्रेष्ठ माया से पर (अविद्या माया से पर) एवं मायापति (विद्यामायापति) दयानाथ श्रीकृष्ण में ही पूर्णानंद है । इसी लिए दयाराम के रसिक मन ने अन्य अपूर्ण आनंद के आश्रयों को छोड़कर एकमेव पूर्णानंद रसस्वरूप श्रीकृष्ण को ही अपनी गति माना है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देशपति कों आनन्द, तासों शत गुनानन्द, चक्रवर्ती कों है सो शास्त्र में वखान्यो है ।
तातें शतगुनो स्वर्ग, महो, जन, तपो, सत्य, क्रम तें शतगुनो सुख, शिवजी को जान्यो है ।।
तातें शतगुनो मोक्ष, ब्रह्मानन्द गनना है, माया तें पर है तो हू, और माया सान्यो है ।
'दयानाथ' पूर्णानन्द कृष्ण ही हैं गति मेरी, मन रसीकन को अपूरन नां मान्यो है ।। प्र.३, पद-४।।

श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम एवं पूर्णावतार क्यों है ? इस संबंध में दयाराम कहते हैं कि संकर्षण, शंकर, पार्वती, गणेश, ब्रह्मा, नारद, शारदा, सांगोपांग श्रुतियां, सभी शास्त्र, शुक मुनि, व्यास श्रीमद्भागवत, इन्द्र, सूर्य, वरुण, अग्नि, यम, अनिल, धनद (कुबेर) सुर, क्षिति (पृथ्वी) सरिताएँ, सर, सागर, गिरि, योगी, मनुष्य, अहि, असुर, चर-अचर अखिल ब्रह्माण्ड जिस पूर्ण पुरुष के लिए सतृष्ण हैं, लालायित हैं, वह श्रीकृष्ण ही पूर्णपुरुषोत्तम, सभी अवतारों का हेतु पूर्णावतार एवं दयाराम के नाथ हैं--

श्री शंकरषन, शंकर, शिवा, गनेश विधाता ।
नारद-शारद श्रुतिसांग, चतुस्सन, शुक ख्याता ।।
इन्द्र, चंद्र, सुर, वरुन, अग्नि, यम, अनिल, धनद, सुर ।
क्षिति, सरि, सरसागर, गिरि, योगी, मनुष, अहि, असुर ।।
चर-अचर अखिल ब्रह्माण्ड कूं, जाही पुरुष की तृष्ण है ।
सोही हेतु अखिल औतार कहे, 'दयानाथ' श्रीकृष्ण है ।। प्रकरण-३, छप्पय-७

श्रीजी (श्रीनाथजी, श्रीगोवर्द्धननाथजी)[1] सर्वदा सर्वतंत्र स्वतंत्र हैं । वें चाहें सो करते हैं । वे अपनी इच्छाधीन हैं । वे वेद आदि के भी वश में नहीं हैं । वे जगत् के नाथ हैं । उन्होंने हा इस नामरूपात्मक चराचर ब्रह्माण्ड का सर्जन किया है । वे ही इस ब्रह्माण्ड के नियामक हैं और सभी पर करुणा करते हैं--

श्रीजी स्वतंत्र हैं सदा, करे चहाय सो काम, वेदादिक के बस नहीं, जगन्नाथ लखि धाम ।
जगन्नाथ लखि धाम, वरन सब एक बनाई, जो कोई चें-चूं करे, चपेट बदन में खाई ।
कहे 'दयो' हरिदास, त्रास सब कों हरि खीजी। नहीं नियामक कोइ, करे करुना जब श्रीजी ॥ ५·१३ ।।

श्रीकृष्ण ही आनंदमय, पुराण पुरुष एवं परात्पर परब्रह्म हैं । वे ही सकल लोक के संताप को हरनेवाले हैं एवं निजाश्रितों के लिए आनंदकर हैं **'निजाश्रितानां सकलार्ति हन्ता—'**

हर सकल पाप संताप हरि, निज जन जय आनन्दकर ।
जय दयानाथ आनन्दमय, पुराण पुरुष परात्पर ।। प्रकरण-८, छप्पय-१

परमात्मा परब्रह्म श्रीकृष्ण ही अवतारों के अवतार हैं इसलिए सभी अवतार उनके अंग हैं एवं उनमें ही समाए हुए हैं। जैसे सभी देवता विष्णु में, सभी सरिताएँ सागर में, सभी तीर्थ हरि चरणों में अदरक में सभी शाक-सब्जियां, खीर में सभी पकवान, 'गीता' में सभी शास्त्र, दया में सभी धर्म-कर्म, प्रणव ॐकार में सभी मंत्र, भद्र जनों में भक्ति समाहित है, वैसे ही श्रीकृष्ण पूर्णावतार होने से सभी अवतार उनमें समाहित हैं----

विष्णु में देव सकल, सिंधु में सरिता सब, हरिपादांबुज में सब तीर्थ, शास्त्र गावै हैं ।
अद्रक में शाक सबै, सबी पाक पायसान्न, श्रीमद्भगवद्गीता में सबी शास्त्र आवे हैं ।
दया धर्म सेवा कर्म, प्रणव मंत्र भक्ति भद्र, कृष्ण औतारी मैं औतार सब समावे हैं ।। ९, ८।।

---

१. श्रीनाथजी, पुष्टिसंप्रदाय के इष्ट देव हैं, आजकल आपका स्वरूप नाथद्वारा मेवाड, में बिराजता है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'हरि' परब्रह्म का सर्वश्रेष्ठ नाम है। तीनों वर्णों–क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के गुरु विप्र हैं, जिनका तेज गायत्री है। संन्यासी भी सप्रणव महामंत्र गायत्री का जप करते हैं। यह प्रणव ही ॐकार है। जो वेद का आदि कारण है। प्रत्येक वेद मंत्र के उच्चारण में प्रणव ॐकार से भी पूर्व 'हरि' पढ़ा जाता है। 'हरिःॐ' इस प्रकार प्रथम उच्चारण करके आगे मूलवेदमंत्र पढ़ा जाता है, यदि इस तरह से पाठ नहीं किया जाए तो वेदमंत्र निष्फल माना गया है, इस प्रकार वेदमंत्र में भी 'हरि' सर्वोपरि है––

तीन बरन गुरु विप्र, तेज गायत्री जाकौ, सो वंदत संन्यासी, प्रणव महामंत्र हि ताकौ।
प्रणव सोहि ओंकार, वेद की आदि जानौ, हरिहि ॐ नहिं पढ़ै, पाठ श्रुति निष्फल मानौ।
इह वेद वचन परिमान श्रीकृष्ण नाम सर्वोपरि।
अधिकार सदा सब बरन कौं, विधिनिषेधनाम न हरि ।। ९,२१ ।।

'रसिकरंजन' के प्रकरण १७ से १६ छन्दों में मायामत का खंडन किया गया है। आचार्य शंकर का केवलाद्वैत वेदांत मायावाद या मायामत कहलाता है। कवि दयाराम ने निर्गुणवादी ज्ञानियों के समक्ष अपना सीधा ही प्रश्न प्रस्तुत किया है कि हे ज्ञानी! जीव ब्रह्म कैसे बन सकता है? इसका उत्तर दो। ब्रह्म तो पूर्णानन्द है एवं जीव आनन्दांश रहित है, दीन–हीन है, इस प्रकार दोनों में अंतर है फिर जीव ब्रह्म कैसे बन सकता है। इस प्रकार **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'** केवलाद्वैत का यह सिद्धांत निराधार है–

ज्ञानी हमें प्रति उत्तर द्यो, जाव ब्रह्म बनै, हम नांहि माने हैं।
ब्रह्म आनन्द भुगे, तब को जु भुगे, तव ऐक्य न कहत बने है ।।
नहि न मोद कछु अरु कहौ न, तु द्वैत मनों हम नन्द भने हैं।
कहत 'दयो' जु दुराग्रही हौं मत कोबिद बेद विरुद्ध गने हैं ।। १७, १

निराकार, तेजोमय, व्यापक अद्वैत ब्रह्म की बात अटपटी है, गले उतरे वैसी नहीं है, पर श्रीकृष्णचंद्र पुरुषोत्तम सगुण साकार हैं। वे ही दयाराम के प्रभु हैं एवं निर्गुण से न्यारे हैं––

व्यापक अद्वैत ब्रह्म तेजोमय निराकार, निरंजन निर्गुण नां आदि परिनाम है।
अटपटी बात पायेगो मन विराम है, वासूं तो श्रीकृष्णचन्द्र पुरुषोत्तम न्यारे है।
'दया' प्रभु धामी जाके वह जिनको धाम है । प्रकरण–१७, कवित्त–२ ।।

कारण ब्रह्म यदि अरूप है तो यह साकार जगत् कहां से आया? क्योंकि रूप तत्त्व मे ही रूप उत्पन्न होता है, अरूप से रूप नहीं। परब्रह्म गूढ़ है, इसीलिए श्रुति 'हैं' और 'नहीं हैं' ऐसा कहती हैं, पर वह तो सूर्य की भाँति विद्यमान होने पर भी नहीं भी दीखता है––

कारन ब्रह्म न रूप जू होइ तु, कारज जग्त लहे कहु कैसे?
रूप विना कर तत्वहु नां वानि, जो मति होइ विचारीय ऐसे ।।
हैं अरु ना श्रुति कहे हितु गूढ सू, हैं बपुपैं न दिसे रवि जैसे।
प्राकृत नां परनिंदमई सब, अंग दया न दिखै भव तैसे ।। प्र.१७, मत्तगयंद–६

प्रकाश की प्रचंडता के कारण सूर्य को देख पाना संभव नहीं है, ऐसा कवि का कहना है। देखते समय दृष्टि चौंधिया जाती है, यही कवि के कथन का आशय है।

सगुण ब्रह्म लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र को आसुरी लोगों को देखने का अधिकार नहीं है, इसीलिए वे उनके लिए अक्षर अर्थात् निर्गुणरूप में रहते हैं, किंतु अपने भक्तों को आनन्द देने के लिए वे मनोहररूप धारण करके सगुण रूप में प्रकट होते हैं।

CC-0. Kangri Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखन कों अधिकार आसुरी, ताहि तु अक्षर रूप न दाखै ।
अंग मनोहर है तिन भीतर, भक्त सजाति रसिकसु चाखै ।। प्रकरण-१७,

हे मायावादी ! तू कहता है कि निराकार ब्रह्म का माया पर प्रतिबिंब गिरता है और वही जीव है तो यह बात कैसे सत्य मानी जा सकती है ? क्योंकि माया तो मलिन है और तेरा ब्रह्म अरूप है । फिर तू ही बता, बिना बिंब के प्रतिबिंब कैसे गिरेगा ? पवन की परछाई कभी लकड़े पर गिरती है ? हे मूढ ! तू बिना बुद्धि का है और यों ही बोल उठा है तो तेरी बात सच कैसे सिद्ध हो सकती है ? दयाराम कवि कहता है कि परब्रह्म तो सदा साकार है । जीव उसीका अंश है एवं दास है । ऐसा मानने पर ही अर्थ सरेगा–

तेरे मते ब्रह्म निराकार, जिय प्रतिबिंब । माया बिच पर्यौ कहे, कैसे सांच ठ़रैगो ?
माया तो मलिन और, ब्रह्मकुं न रूप मूढ । तूं हि कहे बिंब बिना प्रतिबिंब परेगो ?
पवन की जांई काठ़ बिच परी देखी कहूं ? बुद्धि बिना बोल्यौ निरवाह कैसे करेगो ?
'दयानाथ' परब्रह्म सो तो हैं साकार सदा । जीय ताको अंश दास मान्य अर्थ सरेगो ।। प्र.१७

शुद्धाद्वैत वेदांत के अनुसार ब्रह्म का श्रेष्ठ आदि दैविक स्वरूप सगुण है, और वह श्रीकृष्ण है । **'विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु'**, अग्नि में से उठने वाले अग्निकणों की भांति जीव ब्रह्म का ही अंश है एवं उसका दास हैं । उपर्युक्त छंद में शुद्धाद्वैत वेदांत के अनुसार ब्रह्म का जीव के साथ संबंध प्रदर्शित किया गया है एवं निर्गुण मत का खंडन किया गया है ।

हे मायावादी ! तुम्हारे गुरु और शिष्य दोनों अज्ञानी हैं । जो ब्रह्म दृष्टि का विषय नहीं है, उसका ज्ञाता पूर्णज्ञानी माना जाता है, ऐसा ज्ञानी गुरु अपने शिष्य को किस प्रकार की दृष्टि देगा ? इसीलिए तेरा अद्वैत ज्ञानमार्ग भ्रांतिमूलक है एवं दयाराम कहता है कि हमारा शुद्धाद्वैत वेदांत का सिद्धांत पूर्णतः शुद्ध एवं दोष रहित है--

मायावादी तेरे पंथ, गुरु शिष्य सम्भवे न, जूठी बात साची हमें कैसे समुझावैगो ?
जाकुं सबी ब्रह्मभेद द्रष्टि नां सो पूरनज्ञानी, तिनको शिष्य अज्ञानी दृष्टि कैसे आवेगो ?
ताहि तें अद्वैत ज्ञान मारग है भ्रांति मूल । कहै 'दयो' शुद्धाद्वैत कछू दोष नावैगो ।। प्र.१७ म.१०.

ईश्वर जीव-जगत् का कारण है और वह सत्य है, तब उसके कार्य जीव-जगत् झूठे कैसे हो सकते हैं ? कंचन से ही कुंडल एवं कंकन बनते हैं तो कंचन में कोई विकार नहीं होता । प्रपंच झूठा नहीं है । दयाराम कहता है कि हे मायावादी ! तू जड़ है । जगत् को झूठा कहकर तू अपने ही मत को धो रहा है–

ईश्वर कारण सत्य सदा, तब कारण जक्तसु जूठ न होई ।
कंचन तें जस कुंडल कंकन, कंचन ही वह भेद न कोई ॥
जूठ प्रपंच तनू तव प्राकृत, साधन ज्ञान रू मुक्ति हु सोई ।
कहत 'दयो' जग जूठ कही जड, तूं ही तेरौ मत डारत धोई । प्र.२७, म. १०

खल एवं ज्ञानी ही जीव को ब्रह्म कहते हैं । परब्रह्म श्रीकृष्ण तो आनंद स्वरूप हैं एवं उनके आनन, पाद इत्यादि सभी आनंदरूप हैं–मधुर हैं--**'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'**–

आनन्दमात्र हि आनन पानि, पदादि सबै हरि वेदकी बानी ।
सो छबि प्राकृत जीव सी जानत, जीवकुं ब्रह्म कहै खल ज्ञानी ॥ प्रकरण-१७, मत्तगमंद-१३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाय में दूध है। उसमें घी है, पर अंदर के उस घी से गाय बलवान नहीं बनती, पर उसके दूध में से घी निकालकर उसको खिलानें से ही वह बलवान बनेगी। तिलों में तेल है, पर उनसे दीपक नहीं जलेगा, पर प्रत्यक्ष तेल से ही ज्योति जल सकेगा। इंधन में अग्नि है, पर उससे भोजन नहीं बन सकेगा, पर 'स्फुट' अग्नि से ही भोजन बन सकेगा। इसी प्रकार सगुण श्रीकृष्ण के स्वरूप से ही सुख मिलेगा, नहीं कि अंतर्यामी निर्गुण ब्रह्म से--

गो में पय, तामें घृत सो घृत तें गौ नां बल। प्रकट घिउ खवाये धेनु पुष्टि ह्वै जात है।
तिल में है तैल, तातें तिल में ना दीप बरै। पाये सो प्रतच्छ तेल जोति ठहरात है।।
ईंधन बिच अग्नि है, तांसु नां रसोई होवै। स्फुट अग्नि लागे विन सुधरैं नां बात है।
तैसे दयानाथ कृष्ण, स्पष्ट रूप देखे बिना। अंतरजामी का सुख देवै नहीं गात है।। र.१७,क. १४

धतूरा कभी कनक नहीं हो सकता, कुत्ता कभी बाघ नहीं हो सकता, भाट कभी राजा नहीं बन सकता, गोला राणा नहीं हो सकता, आक अर्क (सूर्य) नहीं हो सकता, वैसे ही जीव भी कभी ब्रह्म नहीं हो सकता—

जीव ब्रह्म होवै न कबु, धतुर कनक न कोइ। कुत्ताकुं कहै बाधिया, कुत्ता बाध न होइ।
कुत्ता बाघ न होइ भाट रायजी तोले। भोइ राज ज्यौं, गोलाकुं, राना कही बोले।। प्र. १७

जल से मोती और ज्योति से काजल बनते हैं, पर वे मोती और काजल पुनः कभी जल एवं ज्योति नहीं बन सकते। इसी प्रकार सरोवर से सरिता निकलती है एवं फणी से मणि उत्पन्न होता है, पर सरिता को कोई सरोवर एवं मणि को कोई फणी नहीं कहता। वस्त्र पुनः जैसे कपास नहीं बन सकते, वैसे ही कारण एवं कार्य दोनों ही नित्य अलग-अलग दो हैं। इसी प्रकार जीव ब्रह्म से अवश्य उत्पन्न हुआ है, पर वह पुनः कभी ब्रह्म नहीं हो सकता--

नीरसुं मोती रु कज्जल जोतिसुं, क्यौं हू कदा जल जोति न होई।
यों सरसौं सरिता, फनि सौं मनि, बहोर फनी सर कहै नहिं कोई।।
बाख कपास न बहोर बनै, ध्रुव कारन कारज नित्य ही दोई।
कहत 'दयो' जिय ब्रह्मसु भौं सहि, त्यौं फिर ब्रह्म बनै नहिं सोई।। प्रकरण-१७, मत्तगमंद-१६

इस प्रकार दयाराम ने 'दयाराम सतसई' एवं 'रसिकरंजन' ग्रंथों में शुद्धाद्वैत-वेदान्त के अनुसार ही विविध तर्कों द्वारा ब्रह्म के सगुण रूप का मंडन एवं निर्गुण का अर्थात् शंकराचार्य के केवलाद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त का खण्डन किया है।

जीव : दयाराम ने शुद्धाद्वैत-वेदान्त के अनुसार ही जीव को ब्रह्म का अंश माना है। दयाराम एक दोहे में कहते हैं कि हे श्रीकृष्ण ! मैं जीव आपका ही अंश हूं पर आपको भूल कर कुमार्गगामी बन गया हूं। यदि मैं इस कुमार्ग को नहीं छोड़ूंगा तो आप ही को लज्जित होना पड़ेगा—

जीव अंश हों आप का, सीख्यौं करन कुकेल। तात लजोंगे जो नहीं, डारों हरि निज गेल ॥६५६॥

माया : दयाराम ने माया को 'अजा' नाम दिया है एवं परब्रह्म को 'अजापति' अथवा 'मायापति' कहा है। मकड़ी जाला बनातीं है। उसमें वह नहीं फंसती है, पर दूसरे जीवों को फंसाती है, वैसे ही हरि ने माया का जाल रचा है। वे इससे पृथक् हैं, पर दूसरों को उसमें उलझाते हैं। फिर अपने इस माया जाल का स्वयं ही संवरण भी कर लेते हैं—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजाजाल हरि रचि रहे, अलग और उरझाँइ । फिरि लयहु निज धन्य कृति, उरननाभ की नांइ ।६५६।

यहां शुद्धाद्वैत–वेदान्त के अनुसार दयाराम ने विद्या माया का वर्णन किया है । दयाराम को उर्णनाभ का दृष्टांत वेदान्त के इस प्राचीन कथन से उपलब्ध हुआ है—

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः ।
देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम् ।। वेदान्त अंक, कल्याण

जिस प्रकार मकड़ी अपने ही शरीर में से निकले हुए तन्तुओं से अपने आपको वेष्टित कर लेती है, उसी प्रकार वह अद्वितीय परमात्मा अपनी ही प्रकृति से इस सृष्टि को आवृत्त कर लेता है । वही परमेश्वर हमारा अक्षर ब्रह्म के साथ योग कराए ।

दयाराम ने जीव को अविद्या माया से आवृत्त बताया है । वह जीव से कहता है—'हे जीव, तुझे संसार ने पकड़ रखा है, तू उठकर क्यों नहीं चल देता । यह सब बंधन तूने ही बना रखा है । यह तेरी मूर्खता है, वैसे ही जैसे बन्दर के हाथ की घड़े के अन्दर बंधी हुई मुट्ठी–

रे जिय तो यों कितु गह्यो, क्यों न चलै अब ऊठि ।
तूंज कर्यो निज मुर्खता, जस किस करसहि मूठि ।। सतसई, दोहा ४२४

दयाराम ने अविद्या माया का विविध रूपों में वर्णन किया है । उसने एक दोहे में नंदकिशोर से यह प्रार्थना की है कि वह उसे संसार की अविद्या माया से मुक्त करके अपने चरणों में विश्राम दे—

असि माया मोपर करों, चलैं न माया जोर । माया मायारहित दिहु, निजपद नंदकिशोर ।।२८।।

इस प्रकार और भी कई रूपों में दयाराम ने अविद्या माया एवं उससे मुक्ति की श्रीकृष्ण से प्रार्थना की है ।

मोक्ष :

दयाराम ने ज्ञानियों के लिए मोक्ष एवं पुष्टि जीवों के लिए श्रीकृष्ण की प्राप्ति बताई है । वे कहते हैं, 'हे ज्ञानियों ! अनुभव किये बिना भक्तों से क्यों लड़ते हो ? कृष्ण तुम्हें मुक्ति का दान देते हैं, पर अपने भक्तों के तो वे अधीन होकर रहते हैं ।

ज्ञानी के लिए मोक्ष बहुत दुर्लभ है, किंतु भक्त तो भक्ति प्रताप से मोक्ष के दाता हरि को भी सहज ही में प्राप्त कर लेता है । भगवान् को प्राप्त करने में भक्त को केवल उतना-सा कष्ट होता है, जितना नवनीत में से घृत बनाने में होता है । पर आत्मज्ञानी तो मुक्ति के लिए सांख्य–मार्ग का अनुसरण करते हैं जो घुनाक्षर[1] न्यायानुसार अतीव कठिन है—

अति दुर्लभ ज्ञानी अमृत, भक्त सहज हरि पाय ।
नोनित घ्रतलौं भक्ति प्रभु, सांख्य घुनाक्षर न्याय ।। सतसई, दोहा–३१२

अर्थात् ज्ञानियों में से किसी को अंधे के हाथ बटेर लगने की तरह मुक्ति मिल जाती है, नहीं तो लगभग सभी का जीवन व्यर्थ ही बीत जाता है ।

---

१. घुनाक्षर न्याय–किसी कीड़े से लकड़ी या पुस्तक को खाते–खाते अनायास ही किसी अक्षर की आकृति बन जाती है–उसे घुनाक्षर न्याय कहते हैं । अर्थात्–अंधे के हाथ बटेर लगना ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरि के चरण की आकारवाली वस्तु (योनि) में चित्त लगा हुआ है, इसीलिए हे जीव ! तेरा चित्त हरि–चरण–आगार में नहीं लग रहा है। उस (योनि) का फल भवबंधन है तो इस (हरि चरणों) का फल सभी सुखों का सार मोक्ष है—

हरिन चरन आकार चित्त, हरिन चरन आगार।
वाकों फल संसार है, वाकों फल संसार।। सतसई, दोहा–५७०

यहां संसार शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है और दोनों बार इसके भिन्न–भिन्न अर्थ हैं। प्रथम संसार का अर्थ भवबंधन तथा दूसरे का सभी सुखों का सार अर्थात् मोक्ष है। इसी प्रकार प्रथम 'हरिन चरन आकार' शब्द का अर्थ योनि है तो दूसरे 'हरि चरन आकार' का अर्थ भगवान् के चरणों का आकार है। रस की दृष्टि से इसमें वैराग्य स्थायी होने से शान्तरस का निरूपण हुआ है।

दयाराम भारतेन्दु बाबू की भांति पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित थे। इनके व्रजभाषा के कई ग्रंथों में केवल पुष्टि भक्ति एवं शुद्धाद्वैत वेदांत का निरूपण हुआ है, जैसे–(१) पुष्टिभक्तरसमालिका (२) पुष्टि–पथरहस्य (३) मायामतखंडन (४) शुद्धाद्वैतप्रतिपादन (५) संप्रदायसार (६) पुष्टिपथसारमणिदाम। दयाराम के विपुल व्रजभाषा साहित्य पर गुजरात में विविध रूपों में शोध–कार्य चल रहा है।

स्वामिनारायण-सम्प्रदाय–

अठारहवीं शती के अंतिम चरण में गुजरात में समर्पण एवं अधरामृत जैसे वाममार्गी, कूंडापंथी, कांचलियापंथी वैष्णवाचार्यों के धर्म के नाम पर बीभत्स आचरणों एवं नंगी रास–लीलाओं की प्रतिक्रिया में एक परम विशुद्ध धार्मिक उज्ज्वल धर्म–नक्षत्र गुजरात की धरती पर उदित हुआ, जिसका नाम था सहजानन्द स्वामी। इनके गुरु का नाम था रामानंद। इन्होंने 'उद्धवसंप्रदाय' अथवा 'स्वामिनारायण–संप्रदाय' की स्थापना की थी। इस संप्रदाय के आद्य संस्थापक के रूप में श्री सहजानंद स्वामी ने रामानुज के विशिष्टाद्वैत सिद्धांत एवं पुष्टि संप्रदाय के आचार पक्ष का समन्वय करके एक नये विशुद्ध धार्मिक संप्रदाय को जन्म दिया। स्वामिनारायण संप्रदाय के साधु–संन्यासी स्त्री से दूर रहते हैं।

स्वामिनारायण संप्रदाय में सहजानन्द स्वामी को परब्रह्म परमात्मा सर्व अवतारों का अवतारी माना गया है। सहजानन्द स्वामी ब्राह्मण थे अतः ब्राह्मणों के लिए तो ये वरेण्य होने ही चाहिएं। यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि राम की कथा काल्पनिक है, एवं कृष्ण का व्रजवासी रूप संपूर्ण कल्पित है, पर सहजानंद स्वामी का संपूर्ण जीवन ऐतिहासिक है। ये अभी दो सौ वर्ष पूर्व अंग्रेजों के समय में हुए थे। इनका जन्म ई. सन् १७८१ में हुआ। तथा मृत्यु ई. सन् १८३० में हुई। इनके समय की गुजरात की स्थिति का वर्णन करते हुए कन्हैयालाल माणिक्यलाल मुन्शी लिखते हैं कि सहजानंदस्वामी के प्रादुर्भाव के समय गुजरात की सामाजिक स्थिति बड़ी विषम थी—'मारे तेनी तरवार, जीते तेना देश अने वरे तेनी नहीं, हरे तेनी स्त्री,' गुजरात और सौराष्ट्र के कोली, काठी और गरासिये जनता को मनमाना लूट रहे थे। राम ने अपने स्वार्थ के लिए रावण से युद्ध किया और हजारों का रक्त बहाया, कृष्ण ने कंस, शिशुपाल जैसे कई दुराचारियों को मारा, उसमें भी प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से उन का स्वार्थ ही था पर सहजानन्द स्वामी ने किसी को फूल की छड़ी से भी नहीं छूआ। इन्होंने लाखों हिंसक, क्रूर, हत्यारे कोली, काठियों को अपने पवित्र सात्त्विक आचरण का उपदेश देकर उत्तम मार्ग पर लगाया। आज गुजरात जो शांति का आगार है, स्वर्ग है, वह भगवान् स्वामिनारायण के कारण ही। इस संप्रदाय के अनुयायियों के पांच विभाग हैं–आचार्य, पार्षद, ब्रह्मचारी और गृहस्थ। नारी के प्रति आदर भाव रखते हुए भी संप्रदाय में नारियों के साथ उठना–बैठना वर्जित है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य, साधु, पार्षद, भक्त इत्यादि पुष्टि संप्रदाय के आचार्यों की भाँति नारी का बुरी भावना से स्पर्श करना तो दूर पर ये उन्हें देख लेने पर भी प्रायश्चित्त करते हैं। इस संप्रदाय के प्रमाणभूत ग्रंथ हैं–'शिक्षापत्री' 'वचनामृत' और 'सत्संग जीवन'। कवि सम्राट् न्हानालाल ने इस संप्रदाय के लिए कहा है–यह संप्रदाय विचार–स्वच्छता विधि–स्वच्छता, पूजन–स्वच्छता, व्यवहार–स्वच्छता और आंतर स्वच्छता का सम्प्रदाय है। जिस तरह किसी भी फूल का पता उसकी खुशबू से लगता है, उसी तरह किसी भी संप्रदाय का पता उस संप्रदाय के कवियों की कविता से लगता है।' कविवर नान्हालाल का स्वामिनारायणसम्प्रदाय की काव्य–रचना के संबंध में यह कथन इस संप्रदाय के कवियों की परम सात्त्विक, सत्त्वगुण शीला कविता के अनुशीलन से प्रमाणित हो जाता है। सरस्वती जब बीभत्स, रौद्र, भयानक रसो में डूबती है तब उसका रूप तामसिक होता है, वह जब शृंगार एवं हास्य में विलसित होती है तब राजसिक होता है एवं जब वह शांत, करुण एवं भक्ति में स्नात होती है तब वह सात्त्विक होता है। इस दृष्टि से इस संप्रदाय के कवियों का साहित्य परम सात्त्विक है। इन्होंने कृष्ण–राधा की लीलाओं का वर्णन किया है, पर ये सूर की भांति परम अश्लील नहीं हुए हैं।

स्वामिनारायण संप्रदाय में अनेक हिन्दी कवि हुए हैं, उनमें हिन्दी कृष्ण–भक्ति शाखा के अष्टछाप की भाँति आठ कवि सुप्रसिद्ध हैं–(१) मुक्तानंद (२) ब्रह्मानन्द (३) प्रेमानन्द (४) निष्कुलानंद (५) देवानंद (६) मंजुकेशानंद (७) भूमानंद (८) नित्यानंद।

इनमें भी मुक्तानंद स्वामी, ब्रह्मानंद स्वामी एवं प्रेमानन्द (प्रेमसखी) स्वामी सुप्रसिद्ध हैं। प्रेमानन्द स्वामी की हिन्दी रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। स्वामिनारायण संप्रदाय के इन हिन्दी कवियों में कई कवियों ने हिन्दी में कृष्णकाव्य लिखा है।

मुक्तानंद स्वामी (सन् १७६१–१८३०) ये भक्त, विरोगी एवं ज्ञानी कवि थे। 'विवेकचिंतामणि', 'सत्संग–शिरोमणि', 'अवधूतगीता', 'गुरुचौबीसी' 'नारायणकवच', 'कपिलगीता' और 'भागवतदशमस्कंधभाषाटीका' इनके हिन्दी में लिखित ग्रंथ हैं। अंतिम ग्रंथ कृष्ण संबंधी है। जिसमें यत्किंचित् वेदांत के तत्त्व भी निरूपित हुए हैं। इन्होंने कृष्ण की प्रेमलक्षणा भक्ति में मग्न होकर संगीतात्मक पद लिखे हैं। इनके पदों में मीरां की भांति माधुर्य एवं रहस्यात्मक भाव प्रकट हुए हैं–

मेरे तो सुखदायक, तुम्हीं मुरारी।
तुम बिन और देव नहीं जाचु, ये ही हृदय टेक हमारी।
लोभमन कूं जिमि धन सुखदायक, कामिनी कूं जिमि नारी।
तुम कारन जोगिन होइ बैठी, और आस सब हारी।
रसिक सलूणा प्रिया सुख ऊपर, मुक्तानंद बलिहारी। मुकुन्दबावनी, पद–६

इसमें कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम प्रकट हुआ है। इनकी कृष्ण के प्रति कैसी अनन्य भक्ति थी, देखिए–

छांड के घनश्याम, और को धरूं जो ध्यानं। फारि डारों छाति मोरी, कठिन कुठार सों।

कृष्ण भक्ति की ऐसी अनन्यता व्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि रसखान में भी हमें दृष्टिगत नहीं हुई है।

मुक्तानंद स्वामी गुजरात में सौराष्ट्र के अमरेली नामक नगर के निवासी थे। ये सहजानंद स्वामी के गुरु भाई और रामानंद स्वामी के शिष्य थे। ब्रह्मानंद स्वामी का बचपन का नाम लाडू बारोट था। उदयपुर (मेवाड) के महाराणा सज्जनसिंह ने इन्हें कच्छ की व्रजभाषा पाठशाला में काव्य–शास्त्र एवं कवि–शिक्षा के अध्ययन के लिए भेजा था। वहां आठ वर्ष तक रहकर इन्होंने काव्यशास्त्र, एवं पिंगल शास्त्र का अध्ययन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया। (१) सुमतिप्रकाश, (२) उपदेशचिंतामणि, (३) ब्रह्मविलास (४) उपदेशदीपक झूलना, (५) गुरुदेव का अंग, (६) विवेकचिन्तामणि,(७) वर्तमान विवेक (८) नीतिप्रकाश (९) धर्मवंशप्रकाश इनके महत्त्वपूर्ण हिन्दी ग्रंथ हैं। इन्होंने कृष्ण की भक्ति के भी पद लिखे हैं। उदाहरणार्थ इनका एक कृष्ण-भक्ति विषयक पद लीजिए—

नीके करि देख आली, नीके बनमाली।
नीके पांव हु में तोरा, नीके लटकायें हैं।
नीके ओडे हैं दुशाल, मोतिन की माल।
केसर को नीको भाल, तिलक बनाये हैं।
नीके हैं कपोल गाल, मुख नीके मुस्क्यान।
दारम के बीच नीके, दन्त छबि छाये हैं।

शब्द-योजना, छन्द-वैविध्य, भाषावैविध्य, संगीतात्मकता और अर्थ गौरव के आधार पर इनकी गणना सुकवियों में की जाती है।

प्रेमानंद स्वामी : (ई. स. १७८४-१८५५) सहजानन्द स्वामी के अनन्य भक्त थे। सहजानन्द स्वामी इन्हें 'प्रेमसखी' के नाम से पुकारते थे इसलिए ये 'प्रेमसखी' के नाम से भी सुप्रसिद्ध हैं। आत्मदैन्य, ईश्वर पर विश्वास, ईश्वर के प्रतिप्रेम इनके काव्य के प्रमुख विषय रहे हैं। इन्होंने सखीभाव से कृष्ण तथा सहजानन्द स्वामी की महिमा के पद गाये हैं। इन्होंने कृष्ण की वृन्दावन लीला के संगीतात्मक पद व्रजभाषा में विभिन्न राग-रागिनियों में एवं तालों में लिखें हैं। इन्होंने 'ध्यानमंजरी', 'विवेकसार', 'शिक्षापत्री' 'हरिनारायण-चरितामृत' ग्रंथों की रचना की है। इनके हिन्दी कृष्ण-काव्य में वेदान्त के तत्त्व भी यथास्थान निरूपित हुए हैं। इनकी हिन्दी रचनाएँ इतनी महत्त्वपूर्ण हैं जो स्वतंत्र शोध का विषय है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ॥

सप्तम अध्याय

उपसंहार

* सगुण वेदान्तियों, पौराणिकों, भक्तों, एवं कवि–कलाकारों ने ब्रह्म के रूप में जिस कृष्ण की कल्पना की है, उसका 'महाभारत' के ऐतिहासिक कृष्ण के साथ जुड़ना मानों आसमान का धरती और प्रकृति (जड़) का पुरुष (चेतना) से जुड़ना है। (सांख्य–दर्शन)

* भारतीय वाङ्मय में वैदिककाल से लेकर अद्यावधि तक इस विराट् व्यक्तित्व की जाह्नवी लोक, साहित्य एवं दर्शन के क्षेत्रों में विविध धाराओं में प्रवाहित होती रही है। अध्यात्म इसके रहस्य की थाह लेने के लिए जितना ही गहरा उतरता चला गया है, यह उससे भी कहीं अधिक गंभीरतम एवं रहस्यमय होता चला गया है तथा कवि–कला–जगत् इसके चित्रण में जितना ही भाव-तरंगों में डूबता चला गया है, इसके सौंदर्य में उतना ही नित्य–नूतन निखार आता गया है।

* अद्यावधि इसका व्यक्तित्व उतना ही गूढ़ रहा है, जितना कि जीवन एवं उतना विराट् है, जितना कि ब्रह्माण्ड।

* इस प्रकार न इस लीला-पुरुषोत्तम के आध्यात्मिक स्वरूप को लेकर '**इदमित्थम्**' कहा जा सकता है और न कला–चित्रण को लेकर ही।

* क्योंकि असीम को लोक संदर्भों में देखना पूर्ण तो नहीं कहा जा सकता। श्रुतियां जिस सच्चिदानंद परब्रह्म का निरूपण करतीं–करतीं आखीर थक कर '**नेति–नेति**' कहकर विश्राम लेती हैं। वहां कवि के पास तो '**उडुपेनास्मि सागरम्**' एक छोटी–सी डोंगी है, अल्प जीवन है, अल्प–शक्ति है, अल्प–कल्पना है। जिनसे वह '**नवरस–रुचिर**' सारस्वत–यात्रा को निकला है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

।। ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ।।

सप्तम अध्याय.

उपसंहार

व्रज में लीलाएं करने वाले जिस कृष्ण का हिन्दी कृष्ण–काव्य में निरूपण हुआ है, वह भारत से बाहर के घुमक्कड़ म्लेच्छ अनार्य आभीरों का असल में एक कल्पित बालदेवता मात्र था। ये ही आभीर व्रज–मथुरा में अहीर एवं दक्षिण भारत में आयर कहलाए इनके भी बालदेवता कृष्ण ही हैं। इसी कृष्ण में ईसा मसीह के जीवन की कुछ घटनाएं मिला दी गईं और फिर पौराणिकों ने दो काम किए। एक उन्होंने इसे चौबीस अवतारों में सम्मिलित कर लिया। जिसके फलस्वरूप यह विष्णु का अवतार एवं परब्रह्म मान लिया गया। दूसरा उन्होंने इसे 'महाभारत' के यदुवंशी कृष्ण के साथ जोड़ दिया। जिससे यह ऐतिहासिक मान लिया गया और इस प्रकार अनेक कृष्णों के मिलने से जो कृष्ण बना है, यही हमारा आज का उपास्य कृष्ण है और यही हमारे हिन्दी कृष्ण–काव्य का आधार है।

वैदिक युग ब्राह्मण–प्रधान उपनिषद् एवं यज्ञ–मूला धर्म–व्यवस्था का काल था। इसके विरोध में क्षत्रियों में सुगबुगाहट हुई और फलतः बुद्ध एवं महावीर के करुणा–अहिंसा–मूलक–दर्शन, आगम, त्रिपिटक तथा वैष्णव–पुराण, रामायण इत्यादि वैदिकेतर लौकिक–दर्शन, शास्त्र, साहित्य अस्तित्व में आए। इसी संदर्भ में वैदिक युग की यज्ञ–पशु–बलि के विरोध में क्षत्रियों में अहिंसा–मूलक 'पांचरात्र–मत' प्रचलित हुआ। जो क्षत्रिय यदुवंशी कृष्ण के वंशज सात्वतों में प्रारंभ में प्रचलित होने के कारण 'सात्वत–धर्म', गुप्त आदि परम भागवत क्षत्रिय सम्राटों के द्वारा आदरणीय होने के कारण 'भागवत–धर्म,' पुराणों के चौबीस अवतारों के मूल विष्णु को केन्द्र में रखकर चलने के कारण 'वैष्णव–धर्म' या 'वैष्णव–यज्ञ' तथा क्षत्रिय यदुवंशी वासुदेव कृष्ण ही विष्णु के पूर्णावतार हैं, ऐसी कल्पना के कारण अंत में कृष्ण–भक्ति कहलाया।

इस प्रकार आज जो वैष्णव, जैन एवं बौद्ध–धर्म तथा इनके विविध संप्रदाय, मत–पंथ हैं वे क्षत्रियों द्वारा प्रचलित अवैदिक, लौकिक धर्म–व्यवस्था के ही विभिन्न रूप हैं। प्रारंभ में ब्राह्मणों ने इनका विरोध किया पर बाद में इनमें से वैष्णव–धर्म को वेदों के साथ यत्किंचित् संलग्न देखकर **'अर्धं त्यजति पण्डिताः'** की नीति अपनाकर इसे अपना लिया। फिर ब्राह्मणों ने ही इसे यथा शास्त्र स्वरूप प्रदान किया।

भारतीय नास्तिक–आस्तिक दर्शनों का लक्ष्य एक है–जीवन को समझो और भोगो। महर्षि बृहस्पति एवं चार्वाक का **लोकायत दर्शन** झील के पानी की तरह एकदम स्वच्छ है। पाखंड इसको छू भी नहीं गया है। मानव का सुख–दुःख, सब–कुछ इस धरती के साथ ही जुड़ा हुआ है, अतः **'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'**, अर्थात् मानव स्वयं पुरुषार्थ करके सुख–सुविधाओं में जीए और इस तथ्य को लक्ष्य में रखकर देखें तो संसार का साधु–सन्यासी, योगी–भोगी, रागी–विरागी सभी कोई इसी व्यवस्था में व्यस्त है। चार्वाक का यह चिरंजीवी दर्शन आचार–लक्षी है पर **बुद्ध** का दर्शन आचार के साथ–साथ जीवन की गहराइयों को भी छूने वाला है। संसार क्षणिक है, दुःखमय है, पर इस सच्चाई को मन से स्वीकार करके निश्चिंत हो जाओ, वीतराग हो जाओ, स्थितप्रज्ञ हो जाओ। फिर संसार का दुःख, दुःख न रहकर जीवन की रीति बन जाएगा। हर श्वास समाप्त होने से पहले दूसरी को जन्म देती है. दीपक की लौ क्षण स्थायी होकर दूसरे क्षण की ज्योति की उत्पत्ति का कारण बनती है, इस तरह प्रत्येक की उत्पत्ति का कारण अवश्य है। यही कार्य–कारण शृंखला, परंपरा जीवन की सच्ची व्याख्या है। इसी को बुद्ध ने नाम दिया है **'प्रतीत्यसमुत्पादवाद'**। शंकर के मायावाद का यही तो मूलाधार है।

जीवन को भली भांति देखो, समझो और फिर जीओ (१) सम्यक् दर्शन, (२) सम्यक्–ज्ञान, एवं (३) सम्यक् चरित। जीवन के उन्नयन की कैसी सच्ची वैज्ञानिक आचार संहिता है **जैन** दर्शन की ! इन्हीं को जीवन में उतारकर महावीर ने महावीरत्व पाया। सगुणवेदान्तियों एवं पौराणिकों की तरह इनके मत में ईश्वर किसी के पेट में टपकता नहीं, पर ईश्वरत्व तक पहुंचने के लिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन को सदाचार की भट्टी में झोंकना होता है। मानव से देव तक पहुंचने की यही एकमात्र व्यावहारिक एवं सच्ची वैज्ञानिक धर्म-व्यवस्था है। जादूगर की तरह ईश्वर के प्रकट होने की कलाबाजियां दिखाने वाले सगुण वेदान्ती और पौराणिक अपने ही इस भ्रातृ-दर्शन से कुछ सबक लें तो हिन्दुत्व का कुछ उद्धार हो सकता है। **वैशेषिक एवं न्याय** नामरूपात्मक समस्त पदार्थों का वैज्ञानिक विश्लेषण करके इनके ज्ञान को ही मुक्ति कहते हैं। तर्क द्वारा **'तर्को वै ऋषिः'**, विचार द्वारा मानव सृष्टि के पदार्थों को एवं स्वयं को समझें, यही ज्ञान इनकी मुक्ति है। प्रकृति जड़ है एवं पुरुष चेतन है। **सांख्य** इन्हीं दो के मिलने से सृष्टि विकास मानता है। **योग** व्यक्तिपरक जीवन्मुक्ति का दर्शन है—**पिण्डे सो ब्रह्माण्डे'**। स्वयं को निर्मल करके समग्र-निर्मल परम-चेतन (परमात्मा) के साथ व्यक्ति एकाकार हो जाए। यही इसका लक्ष्य है। निर्गुण, ज्ञान एवं योग ये तीनों श्रम साध्य होने से सगुण कृष्ण-भक्त कवियों ने गोपिकाओं के द्वारा इनकी बड़ी बुरी तरह ठुकाई करवाई है क्योंकि भक्त बड़े सुकोमल होते हैं, उनको तो 'नरम-नरम' पदार्थ, कोमल-कोमल मधुर श्रृंगार-लीला-भक्ति चाहिए। नामरूपात्मक जड़-चेतन समग्र कर्माधीन है। पूर्व-संचित कर्मों के अनुसार ही जगत् एवं जीवन की समस्त घटनाएँ घटित हो रही हैं। वैदिक यज्ञों एवं वेदों को एक बार पुनः लोक जीवन से जोड़ देने वाला यह पुरुषार्थवादी **पूर्वमीमांसादर्शन** अखंड कर्मवादी दर्शन है। कर्म ही जीवन है। अकर्म मृत्यु है। यही इस दर्शन का लक्ष्य है।

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतंकर्म शुभाशुभम्', 'जैसी करनी वैसी भरनी' 'पूर्वमीमांसा' का यह सिद्धान्त श्वास की भांति हिन्दुत्व के अणु-अणु में व्याप्त है। इस दर्शन का यही मूल है। यह आचार-दर्शन है। यह ईश्वर को नहीं मानता। हिन्दुत्व के पुनरुद्धार के लिए सगुण वेदान्तियों एवं पौराणिकों के पाखंडी हथकण्डों से हिन्दुत्व को मुक्त कर उसे आर्यत्व प्रदान करवाने के लिए आर्य महर्षि दयानंद ने जो **'आर्यसमाज'** की स्थापना की उसके मूल में भी वेदों को पूर्ण प्रमाण माननेवाला महर्षि जैमिनी का यही 'पूर्वमीमांसा' दर्शन रहा है। **वेदान्त** कल्पना नहीं, किन्तु विज्ञान की ही भांति एक तर्कमूलक विश्लेषणात्मक शास्त्र है। इस तरह की ब्रह्म विषयक स्थापनाओं के आधार पर निर्मित **महर्षि बादरायण व्यास** का **'उत्तरमीमांसा'** दर्शन ही वेदान्त दर्शन है। यह भारतीय दर्शनों के विकास की चरमोपलब्धि है। समग्र जड़-चेतन को इसने ब्रह्म कहा है। वेद ब्रह्म का पर्याय है और अंत का अर्थ होता है विचार। इस तरह वेदान्त ब्रह्म विचार है। देव-दानवों ने समुद्र-मंथन से चौदह रत्न प्राप्त किए। भगवान् शंकर ने नौ और पांच बार डमरू बजाया और पाणिनीय व्याकरण के चौदह मूल सूत्र प्रकट हुए, वैसे ही उपनिषदों के आलोड़न से बादरायण व्यास को जो ब्रह्म विषयक पांच सौ छप्पन सूत्र प्राप्त हुए, वे ही ब्रह्मसूत्र' हैं। 'ब्रह्मसूत्र' पर विभिन्न संप्रदाय स्थापक वेदान्ताचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से भाष्य लिखे हैं, जिन्हें हम निर्गुण वेदान्त एवं सगुण वेदान्त दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं। यों निर्गुण को अविकारी वेदान्त एवं सगुण को विकारी वेदान्त भी कह सकते हैं। आचार्य शंकर निर्गुण वेदान्ती हैं। यों उपनिषदों में ब्रह्म मूलतः निर्गुण ही है एवं शंकर के मत में भी ब्रह्म निर्गुण ही है पर सगुण वेदान्तियों ने सगुण ब्रह्म को ही मुख्य एवं निर्गुण को गौण माना है। जिसके फल स्वरूप व्यक्तिपूजा (मानव-योनि से उत्पन्न राम-कृष्णादि) प्रारंभ हुई और आज मंदिरों में जो स्वार्थपरक पूजा-विधान एवं पाखंड प्रचलित है, वह इसी व्यक्तिपूजा का दुष्परिणाम है। हिन्दुत्व के जर्जरित होने का कारण भी यही अंधविश्वास एवं अज्ञान-मूला पौराणिकी सगुण-भक्ति है।

बारह दर्शनों में से नास्तिक लोकायत एवं चारों बौद्ध दर्शन (वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्यमिक, योगाचार) तथा आस्तिक वैशेषिक, सांख्य एवं पूर्वमीमांसा ये आठ दर्शन ईश्वर को नहीं मानते। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित) द्वारा ईश्वर बन सकता है, ऐसा जैन दर्शन मानता है। न्याय एवं योग ये दो दर्शन केवल निर्गुण को ही ईश्वर मानते हैं। अब रहा बारहवां दर्शन उत्तर मीमांसा (वेदान्त)। इसके सूत्रकार बादरायण व्यास एवं ब्रह्मसूत्र के प्रथम भाष्यकर्ता आचार्य शंकर निर्गुण को ही परम तत्त्व मानते हैं तथा शेष भाष्यकर्ता आचार्य रामानुज, निम्बार्क, मध्व एवं वल्लभ अपनी बे-सिर-पैर की कल्पना के आधार पर सगुण (राम-कृष्णादि व्यक्तियों) को ही श्रेष्ठ ब्रह्म एवं

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्गुण को गौण मानते हैं। विश्व के दो बड़े धर्म ख्रिस्ती एवं इस्लाम तथा संतगण भी निर्गुण को ही परम तत्त्व मानते हैं।

षड् नास्तिक दर्शन जीवन के बाह्य आचार-पक्ष को प्रस्तुत करके उसके ही उन्नयन के पक्ष में हैं जब कि आस्तिक दर्शन आचार के साथ-साथ व्यक्ति के अन्तःसत्व-(आत्मा) को भी जोड़कर समग्र व्यक्तित्व का ऊर्ध्वीकरण करते हैं। नास्तिक दर्शनों में स्थूल स्थूल ही रहता है, जब कि आस्तिक दर्शन वेदान्त में आकर वह भी परम तत्त्व हो जाता है क्यों कि ब्रह्म समग्र जड़ चेतन का टोटल है। यों उपयोगिता की दृष्टि से देखें तो आस्तिक दर्शन की अपेक्षा नास्तिक दर्शन जीवन के अधिक निकट है और उनमें भी चार्वाक तो केवल भौतिक जीवन की ही पूर्णता को परम उद्देश्य मान कर चलता है।

बादरायण व्यास के 'ब्रह्मसूत्र' की व्याख्या करने वाले निर्गुण वेदान्ती हैं—आचार्य शंकर एवं सगुण वेदान्ती हैं—आचार्य रामानुज, आचार्य निम्बार्क, आचार्य मध्व, आचार्य वल्लभ एवं आचार्य बलभद्र। सगुण वेदान्तियों का सगुण ब्रह्म जादूगर के जादू की तरह कल्पित है। किसी व्यक्ति या जड़-चेतन किसी भी पदार्थ में समग्र ब्रह्म की झूठी कल्पना इसका आधार है। इसकी उपासना फल की दृष्टि से वैसी ही है जैसे कोई स्त्री नपुंसक के साथ विवाह करके पुत्रवती होने के सपने देखे। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी निर्गुण-सगुणपरक समस्त हिन्दी साहित्य का मूल अध्यात्म को मानते हैं। किसीका भी अध्यात्म स्थूल (सगुण) कदापि नहीं, किंतु सूक्ष्म निर्गुण ही हो सकता है। इस दृष्टि से हमने हिन्दी कृष्ण-काव्य का मूल निर्गुण ब्रह्म (कृष्ण) को ही माना है जो समग्र जड़-चेतन रूप ब्रह्म है। वह व्यक्ति नहीं किंतु समग्र जड़-चेतन का टोटल है। सूर कहते हैं—**'हरि ही में यह जगत प्रकट है हरि में लय ह्वै जाए।'** सूर का यही समग्र जड़-चेतन रूप हरि-(कृष्ण) ही समूचे हिन्दी कृष्ण-काव्य का वास्तविक आधार है। हिन्दी कृष्ण-कवियों ने कृष्ण का लीला-संस्तुवन कुछ इस प्रकार कल्पना में डूबकर किया है कि अधिकांश की दृष्टि कल्पना में ही उलझ जाती है पर तत्त्व तो सुवर्णघट के भीतर है, जिसका मुँह भी ढंका हुआ है। जिस व्यक्ति की दृष्टि सुवर्ण की चकाचौंध को भेदकर ढक्कन के भीतर झांक लेगी, उसे ही असली कृष्ण प्राप्त हो सकेगा। कृष्ण की जो वाह्य लीलाएं हैं वे तो वाह्य से भीतर उतरने की सीढ़ियां हैं। आपका-हमारा जीवन ही लीला है पर इसके भीतर जो चेतन है, आत्मा है, वही कृष्ण है, ब्रह्म है। ऋषि पिप्पलाद के शब्दों में कहें तो जल में घुला हुआ नमक जैसे जल के अणु-अणु में व्याप्त है, वैसे ही ब्रह्म कृष्ण भी सर्वत्र व्याप्त है। इस प्रकार समस्त हिन्दी कृष्ण-काव्य का लक्ष्य है बाहर से भीतर की ओर, जगत् से अध्यात्म की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर, स्वाद से समाधि की ओर संक्रमित होना। यह व्यक्ति कृष्ण से समष्टि कृष्ण की उपलब्धि है।

भारतीय वाङमय में वैदिक काल से लेकर आज तक इसी परब्रह्म (कृष्ण) के स्वरूप की जाह्नवी लोक साहित्य एवं दर्शन के क्षेत्रों में विविध धाराओं में प्रवाहित होती रही है पर अद्यावधि इसका व्यक्तित्व उतना ही गूढ़ रहा है, जितना कि जीवन एवं उतना ही विराट् रहा है, जितना कि ब्रह्माण्ड। अध्यात्म इसके रहस्य की थाह लेने के लिए जितना ही गहरा उतरता चला गया है, यह उससे भी कहीं अधिक गंभीरतम एवं रहस्यमय होता चला गया है तथा कवि-कला-जगत् इसके चित्रण में जितना ही भाव-तरंगों में डूबता चला गया है। इसके सौंदर्य में उतना ही नित्य-नूतन निखार आता गया है। इस प्रकार न इस लीला-पुरुषोत्तम के आध्यात्मिक स्वरूप को लेकर **'इदमित्थम्'** कहा जा सकता है और न कला-चित्रण को लेकर ही। क्योंकि असीम को लोक-संदर्भों में देखना पूर्ण तो नहीं कहा जा सकता। श्रुतियां जिस सच्चिदानंद परब्रह्म का निरूपण करतीं-करतीं आखीर थक कर **'नेति-नेति'** कहकर विश्राम लेती हैं। वहां कवि के पास तो **'उडुपेनास्मि सागरम्'** एक छोटी-सी डोंगी है, अल्प जीवन है, अल्प शक्ति है, अल्प कल्पना है। जिनसे वह **'नवरसरुचिर'** सारस्वतयात्रा को निकला है।

अष्टछाप के कवियों में **सूर** तो मूर्धन्य हैं ही, पर **नंददास, कुंभनदास** एवं **परमानंददास** वेदान्त निरूपण की दृष्टि से परम श्लाघ्य हैं। वेदान्त निरूपण की दृष्टि से विचार करें तो अष्टछाप के कवियों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
में आयु में सब से छोटे नंददास सब से आगे दिखाई देंगे । इन्होंने अपने कई ग्रंथों में गुजरात के हिन्दी कवि दयाराम की भांति काव्य के माध्यम से शुद्धाद्वैत वेदान्त का निरूपण एवं केवलाद्वैत का प्रत्याख्यान किया है । जो अष्टछाप के काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंश है । हिन्दी कृष्ण काव्य में निर्गुण के खंडन एवं सगुण के मंडन की भ्रमरगीत की परंपरा के आद्य प्रवर्तक कुंभनदास के 'दानलीला' के पद शुद्धाद्वैत वेदान्त निरूपण की दृष्टि से अष्टछाप के काव्य में अनुपम हैं ।

अष्टछाप के काव्य का आधार लगभग शुद्धाद्वैत वेदान्त ही रहा, पर अष्टछापेतर कवियों के काव्य में शुद्धाद्वैत के अतिरिक्त केवलाद्वैत वेदान्त तथा योग, सांख्य, पूर्वमीमांसा एवं चार्वाक दर्शनों के विचार भी निरूपित हुए हैं । **मीरां** की वेदान्त विषयक यात्रा गिरधर से प्रारंभ होकर ब्रह्म की परोक्षानुभूति की ओर अभिमुख रही है । **गवरी बाई** का काव्य दर्शन एवं वेदान्त निरूपण की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है । शुद्धाद्वैत वेदान्त, केवलाद्वैत वेदान्त के निरूपण के साथ-साथ सांख्य एवं योग दर्शन के विचार तथा योग की स्वानुभूतियों का भी इनके काव्य में सफल चित्रण हुआ है । जो स्वयं योगी हो एवं अपनी अनुभूतियों को जिसने काव्य में प्रस्तुत किया हो, ऐसी हमें हिंदी में एक मात्र कवयित्री गवरीबाई मिली हैं । बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी 'उद्धवशतक' में योग की प्रक्रियाओं का निषेधात्मक रूप में गोपिकाओं के द्वारा निरूपण करवाया है, पर यह स्पष्ट है कि 'रत्नाकर' का वर्णन स्वानुभूति का नहीं है क्योंकि 'रत्नाकर' स्वयं योगी नहीं थे । उन्होंने जो कुछ लिखा वह अपने अध्ययन का परिणाम था । गवरी बाई की सिद्धवाणी हमें कहीं कहीं ऐसी 'अगम-यात्रा, करवाती है कि हम बरबस कबीर का स्मरण करने लगते हैं । परम कृष्णानुरागी **भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र** के काव्य में शुद्धाद्वैत वेदान्त के तत्त्वों का निरूपण कोई आश्चर्य का विषय नहीं है, क्योंकि इनका घराना पुष्टिभक्ति मार्ग के वैष्णवाचार्यों द्वारा दीक्षित रहा है । परम आस्तिक एवं रामानुरागी मैथिलीशरण गुप्त के 'द्वापर' में शुद्धाद्वैत वेदान्त परक विचार अतीव सहज भाषा में एवं मौलिक रूप में प्रस्तुत हुए हैं । गुप्तजी ने गोपिकाओं के द्वारा केवलाद्वैत के मायावाद योग, ज्ञान, निर्गुण ब्रह्म का खंडन करवाकर सगुण परब्रह्म श्रीकृष्ण का बड़े ही सहज ढंग से माहात्म्य प्रकट किया है । 'द्वापर' का यह उद्धव-गोपी संवादात्मक काव्यांश अतीव भावपूर्ण है । **बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर'** का उद्धवशतक' शुद्धाद्वैत वेदान्त, लीला पुरुषोत्तम सगुण श्रीकृष्ण की सगुणरूप में स्थापना एवं योग, ज्ञान एवं शंकर के मायावाद के खंडन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । **द्वारकाप्रसाद मिश्र** के 'कृष्णायन' महाकाव्य में ज्ञान, योग एवं वेदान्त के विचारों के साथ-साथ चार्वाक दर्शन के विचार भी निरूपित हुए हैं । इन कवियों के अतिरिक्त हमने **देव, बिहारी, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'** तथा **रामधारीसिंह 'दिनकर'** के कृष्ण-काव्य' में निरूपित वेदान्त विषय पर भी विचार किया है ।

हिन्दी भाषा एवं इसके साहित्य की अभिवृद्धि में अनगिनत अहिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों के साहित्यकारों का भी असाधारण योगदान रहा है । दक्षिण के तमिलनाडु, केरल, कर्णाटक, आन्ध्र तथा उत्तर के महाराष्ट्र, गुजरात, उड़ीसा, बंगाल, असम, पंजाब, कश्मीर इत्यादि अहिन्दी भाषी प्रदेशों के अनेक साहित्यकारों ने अपनी काव्यांजलिं अर्पित करके हिन्दी कृष्ण-काव्य धारा को परिपूर्ण किया है । अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी कृष्ण-काव्य की दृष्टि से गुजरात सबसे आगे है । गुजरात में शताधिक हिन्दी कवि हुए हैं, जिनमें **दयाराम**, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । यह हम स्पष्ट कर चुके हैं कि हिन्दी कृष्ण-काव्य में शुद्धाद्वैत वेदान्त निरूपण की दृष्टि से दयाराम हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है । हिन्दी कृष्ण-काव्य के भंडार की श्रीवृद्धि में गुजरात के 'स्वामिनारायण संप्रदाय' का कृष्ण-काव्य भी महत्त्वपूर्ण है ।

कृष्ण ब्रह्म हैं एवं शब्द भी ब्रह्म है-**'शब्दो वै ब्रह्मः'** । इस तरह इस ग्रंथ में ब्रह्म द्वारा ही ब्रह्म का निरूपण हुआ है-**'ब्रह्म लटकां करे ब्रह्म सामे'**[1] । यही तो वेदान्त का ब्रह्मवाद-**'सर्वं खल्विदं ब्रह्मः'** है ।

१. नरसिंह महेताकृतकाव्यसंग्रह, इच्छाराम सूर्यराम देसाई

।। ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ।।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

संस्कृत :

(१) महाभारत — गोरखपुर

(२) शाक्तदर्शनम्

(३) संस्कृतवाङ्मयपरिचयः — लेखक : पं. मधुसूदनप्रसाद मिश्र, प्रकाशक : चोखम्बा विद्याभवन वाराणसी

(४) हरिभक्तिरसामृतसिन्धु — आचार्य रूप गोस्वामी, हिन्दी भाष्य कर्ता डॉ. नगेन्द्र

(५) शब्दार्थचिन्तामणिः चत्वारः भागाः — लेखक : संपादक : ब्रह्मावधूत श्रीसुखानंदनाथेन विनिर्मिता प्रकाशक : महाराणा सज्जनसिंह (मेवाड़) व्ययात् 'सज्जनयंत्रालये उदयपुरे प्रकाशितः संवत्–१९२१

(६) सिद्धान्तकौमुदी — भट्टोजी दीक्षित

(७) ऋग्वेद — पूना

(८) छान्दोग्योपनिषद् — अखंडानंद, अहमदावाद

हिन्दी

(१) अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय भाग १–२ — लेखक : डॉ. दीनदयालु गुप्त प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग संस्करण : २००४

(२) अष्टछाप (गोकुलनाथ) — संपादक : डॉ. धीरेन्द्र वर्मा रामनारायणलाल, प्रयाग, सन् १९२९ प्रकाशक : विद्याविभाग, कांकरोली, उदयपुर, सं. १९९८

(३) कविवर परमानंददास और वल्लभसंप्रदाय — लेखक : डॉ. गोवर्धननाथ शुक्ल, प्रकाशक : भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ सं. २०२०

(४) गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — लेखक : डॉ. जगदीश गुप्त, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग सं १९५७

(५) गुजराती साहित्य का इतिहास — लेखक : श्री जयंत हरिकृष्ण दवे, प्रकाशक : हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रकाशन संवत् १९६३

(६) गुजरात के कवियों की हिन्दी साहित्य को देन — लेखक : डॉ. नटवरलाल अंबालाल व्यास, प्रकाशन : विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रकाशन संवत् १९६७

(७) गुजरात के संतों की हिन्दी साहित्य को देन — लेखक : डॉ. रामकुमार गुप्ता, हिन्दी विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय अहमदाबाद

(८) गुजरात के संतों की हिन्दी वाणी — संपादक : डॉ. अम्बाशंकर नागर, डॉ. रमणलाल पाठक प्रकाशक : गुर्जर भारती, ३१, प्रशांतपार्क, पालडी, अहमदाबाद–७

(९) चौरासी वैष्णवन की वार्ता — प्रकाशक : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं. १९८५

(१०) भक्तमाल नामावली — नाभाजी कृत

(११) भक्तमाल नामावली — —

(१२) भारतीय साधना और सूरसाहित्य — लेखक : मुंशीराम शर्मा प्रकाशक : आचार्य शुक्ल, साधना सदन, द्वितीय संस्करण ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१३) भ्रमरगीतसार — संपादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(१४) महाकवि सूरदास — लेखक : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६, सन् १९५२
(१५) मध्यकालीन धर्मसाधना — डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन, प्रा. लि. इलाहाबाद
सन् १९५६, द्वि. संस्करण
(१६) वैष्णवधर्म — लेखक : परशुराम चतुर्वेदी, राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि.,
(१७) वीर विनोद — लेखक : कविराज श्यामलदास
प्रकाशक : महाराणा सज्जनसिंह, मेवाड़ (उदयपुर), संवत् १९४३
(१८) सूरदास — संपादक : डॉ. भगीरथ मिश्र, लखनऊ
(१९) सूर और उनका साहित्य — लेखक : हरवंशलाल शर्मा,
प्रकाशक : भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ द्वि. संस्करणे, सं. २०१५
(२०) सूरदास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,
सरस्वती मंदिर, बनारस, द्वि. भस्करण सं. २००६
(२१) सूरनिर्णय — लेखक : द्वारकादास परीख, प्रभुदयाल मित्तल
(२२) सूर कीं झाँकी — लेखक : डॉ. सत्येन्द्र
प्रकाशक : शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी लि.
आगरा–प्र. संस्करण, सन् १९५६
(२३) सूर की साहित्य साधना — सं. डॉ. भगवतस्वरूप मिश्र एवं विश्वंभर अरुण, प्रकाशक :
शिवलाल अग्रवाल एण्ड कुं. आगरा, प्रथम आवृत्ति, सन् १९५६
(२४) सूरसारावली (सूरसागर के अन्तर्गत प्रकाशित) — व्यंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
(२५) सूरसागर भाग १–२ — सम्पादक : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, ना. प्र. सभा तृतीय संस्करण
(२६) १६वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि — डॉ. रत्नकुमारी,
साहित्य मंदिर, दिल्ली, सं. २०१३
(२७) हिन्दी साहित्य — डॉ. हरिप्रसाद द्विवेदी
प्रकाशक : अत्तरचन्द्र कपूर एण्ड संस, दिल्ली, अंबाला, आगरा, सं. २००९
(२८) हिंदी साहित्य का वृहद् इतिहास — काशी नागरी प्रचारिणीसभा, वाराणसी
(२९) हिन्दी साहित्य कोश — सम्पादक : धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञान मण्डल लिमिटेड,
बनारस प्रथम संस्करण, सं. २०१५
(३०) हिन्दी साहित्य का इतिहास — लेखक : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(३१) हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमि — डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय
प्रकाशक : साहित्य भंडार, आगरा द्वि. संस्करण–१९६१
(३१) मीराँबाई — लेखक : श्रीकृष्णलाल
(३२) मीराँबाई की पदावली — आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
(३३) मीराँबाई — लेखक : डॉ. प्रभात शर्मा
(३४) रास पंचाध्यायी और भ्रमरगीत — डॉ. सुधीन्द्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३५) संस्कृति के चार अध्याय — रामधारीसिंह 'दिनकर'

(३६) हिन्दी साहित्य के दार्शनिक आधार — लेखक : पद्मचंद्र अग्रवाल, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा–१९५४

(३७) मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति एवं काव्य — डॉ. कमलाकान्त पाठक

(३८) हिंदी साहित्य में भ्रमरगीत की परंपरा — लेखिका : सरला शुक्ल

(३९) सूरदास और नरसिंह महेता : तुलनात्मक अध्ययन — लेखक : डॉ. भ्रमरलाल जोशी, प्रकाशक : गुर्जर भारती ३१, प्रशांतपार्क, पालडी, अहमदाबाद–७

(४०) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र — लेखक : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

(४१) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र — लेखक : रामविलास शर्मा

(४२) गुजरात के हिंदी गौरव ग्रंथ — लेखक : डॉ. अम्बाशंकर नागर

(४३) हिंदी साहित्य का प्रवृत्तिगत इतिहास — लेखक : टंडन प्रेमनारायण

(४४) आधुनिक हिन्दी महाकाव्य — लेखिका : शर्मा वीणा

(४५) हिन्दुत्व — लेखक : रामदास गौड़ प्रकाशक : शिवप्रसाद गुप्त, सेवा–उपवन, काशी प्रथम संस्करण, सवत्. १९९५

(४६) हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन — लेखिका : वीणापाणि पाण्डे, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश ।

(४७) कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत — डॉ. श्यामसुन्दरलाल, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा–१९५८

(४८) अष्टछाप का सांस्कृतिक मूल्यांकन — लेखिका : डॉ. मायारानी टण्डन, प्रकाशक : डॉ. हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ

(४९) हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य — लेखक : डॉ. गोविंदराम शर्मा प्रकाशक : रामकृष्ण शर्मा, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली–६

(५०) अष्टछाप परिचय — लेखक : प्रभुदयाल मित्तल, प्रकाशक : अग्रवाल प्रेस, मथुरा

(५१) मीराँ की प्रेम साधना — लेखक : डॉ. भुवनेश्वरनाथ मिश्र, राजकमल प्रकाशन

(५२) हिन्दी साहित्य का इतिहास — लेखक : डॉ. नगेन्द्र

(५३) यूरोपीय दर्शन — स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा, प्रकाशक : बिहार राष्ट्र–भाषा परिषद्

(५४) आलवार भक्तों का तमिल प्रबन्धम् और हिन्दी कृष्ण-काव्य — लेखक : डॉ. मलिक मोहम्मद, प्रकाशक : विनोद पुस्तक भडार आगरा

(५५) कृष्ण–काव्य की रूपरेखा — उपाध्याय वेदमित्र ओरिएन्टल बिल्डिंग, दिल्ली

(५६) मध्यकालीन कृष्ण–काव्य — डॉ. कृष्णदेव झारी

(५७) हिन्दी कृष्ण–काव्य परंपरा का स्वरूप विकास — डॉ. मुरारीलाल शर्मा

(५८) गोविंदस्वामी के पद — (हस्तलिखित ग्रंथ) निजी पुस्तक डॉ. भ्रमरलाल जोशी, ३१, प्रशांत पार्क पालडी, अहमदाबाद–३८०००७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुजराती ग्रन्थ :

(१) वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास — लेखक : दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री, प्रकाशक : अंबालाल बुलाखीराम जानी, फार्बस गुजराती सभा, बंबई
(२) शुद्धाद्वैतसिद्धान्तप्रदीप — प्रो. मगनलाल शास्त्री प्रकाशक : वाडीलाल नगीनदास शाह सन् १९३७
(३) गुजरातीओओ हिन्दी साहित्यमां आपेलो फाळो — डाह्याभाई देरासरी
(४) दयाराम — मोदी
(५) दयारामकाव्यमणिमाला भा. ६ — प्र. दा. शाह
(६) दयाराम काव्य-संग्रह — न्हानालाल दलपतराम कवि
(७) हिन्दु वेद-धर्म — कर्ता : आनंदशंकर बापुभाई ध्रुव प्राच्य विद्यामंदिर, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, वड़ौदा

English :

(1) Classical Poets of Gujarat and their influence on Socity and morals — By Govardhanram Madhavram Tripathi. Publisher : R.G. Tripathi First Edition 1916.
(2) Gujarat and its Literature (From Early Times to 1852) — By K.M. Munshi, Publisher : Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay. 1954
(3) Tendencies in Medieval Gujarati Literature — By M.R. Majumdar, Baroda, 1941.
(4) Vaishnavas of Gujarat — By Dr. N.A. Thoothi, Bombay, First Edition, 1935
(5) Vaishnavism Shaivism & Minor Religions System — By R.G. Bhandarkar Edited by Narayan Bapuji, Utgigar Bhandarkar, Oriental Research Institute-1922

॥ ॐ ब्रह्मेति वेदान्तिनः ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत ग्रंथ में :—

* कृष्ण एवं कृष्ण भक्ति–विकास, द्वादश दर्शनों, विभिन्न वेदान्त मतों एव वेदान्त–मतों से सम्बद्ध भक्ति–संप्रदायों की सविस्तृत समालोचना ।

* २० महत्त्वपूर्ण हिन्दी कृष्ण–कवियों के जीवन, काव्य, भक्ति, दर्शन एवं वेदान्त की सोद्धरण सविस्तृत समीक्षा: सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, नंददास, गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास, मीरां, रसखान, देव, बिहारी, गवरीबाई, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', द्वारकाप्रसाद मिश्र, दयाराम (गुजरात)

* समग्र हिन्दी कृष्ण–काव्य में वेदान्त निरूपण की दृष्टि से दयाराम (गुजरात), हिन्दी प्रदेश के हिन्दी कृष्ण–कवियों में वेदान्त निरूपण की दृष्टि से अष्टछाप के कवियों में आयु में सबसे छोटे नंददास, काव्यत्व की दृष्टि से सूरदास, अधिकाधिक दर्शनों के निरूपण की दृष्टि से द्वारकाप्रसाद मिश्र, कबीर की भांति योग की स्वानुभूतियों का हिन्दी कृष्ण–काव्य में निरूपण की दृष्टि से गवरी बाई, (डुंगरपुर, मेवाड़) अहिन्दी भाषा–भाषी प्रदेशों में हिन्दी कृष्ण–काव्य सर्जन की दृष्टि से गुजरात तथा अहिन्दी भाषा–भाषी प्रदेशों के हिन्दी कृष्ण–कवियों में कृतित्व, काव्यत्व, भक्ति एवं वेदान्त निरूपण की दृष्टि से दयाराम मूर्धन्य ।

'हिन्दी कृष्ण–काव्य में भक्ति एवं वेदान्त' ग्रन्थ डबल क्राउन २० × ३० आकार, पृष्ठ संख्या ३६०, मूल्य १००–००

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'गुर्जर-भारती' द्वारा प्रकाशित हिन्दी-शोध-ग्रन्थ

(१) सूरदास और नरसिंह महेताः तुलनात्मक अध्ययन
शोध-प्रबंध, डॉ. भ्रमरलाल जोशी, (अप्राप्य) मूल्य ३५-००

(२) गुजरात के संतों की हिन्दी वाणी (गुजरात के ५१ संतों के जीवन एवं काव्य साथ उत्तम हिन्दी-वाणी
संपादक-डॉ. अम्बा शंकर नागर एवं डॉ. रमणलाल पाठक
(कुछ ही प्रतियां शेष) मूल्य ४०-००

(३) हिन्दी कृष्ण-काव्य में भक्ति एवं वेदान्त
लेखिका-डॉ. संतोष पाराशर
संशोधक-परिवर्धकः डॉ. भ्रमरलाल जोशी मूल्य १००-००

आगामी प्रकाशनः

(१) शंकर-विजय एक सांस्कृतिक अध्ययन
व्यासाचल विरचित आद्य शंकराचार्य के जीवन पर लिखित संस्कृतक के महाकाव्य का हिन्दी में भाष्य
डॉ. भ्रमरलाल जोशी

(२) ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र) (बादरायण व्यास विरचित) हिन्दी भाष्यः डॉ. भ्रमरलाल जोशी

(३) मीरां के काव्य में प्रयुक्त पदों (terms) का भाषा वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन
(व्युत्पत्ति, ध्वनि परिवर्तन, रूप एवं अर्थ की दृष्टि से)।
डॉ. भ्रमरलाल जोशी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.